

GOVERNMENT OF INDIA
ARCHÆOLOGICAL SURVEY OF INDIA
CENTRAL
ARCHÆOLOGICAL
LIBRARY

ACCESSION NO

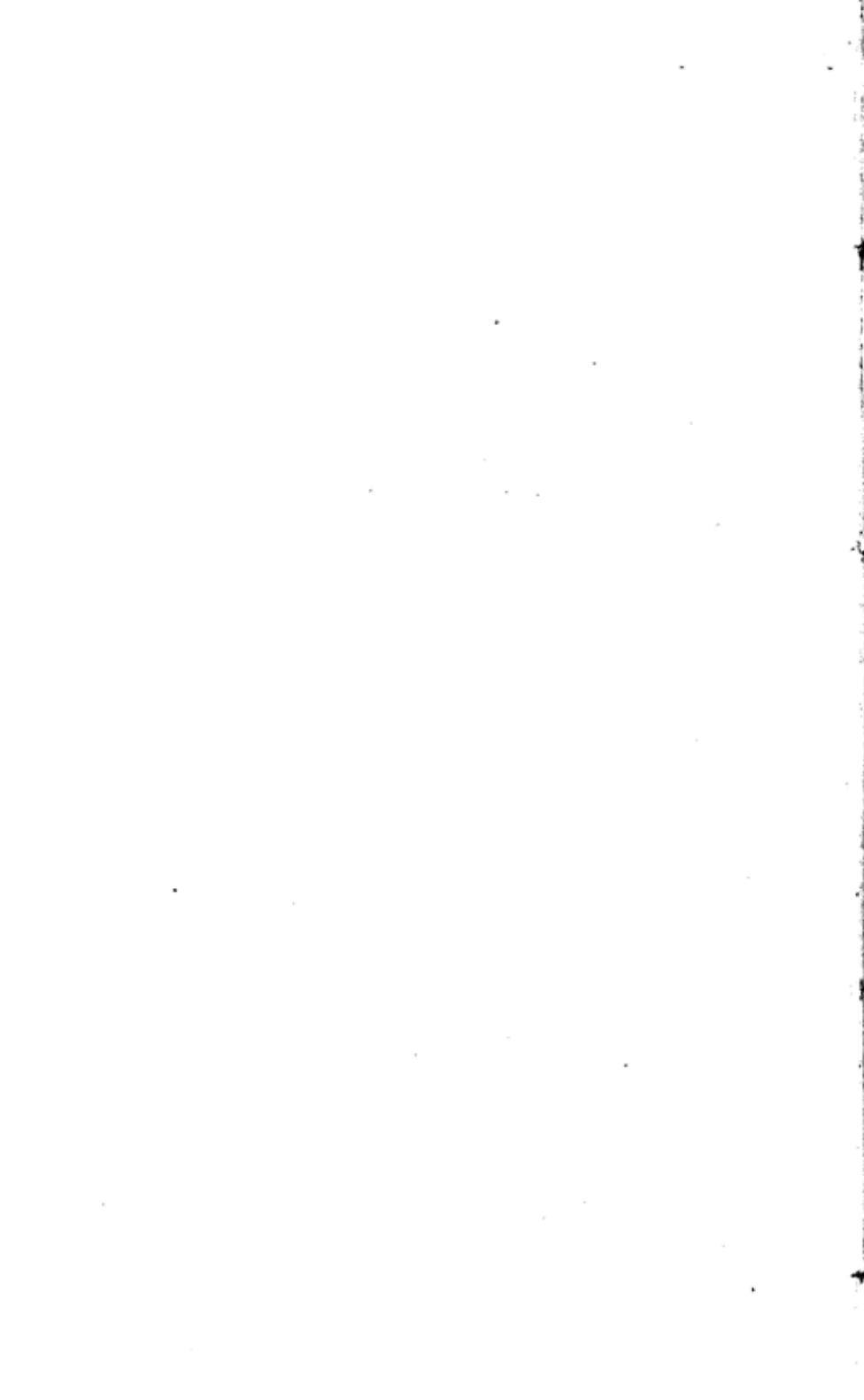
40899

CALL No. 171.02

Mek/Bha

D.G.A. 79

नीति-प्रवेशिका



नीति-प्रवेशिका

A Manual of Ethics

जे० एस० मेकेंज़ी

अनुवादक :
डॉ० गोवर्द्धन भट्ट
श्री गंगारत्न पांडेय
श्रीमती शशिप्रभा त्रिपाठी



राजकमल प्रकाशन

© हिन्दी अनुवाद, 1964

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली

Translation of

A Manual of Ethics, By J. S. Mackenzie

प्रथम संस्करण, 1964

मूल्य : बस रुपये

LIBRARY
Acc. No. 40899
Date 2-9-64
Call No. 171.02 / Mek / Bha

प्रकाशक :

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
दिल्ली

मुद्रक :

श्री सत्यप्रकाश गुप्ता
नवीन प्रेस, दिल्ली

छठे अंग्रेजी संस्करण की भूमिका

इस पुस्तक का उद्देश्य नीतिशास्त्र के सबसे अधिक महत्त्व के सिद्धान्तों की, जहाँ तक वे तत्त्वमीमांसा की जानकारी के बिना समझे जा सकते हैं, संक्षिप्त रूपरेखा बताना है।

जब 1883 में इसका पहला संस्करण छपा था तब से इसमें काफी परिवर्तन-परिवर्धन किए जा चुके हैं, और सबसे अधिक दस संस्करण में किये गए हैं। इसकी जो विभिन्न आलोचनाएँ हुई हैं, विशेषतः जो डॉ० जी० ई० मूर और डीन रशडल ने की हैं, उनसे मैंने लाभान्वित होने की कोशिश की है। नीतिशास्त्र पर लिखी जानेवाली पुस्तकों का सामान्य उद्देश्य क्या हो, इस बारे में इन दो विद्वानों का मत उस मत से भिन्न है जो बहुत-सारे अन्य नीतिशास्त्रियों के साथ-साथ मैंने भी सोच-समझकर अपनाया है। इन दोनों विद्वानों के मतानुसार नीतिशास्त्र का उद्देश्य किकर्तव्यमीमांसा का सांगोपांग और व्यवस्थित ज्ञान कराना है। प्रो० लेंड और कुछ अन्य विद्वानों का भी उन्हें इस बात में समर्थन प्राप्त है। इस संस्करण में अनेक स्थलों पर किकर्तव्यमीमांसा का उल्लेख हुआ है; फिर भी यहाँ कुछ बातें कह देना अच्छा होगा।

किकर्तव्यमीमांसा जिस चीज को अपना लक्ष्य बनाती है वह मुझे बिल्कुल उचित लगती है; लेकिन यह चीज ऐसी है जिसे अभी समुचित रूप से प्राप्त नहीं किया जा सकता, और इस बात को वे विद्वान् भी मानते हैं जिनका ऊपर विशेष रूप से नाम लिया गया है। किकर्तव्यमीमांसा का लक्ष्य किकर्तव्यविमूढ़ करनेवाली अत्यधिक कठिन परिस्थिति-विशेषों में कर्म का सही मार्ग दिखाना है। मुझे यह स्पष्ट लगता है कि इसमें पूरी सफलता पाना कदापि सम्भव नहीं है, और इसका मुख्य कारण यह है कि इसके लिए नीतिशास्त्र के साथ-साथ कई अन्य विषयों का ज्ञान भी आवश्यक होगा।

जैसा कि मैं समझता हूँ, नीतिशास्त्र का सम्बन्ध मानवीय आचरण के सामान्य स्वरूप से और उन शर्तों से है जो कर्म के औचित्य-अनौचित्य को निर्धारित करती हैं। इस बारे में विभिन्न मत रहे हैं, और मैं समझता हूँ कि सही मत को खोज निकालना नीतिशास्त्र का काम है। मैंने इस पुस्तक में यही प्रयास किया है।

लेकिन किन्हीं विशेष परिस्थितियों में क्या करना उचित है और क्या करना अनुचित है, यह निश्चित करने के लिए उन परिस्थितियों का विस्तृत अध्ययन करने की जरूरत होती है। उदाहरण के लिए, यह स्पष्ट मालूम पड़ता है कि निम्न कोटि के जीवों के प्रति हमारे कुछ आबन्ध हैं; लेकिन कुत्तों या घोड़ों के प्रति जो उचित व्यवहार होगा वह शेरों, बिच्छुओं, या मच्छरों के प्रति किए जानेवाले उचित व्यवहार से बहुत भिन्न होगा। अन्य मनुष्यों से व्यवहार करने तक में हमारे सामने कई कठिन समस्याएँ आती हैं। उदाहरण के लिए, हम पूछ सकते हैं कि युद्ध या तलाक क्या कभी उचित हो सकता है। अधिकतर लोग शायद इस बात में एकमत होंगे कि ये दोनों ही बहुत अनुचित हैं; लेकिन इस बात से इन्कार करनेवाले कम निकलेंगे कि

कुछ परिस्थितियों में प्रतिरक्षात्मक युद्ध न केवल उचित होता है बल्कि प्रशंसनीय भी होता है, और कुछ परिस्थितियों में तलाक कठिनाई से बचने का सर्वोत्तम उपाय लगता है। मानवीय समाजों के संगठन के सामान्य अध्ययन से ऐसी समस्याओं के बारे में बहुत जानकारी मिलती है। इनका उचित रीति से विचार समाजशास्त्र और राजनीति की पुस्तकों में होता है। मैंने भी समाज-दर्शन की एक पुस्तक में इन समस्याओं पर कुछ कहने का प्रयास किया है। मैं समझता हूँ कि जंगली जानवरों और हानिकारक कीटों के प्रति उचित व्यवहार बया हो, इस बात का विचार मुख्यतः प्राकृतिक विज्ञान की किताबों में होना चाहिए।

फिर भी, एक ऐसी सामान्य पुस्तक लिखना सम्भव है जिसमें मानव-जीवन की जटिल परिस्थितियों में पैदा होनेवाली सारी विशिष्ट समस्याओं पर विचार हो। उदाहरण के लिए, कोई यह पूछ सकता है कि यदि कोई आदमी किसी निर्जन द्वीप में फँस गया हो, या, जैसा कि एक बार वॉसवेल ने डॉ॰ जॉनसन से पूछा था, यदि एक आदमी किसी बच्चे के साथ एकान्त में बन्द हो गया हो, तो उसके लिए क्या करना उचित होगा, लेकिन मैं नहीं समझता कि नीतिशास्त्र की किसी सामान्य पुस्तक से ऐसे प्रश्नों के समाधान की आशा की जाएगी। नीतिशास्त्र का सम्बन्ध केवल उचित-अनुचित के अन्तर का सामान्य आधार बताने से है; और हम देखते हैं कि यह कोई आसान समस्या नहीं है।

इस समस्या को हल करने में कुछ ऐसे प्रश्नों की छानबीन करना हमें आवश्यक लगा है जिनका उचित स्थान मनोविज्ञान और समाजशास्त्र में है, जैसे व्यवहारवादियों और मनोविश्लेषणवादियों के सिद्धान्तों से सम्बन्धित प्रश्न। ऐसे प्रश्नों के बारे में मैंने सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रन्थों और अधिकारी विद्वानों की सहायता लेने की कोशिश की है।

इस पुस्तक के कुछ पिछले संस्करणों को तैयार करते समय मुझे दिवंगता मिसेज गिलिलैंड हर्स्बैंड से बहुमूल्य सुझाव प्राप्त हुए, जिनके लिए मैं उनका अब भी आभारी हूँ। 'मैनुअल ऑफ़ साइकॉलाजी' नामक विख्यात और श्लाघ्य ग्रन्थ के लेखक प्रो॰ स्टाउट और मि॰ एच॰ ई॰ वाल्स से भी मुझे उपयोगी सुझाव मिले हैं।

—जे॰ एस॰ एम॰

सूची

विषय-प्रवेश

अध्याय 1. नीतिशास्त्र का क्षेत्र

13

1. नीतिशास्त्र की परिभाषा । 2. नीतिशास्त्र का स्वरूप । 3. नीति-शास्त्र व्यावहारिक विज्ञान नहीं है । 4. नीतिशास्त्र आचरण की कला नहीं है । 5. क्या आचरण की कोई कला है भी ? 6. क्या आचरण कोई विज्ञान है ? 7. संक्षेप ।

अध्याय 2. नीतिशास्त्र का अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध

23

1. प्राक्कथन । 2. भौतिकीय विज्ञान और नीतिशास्त्र । 3. जीव-विज्ञान और नीतिशास्त्र । 4. मनोविज्ञान और नीतिशास्त्र । 5. तर्कशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र और नीतिशास्त्र । 6. तत्त्वमीमांसा और नीतिशास्त्र । 7. नीतिशास्त्र और राजनीतिदर्शन । 8. नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र । 9. नीति-शास्त्र और शिक्षाशास्त्र । 10. निष्कर्ष ।

अध्याय 3. विषय-विभाग

31

1. प्राक्कथन । 2. नीतिशास्त्र का जीव-विज्ञानीय पहलू । 3. नीति-शास्त्र के मनोवैज्ञानिक पहलू । 4. नीतिशास्त्र के समाजशास्त्रीय पहलू । 5. नैतिक मानक के सिद्धान्त । 6. प्रत्यक्ष नैतिक जीवन । 7. इस पुस्तक की योजना ।

खण्ड 1

उपोद्घात : मनोविज्ञानपरक

अध्याय 1. इच्छा और संकल्प

36

1. प्राक्कथन । 2. इच्छा का सामान्य स्वरूप । 3. जीव-वृत्ति और क्षुधा । 4. क्षुधा और इच्छा । 5. इच्छा-जगत् । 6. इच्छाओं का परस्पर विरोध । 7. इच्छा और अभिलाषा । 8. निरुद्ध अभिलाषाएँ । 9. अभिलाषा और संकल्प । 10. संकल्प और कर्म । 11. उद्देश्य का अर्थ । 12. संकल्प और चरित्र । 13. समूह संकल्प ।

अध्याय 2. अभिप्रेरक और अभिप्राय

49

1. प्राक्कथन । 2. अभिप्राय का अर्थ । 3. अभिप्रेरक का अर्थ । 4. अभिप्रेरकों और अभिप्रायों का सम्बन्ध । 5. क्या अभिप्रेरक सदैव सुख का भाव होता है ? 6. मनोवैज्ञानिक सुखवाद । 7. इच्छा का विषय—(1) सुखवाद

का विरोधाभास। 8. इच्छा का विषय—(2) अस्तित्व की दृष्टि से आवश्यकताएँ पहले आती हैं और उनकी पूर्ति का सुख बाद में। 9. इच्छा का विषय—(3) बहुवचनान्त 'सुख' और एकवचनान्त 'सुख'। 10. क्या तर्कना अभिप्रेरक का काम कर सकती है? 11. क्या तर्कना ही एकमात्र अभिप्रेरक है? 12. अभिप्रेरकों का स्वरूप क्या होता है? सुख और इच्छा पर टिप्पणी।

अध्याय 3. चरित्र और आचरण

65

1. प्राक्कथन। 2. चरित्र। 3. आचरण। 4. परिस्थिति। 5. आदत। 6. संकल्प की स्वतन्त्रता। 7. स्वतन्त्रता नैतिकता के लिए आवश्यक है। 8. आवश्यकता भी नैतिकता के लिए जरूरी है। 9. स्वतन्त्रता का सही अर्थ। 10. जानवरों की स्वतःप्रवृत्ति। 11. आदमी की स्वतन्त्रता। 12. सर्वोच्च स्वतन्त्रता। 13. ऐच्छिक कर्म का स्वरूप। 14. उत्तरदायित्व की समस्या।

अध्याय 4. आचरण का क्रम-विकास

80

1. प्राक्कथन। 2. निम्न श्रेणी के जीवों में आचरण के अंकुर मौजूद हैं। 3. जंगली जातियों में आचरण। 4. रूढ़ि के द्वारा आचरण का पथ-प्रदर्शन। 5. कानून के द्वारा आचरण का पथ-प्रदर्शन। 6. विचारों के द्वारा आचरण का पथ-प्रदर्शन। 7. कर्म और विचार-विमर्श। 8. नैतिक विचार और नैतिकता के बारे में विचार। 9. नैतिक चेतना का विकास। समाजशास्त्र पर टिप्पणी।

अध्याय 5. नैतिक निर्णय का विकास

87

1. नैतिक निर्णय के आदि रूप। 2. कबीली आत्मा। 3. अन्तर्भावना का प्रारम्भ। 4. नैतिक मानक रूढ़ि के रूप में। 5. कानून के रूप में नैतिक मानक। 6. नैतिक नियम। 7. नैतिक अन्तर्निरोध। 8. मानक के रूप में व्यक्ति की अन्तर्भावना। 9. चिन्तनपरक निर्णय का विकास। 10. प्राचीन लोगों के उदाहरण। 11. नैतिक विकास का सामान्य स्वरूप।

अध्याय 6. नैतिक निर्णय का अर्थ

95

1. नैतिक निर्णय का स्वरूप। 2. नैतिक निर्णय का विषय। 3. शुभ संकल्प। 4. कर्म पर निर्णय और कर्ता पर निर्णय। 5. नैतिक निर्णय का अभिप्रेरक से सम्बन्ध है या अभिप्राय से? 6. नैतिक निर्णय अन्ततः अभिप्रेरकों से सम्बन्ध रखता है। 7. लेकिन निर्णय असल में चरित्र पर दिया जाता है। 8. नैतिक निर्णय का दृष्टिकोण। 9. नीति-मर्मज्ञ। 10. निष्पक्ष द्रष्टा। 11. आदर्श अहम्। 12. अन्तर्भावना का अर्थ।

खण्ड 2

नैतिक मानक के सिद्धान्त

अध्याय 1. नीतिशास्त्रीय विचारधारा का विकास

108

1. प्राचीन यूनानी नीति। 2. सोफिस्ट। 3. सुकरात। 4. नीतिशास्त्रीय

विचारधारा के प्रारम्भिक सम्प्रदाय । 5. प्लेटो और अरस्तू । 6. मध्ययुगीन नीति । 7. आधुनिक काल में नीतिशास्त्रीय सम्प्रदाय ।

अध्याय 2. नीतिशास्त्रीय सिद्धान्त के प्ररूप 114

1. सामान्य सर्वेक्षण । 2. तर्कना और मनोवेग । 3. उचित और शुभ । 4. कर्तव्य, सुख, पूर्णता । 5. मिले-जुले सिद्धान्त ।

अध्याय 3. मानक : नियम के रूप में 118

भाग 1 : नैतिक नियम का सामान्य प्रत्यय । 1. प्राक्कथन । 2. नीति-शास्त्र में नियम का अर्थ । 3. है, अवश्य है, और होना चाहिए । 4. निरपेक्ष या निरुपाधिक आदेश । भाग 2 : नैतिक नियम के बारे में विभिन्न धारणाएँ । 5. कबीले का नियम । 6. ईश्वर का नियम । 7. प्रकृति का नियम । 8. नैतिक संवित्ति । 9. अन्तर्भावना का नियम । 10. अन्तःप्रज्ञावाद । 11. तर्कना का नियम । भाग 3 : कांट का सिद्धान्त । 12. नैतिक तर्कना के बारे में कांट का मत । 13. कांट की आलोचना—(1) आकारवाद । 14. कांट की आलोचना—(2) कठोरता । 15. कांट के सिद्धान्त का वास्तविक अर्थ ।

अध्याय 4. मानक : सुख के रूप में 146

1. प्राक्कथन । 2. उच्च और निम्न जगत् । 3. इच्छाओं की तृप्ति । 4. सुखवाद के विविध प्रकार । 5. नैतिक सुखवाद । 6. सुख का परिमाण । 7. स्वसुखवाद । 8. सर्वसुखवाद । 9. सर्वसुखवाद के समर्थन में सिजविक का तर्क । 10. सुखवाद की सामान्य आलोचना—(क) सुख और मूल्य, (ख) सुखों का गुण, (ग) सुखों के प्रकार, (घ) सुख अपनी वस्तु से अविभाज्य होता है, (ङ) क्या सुखों का योग सम्भव है?, (च) आकारशून्य विषय-वस्तु । 11. सुखवाद के बारे में कुछ अर्वाचीन मत । 12. प्रसन्नता की असुखवादी व्याख्या । 13. प्रसन्नता के प्रकार । 14. आदर्श उपयोगिता-वाद । 15. नैतिक साध्य के बारे में कांट का मिश्रित सिद्धान्त ।

अध्याय 5. मानक : पूर्णता के रूप में 171

1. क्रम-विकास का नीति में अनुप्रयोग । 2. जीवन का विकास । 3. विकास के उच्च और निम्न दृष्टिकोण । 4. आदिपरक व्याख्या । 5. नीतिशास्त्र के बारे में हर्बर्ट स्पेन्सर का मत । 6. स्पेन्सर के मत की आलोचना । 7. अन्य क्रम-विकासवादियों के मत । 8. नीतिशास्त्र में प्राकृतिक चुनाव । 9. साध्यवाद की आवश्यकता । 10. अन्तर्परक व्याख्या । 11. उद्गामी क्रम-विकास । 12. हेगेल का नीतिशास्त्र के बारे में मत । 13. हेगेलीय मत का आधुनिक नीतिशास्त्र पर प्रभाव । 14. नीतिशास्त्र के बारे में ग्रीन का मत । 15. सच्ची आत्मा । 16. आत्मसंगति का सही अर्थ । 17. प्रसन्नता का सही अर्थ ।

अध्याय 6. मानक : मूल्य के रूप में 189

1. मुख्य सिद्धान्तों का सारांश । 2. मूल्य की अवधारणा । 3. श्रेयस् या शुभ का अर्थ । 4. प्रकृतिवादी भ्रान्ति । 5. शुभ और नैतिक शुभ ।

6. परम शुभ । 7. पूर्ण शुभ और नैतिक शुभ । 8. शुभ और उचित । 9. व्यक्तिनिष्ठ औचित्य और वस्तुनिष्ठ औचित्य । 10. क्या व्यक्तिनिष्ठ उचित सर्वदा वस्तुनिष्ठ उचित होता है ? 11. क्या सभी कार्य व्यक्तिनिष्ठ दृष्टि से उचित होते हैं ? 12. क्या सभी कार्य वस्तुनिष्ठ दृष्टि से उचित होते हैं ? 13. शुभ और अशुभ से परे । 14. अन्तर्विवेक का स्थान । 15. सामान्य निष्कर्ष । 16. प्रयोज्य नीतिशास्त्र की ओर संक्रमण ।

अध्याय 7. मानक-सम्बन्धी सिद्धान्तों का सारांश

204

1. मौलिक अन्तर । 2. निरपेक्ष नियम-सम्बन्धी धारणा । 3. कल्याण को साध्य मानने वाला विचार । 4. पूर्णता को साध्य मानने वाला विचार । 5. शुभ की सामान्य धारणा । 6. नीतिशास्त्र और सामाजिक दर्शन ।

अध्याय 8. नैतिक मानक का आप्तत्व

211

1. आप्तत्व-सम्बन्धी सामान्य समस्या । 2. आप्तत्व के विभिन्न भेद । 3. नैतिक आप्तत्व-सम्बन्धी विभिन्न मत । 4. कानून का आप्तत्व । 5. नैतिकता की अनुशास्तियाँ । 6. अन्तर्भावना का आप्तत्व । 7. तर्कबुद्धि का आप्तत्व । 8. नैतिक आप्तत्व की चरमता ।

अध्याय 9. सिद्धान्त का व्यवहार पर प्रभाव

222

1. विभिन्न मत । 2. विभिन्न नैतिक सिद्धान्तों के साथ विभिन्न दृष्टिकोणों का सम्बन्ध । 3. अन्तःप्रज्ञावादी दृष्टिकोण । 4. उपयोगितावादी दृष्टिकोण । 5. विकासवादी दृष्टिकोण । 6. प्रत्ययवादी दृष्टिकोण । 7. परिणामों का सारांश । 8. नीतिशास्त्र और तर्कशास्त्र की तुलना । 9. प्रयोज्य नीतिशास्त्र की विवेचना ।

खण्ड 3

नैतिक जीवन

अध्याय 1. सामाजिक एकता

233

1. सामाजिक अहम् । 2. समाज : एक एकता । 3. स्वार्थवाद और परार्थवाद । 4. स्पेन्सर द्वारा स्थापित सामंजस्य । 5. आत्मत्याग द्वारा आत्मसिद्धि । 6. नीतिशास्त्र, राजनीति का एक अंग । 7. नीतिशास्त्र के सम्बन्ध में प्लेटो का मत । 8. नीतिशास्त्र के सम्बन्ध में अरस्तू का मत । 9. विश्व-नागरिकता । 10. ईसाई नीतिशास्त्र । 11. सामाजिक संसार । 12. समाज एक जीवांग । 13. सामाजिक जगत् की श्रेष्ठता । 14. सामाजिक एकता के साथ अन्तर्भावना का सम्बन्ध ।

अध्याय 2. नैतिक संस्थाएँ

245

1. सामाजिक आदेश । 2. न्याय । 3. कानून और जनमत । 4. अधिकार और आबन्ध । 5. मनुष्य के अधिकार—(क) जीवन, (ख) स्वाधीनता, (ग) सम्पत्ति, (घ) संविदा, (ङ) शिक्षा । 6. अधिकारों और आबन्धों का चरम अर्थ । 7. सामाजिक संस्थाएँ—(क) परिवार, (ख)

कर्मशाला, (ग) नागरिक समाज, (घ) धर्म-संस्थान, (ङ) राज्य, (च) मैत्री ।
8. सामाजिक प्रगति । 9. व्यक्तिवाद और समाजवाद । 10. सामाजिक न्याय ।

अध्याय 3. कर्त्तव्य

260

1. नैतिक नियमों का स्वरूप । 2. जीवन का आदर । 3. स्वाधीनता का सम्मान । 4. चरित्र का सम्मान । 5. सम्पत्ति का सम्मान । 6. सामाजिक व्यवस्था का सम्मान । 7. सत्य का सम्मान । 8. प्रगति का सम्मान । 9. किर्त्तव्यमीमांसा । 10. सर्वोच्च नियम । 11. किर्त्तव्यमीमांसा पर टिप्पणी । 12. प्रथागत नियम । 13. पूर्ण और अपूर्ण आबन्ध के कर्त्तव्य । 14. व्यक्ति का स्थान और उसके कर्त्तव्य । 15. आचरण के नियम ।

अध्याय 4. सद्गुण

279

1. सद्गुणों और धर्मोपदेशों का सम्बन्ध । 2. सामाजिक स्थितियों से सद्गुणों का सम्बन्ध । 3. लोकाचार । 4. सामाजिक कार्यों से सद्गुणों का सम्बन्ध । 5. सद्गुण का स्वरूप । 6. मुख्य सद्गुण । 7. चरित्र की शिक्षा । 8. नैतिक हेतुनुमान । सद्गुणों के वर्गीकरण पर टिप्पणी ।

अध्याय 5. व्यक्तिगत जीवन

294

1. व्यक्तिगत और सामाजिक नैतिकता । 2. ब्रैडले का विरोधाभास । 3. नैतिक सुधार का स्थान । 4. मत-परिवर्तन । 5. अन्तर्भावना-शीलता । 6. आत्म-परीक्षण । 7. आदर्श का अध्ययन । 8. मुनि-जीवन । 9. सुन्दर आत्माएँ । 10. यतित्ववाद । 11. चिन्तनशील जीवन । 12. आन्तरिक और बाह्य जीवन का सम्बन्ध । 13. सद्गुणी व्यक्ति और संसार । 14. नैतिक सुधार ।

अध्याय 6. नैतिक विकृति-निदान

311

1. नैतिक विकृति । 2. दुर्गुण । 3. पाप । 4. अपराध । 5. दण्ड । 6. दण्ड-सम्बन्धी सिद्धान्त । 7. उत्तरदायित्व । 8. अनुताप । 9. सुधार । 10. क्षमा । 11. हेगेल का दण्ड-सिद्धान्त । 12. मानसिक विकृति-सम्बन्धी आधुनिक अध्ययन । 13. सामाजिक भ्रष्टाचार ।

अध्याय 7. नैतिक प्रगति

328

1. सामाजिक विकास । 2. नैतिक विश्व । 3. हमारे जगत् का अन्तर्विरोध । 4. अपूर्णता की भावना । 5. नैतिक अन्तर्दृष्टि का गम्भीर होना । 6. नये आबन्ध । 7. नैतिक परिवर्तन और पर्यावरण का परिवर्तन । 8. आदर्श जगत् ।

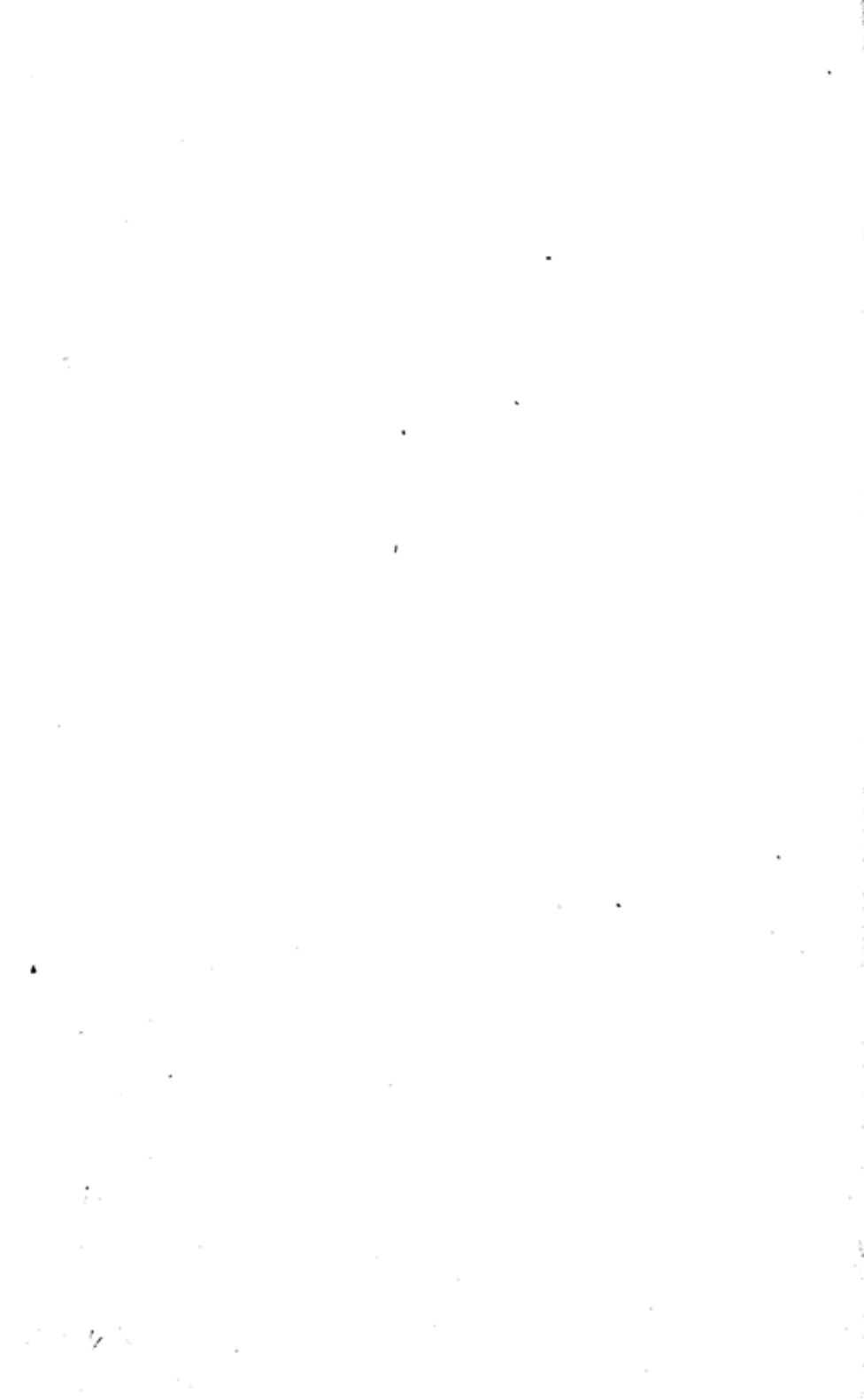
अध्याय 8. कुछ चरम समस्याएँ

340

1. नैतिकता के आधार-तत्त्व । 2. स्वाधीनता के आधार-तत्त्व । 3. मूल्य-सम्बन्धी निर्णयों की विश्वसनीयता । 4. किर्त्तव्यमीमांसीय समस्याएँ । 5. नीति और धर्म । 6. तत्त्वमीमांसा और नीतिशास्त्र ।

परिशिष्ट : नीति-साहित्य पर टिप्पणी

350



विषय-प्रवेश



अध्याय 1

नीतिशास्त्र का क्षेत्र

1. नीतिशास्त्र की परिभाषा

परिभाषा के रूप में कहा जा सकता है कि नीतिशास्त्र उस चीज का अध्ययन है जो आचरण (Conduct) को अच्छा, उचित या शुभ बनाती है। नीतिशास्त्र आचरण की सामान्य मीमांसा है और मनुष्यों के कामों पर वह अच्छाई-बुराई, औचित्य-अनौचित्य, शुभ-अशुभ परिणामों के उत्पन्न होने की दृष्टि से विचार करता है। नीतिशास्त्र के लिए अंग्रेजी में 'एथिक्स' (Ethics) और 'मॉरल फिलॉसफी' (Moral Philosophy) नाम प्रचलित हैं। 'एथिक्स' शब्द यूनानी नाम 'टा एथिका' से लिया गया है। इस नाम का भी मूल शब्द 'एथॉस' है, जिसका अर्थ है चरित्र; और यह मूल शब्द 'ईथॉस' से सम्बन्ध रखता है, जिसका अर्थ है रूढ़ि या आदत। 'मॉरल' शब्द लैटिन के 'मोरीज' (mores) से निकला है, जिसका अर्थ है आदतें या रूढ़ियाँ। इस प्रकार, व्युत्पत्ति के आधार पर कहा जा सकता है कि नीतिशास्त्र मनुष्यों की आदतों और रूढ़ियों का, अथवा, दूसरे शब्दों में, उनके चरित्रों का, अर्थात् जिन सिद्धान्तों के अनुसार काम करते रहने की उनकी आदतें बन जाती हैं उनका विवेचन करता है तथा यह विचार करता है कि वे कौन-सी बातें हैं जो उन सिद्धान्तों को उचित या अनुचित बनाती हैं, जो उन आदतों को अच्छी-बुरी या शुभ-अशुभ बनाती हैं। यहाँ 'उचित' (Right) और 'शुभ' (Good) को थोड़ा समझ देना आवश्यक लगता है।

(1) उचित (Right)—अंग्रेजी शब्द 'राइट' लैटिन के 'रेक्टस' (rectus) से निकला है, जिसका अर्थ है 'सीधा' या 'नियमानुसार'। यूनानी में इसका समानार्थक शब्द 'डाइकैओस' (dikaos) है और इसका भी मूल अर्थ 'नियमानुसार' है। इस प्रकार, जब हम कहते हैं कि अमुक आचरण 'राइट' यानी उचित है तब हमारा अभिप्राय मूलतः यह बताना होता है कि वह नियम के अनुसार है। लेकिन नियमों का सम्बन्ध किसी परिणाम से होता है जो उनके अनुसार चलने से प्राप्त होता है। दूसरा अंग्रेजी शब्द 'गुड' (Good) इसी बात की ओर संकेत करता है।

(2) शुभ (Good)—अंग्रेजी शब्द 'गुड' जर्मन शब्द 'गुट' (gut) से मिलता-जुलता है, और इसका मूल भी वही है जो यूनानी शब्द 'अगैथोस' (agathos) का है। किसी चीज को आमतौर पर 'गुड' अर्थात् 'शुभ' तब कहा जाता है जब किसी साध्य (end) के लिए उसका महत्त्व होता है। इस प्रकार, एक विशेष प्रकार की दवाओं को एक विशेष रोग के लिए शुभ या अच्छा कहा जाता है। इसी तरह, जब हम किसी आचरण को शुभ या अच्छा कहते हैं तब हमारा अभिप्राय यह हो सकता है कि जो साध्य या आदर्श हमारे सामने है उसके लिए वह उपयोगी है। फिर भी, यह बात विशेष रूप से ध्यान देने की है कि 'शुभ' शब्द का प्रयोग किसी ऐसी चीज के लिए भी होता है जो किसी साध्य का साधन नहीं है बल्कि स्वयं साध्य मानी जाती

है। कहना तो यह चाहिए कि इसका अधिक प्रयोग शायद इसी अर्थ में होता है। इस प्रकार परम शुभ (Summum Bonum: Supreme Good) का अर्थ है वह सर्वोच्च साध्य जिसे हम अपने आदर्श के रूप में सामने रखते हैं।

अतः जब हम कहते हैं कि नीतिशास्त्र मनुष्य के आचरण के औचित्य या शुभत्व का अध्ययन करता है तब हमारा मतलब यह होता है कि वह हमारे सामने जो भी साध्य या आदर्श हो उसके लिए मनुष्य के आचरण की उपयोगिता पर विचार करता है तथा यह देखता है कि कौनसे नियम या सामान्य सिद्धान्त ऐसे हो सकते हैं जिनके अनुसार अपने आचरण को बनाकर हम इस साध्य को प्राप्त कर सकते हैं। लेकिन हमें किसी साध्य के लिए यदि अपने कामों की उपयोगिता देखनी है और यह विचार करना है कि किन नियमों या शर्तों के पालन करने से हम उस साध्य को पा सकते हैं, तो स्पष्ट है कि हमें स्वयं साध्य के स्वरूप की कुछ जानकारी होनी चाहिए।

ऐसे तो बहुत-से साध्य हैं जो हमारे कामों को प्रेरित कर सकते हैं, जैसे कोई मकान बनाना, कोई किताब लिखना, किसी परीक्षा में उत्तीर्ण होना, इत्यादि। चूंकि नीतिशास्त्र सम्पूर्ण आचरण का अध्ययन करता है न कि कुछ विशिष्ट प्रकार के आचरणों का, इसलिए वह किन्हीं विशिष्ट साध्यों को अपने अध्ययन का विषय नहीं बनाता बल्कि परम या चरम साध्य को बनाता है जिसकी ओर हमारा सम्पूर्ण जीवन गतिमान है। इसी साध्य को आमतौर पर परम शुभ कहा जाता है।

शुरू में निःसन्देह यह बात विवादास्पद लगेगी कि मानव-जीवन का कोई एक ही परम साध्य है। लोग तरह-तरह की चीजों को प्राप्त करने के प्रयत्न में लगे हैं। कुछ धन चाहते हैं; कुछ स्वतन्त्रता चाहते हैं; कुछ शक्ति की कामना करते हैं। कुछ यश पाने के लिए उत्सुक हैं; कुछ ज्ञान के भूखे हैं; कुछ प्रेम के; और कुछ ऐसे भी हैं जो दूसरों को प्यार करने और दूसरों की सेवा करने में ही अपना परम कल्याण मानते हैं।¹ कुछ लोगों को उत्तंजना बहुत भाती है; कुछ शान्तिप्रिय होते हैं। कुछ लोग नाना प्रकार की रुचियाँ अपने जीवन में भर देते हैं। उन्हें कला और विज्ञान के अध्ययन का चाव होता है और साथ ही सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं के विकास का भी। लेकिन कुछ ऐसे होते हैं जो इन सारी बातों को व्यर्थ समझते हैं; और कुछ तो ऐसे भी होते हैं जो इन सबसे घृणा से मुँह मोड़कर सबसे अच्छा मृत्यु का वरण करके शान्ति-लाभ करना मानते हैं।² इनके अलावा कुछ ऐसे हैं जिनकी सर्वोच्च आशाएँ मृत्यु के बाद के नए जीवन पर लगी हुई हैं जब वे इससे अच्छी दुनिया में पूर्णता प्राप्त कर सकेंगे।

लेकिन हम थोड़ा विचार करें तो देखेंगे कि इन साध्यों में से अनेक ऐसे हैं जिन्हें अन्तिम नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए, जिन्हें धन या स्वतन्त्रता

1. "यह बात माताओं के प्यार करने में आनन्द लेने से प्रकट होती है। कुछ माताएँ अपने बच्चों को पालने के लिए दूसरों को दे देती हैं और चूँकि वे उन्हें जानती हैं इसलिए उन्हें प्यार करती हैं, लेकिन प्यार करना और प्यार का प्रतिदान माँगना दोनों बातें यदि एक साथ सम्भव नहीं होती तो वे प्यार का प्रतिदान नहीं माँगीं। अपने बच्चों को भले-चंगे देखकर वे सन्तोष करती हैं और उन्हें प्यार करती हैं, हालाँकि उनके अज्ञान के कारण माँ को उनसे जो मिलना चाहिए वैसा कुछ भी नहीं मिलता।" अरस्तू का *Ethics*, VIII, viii, 3।
2. उदाहरण के लिए, शेक्सपियर के सॉनेट LXVI की पंक्तियाँ देखिए, जिनका भाव कुछ इस प्रकार है—“इन सबसे थककर मेरी शान्तिपूर्ण मृत्यु की कामना है” इत्यादि। बायरन और आधुनिक निराशावादियों की रचनाओं में इस तरह के कथन बिखरे पड़े हैं।

की चाह है उनसे यदि पूछा जाए तो ज्ञात होगा कि वे प्रायः इन चीजों की कामना उन अनेक लाभों के लिए करते हैं जो इनसे मिलते हैं। इससे सिद्ध होता है कि जो इन्हें पाने के लिए प्रयत्नशील हैं वे इन्हें अन्तिम साध्य नहीं मानते बल्कि किसी और चीज की प्राप्ति के लिए इनकी कामना करते हैं।

फिर भी, यह मानकर चलना उचित नहीं लगता कि मनुष्य-जीवन का कोई एक ही अन्तिम उद्देश्य है। असल में, हमें इस सवाल पर अपने अध्ययन के दौरान में आगे विचार करना होगा कि ऐसा कोई एक उद्देश्य पाया जा सकता है या नहीं। जिस बात को मानकर चलना हमारे लिए जरूरी है वह मात्र यह है कि जीवन का कोई आदर्श अवश्य है, अर्थात् निर्णय का कोई मानक (standard) ऐसा है जिसे दृष्टि में रखकर हम कह सकते हैं कि एक प्रकार का आचरण दूसरे से अच्छा है। अध्ययन में आगे बढ़ते हुए हमें यह जानने का प्रयत्न करना है कि इस आदर्श या मानक का स्वरूप क्या है—क्या यह किसी एक परम साध्य की ओर संकेत करता है, या किसी एक नियम-संहिता की ओर जो किसी समर्थ सत्ता के द्वारा हमारे ऊपर लाद दी गई है, या किसी आदर्श प्रकार के मानवीय जीवन की ओर जिसकी हमने किसी तरह अपने लिए कल्पना कर ली है? अथवा इस आदर्श के स्वरूप को निर्धारित करने वाला कोई और तरीका सम्भव है? फिलहाल नीतिशास्त्र की यह परिभाषा समुचित लगती है कि वह मानव-जीवन में ओतप्रोत आदर्श का विज्ञान या सामान्य अध्ययन है।¹

2. नीतिशास्त्र का स्वरूप

नीतिशास्त्र एक मानकीय (Normative) अध्ययन है—नीतिशास्त्र के एक साध्य, आदर्श, या मानक से सम्बन्धित होने की बात से तुरन्त पता चल जाता है कि वह अधिकतर विज्ञानों से भिन्न है।

अधिकतर विज्ञान हमारे अनुभव की कुछ एकरूपताओं (uniformities) से सम्बन्ध रखते हैं। वे यह छानबीन करते हैं कि अमुक वर्ग की वस्तुओं (जैसे चट्टानों या पेड़-पौधों) का स्वरूप क्या है, अथवा अमुक प्रकार की घटनाएँ (जैसे ध्वनि या बिजली) कैसे घटती हैं। ये विज्ञान किसी ऐसे साध्य से सीधा सम्बन्ध नहीं रखते जिसे हमें प्राप्त करना है और न किसी ऐसे आदर्श की ओर संकेत करते हैं जिसे सामने रखकर हमें तथ्यों का मूल्यांकन करना है। वे जो जानकारी देते हैं वह, निश्चय ही, किन्हीं प्रयोजनों के लिए उपयोगी साबित हो सकती है। चट्टानों की जानकारी उन लोगों के लिए उपयोगी होगी जो मकान बनाना चाहते हैं या खान खोदना चाहते हैं। बिजली के बारे में जानकारी उनके लिए उपयोगी है जो अपने मकानों को बचाना चाहते हैं या सन्देश पहुँचाने वाले तार लगाना चाहते हैं। लेकिन इस तरह के विषयों का अध्ययन करने वाले विज्ञानों की सत्यता में इस बात से कोई फर्क नहीं आता कि लोग उनकी जानकारी का उपयोग कुछ उद्देश्यों की पूर्ति के लिए करते हैं। ज्योतिष (astronomy) में नीहारिकाओं (nebulae) के अध्ययन का सौर-परिवार (solar system) के अध्ययन से कम महत्त्व नहीं है, हालाँकि सौर-परिवार की जानकारी का नौचालन (navigation) की कला में सीधा उपयोग किया

1. नीतिशास्त्र के सामान्य स्वरूप की जानकारी के लिए ये ग्रंथ भी द्रष्टव्य हैं : Sidgwick का History of Ethics, अध्याय 1; Muirhead का Elements of Ethics, खण्ड 1; Moore का Principia Ethica, अध्याय 1; तथा Sidgwick का Methods of Ethics, खण्ड 1, अध्याय 1।

जा सकता है, जबकि नीतिशास्त्रियों की जानकारी का कोई सीधा व्यावहारिक उपयोग नहीं है।

अतः नीतिशास्त्र का अध्ययन प्राकृतिक विज्ञानों (natural sciences) से अलग है, क्योंकि उसका सीधा सम्बन्ध एक साध्य से है जिसे पाने की लोग इच्छा करते हैं, अथवा एक आदर्श से है जिसे वे अपने जीवन में अधिक-से-अधिक उतारना चाहते हैं।

लेकिन नीतिशास्त्र को किसी भी तरह ऐसा एकमात्र विज्ञान नहीं कहा जा सकता जिसका सीधा सम्बन्ध किसी साध्य से हो। कम-से-कम दो और शास्त्र ऐसे हैं जिन्हें सब विज्ञान मानते हैं और जिनकी स्थिति नीतिशास्त्र में मिलती-जुलती है। इनमें से एक तर्कशास्त्र (Logic) है और दूसरा सौन्दर्यशास्त्र (Aesthetics)। जिस तरह नीतिशास्त्र मनुष्य के प्रयोजनों और कामों में जो शुभ और उचित होता है उसका अध्ययन करता है, ठीक उसी तरह तर्कशास्त्र सत्य की प्राप्ति की सामान्य शर्तों का और सौन्दर्यशास्त्र सौन्दर्य की सृष्टि और सौन्दर्य-बोध की प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है। इस तरह के अध्ययनों को कभी-कभी मानवीय या आदर्शक कहा जाता है।¹ इनका सम्बन्ध मूल्य (value) के मानकों से होता है, जिस चीज का अस्तित्व होता है या जो घटना घटती है उसके निरीक्षण और विश्लेषण से नहीं। आगे चलकर इसका मतलब अधिक साफ़ हो जाएगा।

फिलहाल यह ध्यान रखना काफी है कि हमारे अनुभव में तीन सर्वोच्च मूल्य दिखाई देते हैं—सत्यता (Truth), सौन्दर्य (Beauty) और शुभत्व (Goodness)। इनका हमारी चेतना के तीन प्रमुख पक्षों—ज्ञान, अनुभूति और क्रिया—से कुछ घनिष्ठ सम्बन्ध है। थोड़ा-थोड़ा करके हम सत्य को जानते हैं, सुन्दर को पहचानना सीखते हैं, और थोड़ा-थोड़ा करके हमें उचित काम को करना आता है। तर्कशास्त्र, सौन्दर्य-शास्त्र तथा नीतिशास्त्र अनुभव के इन तीन क्षेत्रों की सामान्य शर्तों का यथासम्भव सांगोपांग अध्ययन करते हैं।

3. नीतिशास्त्र का स्वरूप

नीतिशास्त्र व्यावहारिक विज्ञान (Practical Science) नहीं है—यह देखते हुए कि नीतिशास्त्र का कर्म (action) से सम्बन्ध है, नीतिशास्त्र को कहीं-कहीं एक व्यावहारिक विज्ञान बताया गया है। लेकिन यह बात भ्रम में डालनेवाली है। कुछ विज्ञान निश्चित रूप से ऐसे हैं जिन्हें व्यावहारिक कहना सही है, जैसे चिकित्सा-विज्ञान, इंजीनियरी या वास्तुशिल्प (architecture)। ऐसे विज्ञानों का प्रयोजन एक निश्चित परिणाम को प्राप्त करना होता है। नैतिक सुधार के विज्ञान को इन विज्ञानों के वर्ग में रखा जा सकता है, लेकिन तब वह सामान्य शिक्षाशास्त्र का अंग समझा जाएगा।

1. इस प्रसंग में Dr. W. E. Johnson का Logic, भाग 1, पृष्ठ xx, xxi, और 225-6 देखना उपयोगी रहेगा। लेखक ने कहा है कि मानकीय और अन्य प्रकार के अध्ययनों का अन्तर ऐसा नहीं है जिसे साफ़-साफ़ बताया जा सकता हो, और यह बात भी ध्यान देने की है कि नीतिशास्त्र के कुछ प्रख्यात लेखकों ने इस अन्तर को स्पष्ट रूप से ध्यान में नहीं रखा। यह बात आगे समझ में आ जाएगी। हमें मानना पड़ेगा कि 'मानकीय' शब्द का प्रयोग बहुत बढ़िया नहीं है कुछ बातों को देखते हुए 'मूल्यमीमांसीय' (axiological) शब्द अधिक अच्छा लगता है। लेकिन इसके प्रयोग में बाधा यह है कि हम शुरू से ही मानव के स्वरूप के बारे में एक विशिष्ट मत का निश्चयात्मक ढंग से समर्थन करते प्रतीत होंगे।

एक सैद्धान्तिक अध्ययन के रूप में नीतिशास्त्र इससे अलग चीज होगा, ठीक वैसे ही जैसे तर्कशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र हैं। तर्कशास्त्र सत्य की खोज और सत्य के बोध की सामान्य शर्तों से सम्बन्ध रखता है; और सौन्दर्यशास्त्र उन सामान्य शर्तों की छानबीन करता है जिनसे सुन्दर वस्तु की सृष्टि और सौन्दर्य का बोध सम्भव होता है। इसी तरह नीतिशास्त्र भी उन सामान्य शर्तों का अध्ययन करता है जो आचरण को उचित, अच्छा या शुभ बनाती हैं।

इन सभी मामलों में निहित सिद्धान्तों का चिन्तन-मनन करने से यह आशा की जा सकती है कि व्यवहार में उन्हें लागू करने में सहायता मिलेगी। जिस आदमी ने तर्कशास्त्र पढ़ा है उससे आशा की जा सकती है कि वह, जिसने नहीं पढ़ा, उसकी अपेक्षा अधिक सही विचार करेगा। जिसने सौन्दर्यशास्त्र पढ़ा है उससे हम आशा कर सकते हैं कि उसका प्रकृति और कलाकृतियों का सौन्दर्य-बोध तब की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म होगा जब उसने नहीं पढ़ा था, और कला-सृष्टि में भी वह तब की अपेक्षा अधिक सतर्क होगा। इसी तरह जो नीतिशास्त्र पढ़ता है उसका नैतिक विवेक पहले की अपेक्षा अधिक सूक्ष्मग्राही होना चाहिए और जो उचित एवं शुभ है उसे करने में उसे पहले से अधिक उत्साह दिखाना चाहिए तथा बुराई की अल्प मात्रा से भी बचना चाहिए।

लेकिन ऐसा होना अनिवार्य नहीं है और न यह इस तरह के अध्ययनों का मुख्य प्रयोजन ही है। यह जरूरी नहीं है कि सर्वोच्च कोटि का तर्कशास्त्री सर्वोत्तम विचारक और आविष्कारक भी हो। ऐसा होने के लिए प्रायः अधिक महत्त्व इस बात का होता है कि विशिष्ट विषयों में रुचि हो और उनकी जानकारी हो। इसी तरह सबसे महान् कवि और चित्रकार या प्रकृति के सबसे बड़े प्रशंसक और प्रेमी हमेशा सौन्दर्यशास्त्र के सिद्धान्तों के जानकार नहीं होते। ठीक ऐसे ही यह भी कहा जा सकता है कि जो लोग वीर या साधु बनते हैं वे नीतिशास्त्र पढ़ने से नहीं बनते।

इसमें सन्देह नहीं है कि कुछ ऐसी ही बातें उन अध्ययनों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती हैं जिन्हें हम उचित रूप से व्यावहारिक मानते हैं, जैसे इंजीनियरी, चिकित्सा-विज्ञान या युद्ध-विद्या। इन क्षेत्रों में भी अनुभवी कार्यकर्ता गम्भीर अध्ययन मात्र करनेवाले से अधिक फायदे में रहता है। फिर भी, आमतौर पर इन अध्ययनों का सीधा प्रयोजन लोगों को विशेष काम करने के लिए योग्यता-सम्पन्न करना होता है। इसके विपरीत, मोटे तौर पर यह नहीं कहा जा सकता कि सौन्दर्यशास्त्र पढ़ाने का प्रयोजन विद्यार्थियों को कलाकार की निपुणता प्रदान करना है या नीतिशास्त्र पढ़ाने का प्रयोजन उन्हें सज्जन बनने की योग्यता देना है। नीतिशास्त्र के विद्यार्थी से सज्जन या वीर पुरुष जितना सीख पाएगा उससे अधिक शायद नीतिशास्त्र का विद्यार्थी ही उससे सीखेगा।

जिन अध्ययनों को मानकीय कहा जाता है उनका प्रयोजन रास्ता दिखानेवाले सिद्धान्तों की जानकारी देना होता है, न कि यह समझाना कि उन सिद्धान्तों को व्यवहार में कैसे लागू किया जाए। और यह जितना तर्कशास्त्र या सौन्दर्यशास्त्र के बारे में कहा जा सकता है उससे भी अधिक शायद नीतिशास्त्र के बारे में कहा जाएगा, क्योंकि मानव-जीवन में कर्म का भाग विचार या सौन्दर्य-बोध की अपेक्षा बड़ा है और वह करने से जितना अधिक आता है उतना क्रमबद्ध चिन्तन-मनन से नहीं।

4. नीतिशास्त्र का स्वरूप

नीतिशास्त्र आचरण की कला नहीं है—अब यह सबके द्वारा मान लिया गया

है कि सत्यता, सौन्दर्य और शुभत्व मनुष्यों के चरम उद्देश्य हैं। यह पूछना बेतुका लगता है कि हम जानना क्यों चाहते हैं, सुन्दर वस्तु का अनुभव क्यों करना चाहते हैं, और जो उचित हो उसे क्यों करना चाहते हैं। फिर भी, तुरन्त समझ में नहीं आता कि इन महान् उद्देश्यों का स्वरूप ठीक-ठीक क्या है, अथवा वे शर्तें क्या हैं जिनको पूरा करने पर इनकी प्राप्ति की जा सकती है।

इन शर्तों के पालन को एक कला कहा जा सकता है। इस अर्थ में हम कह सकते हैं कि विचार की एक कला होती है और आचरण की भी एक कला होती है, ठीक वैसे ही जैसे चित्रकारी, संगीत और काव्य की कलाएँ होती हैं, जिनके द्वारा सुन्दर वस्तुओं की सृष्टि की जाती है। लेकिन तर्कशास्त्र को विचार की कला कहना उचित नहीं है, और न सौन्दर्यशास्त्र का उन विशिष्ट कलाओं में से किसी एक से अभेद किया जा सकता है जो सुन्दर वस्तुओं की सृष्टि करती हैं।

इसी तरह, नीतिशास्त्र को आचरण की कला कहना सही नहीं लगता। और उसे विज्ञान कहना तो और भी भ्रामक है, हालाँकि शायद यहाँ सबाल शब्दों के प्रयोग से थोड़ा ही अधिक है। किसी विज्ञान का अध्ययन करते हुए दुनिया में जितनी वस्तुएँ अस्तित्व रखती हैं उनके एक विशिष्ट वर्ग के बारे में जानकारी प्राप्त करने का हम प्रयत्न करते होते हैं। किसी कला का अध्ययन करते हुए हम किसी वर्ग-विशेष की वस्तुओं से व्यवहार करने की शक्ति प्राप्त करते होते हैं। जिन अध्ययनों को मानकीय कहा जाता है उनमें हम सत्यता, सौन्दर्य और शुभत्व—इन तीन सर्वोच्च मूल्यों के स्वरूप को समझने का प्रयत्न करते होते हैं; ज्ञान, मूल्यांकन और कर्म के विशेष प्रकार जिसके सहायक होते हैं।

अब इन अध्ययनों को विज्ञान या कला मानने के बजाय दर्शन का अंग मानना एक साधारण बात हो गई है। यहाँ तक कहा गया है कि पूर्वोक्त सर्वोच्च मूल्यों का अध्ययन ही दर्शन का एकमात्र विषय है क्योंकि, जैसा इन नाम से स्पष्ट है, दर्शन का लक्ष्य लौकिक वस्तुओं का ज्ञान बढ़ाना नहीं बल्कि परमार्थ का साक्षात्कार करना है।¹ फिर भी, यह बात माननी पड़ेगी कि नीतिशास्त्र के पिछले लेखकों ने सदा इस अन्तर को ध्यान में नहीं रखा है; और एक सामान्य पाठ्य-पुस्तक में इस विषय का वर्णन करने में यह जरूरी है कि जिन लेखकों ने इस अन्तर को ध्यान में नहीं रखा है उन्होंने इस विषय के बारे में जो लिखा है उसका भी कुछ विचार रखा जाए। नीतिशास्त्र का इतिहास ऐसे मतों का इतिहास है जो थोड़े-बहुत गलत हैं, लेकिन इन गलतियों को मनुष्य के बुद्धि-विकार का फल मात्र कहकर नहीं टाला जा सकता। असल में, इस विषय में ही कुछ ऐसी सहज जटिलताएँ हैं जिनके कारण ये गलतियाँ हुई हैं; और शुरू में ही इन जटिलताओं के सामान्य स्वरूप को बता देना अच्छा रहेगा।

5. क्या आचरण की कोई कला है भी ?

हमने देखा कि नीतिशास्त्र का हमें आचरण की कला सिखाने की बात कहना गलत लगता है। फिर हमने यह भी देखा कि नीतिशास्त्र तर्कशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र से मिलता-जुलता है। लेकिन सौन्दर्यशास्त्र का ललित कलाओं से सम्बन्ध है; और यह कहना भी अनुचित नहीं है कि तर्कशास्त्र विचार करने की कला के लिए आधार प्रदान करता है। अतः यह कहना अस्वाभाविक नहीं लगता कि नीतिशास्त्र आचरण की कला के लिए और नहीं तो कम-से-कम रास्ता दिखानेवाले सिद्धान्त तो दे ही सकता है।

1. बोसान्क्वे (Bosanquet) ने इस बात को काफी अच्छी तरह स्पष्ट किया है। उनके निबन्धों का संग्रह Science and Philosophy, I, में देखिए।

इस कथन के विरुद्ध मुख्य तर्क यह है कि आचरण का रहस्य कृति या संकल्प (Will) की वृत्ति-विशेष में निहित है, न कि एक विशेष प्रकार के कौशल की प्राप्ति में। अच्छा चित्रकार वह है जो सुन्दर चित्र बना सकता हो; और अच्छे विचारक के बारे में भी मोटे तौर से इसी प्रकार की बात कही जा सकती है। लेकिन अच्छे मनुष्य के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अच्छा मनुष्य वह है जो उचित कार्य करता हो, न कि कर सकता हो। हाँ, यह बात भी अवश्य है कि कभी-कभी निश्चेष्ट रहना ही उचित कार्य होता है। “वे भी सेवक ही हैं जो केवल खड़े रहकर यात्रा की प्रतीक्षा करते हैं।” खड़े रहना और प्रतीक्षा करना भी एक प्रकार का आचरण है। आचरण कोई क्षमता (capacity) नहीं, बल्कि आदत है। अरस्तू ने आचरण को ‘चुनाव की आदत’ कहा है। चाहे हम काम करने का चुनाव करें या न करने का, दोनों मामलों में हम चुनाव ही करते हैं। हम निश्चय करते हैं कि हमें करना है या नहीं करना। यहाँ सवाल यथार्थता का नहीं है, जैसा तर्कशास्त्र में होता है; और न सुन्दरता का है, जैसा सौन्दर्यशास्त्र में होता है, बल्कि सवाल है उद्देश्य (purpose) के उचित होने का। नीतिशास्त्र का सीधा सम्बन्ध कर्म से है, इस तरह जिस तरह तर्कशास्त्र इत्यादि मिलते-जुलते शास्त्रों का नहीं है। यहाँ इस अन्तर को स्पष्ट कर देना अच्छा रहेगा। नीचे दो शीर्षकों के अन्तर्गत इसे समझाना सुविधाजनक रहेगा।

(1) केवल काम करने में ही सद्गुण (Virtue) का अस्तित्व है—अच्छा चित्रकार वह है जो सुन्दर चित्र बना सकता हो; लेकिन अच्छा आदमी वह नहीं जो उचित काम कर सकता हो, बल्कि वह है जो उचित काम करता हो। अच्छा चित्रकार तब भी अच्छा होता है जब वह सोया रहता है या यात्रा पर रहता है, अथवा जब किसी अन्य कारण से वह अपनी कला के अभ्यास में नहीं लगा होता।¹ लेकिन अच्छा मनुष्य तब अच्छा नहीं कहलाता जब वह सोया होता है या यात्रा पर होता है, बशर्ते उस समय सोना या यात्रा पर होना ही अच्छा न हो। अच्छाई कोई क्षमता या शक्ति नहीं है बल्कि काम करते रहने में है।

यह एक सीधी-सी बात है, फिर भी इसने प्राचीन दार्शनिकों को बहुत झमेले में डाल दिया था। सज्जनता की कलाओं से उपमा देने से वे जितने भ्रम में पड़े उतने शायद किसी अन्य बात से नहीं।² इस तरह प्लेटो के रिपब्लिक (Republic) में सुक्रेत को यह तर्क देते हुए दिखाया गया है कि यदि न्याय सम्पत्ति को सुरक्षित रखने में है तो न्यायी पुरुष को एक प्रकार का चोर होना चाहिए, क्योंकि जिस तरह का कौशल किसी व्यक्ति को सम्पत्ति की रक्षा करने में समर्थ बनाता है वह उसे सम्पत्ति को

1. देखिए अरस्तू का Ethics, I, viii. 9।

निरसन्देह हम चित्रकार की अच्छाई को उसके काम से आँकते हैं; लेकिन तब की बात यह है कि यदि वह काम रोक दे तो भी उसका कुशल चित्रकार होना नहीं रुकता। एक अच्छा चित्रकार भविष्य में चित्र न बनाने का निश्चय कर सकता है; लेकिन जो अच्छा मनुष्य है वह सत्कर्म के जीवन से संन्यास लेने का, यहाँ तक कि थोड़ा आराम करने का निश्चय भी नहीं कर सकता। सत्कर्म में छुट्टी की गुंजाइश है ही नहीं। चार्ल्स लैम्ब (Charles Lamb) ने कहा है कि कुछ सुखान्तिकाव्यों (Comedies) के आनन्द में मुख्य विशेषता यह होती है कि वे हमें अपनी सदा बनी रहनेवाली नैतिक चेतना के बोझ से मुक्त कर देती हैं। यह शायद ठीक हो, लेकिन कोई इन सुखान्तिकाव्यों में वर्णित रहन-सहन को वास्तविक जीवन में अपनाकर नैतिक जीवन से छुट्टी लेने की सोचे तो वह उस सीमा तक सज्जन नहीं रहेगा।

2. यह बात अरस्तू पर लागू नहीं होती। पिछली टिप्पणी में उल्लिखित उद्धरण देखिए।

चुराने में भी समर्थ बनाएगा।¹ इसका जवाब यह है कि न्याय (justice) कोई कौशल नहीं है, बल्कि एक प्रकार की सक्रियता है। न्यायी व्यक्ति वह नहीं है जो सम्पत्ति को सुरक्षित रख मात्र सकता हो, बल्कि वह है जो उसे सुरक्षित रखता है। हो सकता है कि सम्पत्ति को सुरक्षित रखने की क्षमता उसे हथियाने की क्षमता के तुल्य हो, लेकिन उसे सुरक्षित रखने का काम निश्चय ही उसे हथियाने के काम से बहुत भिन्न है।

जो आदमी किसी चीज के बारे में सचाई को ठीक-ठाक जानता है उसके बारे में झूठी बातें फैलाने के लिए सबसे अधिक योग्य व्यक्ति सामान्यतः निस्सन्देह वही होगा। फिर भी सच बोलनेवाला और झूठा बहुत भिन्न व्यक्ति होते हैं, क्योंकि वे ऐसे व्यक्ति मात्र नहीं हैं जिनके अन्दर विशेष प्रकार की क्षमताएँ मौजूद हों, बल्कि अपने-अपने विशेष तरीकों से काम करनेवाले व्यक्ति हैं। प्रायः सबसे अधिक झूठ बोलनेवालों के अन्दर इस कला की कोई विशेष शक्ति नहीं होती। यही बात अन्य दुर्गुणों (vices) में भी होती है। कहते हैं कि “शैतान एक गधा है।”

(2) सद्गुण का रहस्य कृति या संकल्प में निहित है—जो आदमी विशिष्ट कलाओं में अनाड़ी है, हो सकता है कि वह एक बहुत ही योग्य और सदाशय व्यक्ति हो; लेकिन अच्छे-से-अच्छे आशय के बावजूद भी वह अच्छा कलाकार नहीं बन सकता। सद्गुण की बात इससे बिल्कुल अलग है। जैसा कि काण्ट (Kant) ने कहा है,² “अच्छा संकल्प (good will), उस काम की वजह से जिसे वह करवाता है या उस परिणाम की वजह से जिसे वह पैदा करता है, अच्छा नहीं है, और न वह इस वजह से अच्छा है कि वह किसी प्रस्तावित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उपयोगी है, बल्कि अच्छा वह मात्र संकल्प होने की वजह से है।” “यदि ऐसा भी हो जाए कि भाग्य के विशेष रूप से प्रतिकूल होने के कारण या सौतेली माँ-जैसी प्रकृति की कृपणता से यह संकल्प अपने उद्देश्य को पूरा करने की शक्ति से बिल्कुल ही हीन हो जाए, या यदि अधिकतम प्रयत्न के बावजूद भी वह कुछ न कर सके और कोरा संकल्प ही बना रहे (निश्चय ही कोरी इच्छा नहीं, बल्कि हम जितने सारे साधन जुटा सकते हैं, उनके बल से सम्पन्न) तो भी मणि की तरह वह अपनी ही ज्योति से देदीप्यमान रहेगा, उस चीज के रूप में जिसका पूरा-का-पूरा मूल्य अपने-आप में ही है।” इससे मिलती-जुलती बात ही अरस्तू ने भी कही है।³ जो साधु व्यक्ति ऐसी परिस्थितियों में रहता हो कि उसे अपने उच्चतम सद्गुण को प्रकट करने का अवसर न मिले, उसके बारे में उसने कहा है कि, “उसकी साधुता की ज्योति स्वयं ही जगमगाती रहती है।”

यह सही है कि ललित कलाओं में भी प्रयोजन का कुछ तो महत्त्व होता ही है; और हो सकता है कि हकलाने की आवाज भी अपने विशेष लालित्य से बिल्कुल ही रिक्त न हो।⁴ आचरण में भी, यदि कोई आदमी बिल्कुल ही गलती कर बैठता

1. निस्सन्देह प्लेटो का अभिप्राय मरणा करने का था, लेकिन इसमें जो तर्काभास हैं वह शायद पूरी तरह से स्पष्ट नहीं हुआ है।
2. *Metaphysic of Morals*, I.
3. *Ethics*, I, x. 12.
4. ब्राउनिंग (Browning) के *Andrea del Sarto* की ये पंक्तियाँ देखिए—

“वह जो बाँह है वह शलत जगह पर लगी हुई है; और शरीर को चित्रित करनेवाली रेखाओं में जो दोष हैं वह जन्म्य हैं। लेकिन इसकी आत्मा सही है। उसका अभिप्राय सही है—यह बात एक बच्चा भी समझ सकता है” (भावानुवाद)।

लेकिन यहाँ कला का मूल्यांकन करीब-करीब नैतिक दृष्टिकोण से किया जा रहा है, न कि विशुद्ध सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से। “उसका अभिप्राय सही है” कहना कोई सौन्दर्यशास्त्रीय

है तो हम प्रायः यह समझ लेते हैं कि उसके उद्देश्य में कहीं कुछ त्रुटि थी, कि उसने पर्याप्त रूप से सोचा-विचारा नहीं या उसके शुभ के संकल्प में पर्याप्त बल नहीं रहा। फिर भी, यह अन्तर तो बना ही रहता है कि कला में अन्तिम निर्णय कलाकार की बनाई हुई चीज़ पर निर्भर करता है जबकि नीतिशास्त्र में अन्तिम निर्णय आन्तरिक लक्ष्य पर निर्भर करता है। अथवा, यह कहिए कि नीतिशास्त्र में निष्पत्ति (achievement) को उस आन्तरिक क्रिया से पृथक् नहीं किया जा सकता जो उसकी जननी है।¹

6. क्या आचरण का कोई विज्ञान है ?

चूँकि आचरण की कला की बात कुछ विवादास्पद है, इसलिए आचरण के विज्ञान की बात के औचित्य में भी कुछ संशय उत्पन्न होता है। विज्ञान से हम सामान्यतः यह समझते हैं कि वह हमारे अनुभव के क्षेत्र के एक सीमित अंश का अध्ययन करता है। लेकिन नीतिशास्त्र के अध्ययन में हम अपने अनुभव के सम्पूर्ण क्षेत्र को एक विशेष दृष्टिकोण से देखते हैं जो कि क्रियाशीलता (activity) का अर्थात् साध्यों या आदर्शों के अनुसरण का दृष्टिकोण है। मैथ्यू आर्नल्ड (Matthew Arnold) ने कहा है कि "आचरण जीवन का तीन चौथाई भाग है"; लेकिन वास्तव में यदि प्रयोजनयुक्त क्रियाशीलता की दृष्टि से देखा जाए तो आचरण पूरा ही जीवन है! प्रायः सत्य के अन्वेषण (विज्ञान) और सौन्दर्य के अन्वेषण (ललित कला) का संकुचित अर्थ में नैतिक जीवन से भेद किया जाता है; लेकिन जब सत्य और सौन्दर्य को-उन साध्यों के रूप में देखा जाता है जिन्हें प्राप्त करना है, तब उनका अन्वेषण भी एक प्रकार का आचरण ही है; और तब सभी अन्य साध्यों की तरह इन साध्यों का विचार भी नीतिशास्त्र के क्षेत्र के अन्तर्गत आता है।

अतः एक तरह से नीतिशास्त्र विज्ञान विलकुल भी नहीं है, यदि विज्ञान से हम मानवीय अनुभव के एक सीमित विभाग का अध्ययन समझते हों। असल में, नीतिशास्त्र दर्शन का एक भाग है, अर्थात् सम्पूर्ण अनुभव का अध्ययन करनेवाले शास्त्र का एक भाग। वह दर्शन का एक भाग मात्र है, क्योंकि वह जीवन के अनुभव पर संकल्प या क्रियाशीलता के दृष्टिकोण मात्र से विचार करता है। वह मनुष्य को कर्ता यानी किसी साध्य का अनुसरण करनेवाले के ही रूप में देखता है, और ज्ञाता या भोक्ता के रूप में उसे केवल परोक्षतः देखता है। लेकिन वह मनुष्य की सम्पूर्ण क्रियाशीलता का, जिस शुभ को पाने के लिए वह प्रयत्नशील है उसके सम्पूर्ण स्वरूप का, तथा इस प्रयत्न में वह जो कुछ करता है उसके पूरे अर्थ का विचार करता है।

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, इस कारण कुछ लेखक इस अध्ययन को नीति का विज्ञान कहने के बजाय नीति-दर्शन कहना अधिक पसन्द करते हैं, क्योंकि सम्पूर्ण अनुभव विज्ञान का न होकर दर्शन का विषय है। इसी तरह, तर्कशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र भी, जो कि नीतिशास्त्र से सबसे अधिक मिलते-जुलते हैं, विज्ञान के बजाय दर्शन के अंग हैं। लेकिन 'विज्ञान' शब्द का इतने व्यापक अर्थ में भी प्रयोग किया जा सकता है कि जिन अध्ययनों को दर्शन कहा जाता है और जिन्हें संकुचित अर्थ में विज्ञान कहा जाता है उन सभी का उसमें समावेश हो जाए। अगले अध्याय में हम

मूल्यांकन नहीं हैं (हालाँकि 'शरीर' और 'आत्मा', अर्थात् शिल्प और अभिव्यक्ति, का अन्तर निश्चित रूप से सौन्दर्यशास्त्रीय हैं)।

1. इस बात को आगे खण्ड 1, अध्याय 6 में अधिक स्पष्ट किया गया है।

ज्ञान के अन्य विभागों में नीतिशास्त्र के स्थान को अधिक निश्चित रूप से समझाने की कोशिश करेंगे।

7. संक्षेप

इस अध्याय में जो कुछ कहा गया है उसका प्रयोजन नीतिशास्त्र के स्वरूप के बारे में कुछ मोटी बातें बताने का है। लेकिन विद्यार्थी को सावधान कर दिया जाना चाहिए कि अलग-अलग लेखकों के इस बारे में अलग-अलग मत हैं। कुछ इसका एक सीधा व्यावहारिक लक्ष्य मानते हैं, जबकि कुछ इसे रसायन या ज्योतिष की तरह एक विद्युद्ध सैद्धान्तिक विज्ञान बनाने की कोशिश करते हैं। हमने इसे मानकीय शास्त्र कहकर एक मध्यम मार्ग अपनाया है। लेकिन जब तक विद्यार्थी नैतिक मानक के बारे में प्रमुख मतों के अन्तर को हृदयंगम न कर ले तब तक उगाका उपर्युक्त अन्तरों को और उपर्युक्त मतों में से एक या दूसरे को अपनाने के कारणों को पूरी तरह से समझ पाना ज़रा मुश्किल है।

वास्तव में, जैसे थोड़ी-बहुत जटिलता वाले अधिकतर अन्य विषयों के, वैसे ही नीतिशास्त्र के अध्ययन में भी यह हमेशा ध्यान में रखना चाहिए कि विषय की परिभाषा और उसके क्षेत्र तथा उसकी प्रणाली की समझ शुरू के बजाय अन्त में आती है। फिर भी, इन चेतावनियों के बावजूद विद्यार्थी शायद इस अध्याय में कही गई बातों से नीतिशास्त्र से परिचय करने में कुछ सहायता पाएगा। हम आशा करते हैं कि इनका अर्थ आगे स्पष्ट होता जाएगा।

मुख्य बातें, जिनकी ओर ध्यान खींचा गया है, संक्षेप में ये हैं :

(1) नीतिशास्त्र आचरण में ओत-प्रोत आदर्श या अच्छाई-बुराई, औचित्य-अनौचित्य के मानक का सैद्धान्तिक अध्ययन है।

(2) यह अध्ययन मानकीय है, साधारण वास्तविक विज्ञानों (positive sciences) में से एक नहीं।

(3) लेकिन इसे एक 'व्यावहारिक विज्ञान' बताना उचित नहीं है, हालाँकि व्यावहारिक जीवन पर इसका बहुत प्रभाव पड़ता है।

(4) इसे एक 'कला' कहना और भी अनुचित है।

(5) 'आचरण की कला' की बात करना तो बिल्कुल भी सही नहीं है।

(6) 'आचरण का विज्ञान' कहना भी कुछ आपत्तिजनक है, क्योंकि आचरण में व्याप्त आदर्श का अध्ययन विज्ञान के बजाय दर्शन का विषय है।¹

1. प्रो० टेलर (A. E. Taylor) ने एक बहुत ही महत्वपूर्ण पुस्तक 'The Problem of Conduct' लिखी है। उसमें कहा गया है कि हमें नीतिशास्त्र को दर्शन का अंग नहीं मानना चाहिए। कुछ ऐसा ही मत सिम्मेल (G. Simmel) और कुछ अन्य आधुनिक लेखकों का भी है। लेकिन इस विवाद के फलस्वरूप जिस मत को बल मिला है, वह यह है कि नीतिशास्त्र विज्ञान है ही नहीं। फिर भी, इन लेखकों ने एक फायदे की बात यह की है कि नीतिशास्त्र के विशुद्ध तथ्यात्मक पहलुओं की ओर ध्यान खींचा है। लेकिन हम समझते हैं कि ये पहलु उचित रूप से शुद्ध नीतिशास्त्र के न होकर समाजशास्त्र के अध्ययन के विषय हैं। नीतिशास्त्र के स्वरूप और क्षेत्र के बारे में एक रोचक, लेकिन कुछ विचित्र-सा मत क्रोचे (B. Croce) के 'Philosophy of the Practical' में मिलेगा।

नीतिशास्त्र का अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध

1. प्राक्कथन

अब तक जो कुछ कहा गया है उससे प्रतीत होता है कि नीतिशास्त्र उन अध्ययनों के वर्ग में आता है जिन्हें दर्शन कहते हैं। दर्शन के सामान्य स्वरूप और विभागों का प्रश्न कुछ विवादास्पद है, और इस प्रश्न के विवेचन में पड़ना वस्तुतः इस समय हमारे विषय से बाहर है। फिर भी, नीचे जो कुछ कहा जा रहा है वह याद पाठक के लिए सहायक होगा और बहुत ज्यादा भ्रामक नहीं होगा। यदि पाठक को आवश्यक लगे तो उसका दर्शन-सम्बन्धी अध्ययन ज्यों-ज्यों प्रगति करता जाएगा त्यों-त्यों वह स्वयं ही गलतियाँ सुधारता जाएगा।

दर्शन सम्पूर्ण अनुभव के स्वरूप का अध्ययन करता है। विज्ञान-विशेष हमारे अनुभव की अन्तर्वस्तु के भाग-विशेषों की छानबीन करते हैं; लेकिन दर्शन अपने प्रमुख सिद्धान्तों की रोशनी में सम्पूर्ण अन्तर्वस्तु को समझने का प्रयत्न करता है। ऐसा करने के लिए वह हमारे ज्ञान-जगत् के स्वरूप का निर्माण करनेवाले विभिन्न तत्त्वों का विश्लेषण करने का प्रयास करता है। दार्शनिक विवेचन का यह भाग शायद वह है जिसे ज्ञान-मीमांसा (Epistemology) कहा गया है जोकि सबसे उपयुक्त नाम है।

इसके बाद हम अपने अनुभव का निर्माण करनेवाले विभिन्न तत्त्वों के उत्पत्ति-क्रम के अध्ययन में उतर सकते हैं, अर्थात् उस प्रक्रिया की जाँच-पड़ताल में जुट सकते हैं जिससे अनुभव व्यक्तियों और जातियों की चेतना में विकास को प्राप्त होता है। यह मनोविज्ञान का काम है।

जब हम अपने अनुभव की जाँच-पड़ताल करते हैं और उसके विकास-क्रम का अनुसरण करते हैं, तब ज्ञात होता है कि इस प्रकार जो अन्तर्वस्तु प्रकाश में आती है उसमें कुछ भाग तो उन तथ्यों का होता है जो विभिन्न तरीकों से हमारी चेतना के सामने आते हैं और कुछ भाग आदर्शों का होता है। जो विशेष तथ्य हमारी चेतना के सामने आते हैं उनका अध्ययन विशेष विज्ञानों को सौंप देना होता है; अथवा, यदि दर्शन उनका विवेचन कर सकता है तो वे उस शास्त्र के विषय बन जाते हैं जिसे प्रकृति-मीमांसा या प्रकृति-दर्शन (Philosophy of Nature) कहते हैं।

हमारे अनुभव में जो आदर्श उभर आते हैं वे गिनती में तीन हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि उनका सम्बन्ध हमारी चेतना के इन तीन पक्षों—ज्ञान, भावानुभव और संकल्प से है। ये आदर्श हैं—सत्यता, सौन्दर्य और शुभत्व। इन आदर्शों का अध्ययन क्रमशः तर्कशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र और नीतिशास्त्र—इन तीन दार्शनिक विज्ञानों में किया जाता है।

अन्त में, यह सवाल उठता है कि हमारे अनुभव के इन विभिन्न तत्त्वों में कितनी और किस तरह की वास्तविकता है। इस मीमांसा को सत्ता-मीमांसा (Ontology) कहा जाता है।

अध्ययन के इन विभागों में से पहला और अन्तिम, अर्थात् ज्ञान-मीमांसा और सत्ता-मीमांसा, प्रायः परस्पर सम्मिलित हो जाते हैं; और इन दोनों के सम्मिलित रूप को सामान्य रूप से तत्त्व-मीमांसा (Metaphysics) कहते हैं। इस प्रकार तत्त्व-मीमांसा दार्शनिक विज्ञानों का आदि और अन्त दोनों है।

इससे यह मालूम पड़ेगा कि नीतिशास्त्र और साथ ही तर्कशास्त्र तथा सौन्दर्य-शास्त्र भी मनोविज्ञान और तत्त्व-मीमांसा के बीच में पड़ते हैं। और, वास्तव में, इस सम्बन्ध को बताने के उपर्युक्त तरीके के बारे में कोई चाहे जो सोचे, यह आम तौर पर स्वीकार किया जाता है कि नीतिशास्त्र का मनोविज्ञान और तत्त्व-मीमांसा से बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है।

और आगे विचार करने पर पता चलता है कि नीतिशास्त्र का कई अन्य विषयों से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनमें से कुछ पर तो यह अपनी सामग्री के लिए निर्भर रहता है और अन्यो को यह सहायता देता है। अच्छा होगा कि हम कुछ से इसके सम्बन्ध कुछ अधिक स्पष्टता से बताने की कोशिश करें, हालांकि उनकी ओर हम संक्षेप में संकेत-भर कर पाएँगे।

2. भौतिकीय विज्ञान (Physical Science) और नीतिशास्त्र

भौतिकीय विज्ञान का नीतिशास्त्र से सम्बन्ध बहुत मामूली है। किसी-किसी का कहना है कि भौतिक जगत् में कार्य-कारण-सम्बन्ध का जैसा स्वरूप होगा उसका नीतिशास्त्र पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ेगा। ऐसा कहा जाता है कि नैतिकता संकल्प की स्वतन्त्रता के अभ्युपगम (postulate) को लेकर चलती है, और यह अभ्युपगम इस सिद्धान्त के विरुद्ध प्रतीत होता है कि कार्य-कारण का नियम सर्वत्र लागू होता है। यह बात आगे के किसी अध्याय में फिर आएगी। फ़िलहाल इतना कहना काफी है कि यह विरुद्ध होने की बात एक भ्रान्त धारणा पर आधारित लगती है।

नीतिशास्त्र का भौतिकीय विज्ञान से सम्बन्ध परोक्ष है। भौतिकीय नियमों की जानकारी से हम इस बात की भविष्यवाणी, कि विभिन्न प्रकार के आचरणों का परिणाम क्या होगा, इतनी सही-सही और इतने निश्चय के साथ कर सकते हैं जितना इस जानकारी के अभाव में नहीं कर सकते। लेकिन इस जानकारी का प्रभाव केवल आचरण की बारीकियों पर पड़ता है, उन सामान्य सिद्धान्तों पर नहीं जो हमारे आचरण का पथ-प्रदर्शन करते हैं। पुराने ज़माने के ज्ञानी व्यक्ति की अपेक्षा आज का ज्ञानी आदमी सागर और सितारों से कम डरेगा और गन्दी हवा और गन्दे पानी से अधिक। लेकिन किस तरह की चीजों से डरना चाहिए और किस तरह की चीजों से नहीं डरना चाहिए, इस आम सवाल के हल पर ज्ञान की वृद्धि के कारण बारीकियों में आनेवाले अन्तर का असर होना जरूरी नहीं है। संक्षेप में, भौतिकीय विज्ञान की नीतिशास्त्र के लिए मुख्य उपयोगिता यह है कि जिस पर्यावरण (environment) के बीच नैतिक जीवन चलता है उसे समझने में वह सहायक होता है, न कि स्वयं नैतिक जीवन को समझने में।

3. जीव-विज्ञान (Biology) और नीतिशास्त्र

भौतिकी (Physics) या रसायन (Chemistry) का नीतिशास्त्र से जितना सम्बन्ध है उससे कहीं घनिष्ठ सम्बन्ध जीव-विज्ञान का उससे है, लेकिन यह सम्बन्ध भी मुख्यतः वैसा ही परोक्ष है। सबसे अधिक पावन मानवीय आबन्धों (obligations) में से अनेक ऐसे हैं जो शारीरिक क्रियाओं पर आधारित हैं; लेकिन इन आबन्धों के

मूल में जो सामान्य सिद्धान्त हैं उन पर शरीर-क्रिया-विज्ञान (physiology) की बागीकियों का सीधे हवाला दिये बिना ही विचार किया जा सकता है, तथा शरीर-क्रिया-विज्ञान की नई खोजों का उन मूल सिद्धान्तों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

हाल के कुछ लेखकों ने क्रम-विकास के सिद्धान्त (theory of evolution) के प्रभाव में आकर जीव-विज्ञान और नीतिशास्त्र के सम्बन्ध को जितना ऊपर बताया गया है उससे कहीं अधिक मौलिक दिखाया है।¹ कहा गया है कि शुभ या अशुभ आचरण की कसौटी यह है कि पहला जीवन के विकास का सहायक होता है और दूसरा जीवन के ह्रास का, और इसीलिए जिस अर्थ में हम मनुष्य के आचरण को शुभ या अशुभ कहते हैं ठीक उसी अर्थ में निम्नतम श्रेणी के जीवों के शुभ या अशुभ आचरण की बात भी कर सकते हैं। इस मत पर कुछ विचार आगे किसी अध्याय में किया जाएगा।

फ़िलहाल इतना कह देना काफी है कि नीतिशास्त्र में हम 'आचरण' शब्द का जिस रूप में प्रयोग करते हैं उसकी सार्थकता केवल ऐसे प्राणी के लिए है जिसके अन्दर सोच-विचार और संकल्प की शक्ति हो, अन्यो के लिए नहीं; तथा ऐसे प्राणी के लिए जीवन का विकास साध्य का एक गौण अंश है। फलतः, जीव-विज्ञान का नीति-शास्त्र पर कोई सीधा प्रभाव नहीं दिखाई देता।² फिर भी, यह मानना होगा कि पशु-जीवन का अध्ययन नैतिक चेतना के विकास पर काफी रोशनी फेंकता है; लेकिन ऐसा तभी होता है जब पशु-जीवन का अध्ययन विषुद्ध जीव-विज्ञानीय दृष्टिकोण से नहीं, बल्कि मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से किया जाता है।

4. मनोविज्ञान और नीतिशास्त्र

मनोविज्ञान का नीतिशास्त्र से सम्बन्ध अधिक निकट और महत्त्व का है। लेकिन यह सावधानी रखनी चाहिए कि हम एक के दूसरे पर निर्भर होने की बात को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर न कहें। जिस तरह तर्कशास्त्र का विचार के सही होने से सम्बन्ध है, उसी तरह नीतिशास्त्र का आचरण के सही होने से सम्बन्ध है। इनमें से किसी का भी उन प्रक्रियाओं से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है जिनसे हम सही विचार या सही आचरण करते हैं। फिर भी, नीतिशास्त्र का विद्यार्थी भावानुभव (feeling), इच्छा और संकल्प की प्रक्रियाओं की उपेक्षा नहीं कर सकता, जिस तरह कि तर्क-शास्त्र का विद्यार्थी सामान्यीकरण, निर्णय और तर्कना की प्रक्रियाओं की उपेक्षा नहीं कर सकता। और इन सभी प्रक्रियाओं का विचार मनोविज्ञान के क्षेत्र में आता है। वास्तव में, जैसा कि हम पहले ही संकेत कर चुके हैं, मनोविज्ञान व्यक्ति को तर्कशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र की तरह ही नीतिशास्त्र में भी प्रवेश करने के लिए तैयार करता है।

लेकिन इस प्रसंग में ध्यान देने योग्य एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात भी है जिसका उल्लेख अब तक नहीं किया गया है। जैसा कि हम आगे बढ़ते हुए अच्छी तरह से समझते जाएंगे, मानवीय आचरण का समाज से सम्बन्ध होता है। हमारे अधिकतर कामों का नैतिक महत्त्व अधिकांशतः हमारा अपने साथ के अन्य लोगों से सम्बन्ध होने

1. विशेष रूप से स्पेन्सर (Spencer) का Principles of Ethics देखिए।
2. 'अवमानवीय' नीतिशास्त्र ('sub-human' Ethics) की बात करने का अधिकार हमें केवल वही तक है जहाँ तक हम निम्न स्तर के प्राणियों में किसी तरह की आत्मचेतना का अस्तित्व मानते हों। म्यूरहेड (Muirhead) का Elements of Ethics, पृष्ठ 234, टिप्पणी देखिए, और आगे खण्ड 1, अध्याय 3, अनुच्छेद 3 देखिए।

के कारण है। लेकिन मनोविज्ञान का प्रायः जिस रूप में अध्ययन किया जाता है उसमें इस सम्बन्ध का विचार कम ही होता है। सामान्यतः मनोविज्ञान मुख्य रूप से व्यक्ति की चेतना के विकास का अध्ययन करता है, और सामाजिक सम्बन्ध के तथ्यों की ओर परोक्ष रूप से संकेत-भर करता है।¹ फिर भी, मानसिक विकास की प्रक्रिया का कुछ अधिक सामाजिक दृष्टिकोण से अध्ययन सम्भव है। उदाहरण के लिए, भाषा का अध्ययन, असभ्य जातियों के रीति-रिवाजों का अध्ययन, संस्थाओं के विकास का अध्ययन, इत्यादि सामाजिक पर्यावरण की दृष्टि से मानवीय मन के क्रमिक विकास पर रोशनी फेंकते हैं। इन सामाजिक बातों का सांगोपांग अध्ययन करनेवाले विज्ञान को समाजशास्त्र (Sociology) कहा गया है; और नीतिशास्त्र के लिए शुद्ध व्यक्ति-मनोविज्ञान (individual Psychology) के बजाय इन सामाजिक-मानसिक तथ्यों का अध्ययन अधिक रोचक और सीधा सम्बन्ध रखनेवाला है।

5. तर्कशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र और नीतिशास्त्र

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, ये तीन शास्त्र अनिवार्यतः सजातीय हैं। ये सभी मानकीय हैं, वास्तविक (positive) नहीं; अर्थात् इनका काम तथ्यों और उनके सम्बन्धों की छानबीन करना नहीं बल्कि मानकों का विवेचन करना है। तर्कशास्त्र सत्य के मानक का अध्ययन करता है। उसका सम्बन्ध विचार की विभिन्न प्रक्रियाओं के प्रामाण्य (validity) से है। सौन्दर्यशास्त्र और नीतिशास्त्र के बारे में कहा जा सकता है कि उनका सम्बन्ध मूल्य (value) से है। सौन्दर्यशास्त्र सौन्दर्य के मानक पर विचार करता है, अर्थात् उन बातों पर जिनका भावानुभव (feeling) के लिए मूल्य है। नीतिशास्त्र अच्छाई या शुभत्व के मानक पर विचार करता है, अर्थात्, दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि वह कर्म की दृष्टि से मूल्य का विचार करता है। नीतिशास्त्र को आचरण का तर्कशास्त्र भी कहा जा सकता है, क्योंकि वह उन शर्तों का विचार करता है जिनसे आचरण की उसके आदर्श² से संगति बैठती है, ठीक वैसे

1. यह बात झूठी पड़ती जा रही है। हाल के कुछ लेखक, विशेष रूप से प्रो० मैकडगल (McDougall) सामाजिक मनोविज्ञान पर विस्तार से लिख चुके हैं।
2. 'आदर्श' शब्द इससे पहले कई बार आ चुका है और आगे भी इसका बार-बार प्रयोग होगा। अंग्रेजी में इसके लिए 'Ideal' शब्द चलता है, जिसके प्रयोग के बारे में यहाँ कुछ भ्रांतियों को दूर कर देना अच्छा रहेगा। 'Ideal' (संज्ञा) का अर्थ है कोई उत्कृष्ट रूप, जो अनुकरणीय हो, जिसे सामने रखकर देखा जाता है कि चीजें उससे कितनी दूर या उसके कितने निकट हैं। विशेषण के अर्थ में 'ideal' वह चीज कही जायगी, जो उत्कृष्ट रूप या मानक के अनुरूप हो। लेकिन विशेषण-शब्द 'ideal' दो संज्ञाओं से सम्बन्धित है, Idea (प्रत्यय) और Ideal (आदर्श), और इसके प्रयोग में द्व्यर्थकता है। 'Idea' (उस अर्थ में जिसका प्रचार अंग्रेजी में लोक, बर्कले और शूम के द्वारा हुआ है) से सम्बन्धित अर्थ में यह उस चीज का घेतक है जिसका अस्तित्व कल्पना-मात्र में हो, वास्तविक जगत् में नहीं। (इसके अधिक सही दार्शनिक प्रयोग के उदाहरण हैं : ideal construction, ideal content, ideal synthesis, इत्यादि।) इस प्रकार, बायरन के 'ideal woe' का अर्थ है काल्पनिक शोक, यानी ऐसा शोक जिसका आधार केवल कल्पना में है। और वास्तव में यह अर्थ संज्ञा 'ideal' और उससे सम्बन्धित विशेषण 'ideal' में भी घुसा हुआ है। एक कलाकार के 'ideal' को सहज रूप से उस प्रकार का सौन्दर्य माना जाता है जिसका कहीं अस्तित्व न पाया जाता हो। Ideal को वस्तुतः कवि की कल्पना के अर्थ में लिया जाता है। इसी अर्थ

ही जैसे तर्कशास्त्र उन शर्तों का विचार करता है जिनका पालन करने से विचार की उसके मानकों से संगति होती है। शुभ का अध्ययन सुन्दर के अध्ययन से भी घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। वास्तव में, दोनों का सम्बन्ध इतना अधिक घनिष्ठ है कि प्राचीन यूनानियों ने सौन्दर्य और नैतिक श्रेष्ठता—दोनों के लिए समान रूप से एक ही शब्द (TO KALON) का प्रयोग किया था। हीब्रू-साहित्य में भी 'पवित्रता का सौन्दर्य' (beauty of holiness) प्रयोग आया है। आजकल भी 'सुन्दर आत्मा', 'सुन्दर जीवन' इत्यादि प्रयोग देखने-सुनने में आते हैं, हालाँकि ये प्रायः विशुद्ध नैतिक उत्कृष्टता के बजाय धर्मनिष्ठा के सूचक होते हैं, और इस अर्थ में भी सुननेवाले को शायद कुछ खोखले लगते हैं।

इस बात की ओर पहले ही संकेत किया जा चुका है कि यूनानी दार्शनिक नैतिक आचरण और कला में स्पष्ट भेद नहीं कर पाए और इसलिए वे कुछ झमेले में पड़ गए। लेकिन आधुनिक युग में इन दो प्रत्ययों में जो स्पष्ट भेद किया गया है वह वैज्ञानिक स्पष्टता में प्रगति का सूचक है। जब नैतिक जीवन को सुन्दर जीवन के रूप में लिया जाता है तब दृष्टिकोण कुछ-कुछ बहिर्निष्ठ होता है, मानो नैतिक जीवन संकल्प का कार्य न होकर कोई परिणाम हो; और यूनानी लोग नैतिक जीवन को जो एक कलाकृति मात्र की तरह देखते थे उसका कारण अंशतः निस्सन्देह यह था कि वे अन्तर्निष्ठ दृष्टिकोण (जिसके लिए हम अधिकांश में ईसाई धर्म के ऋणी हैं) तक पूरी तरह नहीं पहुँच पाए थे। यदि हम नैतिकता में छिपे हुए संकल्प के संघर्ष की ओर देखें तो हमें नैतिक जीवन शायद ही सुन्दर लगे।

धार्मिक अर्थ में भी जब हम पवित्रता के सौन्दर्य, सुन्दर आत्माओं और सुन्दर जीवन की बात करते हैं तब हम प्रायः सम्बन्धित व्यक्तियों के बारे में इस तरह सोचते होते हैं मानो वे 'जिए' नहीं बल्कि 'सजे-सँवरे' रहे, सक्रिय उत्पादक (producer) नहीं बल्कि निष्क्रिय उत्पाद (product) रहे। इसके बावजूद, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि उच्च कोटि के सदाचारमय जीवन के चिन्तन से हमें कुछ ऐसा सन्तोष तो मिलता ही है जैसा किसी सुन्दर वस्तु के चिन्तन से मिलता है; और कुछ दृष्टिकोण ऐसे हैं जिनसे देखने पर एक आधुनिक लेखक तक को सदाचार को एक प्रकार का सौन्दर्य मानने का प्रलोभन होता है। फिर भी, शुभ और सुन्दर के सम्बन्ध का विचार करना इतना कठिन काम है कि यहाँ नहीं किया जा सकता; और फ़िलहाल हमें उसे स्थगित कर देना चाहिए।¹

में प्लेटो के गणराज्य जैसे आदर्श राज्य (Ideal State) को वास्तविक परिस्थितियों में दुर्लभ माना जाता है। नीतिशास्त्र में ideal शब्द का यह प्रयोग स्वभावतः बहुत भ्रामक होगा। भ्रम से बचने के लिए अच्छा हो कि विद्यार्थी नैतिक Ideal को Ideal राज्य या कलाकार के Ideal की तरह न समझे, बल्कि तर्कशास्त्रीय Ideal की तरह समझे। यथार्थ विचार का ideal कोई हवाई चीज नहीं है बल्कि वास्तविक चीज है, जो प्रत्येक विचार में दिखाई देता है, क्योंकि गलत विचार करना एक सीमा तक विचार करना है ही नहीं। इसी तरह नैतिक ideal के बारे में कहा जा सकता है कि वह जब भी हम सही रूप में काम करते हैं तब वास्तविक बन जाता है। खास बात यह है कि हमें Ideal को ऐसी चीज समझने की आदत को छोड़ देना होगा, जो इतनी अच्छी है कि सच्ची हो ही नहीं सकती, और यह सोचना सीखना चाहिए कि वह वास्तविकता का निर्धारक तत्त्व है। (हैगल के Logic का बालेस-कृत अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ 11, देखिए।) यह बात आगे और स्पष्ट हो जाएगी।

1. ब्रैडले (Bradley) ने अपने ग्रंथ Ethical Studies, दूसरा संस्करण, पृष्ठ 244-5 पर एक टिप्पणी में इस विषय पर कुछ रोचक बातें कही हैं। बोसान्क्वे (Bosanquet) का ग्रंथ Some Suggestions in Ethics भी द्रष्टव्य है।

6. तत्त्व-मीमांसा और नीतिशास्त्र

प्रामाण्य और मूल्य का विचार करते हुए हम अनिवार्यतः वास्तविकता की समस्या में पहुँच जाते हैं। जहाँ तक विचार का सम्बन्ध है हम कुछ समय तक उसकी आकारिक स्वसंगति (formal self-consistency) मात्र पर ध्यान न देकर सन्तोष कर सकते हैं। लेकिन इससे हम जल्दी ही असन्तुष्ट हो जाते हैं और (आगमनात्मक तर्कशास्त्र में) इस सवाल में उतर आते हैं कि विचार की प्रकृति के तथ्यों से संगति होने की कौनसी शर्तें हैं। फिर इसके बाद भी हमें इस विवाद में उतरना पड़ता है कि जगत् या वास्तविकता का अन्तिम स्वरूप क्या है। इसी तरह, सुन्दर के विषय में हम पहले यह मानकर सन्तोष कर लेते हैं कि वह मुखर होता है; लेकिन जल्दी ही हमें इस बात की छानबीन में पड़ना पड़ता है कि वस्तुओं की मुखरता कहाँ तक भ्रम है और कहाँ तक उनके तात्त्विक स्वरूप से सम्बद्ध है। इस प्रकार, उन दोनों ही मामलों में हमें तत्त्व-मीमांसीय गवेषणा में उतरना पड़ता है।

नीतिशास्त्र में भी कुछ ऐसा ही है। जब हम यह पूछते हैं कि मानव-जीवन का मूल्य क्या है, तब हमें जल्दी ही यह सवाल भी पूछना पड़ता है कि मानव-व्यक्तित्व का तात्त्विक स्वरूप क्या है और वास्तविक जगत् में उसका क्या स्थान है। यह निस्सन्देह सम्भव है कि तर्कशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र और नीतिशास्त्र में हम कुछ दूर तक सत्ता-मीमांसा की अन्तिम समस्याओं का समाधान पाए बिना चल सकें; लेकिन ये तीनों हमें इन समस्याओं में अनिवार्यतः उलझा देते ही हैं।

7. नीतिशास्त्र और राजनीति-दर्शन (Political Philosophy)

यहाँ तक हमने उन विज्ञानों का उल्लेख किया है जिनके ऊपर नीतिशास्त्र को आश्रित माना जा सकता है। अब हमें उन शास्त्रों को देखना है जो नीतिशास्त्र पर आश्रित हैं।

ऐसे शास्त्रों को राजनीतिक या सामाजिक दर्शन के सामान्य शीर्षक के नीचे रखा जा सकता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आचरण का अध्ययन हमें अनिवार्यतः सामाजिक जीवन के अध्ययन में ले जाता है। ऐसे मनुष्य की कल्पना नहीं की जा सकती जो बिल्कुल ही अकेला रहता हो। कोई भी आदमी हमेशा किसी-न-किसी समुदाय में रहता है। जैसा कि अरस्तू ने कहा है, मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है। अतः नीतिशास्त्र राजनीतिशास्त्र से बहुत निकट सम्बन्ध रखता है। हम तब तक व्यक्ति के सद्गुणों का समुचित रूप से विचार नहीं कर सकते जब तक कि हम उस समाज का, जिससे उसका सम्बन्ध है, ध्यान न रखें और यह न विचारें कि वह समाज किस-किस तरह से व्यक्ति के जीवन के विकास में सहायक या बाधक हो सकता है। जो आदर्श हम व्यक्ति के लिए निर्धारित करेंगे उसके लिए भी हमें अनिवार्यतः समाज की ऐसी आदर्श व्यवस्था की बात सोचनी होगी जो व्यक्ति को अपने उच्चतम लक्ष्यों की प्राप्ति में समर्थ बनाने के लिए सबसे अधिक उपयुक्त होगी। इस वजह से अरस्तू ने यहाँ तक कह डाला कि नीतिशास्त्र आवश्यक रूप से राजनीति-शास्त्र का एक भाग है।

यदि हम इस कथन को स्वीकार करते हैं तो हमें 'राजनीतिशास्त्र' नाम का अर्थ बहुत व्यापक कर देना होगा। इस व्यापक अर्थ में शायद 'समाज-दर्शन' (Social Philosophy) नाम का प्रयोग अधिक अच्छा रहेगा। लेकिन यह स्पष्ट है कि

संकुचित अर्थ में भी नीतिशास्त्र का राजनीतिशास्त्र से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध होना चाहिए।¹

8. नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र (Economics)

राजनीति-दर्शन के उन विभागों में से, जिनसे नीतिशास्त्र का घनिष्ठ सम्बन्ध है, एक है अर्थशास्त्र जिसे आजकल बहुत ही महत्त्व दिया जाता है। नीतिशास्त्र की तरह ही अर्थशास्त्र भी शुभ वस्तुओं (goods) से, अर्थात् उन वस्तुओं से सम्बन्ध रखता है जिनका कुछ मानवीय उद्देश्यों के लिए मूल्य या महत्त्व है। लेकिन अन्तर यह है कि नीतिशास्त्र जिन शुभ वस्तुओं से सम्बन्ध रखता है वे ऐसे कर्म हैं जिनके द्वारा जीवन के उच्चतम साध्य की प्राप्ति सम्भव होती है, जबकि अर्थशास्त्र की शुभ वस्तुएँ वे मात्र हैं जो मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि हमें वस्तुतः अर्थशास्त्र की शुभ वस्तुओं का मूल्य समझना है तो हमें चाहिए कि हम नैतिक शुभ के साथ उनका निकट सम्बन्ध जोड़कर उन पर विचार करें। उदाहरण के लिए, खाना, कपड़ा, मकान इत्यादि आर्थिक शुभ हैं; और ये अनेक तरह के प्रयोजनों को पूरा करते हैं, जैसे जीवित रहना, जीवन का विकास करना, जीवन को दीर्घ बनाना, सुख में वृद्धि करना, स्वतन्त्रता प्राप्त करना; शान्ति, मर्यादा और सुरक्षा को बढ़ाना, इत्यादि। और इन शुभों का मूल्य इन प्रयोजनों के महत्त्व पर निर्भर करेगा। इन प्रयोजनों का महत्त्व केवल यह देखकर निश्चित किया जा सकता है कि हमारे जीवन के सर्वोच्च प्रयोजन से इनका क्या सम्बन्ध है। इस प्रकार, अर्थशास्त्र का समझदारी से अध्ययन करने के लिए नीतिशास्त्र की कुछ जानकारी जरूरी है।

इस तथ्य की बहुधा उपेक्षा की गई है। अर्थशास्त्र का अध्ययन प्रायः इस तरह से किया गया है जैसे धन स्वतः एक साध्य हो; और इसका व्यावहारिक परिणाम यह हुआ है कि सामाजिक सुधारों में रुकावट आई है और जो हर कीमत पर धन-संग्रह के लिए पहले से ही बहुत इच्छुक हैं उन्हें प्रोत्साहन मिला है। इस वजह से अर्थशास्त्र के कुछ प्रमुख लेखकों की कार्लाइल (Carlyle), रस्किन (Ruskin) और अन्य नीतिशास्त्रियों ने कड़ी आलोचना की है; और अब यह आम तौर पर मान लिया गया है कि यदि अर्थशास्त्र को किसी मात्रा में मानकीय और व्यावहारिक बनाना है तो नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र को परस्पर और निकट लाना होगा।²

9. नीतिशास्त्र और शिक्षाशास्त्र

नीतिशास्त्र को शिक्षाशास्त्र पर भी काफ़ी रोशनी डालनी चाहिए। पाठक

1. देखिए म्यूरहेड का Elements of Ethics, पृ० 39-41, तथा आगे खण्ड III, अध्याय I और 2।
2. इस विषय पर कीन्स (Keynes) का 'Scope and Method of Political Economy', अध्याय 2 देखिए। डेवास (Devas) के 'Political Economy', खण्ड IV, अध्याय 5 में व्यक्त मत अधिक एकांगी है। International Journal of Ethics, जिल्द 3, संख्या 3, और जिल्द 7, संख्या 2 भी दृष्टव्य हैं। अर्थशास्त्र के हाल के लेखकों—विशेषतः प्रो० पीगु (Pigou)—की प्रवृत्ति अर्थशास्त्र का सम्बन्ध धन के बजाय श्रेय से जोड़ने की है। लेकिन सब मिलाकर यह कहना चाहिए कि पुराने लेखकों, जैसे ऐडम स्मिथ (Adam Smith) और जे० एस० मिल (J. S. Mill), तक को यह अच्छी तरह शायद या कि धन का अन्तिम मूल्य वहीं तक है जहाँ तक वह श्रेय में वृद्धि करता है।

को शायद पहले ही दर्शन के कुछ अध्ययन से यह जानकारी हो चुकी होगी कि मनो-विज्ञान की काफ़ी बातें शिक्षा पर प्रभाव डालती हैं। लेकिन मनोविज्ञान का मुख्य सम्बन्ध मानवीय मन की विभिन्न क्षमताओं और उनके विकास की प्रणाली से है। मानसिक शिक्षा के ऊपर वह जो रोशनी फेंकता है वह उस रोशनी से मिलती-जुलती है जो शरीर-क्रिया-विज्ञान शारीरिक शिक्षा पर फेंकता है। यह सवाल कि किन गुणों को जगाना और दृढ़ करना सबसे अधिक वांछनीय है, स्पष्टतः इस बात पर निर्भर करता है कि हम किन गुणों को अच्छे नागरिक के अन्दर देखना चाहते हैं, और सामान्य रूप से इस बात पर कि हम नैतिक साध्य का क्या स्वरूप मानते हैं।

10. निष्कर्ष

नीतिशास्त्र और अन्य शास्त्रों के सम्बन्ध के बारे में ऊपर हमने संक्षेप में जो कुछ कहा है वह बहुत ही अपूर्ण है, और शायद विद्यार्थी की, खासतौर से पाठ्यचर्या के आरम्भ में, यह बात कम ही समझ में आए। फिर भी, जो कुछ हमने कहा है उससे नीतिशास्त्र के व्यापक सम्बन्धों का अन्दाज़ करने में सहायता मिल सकती है और उसके स्वाभाविक विभागों पर विचार करने के लिए रास्ता साफ़ हो सकता है। यह भी सम्भव है कि यदि विद्यार्थी पूरी पुस्तक समाप्त करने के बाद फिर इस अध्याय को पढ़े तो यहाँ जिन बातों की ओर संकेत किया गया है उन्हें वह तब और अच्छी तरह समझ सकेगा।

अध्याय 3

विषय-विभाग

1. प्राक्कथन

यदि हम नीतिशास्त्र की पहले अध्याय में दी हुई परिभाषा में व्यवस्त मत से कड़ाई के साथ चिपके रहें तो उसके अध्ययन को विभागों में बाँटने की ज़रूरत शायद ही होगी। उस हालत में नीतिशास्त्र के विवेचन में केवल नैतिक आदर्श की परिभाषा, उस परिभाषा में जो बातें हों उनका विदलेपण और उसके प्रामाण्य का विचार—इतना ही शामिल रहेगा; और व्यावहारिक रूप में यह एक ही गवेषणा होगी। लेकिन इतनी कड़ाई के साथ विषय को सीमित करना शायद ही सम्भव हो। अगर कड़ाई के साथ देखा जाए तो बहुत-सी बातें ऐसी मिलेंगी जिन्हें नीतिशास्त्र के विवेचन में शामिल करना उचित नहीं होगा, लेकिन जो नीतिशास्त्र को समझने के लिए इतनी ज़रूरी हैं कि इस विषय का सांगोपांग वर्णन करनेवाली पुस्तकों से उन्हें निकाल देना कतई सम्भव नहीं होगा। इन बाहरी बातों की ओर थोड़ा संकेत दिखले अध्याय में किया गया था; लेकिन अब हमें बारीकी से देखना है कि नीतिशास्त्र के अध्ययन को किन-किन विभागों में बाँटा जा सकता है।

सबसे पहले इस विषय के मनोवैज्ञानिक पहलुओं की ओर कुछ ध्यान देना ज़रूरी है। नैतिक आदर्श के अध्ययन में प्रवेश करने के पहले इन बातों का विचार लगभग अपरिहार्य है : भाव (Feeling), इच्छा, और संकल्प का स्वरूप; अभिप्रेरक (Motive) और अभिप्राय (Intention) का अर्थ तथा व्यक्त की चेतना में इनका स्थान; अन्तर्भावना (Conscience) का उद्भव और स्वरूप; नैतिक निर्णय में निहित तत्त्व; तथा इसी प्रकार की अन्य समस्याएँ। फिर, इन मनोवैज्ञानिक प्रश्नों पर विचार करते हुए स्वभावतः हम विषय के समाजशास्त्रीय पहलुओं में पहुँच जाते हैं, अर्थात् इस बात के अध्ययन में कि सम्यता के विभिन्न पहलुओं के सामान्य विकास के साथ मानव-जाति के अन्दर नैतिक चेतना का विकास किस तरह होता है।

यह विकास-सम्बन्धी जाँच-पड़ताल हमें नैतिक आदर्श के स्वरूप और अर्थ के विचार में ले पहुँचती है। लेकिन यह विचार किसी सीमा तक अनिवार्य रूप से इतिहास-परक होता है। नीतिशास्त्र के अध्ययन-क्रम के इस चरण में ऐसा प्रायः सम्भव नहीं होता कि जो सही मत हो उसे सामने रख दिया जाए और उन थोड़े-बहुत गलत मतों का उल्लेख तक न किया जाए जो नीतिशास्त्रीय चिन्तन-मनन के दौरान में अलग-अलग कालों में प्रचलित रहे। इनका विचार करने के बाद जिस सिद्धान्त को सही मानना है उसके सामान्य स्वरूप के बारे में अपना मत स्थिर कर चुकने पर हम अन्त में नैतिक जीवन की प्रत्यक्ष परिस्थितियों में उस सिद्धान्त को लागू करने के योग्य हो जाते हैं।

इस प्रकार, नीतिशास्त्र के अध्ययन के कम-से-कम चार मुख्य विभाग बनते हैं—(1) नैतिक चेतना का मनोविज्ञान, (2) नैतिक जीवन का समाजशास्त्र, (3) नैतिक मानक के सिद्धान्त, (4) मानक का नैतिक जीवन की बातों में अनुप्रयोग

(Application)। 'नीतिशास्त्र की तत्त्व-मीमांसा' (Metaphysics of Ethics) नामक एक अन्य विभाग भी जोड़ा जा सकता है; लेकिन इसे नैतिक मानक के सिद्धांतों के विवेचन से अलग करना मुश्किल है क्योंकि, जैसा आगे पता चलेगा, यह विवेचन हमें अनिवार्यतः तत्त्व-मीमांसीय गवेषणा में उतार देता है।

विषय के इन विभागों के बारे में अब कुछ बातें कही जा सकती हैं; और संक्षेप में कुछ बातें पहले जीव-विज्ञान के बारे में कह देना अच्छा होगा।

2. नीतिशास्त्र का जीव-विज्ञानीय पहलू

मनुष्यों के साथ-साथ निम्न श्रेणी के प्राणियों के ऊपर भी नैतिक, या कम-से-कम अर्ध-नैतिक, भेद लागू किए जा सकते हैं। बहुत समय से हम मधुमक्खियों और चींटियों को परिश्रम और सहयोगपूर्ण प्रयत्न का आदर्श मानते आए हैं; और इधर के वर्षों में जे० एच० फेब्रे (J. H. Fabre) और कुछ अन्य विद्वानों ने कीटों के जीवन में हमारी रुचि को बढ़ाया है। कुत्ते की स्वामिभक्ति और कद्दतर का स्नेह प्रशंसा की दृष्टि से देखे जाते हैं; और उनके गुणों की वनमानुष और शेर के गुणों से भिन्नता दिखाई जाती है।

लेकिन इस बात में कुछ सन्देह है कि इन प्राणियों को उचित और अनुचित के अन्तर की कोई निश्चित जानकारी होती है। ऐसा लगता है कि ये सहज प्रवृत्ति (instinct) के अनुसार काम करते हैं, या कम-से-कम चुनाव की इनके अन्दर बहुत ही कम क्षमता होती है। जैसा कि हम बाद में देखेंगे, मनुष्यों तक में सहज प्रवृत्ति या आवेग (impulse) से प्रेरित गतियाँ देखने में आती हैं, और कभी-कभी असामान्य बाध्यताएँ भी, जिनके ऊपर नियन्त्रण नहीं किया जा सकता। नैतिक भेद केवल वहाँ किए जा सकते हैं जहाँ जान-बूझकर कर्म के विभिन्न तरीकों का अपनाया जाना सम्भव होता है।

फिर भी, यह बात माननी पड़ेगी कि इस मामले में मनुष्यों और पशुओं का भेद एकदम स्पष्ट नहीं है; और इस सिलसिले में आगे कहीं पशु-जीवन के बारे में कुछ और विचार करना जरूरी हो सकता है, विशेष रूप से कुछ ऐसी बाध्यताओं की ओर ध्यान खींचना आवश्यक हो सकता है जो मनुष्य-जीवन को लगभग पशुओं के स्तर की बराबरी पर ले आती हैं। हाल के मनोवैज्ञानिक अध्ययनों में, विशेषतः उनमें जो व्यवहारवादियों (behaviourists) और मनोविश्लेषकों (psycho-analysts) ने किए हैं, इन प्रवृत्तियों को बहुत प्रधानता दी गई है; और नीतिशास्त्र के अध्ययन में इनकी बिलकुल उपेक्षा नहीं की जा सकती।

3. नीतिशास्त्र के मनोवैज्ञानिक पहलू

इस शीर्षक के अन्तर्गत आनेवाली अधिकतर बातों पर मनोविज्ञान की किताबों में विचार किया जाता है और वहाँ वे प्रसंग के अनुसार अपने उचित स्थान पर होती हैं। लेकिन नीतिशास्त्र की किताबों में भी मनोविज्ञान की कुछ महत्त्वपूर्ण बातों, विशेषतः इच्छा और संकल्प से सम्बन्धित बातों का विचार करना सुविधाजनक पाया गया है तथा अन्तर्भावना और नैतिक निर्णय के स्वरूप की भी छानबीन की जाती है जो कि विशुद्ध मनोवैज्ञानिक वर्णनों में प्रायः उपेक्षणीय समझकर छोड़ दिए जाते हैं। इस तरह के प्रश्नों का, जैसे संकल्प की स्वतन्त्रता इत्यादि का है, 'नैतिक निर्णय पर जो प्रभाव पड़ता है उस पर भी विचार करना होता है; और यद्यपि यह अंशतः एक तत्त्व-मीमांसीय प्रश्न है, तथापि अधिकांशतः इसका जो मनोवैज्ञानिक पहलू

है उससे नीतिशास्त्र का अधिक सीधा सम्बन्ध है। लेकिन नीतिशास्त्र का सबसे अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध मनोविज्ञान के सामाजिक पहलुओं से है, और इस प्रकार हम नीतिशास्त्र के दूसरे विभाग में पहुँच जाते हैं।

4. नीतिशास्त्र के समाजशास्त्रीय पहलू

समाजशास्त्र अन्य विज्ञानों की तुलना में नया है और शायद अब भी यह इतना अपरिपक्व है कि इसके विषय के बारे में ठीक-ठीक कुछ नहीं बनाया जा सकता। फिर भी हम सामान्य रूप से यह कह सकते हैं कि अधिकांश में यह जीवन के सामाजिक पहलुओं का मनोवैज्ञानिक विचार है और इस प्रकार मनोविज्ञान का ही विस्तार है।¹ इस तरह के विचार में बहुत-सी ऐसी बातें आ जाती हैं जिनका नीतिशास्त्र से बहुत कम सम्बन्ध है। जब हम असभ्य जातियों के जीवन का, भाषा के आदिम रूपों का, शुरू के धार्मिक विचारों का, अन्धविश्वासों का, कानून और शासन के प्रारम्भिक रूपों का, अध्ययन करते हैं, तब हम बहुत-सी उन बातों पर ध्यान देते हैं जिनका आचरण के औचित्य और अनौचित्य से बहुत सम्बन्ध नहीं है। लेकिन ये सभी चीजें आचरण के ही रूप हैं अथवा आचरण को प्रभावित करने की क्षमता रखती हैं; और इस दृष्टिकोण से इनका अध्ययन करना सम्भव है।

इसके अलावा, इन्हें तथा अन्य प्रकार की क्रियाओं को उचित या अनुचित, शुभ या अशुभ बताने की प्रवृत्ति मानव-जाति के विकास के इतिहास में बहुत पहले से दिखाई देने लगती है; और इस निर्णय में जिस तरह विकास होता है वह समाजशास्त्र के अध्ययन में एक सबसे अधिक रोचक विषय है। अगर कड़ाई से देखा जाए तो नीतिशास्त्र के अध्ययन में इन बातों को शामिल नहीं किया जा सकता; फिर भी नैतिक समस्याओं के अध्ययन की तैयारी के रूप में ये बातें लगभग अपरिहार्य हैं।

5. नैतिक मानक के सिद्धान्त

यदि सही से देखा जाए तो नीतिशास्त्र का अध्ययन उस आदर्श, मानक, या साध्य के स्वरूप के विचार से शुरू होता है जिसको ध्यान में रखते हुए आचरण को उचित या अनुचित, शुभ या अशुभ कहा जाता है। इस विषय के बारे में अनेक परस्पर भिन्न मत हैं; और इनमें से कुछ तो अब सामान्य रूप में पुराने पड़ गए हैं, फिर भी जो प्रमुख प्रकार के मत हैं उनकी उपेक्षा ठीक नहीं है; और ये इसलिए तो और भी अनुपेक्षणीय हैं कि इनमें से शायद ही कोई पूरी तरह से गलत हो। इसके बजाय लगभग सभी विषय के किसी-न-किसी महत्वपूर्ण पहलू को सामने लाते हैं।

साथ ही, विद्यार्थी को यह मानने की आम शलती से भी सावधान कर दिया जाना चाहिए कि मानक की परिभाषा को लेकर चलने वाले ये विवाद ही, जो कि बहुधा निरर्थक होते हैं और जिनके मूल में समर्थकों और विरोधियों दोनों की आपसी गलतफहमियाँ होती हैं, नैतिक सिद्धान्त में सब कुछ हैं या उसका मुख्य भाग हैं। इस गलत धारणा से बचने के लिए महत्त्व इस बात का है कि उस तरीके पर विचार किया जाए जिससे नैतिक नियमों का प्रत्यक्ष नैतिक जीवन की समस्याओं को सुलझाने में उपयोग किया जा सकता है, भले ही इस विषय के विवेचन को बहुत ही संक्षिप्त और अपूर्ण रखना पड़े।

1, प्रो० मैकडुगल-ड्रत Social Psychology शायद इस बात का सर्वोत्तम उदाहरण है।

6. प्रत्यक्ष नैतिक जीवन (Concrete Moral Life)

हमें पता चलेगा कि वह सही तरीका जिससे नीतिशास्त्र को प्रत्यक्ष नैतिक जीवन की समस्याओं को सुलझाता है, बहुत बड़ी सीमा तक इस बात पर निर्भर करेगा कि हम जिस सिद्धान्त को अन्तिम रूप से अपनाते हैं उसका स्वरूप क्या है।

उदाहरण के लिए, यदि हम इस मत को मानें कि नैतिक मानक वे थोड़े से निरपेक्ष और अपरिवर्तनीय नियम हैं जिन्हें प्रत्येक विकास को प्राप्त चेतना अन्तःप्रज्ञा (intuition) से जानती है, तो प्रत्यक्ष नैतिक जीवन का अध्ययन एक ऐतिहासिक अध्ययन-मात्र से थोड़ा ही अधिक होगा। हम केवल यही पता लगा पाएंगे कि कुछ कालों में नैतिक नियमों का स्वरूप अनेक कारणों से अधिकतर मनुष्यों की चेतना में प्रकट नहीं हो पाया, और कि अन्य कालों में ये नियम पूरी तरह से जान तो लिये गए लेकिन प्रायः लोगों ने उनका पालन नहीं किया। सख्ती से देखने पर ये बातें समाजशास्त्री और मनोवैज्ञानिक की रुचि की लगेंगी, न कि नीतिशास्त्री की।

इसके विपरीत, यदि कहीं हम यह मत मानने लगें कि नैतिक मानक कोई साध्य, जैसे सुख, है जिसका मनुष्य-जाति सामान्यतः अनुसरण करती तो है लेकिन हमेशा या बुद्धिमानी के साथ नहीं, तो ऐसी दशा में कम-से-कम मोटे तौर पर यह बताना सम्भव होगा कि मनुष्य-जाति के प्रत्यक्ष नैतिक जीवन में अमुक-अमुक सुधार कर दिए जाने चाहिए। तब जो साध्य हमारे सामने है उसे पाने के लिए सही प्रकार के साधनों को अधिक पूर्ण और संगत तरीके से अपनाने के लिए नियम बनाए जा सकेंगे।

अथवा, यदि हमने यह मत स्वीकार किया कि हमारा मानक एक आदर्श है जो मानव-चेतना के पूरे विकासक्रम में कम या अधिक स्पष्टता के साथ विद्यमान है, तो ऐसी दशा में हम जिस क्रम से यह आदर्श स्पष्टता प्राप्त करता है उसे ढूँढ सकेंगे, हम यह बता सकेंगे कि नैतिक जीवन के प्रत्यक्ष विकास में इसकी उपलब्धि अमुक प्रकार से हुई है, और जिन दिशाओं में इसकी और अधिक उपलब्धि होने की आशा है उनकी ओर हम संकेत कर सकेंगे।

इन मतों में से पहले के अनुसार, प्रत्यक्ष नैतिक जीवन का अध्ययन नीति-शास्त्रीय दृष्टि से शायद ही रोचक हो। दूसरे मत के अनुसार, नीतिशास्त्र के अध्ययन से हम सीधे प्रत्यक्ष नैतिक जीवन को नए सिरे से व्यवस्थित करने के लिए कुछ व्यावहारिक सिफारिशें कर सकते हैं। तीसरे मत के अनुसार, नीतिशास्त्र का मुख्य काम नैतिक जीवन को सुधारने का प्रयत्न करने के बजाय उसके प्रत्यक्ष विकास की सार्थकता को प्रकाश में लाना होगा। इस प्रकार, विषय के इस विभाग का विवेचन ठीक किस तरह से करना है, इस बारे में कोई निश्चय करना तब तक सम्भव नहीं है जब तक हम नैतिक मानक के स्वरूप पर विचार न कर लें। नीतिशास्त्रीय विवेचन का यह अंग कभी-कभी अनुप्रयुक्त नीतिशास्त्र (Applied Ethics) कहलाता है।

7. इस पुस्तक की योजना

इस प्रकार लेखक के मतानुसार नीतिशास्त्र के सिद्धान्तों पर जो सांगोपांग ग्रन्थ लिखा जाएगा उसमें स्वभावतः चार पृथक् खण्ड होंगे और सम्भवतः एक पाँचवाँ भी होगा जो विषय के मुख्यतः तत्त्व-मीमांसीय पहलू के विकास से सम्बन्धित होगा।

लेकिन वर्तमान पुस्तक एक परिचयात्मक रूपरेखा बताने मात्र के प्रयोजन से लिखी गई है; और इसमें जो विभाग किये गए हैं उनमें विस्तार की बातें देने की

जरूरत नहीं है। चूँकि यह पुस्तक मूलतः उनके पढ़ने के लिए लिखी गई है जो पहले ही मनोविज्ञान की एक पाठ्यचर्या पूरी कर चुके हैं, इसलिए विषय के मनोवैज्ञानिक पहलू पर विस्तार से विचार नहीं किया गया है। जहाँ तक समाजशास्त्रीय पहलू का सवाल है, पूरा समाजशास्त्र अभी तक इतना अविकसित है कि एक प्रारम्भिक पाठ्य-पुस्तक में उसके बारे में दृढ़तापूर्वक कुछ कहना शायद ही उचित हो। किसी बड़ी पुस्तक में विभिन्न बातों पर उनके महत्त्व के अनुसार कम या अधिक विस्तार से विचार किया जा सकता है, लेकिन इस छोटी पुस्तक में उन्हें छोड़ देना ही सबसे अच्छा है। फलतः, नीतिशास्त्र के अध्ययन के इन दो विभागों के बारे में जो कुछ हमें कहना है उसे हम इकट्ठे 'उपोद्घात : मनोविज्ञानपरक' इस सामान्य शीर्षक के अन्तर्गत रखेंगे।

नीतिशास्त्र के विभिन्न सिद्धान्तों के ऊपर कुछ विस्तार से विचार करने की जरूरत होगी। लेकिन यहाँ भी हमें मोटे-मोटे अन्तर्दृष्टि से ही सन्तोष कर लेना होगा, तथा सूक्ष्म ऐतिहासिक विवरणों को भावी अध्ययन के लिए छोड़ देना होगा। प्रत्यक्ष नैतिक जीवन के वर्णन में हम अधिक-से-अधिक यही कर सकते हैं कि उन मुख्य बातों की ओर संकेत कर दें जिन पर विचार करना किसी बड़े ग्रन्थ के लिए महत्त्व का होगा। अन्त में, नैतिक सिद्धान्त में गर्भित तत्त्व-मीमांसीय बातों की ओर केवल अन्तिम अध्याय में ही संकेत किया जा सकेगा।

उपोद्घात : मनोविज्ञानपरक



अध्याय 1

इच्छा और संकल्प

1. प्रावकथन

इस अध्याय में जिन प्रश्नों से हमारा सम्बन्ध है वे मूलतः मनोवैज्ञानिक हैं; और अधिकतर बातें, जिनकी हम चर्चा करेंगे, कम या अधिक विस्तार के साथ प्रोफेसर स्टाउट (Stout) के Manual of Psychology या मनोविज्ञान की किसी भी अन्य पुस्तक में मिल जाएँगी। लेकिन यहाँ उनके नैतिक महत्त्व को प्रकाश में लाना जरूरी मालूम पड़ता है। जिस बात से मुख्यतः हमारा सम्बन्ध है वह यह है कि जिन क्रियाओं को 'संकल्प' और 'आचरण' कहा जाता है उनका स्वरूप क्या है तथा हमारे चेतनामय जीवन का जो सामान्य हेतु है, जिसे 'चरित्र' कहा जाता है, उससे इनका क्या सम्बन्ध है। लेकिन इन्हें समझने के लिए कुछ इच्छा और संकल्प के सम्बन्ध के बारे में कहना भी जरूरी है; और इस अध्याय में इन बातों पर विचार करना ही हमारा उद्देश्य है।

2. इच्छा का सामान्य स्वरूप

इच्छाओं का संकल्प से जो सम्बन्ध होता है उस पर विचार करने से पहले यह सही-सही निश्चित कर लेना जरूरी है कि हम 'इच्छा' शब्द का क्या अर्थ समझें। उदाहरण के लिए, हमें मनुष्य की इच्छाओं को किसी पशु की क्षुधाओं (appetites) मात्र से एक नहीं समझना चाहिए; और अनेक छोटे-मोटे अन्तर और भी हैं जिन्हें ध्यान में रखना जरूरी है। हम मोटे तौर पर यह कह सकते हैं कि कोई भी चीज किसी मनुष्य की इच्छा का विषय तब तक नहीं बन सकती जब तक वह उसे जान-बूझकर एक शुभ वस्तु न माने। लेकिन यह कथन शायद अधिक जानकारी नहीं कराता, क्योंकि शुभ वस्तु की इसके अलावा अन्य परिभाषा देना कठिन है कि वह ऐसी वस्तु है जिसकी जान-बूझकर इच्छा की जाती है।¹ फिर भी, मतलब की बात यह है कि जिसे भी हम वस्तुतः इच्छा कहते हैं उसमें हमेशा किसी चीज को जान-बूझकर

1. अरस्तू का Ethics, I. i. 1 देखिए : "शुभ वह है जिसे सब लक्ष्य बनाते हैं।" डॉ० जी० ई० मूरे (G. E. Moore) ने कहा है कि शुभ की परिभाषा देना बिल्कुल भी सम्भव नहीं है। देखिए उनका ग्रन्थ Principia Ethica, पृ० 6-10। इस बात पर बाद के किसी अध्याय में विचार किया जाएगा। यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना ठीक रहेगा कि वार्ड (Ward) कुछ किम्बकते हुए यह मानने को तैयार था कि मूल्य या शुभ भावानुभूति (feeling) पर आश्रित होता है। Psychological Principles, पृ० 386-87 देखिए। लेकिन इससे अनिवार्यतः यह मतलब नहीं निकलता कि मूल्य भाव (feeling) का होता है। भाव को इस बात का सूचक माना जा सकता है कि वस्तु का मूल्य है।

साध्य के रूप में लिया जाता है। जो चीज जान-बूझकर इच्छा में साध्य के रूप में ग्रहण की जाती है, उसे 'शुभ' कहते हैं। इस तरह से परिभाषा करने पर लगता है कि हम चक्रक-दोष से बच गए हैं।

लेकिन इस बात को समझने के लिए विस्तार से इच्छा और अन्य क्रियाओं का अन्तर बताना जरूरी है। सबसे सुविधाजनक यह होगा कि हम उन क्रियाओं से शुरू करें जो जीवन के पैमाने में सबसे नीचे हैं और तब उनसे ऊपर की ओर बढ़ते हुए उच्चतम क्रियाओं, अर्थात् मानवीय इच्छा और संकल्प, में पहुँचें।

3. जीव-वृत्ति (Want) और क्षुधा (Appetite)

सबसे पहले हम किसी पशु की क्षुधा का पशु के अन्दर किसी जीव-वृत्ति के होने मात्र से भेद बताएँगे। पशु की शुद्ध जीव-वृत्ति वैसी ही होती है जैसी किसी पौधे की जीव-वृत्ति। यह उन साध्य-विशेषों की ओर उन्मुख होने की एक अन्धी प्रवृत्ति होती है जो पशु के जीवन के विकास में घुले-मिले होते हैं, ठीक वैसे ही जैसे वे एक पौधे के जीवन में घुले-मिले हो सकते हैं। अगर हम चाहें तो यह भी कह सकते हैं कि प्रकृति इन साध्यों की प्राप्ति का संकल्प करती है; ¹ लेकिन स्वयं पशु या पौधा जान-बूझकर इनका संकल्प नहीं करता। ² इसके विपरीत, क्षुधा में किसी साध्य-विशेष की ओर अन्धी प्रवृत्ति मात्र नहीं होती, बल्कि किसी सीमा तक इस प्रवृत्ति की चेतना भी विद्यमान रहती है। यह चेतना अंशतः जिस तरह की वस्तु एक निश्चित जीव-वृत्ति को सन्तुष्ट करेगी उसके एक निश्चित बोध के रूप में भी दिखाई पड़ सकती है।

उदाहरण के लिए, एक भूखे शेर को उस चीज के स्वरूप का थोड़ा-बहुत स्पष्ट बोध हो सकता है जिसे वह चाहता है। इसके विपरीत, एक पौधा जब सूरज की रोशनी की ओर मुड़ता है तब इसे उसकी जीव-वृत्ति कहा जा सकता है; लेकिन प्रायः यह नहीं माना जाता कि जो वस्तु इस जीव-वृत्ति को सन्तुष्ट करेगी उसके स्वरूप का पौधे को कोई बोध होता है। ³ पशु की क्षुधा में जो वस्तु-बोध होता है वह भी शायद अधिकतर कुछ धंधला और अस्पष्ट होता है। ⁴ चेतना में किसी निश्चित वस्तु-बोध के बजाय सबसे प्रधान तत्त्व शायद मुँह या दुःख का भाव होता है। अवृत्त

1. यह विचार अस्तू की देन है। असल में यह कथन कुछ उपमापरक है, लेकिन जगत के बारे में एक उद्देश्यवादी (teleological) दृष्टिकोण भी सुझाता है।
2. इस कथन पर शायद कुछ बन्धन लगाया जा सकता है। लामार्क (Lamarck) और स्पेंसर ने पशु-जीवन में चेतन लक्ष्यों की उपस्थिति डार्विन (Darwin) की अपेक्षा अधिक सीमा तक मानी है। सर जगदीशचन्द्र बोस ने भी आग्रह के साथ कहा है कि चेतना की कुछ मात्रा पौधों के अन्दर भी माननी चाहिए। शायद प्रो॰ लॉयड मार्गन (Lloyd Morgan), अलेक्जेंडर (Alexander) और अन्य विद्वानों द्वारा प्रतिपादित उद्गामी क्रम-विकास (Emergent Evolution) का सिद्धान्त भी इसी दिशा में संकेत करता है। लेकिन इन मतों पर यहाँ विचार नहीं किया जा सकता। क्रम-विकास के बारे में आधुनिक मतों की जानकारी के लिए हाल्डेन (J. B. S. Haldane) की हाल में प्रकाशित पुस्तक Possible Worlds देखना अच्छा रहेगा।
3. बोस ने पौधों में संवेदनशीलता मानी है; लेकिन ऐसा नहीं लगता कि उनका जिस तरह की संवेदनशीलता की ओर संकेत है उसमें किसी निश्चित बोध का समावेश है। प्रो॰ गेड्डस (Geddes) की बोस के जीवन पर पुस्तक द्रष्टव्य है।
4. कुछ मनोवैज्ञानिक (जिनमें शायद प्रो॰ स्ट्राउट भी एक हैं) तो इस बात से बिल्कुल इन्कार करेंगे कि वस्तु-बोध रहता है। लेकिन यह बात बहुत संशयग्रस्त है।

क्षुधा स्वयं में¹ दुःखप्रद होती है, जबकि किसी क्षुधा के तृप्त होने से सुख का भाव पैदा होता है। ये भाव पशुओं की क्षुधाओं के इतने लाक्षणिक और प्रधान अंग होते हैं कि क्षुधा की तृप्ति को प्रायः केवल सुख (pleasures) कहा जाता है, जबकि अतृप्त क्षुधाओं को दुःख (pains) कहा जाता है। आम तौर पर किसी को 'सुखान्वेयी' कहने का मतलब यह होता है कि वह अपनी पाशविक क्षुधाओं की तृप्ति के पीछे पड़ा रहता है, अथवा उन मानवीय आवेगों (impulses) की तृप्ति के पीछे, जो क्षुधाओं से मिलते-जुलते हैं। इस प्रकार, किसी क्षुधा की तृप्ति और उसके साथ पाए जाने वाले सुख के भाव के बीच कुछ भ्रम होना स्वाभाविक है, क्योंकि दोनों ही सुख कहलाते हैं। लेकिन फ़िलहाल इस भ्रम से वित्तित होने की जरूरत नहीं है।² अभी इतना ही ध्यान रखना काफी है कि सुख और दुःख पाशविक क्षुधाओं के प्रधान और लाक्षणिक अंग हैं।

4. क्षुधा और इच्छा

जिसे हम इच्छा कहते हैं उसमें न केवल किसी वस्तु की चेतना होती है और इस चेतना के साथ सुख और दुःख का भाव होता है बल्कि वस्तु के शुभ होने अथवा किसी कम या अधिक स्पष्टता के साथ निश्चित साध्य का एक अंग होने का बोध भी रहता है।³ किसी पशु की भूख किसी पौधे की पोषण लेने की जीव-वृत्ति-मात्र से भिन्न होती है; लेकिन किसी मनुष्य की भोजन की इच्छा भूख मात्र से कम भिन्न नहीं होती। आदमी भूखा हो सकता है और फिर भी सम्भव है कि उसकी खाने की इच्छा न हो। खाने की इच्छा में भूख के अलावा भोजन का विचार भी शामिल रहता है जो कि एक ऐसे साध्य के रूप में मन में बना रहता है जिसे पाना हितकर समझा जाता है।

इसी बात को हम यह कहकर भी प्रकट कर सकते हैं कि इच्छा के मूल में एक निश्चित दृष्टिकोण रहता है जबकि खाली क्षुधा में ऐसा नहीं होता। भूख पशु और साधु दोनों में लगभग एक ही चीज़ होती है, लेकिन साधु की और वीर पुरुष की इच्छाएँ असम्य, कृपण, या स्वादलोलुप व्यक्ति की इच्छाओं से बहुत भिन्न होती हैं। अलग-अलग आदमियों की इच्छाएँ इस बात से निर्धारित होती हैं कि प्रत्येक के दृष्टिकोण का समग्र स्वरूप क्या है। वे क्या इच्छा करते हैं, यह इस पर निर्भर करता है कि वे क्या पसन्द करते हैं; और जैसा कि रस्किन ने बार-बार कहा है, वे क्या पसन्द करते हैं, यह बात ठीक-ठीक यह प्रकट करती है कि वे क्या हैं। इस प्रकार, साधारण भूख या प्यास तो उस आदमी के चरित्र के बारे में, जिसे वह लगती है, हमें

1. 'स्वयं में' कहना जरूरी है, क्योंकि अतृप्त जीव-वृत्ति की चेतना का कुल प्रभाव कभी-कभी दुःखप्रद होने के बजाय सुखप्रद होता है। इस प्रकार, मनुष्य को, और शायद पशुओं को भी, मामूली भूख प्रायः अप्रिय के बजाय प्रिय लगती है। इसका कारण अंशतः शायद यह है कि सामान्यतः भूख की अनुभूति प्राण-शक्ति को सुखद उत्तेजना प्रदान करती है, और अंशतः यह कि अभाव की चेतना भविष्य में तृप्ति मिलने की आशा को आसानी से जगा देती है। अध्याय 2 के अन्त की टिप्पणी 1 देखिए।

2. देखिए आगे अध्याय 2, अनुच्छेद 7 और 8.

3. इस बात के विस्तृत विवेचन के लिए ग्रीन (Green) का Prolegomena to Ethics, खण्ड 2, अध्याय 2 देखिए। म्यूरेहेड का Elements of Ethics, पृ० 51-52, ड्यूई (Dewey) का Psychology, पृ० 360 और आगे, तथा वार्ड का Psychological Principles, पृ० 279 भी द्रष्टव्य हैं।

कुछ भी नहीं बताती, लेकिन सदाचार, प्रभुत्व या नाम की भूख-प्यास एक पूरे दृष्टिकोण को प्रकट करती है।¹

अतः किसी व्यक्ति की इच्छाएँ उसकी अन्य इच्छाओं और अन्य विशेषताओं से स्वतन्त्र नहीं हुआ करतीं, बल्कि एक समष्टि का अंश होती हैं; अथवा, यदि हम दूसरी तरह से कहना चाहें, उसके चरित्र की दुनिया² का अंग होती हैं; और यदि हमें उनका पूरा अर्थ समझना है तो हमें उन्हें इसी दृष्टिकोण से देखना होगा।

5. इच्छा-जगत् (Universe of Desire)

यह कहने का मतलब कि किसी आदमी की इच्छाएँ एक 'जगत्' का अंग होती हैं, तर्कशास्त्र के एक मिलते-जुलते प्रत्यय को लेकर कुछ और स्पष्ट किया जा सकता है। तर्कशास्त्र में हम 'प्रकरण-जगत्' (universe of discourse)³ की बात से अच्छी तरह परिचित हैं, जिसका मतलब है कि निर्देश का वह क्षेत्र जिसके अन्दर किसी कथन-विशेष की सार्थकता होती है। इस प्रकार, यदि 'देवताओं' के बारे में कोई कथन किया जाता है तो वह शायद होमर (Homer) के काव्य में वर्णित जगत् के सन्दर्भ में सही होगा, अथवा पुराणों के जगत् में सही होगा, लेकिन यदि उसे साधारण व्यावहारिक जगत् के सन्दर्भ में लिया जाए तो वह शायद गलत या निरर्थक होगा। इसी तरह हम प्रेम-कथाओं के जगत् में अप्सराओं की, रामायण के जगत् में राक्षसों और सोने की लंका की, धर्मों के जगत् में स्वर्ग-नरक की बात कह सकते हैं; और शायद हमारे कथन इन अलग-अलग जगत्‌ओं के अन्दर सही भी होंगे; लेकिन जिस-जिस जगत्-विशेष से उनका सम्बन्ध है यदि उससे उन्हें निकाल दिया जाए तो वे गलत हो जाएंगे।

हमारी इच्छाओं के साथ भी कुछ ऐसी ही बात है। प्रत्येक इच्छा एक जगत्-विशेष से सम्बन्ध रखती है, और जब हम उस जगत् से दूसरे जगत् में चले जाते हैं तब उसका अर्थ जाता रहता है। जिस जगत् से किसी इच्छा का सम्बन्ध होता है वह आदमी के समग्र चरित्र का जगत् होता है, जिस रूप में कि वह चरित्र इच्छा का अनुभव होने के समय अपने को प्रस्तुत करता है। संक्षेप में, वह इच्छा के क्षण में आदमी का जो नैतिक दृष्टिकोण होता है उसका जगत् होता है। इस प्रकार के जगत्‌ओं के बीच बड़े अन्तर होते हैं, यह बात हमारे उन निर्णयों से प्रकट होती है, जो हम अक्सर कविताओं, उपन्यासों और नाटकों में वर्णित मानव-व्यवहार के ऊपर देते हैं। हमें प्रायः ऐसा लगता है कि किसी कल्पित पुरुष की जो इच्छा कोई गल्पकार दिखाता है वह उस तरह की इच्छा नहीं है जिसका वैसे ही सामान्य चरित्र के हाड़-मांस के व्यक्ति को वही परिस्थिति में अनुभव होगा, अथवा कम-से-कम उस तरह की नहीं है जिसका उसकी तरह के हाड़-मांस के व्यक्ति को उतनी मात्रा में अनुभव होगा जितनी मात्रा कल्पित पुरुष में दिखाई गई है। असल में, वह उस तरह की इच्छा होती भी नहीं जिसका उस व्यक्ति के जगत्-विशेष से सम्बन्ध होता है। और वह जगत्-विशेष, जिसका हम इस प्रकार अनुमान करते हैं और जो अलग-अलग व्यक्तियों के अलग-अलग चरित्रों के साथ बहुत भिन्न हो जाता है, एक व्यक्ति के अन्दर भी हमेशा एक-जैसा नहीं बना रहता।

1. देखिए थ्यूरहेड का Elements of Ethics, पृ० 52.

2. देखिए ड्यूई का Psychology, पृ० 363-4.

3. देखिए कीन्स (Keynes) का Formal Logic, पृ० 137-8; वेन (Venn) का Empirical Logic, पृ० 180; तथा वेल्टन (Welton) का Manual of Logic, शिखर 1, पृ० 59-60.

हम सभी को इस बात का ज्ञान होगा कि अलग-अलग मनःस्थितियों में, अलग-अलग परिस्थितियों में और स्वास्थ्य की अलग-अलग हालतों में अलग-अलग इच्छाओं का हमारे अन्दर प्राधान्य हो जाता है। इन अन्तरो से ही वह अन्तर पैदा होता है जिसे हम 'जगत्' का अन्तर कह सकते हैं; और इस तरह के प्रत्येक जगत् के साथ इच्छाओं का एक भिन्न समूह, अथवा कम-से-कम इच्छाओं की एक भिन्न व्यवस्था सम्बन्धित होती है। यह जगत् एक ही व्यक्ति तक में कभी-कभी अवस्थाओं में एका-एक परिवर्तन आने से एकाएक बदल जाता है। एक पुरानी कथा के अनुसार एक बिल्ली थी जो राजकुमारी बन गई थी, लेकिन एकाएक एक सूत्रे के दिखाई पड़ने से अपनी पहले की शक्ल में आ गई थी। यह 'जगत्' के आकस्मिक परिवर्तन का ही एक उदाहरण माना जा सकता है। परिस्थिति में एकाएक परिवर्तन हो जाने से बिल्ली अचानक राजकुमारी के जगत् को छोड़कर बिल्ली के जगत् में पहुँच गई।

जीवन में इस तरह के परिवर्तनों की भरमार है। एक जर्मन लोकोक्ति के अनुसार, एक आदमी जवानी में जिस चीज की अभिलाषा करता है, बुढ़ापे में वह उसे यथेच्छ सुलभ रहती है। लेकिन जवानी और बुढ़ापे की तो बात जाने दीजिए, वर्ष-प्रतिवर्ष, दिन-प्रतिदिन और कभी-कभी तो घंटे-प्रतिघंटे भी हम देखते हैं कि पहले हम जिस जगत् में थे अब उसे छोड़कर दूसरे जगत् में पहुँच गए हैं और जिसकी हम पहले इच्छा करते थे उसमें अब हमारी कोई रुचि नहीं रही, बल्कि हो सकता है कि उससे हमें घृणा तक हो गई हो। कोई भी एकाएक होनेवाला परिवर्तन, जैसे किसी मित्र की मृत्यु का समाचार, किसी वचन की स्मृति, किसी नैतिक सिद्धान्त की जानकारी, इत्यादि, हमें क्षण भर में एक जगत् से दूसरे में पहुँचा सकता है। शेक्सपियर के नाटक Love's Labour's Lost में इसका एक अच्छा उदाहरण मिलता है, जिसमें फ्रांस के राजा की मृत्यु की घोषणा पिछले दृश्य के हास्य और हलकेपन को एकाएक समाप्त कर देती है और एक बिलकुल नया रंग ले आती है।

इस तरह के परिवर्तन को एक जगत् से दूसरे जगत् में जाना कहा जा सकता है। इस परिवर्तन का एक सामान्य उदाहरण वह अन्तर है जो हमारे रविवार के और सप्ताह के अन्य दिनों के दृष्टिकोणों में पाया जाता है। कुछ लोगों के जगत् को बदलने के लिए तो कपड़ों का परिवर्तन तक काफी होता है, क्योंकि 'गेरुआ पहनने से कोई महात्मा नहीं बन जाता' यह कहावत सदा सच नहीं होती।¹

6. इच्छाओं का परस्पर विरोध

हमने पिछले अनुच्छेद में बात को सरल बनाने के लिए यह मान लिया था कि किसी निर्दिष्ट क्षण में व्यक्ति का एक निश्चित दृष्टिकोण होता है, अर्थात् वह एक

1. मनोवैज्ञानिक जगतों के स्वरूप के बारे में हर्बर्ट (Herbart) का psychology विशेष रूप से जानकारी बढ़ाने वाला है। प्रो. स्ट्राउट के Mind में छपे लेख और उनकी पुस्तक Analytic Psychology (विशेषतः अध्याय 8, 9 और 10) भी द्रष्टव्य हैं। इस सिलसिले में प्रो. मैकडूगल के 'Sentiment' (स्थायी भाव) शब्द के प्रयोग के बारे में कुछ कह देना ठीक रहेगा। Social Psychology, 21वाँ संस्करण, पृ० 427 में उन्होंने लिखा है कि 'sentiment' एक व्यवस्थाबद्ध समष्टि होता है जिसमें एक ज्ञानात्मक प्रवृत्ति (cognitive disposition) एक या अधिक संवेगात्मक या भावात्मक-क्रियात्मक प्रवृत्तियों से जुड़कर एक संरचनात्मक इकाई का निर्माण कर देती है जो एक पूर्ण समष्टि के रूप में (अथवा, आज की नई शब्दावली में, एक 'गेस्टाल्ट' या संस्थान के रूप में) कार्य करती है।" लेकिन हमें 'Sentiment' के इस प्रयोग के औचित्य में सन्देह है।

ही जगत् में निवास करता है। लेकिन असलियत यह है कि व्यक्ति की चेतना में जो कुछ होता है वह इतना सादा नहीं होता। लगभग हमेशा ही किसी दिये हुए क्षण में व्यक्ति के सामने कई दृष्टिकोण प्रस्तुत रहते हैं; अथवा, कम-से-कम, कई दृष्टिकोण इतनी तेज़ी से एक के बाद एक बदलते रहते हैं कि उन्हें लगभग इकट्ठे ही मौजूद माना जा सकता है।

उदाहरण के लिए, एक राजमर्मज्ञ (statesman) का आचरण कई अलग-अलग जगत् में सम्बद्ध अभिप्रेरकों (motives) से प्रभावित हो सकता है। शायद वह ऐसे जगत् में निवास करता हो जो अपने देश के हित के विचार से निर्मित हो; और इन दृष्टिकोण से शायद वह कुछ बातों को करने की प्रबल इच्छा रखेगा। यह भी हो सकता है कि वह अपनी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा के, अपने परिवार के हित के, अपने निर्वाचन-क्षेत्र के लोगों की इच्छाओं के, अपने देश के नहीं, बल्कि समूचे विश्व के प्रति कर्तव्यनिष्ठा के या शायद धार्मिक बातों के विचार से निर्मित जगत् में रहता हो। सम्भव है कि वह एक के बाद एक या लगभग एक साथ इन सभी अलग-अलग दृष्टिकोणों को अपनाए, और फलतः उसके मन में एक-दूसरी से त्रिकुल भिन्न इच्छाएँ पैदा हों। तब इस बात की सम्भावना होगी कि इनमें से कुछ इच्छाओं का अन्यो से विरोध होगा। एक दृष्टिकोण से शायद वह शान्ति चाहेगा और दूसरे से युद्ध। एक के अनुसार वह स्वतन्त्रता का समर्थन करेगा और दूसरे के अनुसार व्यवस्था का। तब यह सवाल पैदा होगा कि इन साध्यों में से अन्त में वह किनका चुनाव करे।

प्रायः यह कहा जाता है कि ऐसे मामलों में आदमी स्वभावतः, बल्कि अनिवार्यतः, सबसे प्रबल इच्छा या अभिप्रेरक से प्रभावित होगा। लेकिन यह ध्यान रखना चाहिए कि इस तरह का कथन भ्रामक है। इस कथन से कुछ ऐसा शलकता है कि इच्छा एक स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है, जबकि असल में वह एक जगत् या समष्टि का अंग होती है। फलतः, किसी इच्छा का वास्तविक बल उसके अपने बल पर निर्भर नहीं करता बल्कि जिस जगत् या समष्टि से वह जुड़ी होती है उसके बल पर निर्भर करता है। इस प्रकार, किसी विदेशी ताकत से घृणा करने के कारण कोई आदमी युद्ध की उत्कट इच्छा रख सकता है। लेकिन उसके चरित्र में कर्तव्य-बोध घृणा की व्यक्तिगत भावना से अधिक प्रबल हुआ तो सम्भव है कि वह शान्ति के पक्ष में रहे; हालाँकि शान्ति की इच्छा अकेली उसे अधिक प्रभावित नहीं करेगी। ऐसी दशा में शान्ति की इच्छा विजयी होगी, इसलिए नहीं कि वह स्वयं में प्रबल है बल्कि इसलिए कि वह एक अधिक शक्तिशाली जगत् या समष्टि का अंग है।¹ एक प्रबल इच्छा, निस्सन्देह, उस जगत् को भी प्रबल बना देती है जिससे वह जुड़ी होती है, लेकिन किसी इच्छा की अन्तिम विजय अपने स्वयं के प्राबल्य पर नहीं बल्कि उसके जगत् के प्राबल्य पर निर्भर करती है।

यह सवाल कि व्यक्ति-विशेष के अन्दर एक जगत् का दूसरे जगत् की अपेक्षा प्राधान्य कैसे होता है, नीतिशास्त्र के बजाय मनोविज्ञान के सुलझाने का है। इस बारे में नीतिशास्त्र को जो कहना है उसकी ओर कुछ संकेत किसी आगे के अनुच्छेद में किया जाएगा।² फिलहाल मुख्य बात ध्यान देने की केवल इतनी है कि इच्छा कोई अकेली घटना नहीं होती बल्कि एक समष्टि का अंग होती है, और फलतः

1. देखिए ग्रीन का Prolegomena to Ethics खण्ड 2, अध्याय 1, अनुच्छेद 105, पृ. 108।

2. देखिए, खंड 3, अध्याय 6।

इच्छाओं का विरोध वास्तव में दो या अधिक इच्छा-जगत्‌ों का परस्पर विरोध होता है। जैसा कि प्रो० ड्यूई ने कहा है,¹ "महत्त्व की बात यह है कि यह वह विरोध या संघर्ष है जो स्वयं आदमी के अन्दर चलता है; वह स्वयं उसका उससे संघर्ष होता है" (अर्थात्, हमारी नई भाषा में, यह संघर्ष एक जगत् की हैसियत से उसका दूसरे जगत् की हैसियत से उसी से होता है); "यह उसका अपने से बाहर की किसी चीज से संघर्ष नहीं है, और न एक आवेग का दूसरे आवेग से ही संघर्ष है, ऐसा कि इस बीच आदमी तटस्थ होकर देखता रहे और संघर्ष के अन्त की प्रतीक्षा करता रहे। इच्छाओं के विरोध का पूरा मतलब तब समझ में आता है जब हम यह समझें कि उसमें आदमी स्वयं अपने से लड़ता है। उसमें आदमी स्वयं ही पक्ष होता है, स्वयं ही विपक्ष, और स्वयं ही युद्धभूमि भी।" यह रूपक, निस्सन्देह, प्रो० ड्यूई को हेगेल (Hegel) के Philosophy of Religion (I, 64) के एक अंश से सूझा है, जिसमें कहा गया है कि "मैं पक्ष-विपक्ष में से एक नहीं बल्कि दोनों ही हूँ और साथ ही युद्ध भी स्वयं में ही हूँ।" केयर्ड (Caird) ने Philosophy of Religion, अध्याय 9, पृ० 262 में इसी बात को इस तरह रखा है: "मैं पक्ष, विपक्ष, संघर्ष, और संघर्ष से ध्वस्त भूमि सब एक साथ हूँ।"

7. इच्छा और अभिलाषा (Wish)

'इच्छा' और 'अभिलाषा' शब्द प्रायः पर्यायों के रूप में प्रयुक्त होते हैं; लेकिन इनमें थोड़ा अन्तर है, और नीतिशास्त्र में अलग-अलग अर्थों में ही इनका प्रयोग करना अधिक वांछनीय है। संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि अभिलाषा एक प्रभावशाली इच्छा होती है। इस बात का अर्थ तब और स्पष्ट हो जाएगा जब अभी-अभी हमने इच्छा-जगत् और इच्छा-जगत्‌ों के आपसी विरोध के बारे में जो कुछ कहा है उसे ध्यान में रखकर इसे समझें। हमने कहा था कि कोई भी इच्छा एक समष्टि या जगत् से जुड़ी होती है और इस तरह की विभिन्न समष्टियाँ एक साथ रह सकती हैं तथा परस्पर संघर्षशील हो सकती हैं। जब उनमें संघर्ष होता है तब कुछ इच्छाएँ अन्यो के ऊपर हावी हो जाती हैं, कुछ कमजोर पड़ जाती हैं या लुप्त हो जाती हैं।

'अभिलाषा' शब्द का प्रयोग ऐसी इच्छाओं के लिए करना सुविधाजनक रहेगा जो अन्यो के ऊपर हावी हो जाती हैं या प्रभावशाली बनी रहती हैं। एक आदमी जो भूखा है खाने की इच्छा रख सकता है, लेकिन यह इच्छा केवल पाशविक प्रवृत्तियों के जगत् के अन्दर ही प्राधान्य रख सकती है। धार्मिक कर्तव्य की भावना, काम के प्रति निष्ठा या बहुत ही प्रबल मनोवेग के कारण इस इच्छा का नीचे दबा रह जाना सम्भव है। इन अवस्थाओं में हम कह सकते हैं कि आदमी को खाने की अभिलाषा नहीं है, हालाँकि उसकी चेतना में एक गौण जगत् के अंग के रूप में खाने की इच्छा बनी रहती है, जैसे कि मानो उसे अभी बाँधकर रख छोड़ दिया गया हो। इस तरह, ऐसी इच्छा को अभिलाषा नहीं कहना चाहिए जो प्रभावहीन हो गई हो।²

1. Psychology, पृ० 364-5।

2. यहाँ 'अभिलाषा' शब्द का जिस अर्थ में प्रयोग किया गया है, मनोवैज्ञानिक हमेशा उस अर्थ में इसका प्रयोग नहीं करते। प्रायः 'इच्छा' और 'अभिलाषा' में कोई भेद नहीं किया जाता, और जब किया जाता है तब बहुधा अलग तरह से किया जाता है, बल्कि कभी-कभी तो विपरीत तरीके से भेद किया जाता है।

8. निरुद्ध अभिलाषाएँ (Suppressed Wishes)

इधर इस बात पर बहुत जोर दिया गया है कि किस प्रकार विशिष्ट अभिलाषाएँ व्यक्ति के किसी निश्चित संकल्प या प्रयोजन की परवाह न करते हुए उसकी चेतना में हावी हो जाया करती हैं। इस तरह की कुछ-कुछ अपसामान्य (abnormal) लेकिन बहुधा दिखाई देने वाली प्रवृत्तियों के अध्ययन पर मुख्य रूपसे फ्रायड (Freud) और उसके समर्थकों ने बहुत जोर दिया है; और निश्चय ही उनका विस्तार से अध्ययन करना मनोविज्ञान का काम है। नीतिशास्त्र में उन पर ध्यान देना खास तौर से इसलिए जरूरी है कि वे नैतिक आचरण के विकास में और विशेषतः बालकों की शिक्षा में बाधक होती हैं जिन्हें दूर करना है।

सम्भव है कि अवचेतन (sub-conscious) अभिलाषाएँ जिस सीमा तक व्यक्ति की चेतना में प्रभाव प्राप्त करने में समर्थ हो जाया करती हैं उसको कुछ बढ़ाकर बताया गया हो। फिर भी, यह निस्सन्देह सच है कि हमें उनसे सावधान रहना चाहिए, ठीक वैसे ही जैसे उन चेतन अभिलाषाओं से जो उस लक्ष्य के विरुद्ध होती हैं जिसे हम सर्वोत्तम समझते हैं। उनसे विशेष खतरा इसलिए है कि वे छिपे हुए शत्रु के समान हैं। जरूरी यह है कि उन्हें खुले में लाने की कोशिश की जाए जहाँ उन्हें देखा जा सकता है और उनसे जूझा जा सकता है या उन्हें काबू में किया जा सकता है।

कहा गया है कि वे प्रायः बालकों से अविवेकपूर्ण व्यवहार करने का फल होती हैं। जब बच्चे अनुचित अभिलाषाएँ करते हैं, जैसे आग की लपट को छूने की अभिलाषा, तब खतरे को समझाने के बजाय कभी-कभी उन्हें डाँटा या भय दिखाया जाता है। ऐसी दशा में कभी-कभी अभिलाषा बनी रह जाती है और एक बाध्यता बन जाती है। हाल में इस तरह के तथ्यों के ऊपर बहुत ध्यान दिया गया है; और जीवन को सदाचारमय बनाने में ये जो कठिनाइयाँ पैदा करते हैं उन पर बहुत जोर दिया गया है।¹ जैसा कि रसेल (Russell) ने कहा है,² "फ्रायड के बाद से हमारी अभिलाषाएँ सबसे अधिक धोखेबाज और खतरनाक रूप में दुष्ट बन गई हैं।"

इस तरह की अभिलाषाएँ हमें प्रभावित करती हैं और हमें इस बात की जानकारी तक नहीं होती। इस वजह से कुछ मनोवैज्ञानिक कहने लगे हैं कि हमारे अधिकतर कार्य आधारों की स्पष्ट जानकारी के बिना ही चलते हैं। इस मत का एक पराकाष्ठागत रूप वह है जिसे व्यवहारवाद (Behaviourism)³ कहा जाता है। इस

1. जहाँ तक लेखक जानता है, इस विषय का सबसे अच्छा विवेचन प्रो॰ होल्ट (E. B. Holt) ने अपनी बहुत ही रोचक पुस्तक *The Freudian Wish in Ethics* में किया है। इसका मनोवैज्ञानिक महत्त्व बहुत है, लेकिन नीतिशास्त्रीय विवेचन में इसका महत्त्व अपेक्षाकृत थोड़ा है। फिर भी, नैतिक शिक्षा और अपराधियों के सुधार की समस्या पर इससे कुछ रोशनी अवश्य पड़ती है।
2. *Analysis of Mind*, पृ॰ 39.
3. इस वाद के मुख्य प्रवर्तक प्रो॰ जे॰ बी॰ वाटसन (J. B. Watson) हैं। उनकी पुस्तक *Behavior : An Introduction to Comparative Psychology* देखिए। इसकी कुछ अच्छी आलोचनाएँ रसेल के *Analysis of Mind* में मिलेंगी। लेकिन रसेल ने यह भी माना है कि इस वाद के सामान्य सिद्धान्त में काफ़ी जोर है। कुछ अधिक शास्त्रीय आलोचना बार्टलेट (Bartlett) ने *Mind* (अक्टूबर, 1927) में छपवाई है। वाटसन और मैकडूगल का *The Battle of Behaviorism* भी द्रष्टव्य है।

बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि अनेक लोग बोलते और काम करते हैं, लेकिन उन्हें इस बात का स्पष्ट और पूर्ण बोध नहीं रहता कि उनके कामों के मूल में क्या चीज है या उनके पीछे सिद्धान्त क्या होना चाहिए। शायद हम सभी किसी सीमा तक ऐसा करते हैं। लेकिन इतना प्रायः सभी मनोवैज्ञानिक मान-से गए हैं कि व्यवहार-वादी व्याख्या को जरूरत से ज्यादा महत्व दिया गया है। नीतिशास्त्र के दृष्टिकोण से निश्चय ही यह बात महत्व की है कि हमें अपने कार्यों के मूल में रहनेवाले कारणों की अधिक-से-अधिक स्पष्ट जानकारी रहनी चाहिए; लेकिन इस जानकारी से उचित-अनुचित के सामान्य सिद्धान्त पर कोई गम्भीर प्रभाव नहीं पड़ता।

9. अभिलाषा और संकल्प (Will)

प्रभावकारी अभिलाषा का अगर अव्यक्त इच्छा-मात्र से भेद करना जरूरी है तो अभिलाषा का निश्चयात्मक संकल्प-क्रिया से अन्तर करना और भी जरूरी है। शायद पहले यह लगे कि अगर अभिलाषा एक बलवती इच्छा है, तो उसे हमेशा संकल्प का रूप धारण करना चाहिए, लेकिन बात ऐसी नहीं है। कारण यह है कि अभिलाषा प्रायः प्रत्याहृत (abstract) स्वरूप की होती है; वह किसी पूरी घटना के एक तत्त्व की ओर प्रवृत्त होती है और बाकी तत्त्वों का विचार नहीं करती। दूसरी ओर, अगर किसी घटना का संकल्प करना है, तो उसे उसके सभी तत्त्वों के साथ स्वीकार करना होगा। जब शेक्सपियर के नाटक King Richard III में लेडी एन्नी (Lady Anne) ग्लाउसेस्टर के ड्यूक (Duke of Gloucester) से कहती है कि “मैं तेरी मौत की अभिलाषा करती हूँ, लेकिन अधिक बनने का मेरा संकल्प नहीं है,” तब अभिलाषा और संकल्प का अन्तर अच्छी तरह से स्पष्ट हो जाता है। मौत की अभिलाषा एक प्रत्याहृत अभिलाषा-मात्र है, क्योंकि उसमें उस साधन का विचार शामिल नहीं है जिससे मारा जा सकता है।¹

दूसरी ओर, जब किसी सांगोपांग वास्तविक कार्य का संकल्प किया जाता है तब उसमें कई बातें ऐसी भी हो सकती हैं जिनकी अभिलाषा नहीं की जाती और कुछ तो ऐसी भी होंगी, जो कर्ता की अभिलाषाओं के बिल्कुल विरुद्ध हों। शेक्सपियर के नाटक Romeo and Juliet में इसका भी उदाहरण मिलता है। जब दवा-विक्रेता रोमियो को विष बेचना स्वीकार करता हुआ कहता है कि “यह मेरी गरीबी को स्वीकार है, न कि मेरे संकल्प को,”² तब उसका अभिप्राय स्पष्टतः यह है कि उसकी अभिलाषा यह नहीं है। वह विष बेचने का संकल्प तो करता है, यानी वास्तविक कर्म को स्वीकार तो करता है, लेकिन अभिलाषा उसकी यह है कि अच्छा होता कि उसे यह काम न करना पड़ता। हम कह सकते हैं कि एकमात्र प्रधान इच्छा विष के विक्रय के विरुद्ध है (बशर्त हम यह मान लें कि विक्रेता जो कह रहा है ईमानदारी से कह रहा है); लेकिन उसका प्रधान इच्छा-जगत् उसकी गरीबी से बना हुआ है, और इसलिए उसे विष-विक्रय का संकल्प करना पड़ा।

1. निस्सन्देह, साधन प्रायः हमारी शक्ति के बिल्कुल बाहर होते हैं। इस प्रकार, हम मौसम को बदलने की अभिलाषा रख सकते हैं या अपने अतीत जीवन के एक अंश को दोहराने की अभिलाषा रख सकते हैं। यहाँ अभिलाषा संकल्प का रूप नहीं ले सकती, क्योंकि ज्योंही हम साधन के बारे में सोचते हैं त्योंही हम पाते हैं कि वह हमारी पहुँच के बाहर है।
2. इसकी ग्रीन के Prolegomena to Ethics, अनुच्छेद 143, पृ० 148 में चर्चा की गई है। ग्रीन ने कहा है कि “यहाँ संकल्प एक तीव्र संघर्षशील अभिलाषा-मात्र है जो कर्म कराने के लिए पर्याप्त नहीं है।”

इस प्रकार, संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अभिलाषा एकमात्र प्रधान इच्छा का नाम है; जबकि संकल्प एक इच्छा-जगत् के प्राधान्य के अनुसार होता है।

10. संकल्प और कर्म

एक अन्य महत्वपूर्ण अन्तर यह है जो मात्र संकल्प (अभिप्राय, उद्देश्य या निश्चय) और उसे कर्म का रूप देने के बीच होता है। निश्चय (resolution) जिस चीज का होता है वह हमेशा भविष्य में की जानेवाली होती है। कभी-कभी वह आसन्न भविष्य में की जानेवाली होती है और तुरन्त कर दी जाती है। कभी-कभी वह दूर भविष्य में की जानेवाली होती है और उपयुक्त समय आने तक रुकी रहती है। ऐसी हालत में सम्भव है कि उसे कार्य-रूप में परिणत होने का कभी मौका आए ही नहीं। अभिप्राय (intention) या निश्चय हमेशा अभिलाषा-मात्र से कुछ अधिक होता है : उसमें एक वास्तविक घटना को एक लक्ष्य के रूप में स्पष्टतः स्वीकार किया जाता है। लेकिन यदि घटना सुदूर भविष्य से सम्बन्ध रखती हो, तो हो सकता है कि उद्देश्य (purpose) तो एक जगत् में रहे और उसकी कार्य-रूप में परिणत किसी दूसरे जगत् में। सम्भव है कि जब उसे कार्य-रूप में परिणत करने का समय आए तब परिस्थितियाँ बदल चुकी हों। कम-से-कम इतनी तबदीली तो हो ही जाएगी कि जो बात पहले कल्पना-मात्र में मौजूद थी, वह अब वास्तविक तथ्य बन जाएगी। उदाहरण के लिए, किसी दोष को कबूल करने का निश्चय करना एक बात है और जिनके सामने कबूल करना है, उनके सामने कबूल करना प्रायः एक बहुत ही अलग बात होती है। कबूलने के निश्चय में साथवाली परिस्थितियाँ केवल कल्पना में रहती हैं और अंशतः प्रतीक-रूप में सोची जाती हैं; कबूलने में वे साक्षात् मौजूद रहती हैं।

हो सकता है कि वास्तविक तथ्य प्रत्याशा के अनुसार न हों। जैसे, जिन लोगों के सामने कबूल करना है वे, सम्भव है, उस मनःस्थिति में न हों जिसकी उम्मीद थी। और यदि प्रत्याशा मुख्य बातों में सही भी साबित हो तो भी जब परिस्थिति साक्षात् सामने हो तब सम्भव है हम गौण बातों से, जिनके बारे में हमने विशेष रूप से नहीं सोचा था, प्रभावित हो जाएँ। जो आदमी प्रातःकाल उठने का निश्चय करता है उसने सम्भव है प्रातःकाल की ठंडी हवा के या चारपाई में पड़े रहने के सुखद अनुभव के बारे में खास तौर से सोचा ही न हो; और जब उठने का समय हो तब यही बातें सबसे अधिक प्रभावकारी साबित हों। अथवा, एक और उदाहरण यह है कि जब लेडी मैकवेथ ने डन्कन की हत्या का इरादा किया था तब उसने इस बात पर ध्यान नहीं दिया था कि उसकी आकृति उसके पिता से मिलती-जुलती थी। इसी तरह, जब हैमलेट ने प्रेत के आदेश का पालन करने का निश्चय किया था तब उसने उन सन्देहों के बारे में नहीं सोचा था, जो प्रेत के अन्तर्धान हो जाने के बाद उसके मन में पैदा हो सकते थे। इस तरह, बहुत ही महत्त्व के उद्यम और साथ ही महत्त्वहीन योजनाएँ भी जगत् के बदलने से घरी-के-घरी रह जाती हैं; और उत्तम या अधम इरादे बिलकुल निष्फल हो जाते हैं।¹

यह बात तब विशेष रूप से सही पाई जाती है जब हमारा उद्देश्य ऐसा होता है जिसके सुदूर-व्यापी परिणाम होते हैं और जिसमें शायद जिस दुनिया में हम रहते हैं उसे पूरी तरह से बदल देने का इरादा भी शामिल रहता है। ऐसी दशा में बदली हुई दुनिया की शकल की हम पूरी तरह कल्पना नहीं कर पाते और कोई जरा-सी बात हमारी विचारधारा को आसानी से एक बिलकुल नई दिशा में मोड़ सकती है। जिस

1. देखिए आगे खण्ड 3, अध्याय 6, अनु० 3।

विप्लव¹ के द्वारा इस दुनिया को, जिसमें हम रह रहे हैं, उलटना है, वह तुरन्त अमल में नहीं लाया जा सकता, और विप्लव के बाद जो नई परिस्थितियाँ पैदा होंगी उनमें हमारा जिस तरह का जीवन होगा उसकी पूरी-पूरी कल्पना करना हमारे लिए असम्भव है। इस तरह कोरा निश्चय कर्म से कोसों दूर होता है।²

जिसे आमतौर पर 'संकल्प-शक्ति' कहा जाता है वह निश्चय को अमल में लाने की शक्ति होती है। यह शक्ति अधिकांशतः गौण बातों से विचलित न होते हुए लक्ष्य की मुख्य बातों पर ध्यान जमाए रखने की आदत पर निर्भर होती है। इसलिए उदार दृष्टि रखनेवालों की अपेक्षा संकीर्ण वृत्तिवाले या कठोर-हृदय मनुष्य प्रायः 'संकल्प-शक्ति' अधिक रखते हैं। लेकिन उदारमना व्यक्ति भी 'संकल्प-शक्ति' बढ़ा सकता है, बशर्ते महत्वपूर्ण बातों के प्रति उसकी दृष्टि स्पष्ट और निश्चयात्मक हो तथा महत्वहीन बारीकियों पर वह ध्यान न दे।

11. उद्देश्य (Purpose) का अर्थ

जब संकल्प को हम उस साध्य (end) से जोड़कर देखते हैं जिसकी ओर वह प्रवृत्त होता है, तब वह उद्देश्य कहलाता है। लेकिन इस शब्द का कभी-कभी साध्य की ओर प्रवृत्त संकल्प के बजाय स्वयं साध्य के लिए भी प्रयोग होता है। उद्देश्य को हमें सावधानी के साथ कर्म की उन प्रवृत्तियों से अलग रखना होगा जो क्षुधा, इच्छा और अभिलाषा के साथ पाई जाती हैं। क्षुधा से प्रेरित कर्म को आमतौर पर आवेगात्मक (impulsive) कहा जाता है; लेकिन कभी-कभी इस शब्द का प्रयोग उन कर्मों के लिए भी किया जाता है जो इच्छा से प्रेरित होते हैं। इनमें भेद करने के लिए हम 'अन्धा आवेग' (Blind Impulse) और 'चेतन आवेग' (Conscious Impulse) का प्रयोग कर सकते हैं। अभिलाषा की कर्म में परिणति होने की प्रवृत्ति के लिए सबसे अच्छा नाम अभिनति (Inclination) रहेगा। जब हम कुछ करने की ओर अभिनत होते हैं तब हमें उसे करने के आवेग की चेतना मात्र नहीं रहती, बल्कि किसी सीमा तक उस आवेग को हमारा अनुमोदन भी प्राप्त रहता है, हालाँकि सम्भव है सोच-विचार के बाद हम उसका अनुसरण करने का निश्चय न करें। इस प्रकार उद्देश्य या निश्चय आवेग (वह चाहे अन्धा हो या चेतन हो) और अभिनति से भिन्न होता है।

12. संकल्प और चरित्र (Character)

नोवलिस् (Novalis) ने कहा था कि 'चरित्र एक पूरी तरह से ढला हुआ संकल्प है।' हम जिस शब्दावली का प्रयोग करते आ रहे हैं उसमें हम कह सकते हैं

1. देखिए शेक्सपीयर का Julius Caesar, Act II, scene i, 11.63 sqq.

"Between the acting of a dreadful thing
And the first motion, all the interim is
Like a phantasma, or a hideous dream :
The Genius and the mortal instruments
Are then in council; and the State of man,
Like to a little kingdom, suffers then
The nature of an insurrection."

2. संकल्प के विभिन्न तत्त्वों का बहुत ही अच्छा संक्षिप्त वर्णन म्यूरहेड के Elements of Ethics, पृष्ठ 48-51 में मिलेगा। मैकडूगल के Social Psychology में भी संकल्प का बहुत ही अच्छा वर्णन किया गया है।

कि चरित्र एक निश्चित जगत् का निरन्तर प्रधान बना रहना है। अच्छे चरित्र का आदमी वह है जिसके अन्दर कर्तव्य का जगत् सदैव प्रधान बना रहता है। कंजूस वह है जिसके अन्दर प्रधान जगत् धन-प्रेम का होता है। दुराग्रही व्यक्ति वह है जिसके अन्दर किसी जगत्-विशेष का इतना अधिक प्राधान्य होता है कि अन्य महत्त्व के दृष्टि-कोणों के लिए वहाँ स्थान बिल्कुल नहीं होता। इसी तरह चरित्र के जो अन्य प्रकार हैं उन्हें भी उनमें प्राधान्य-प्राप्त जगत् की विशेषता के अनुसार समझा जा सकता है। जब पोप (Pope) ने यह कहा था कि 'अधिकतर औरतों का कोई चरित्र नहीं होता' (जिसकी सचाई बहुत ही संदिग्ध है), तब उसका मतलब यह था कि जिन इच्छा-जगतों में वे रहती हैं वे लगातार बदलते रहते हैं जिससे किसी एक जगत् को हमेशा प्रधान रहनेवाला नहीं बताया जा सकता।

और यह बात है भी सच्ची कि अधिकतर पुरुषों और स्त्रियों के अन्दर किसी ऐसी चीज की ओर इशारा करना आसान बात नहीं है जिसकी एकमात्र प्रधानता हो और जिसे पोप ने 'धुन' (ruling passion) कहा है। अधिकतर हाड़-मांस के आदमियों में हम किसी एक जगत् का निश्चित रूप से प्राधान्य उतना नहीं देखते जितना कई जगतों को, जिनके एक-दूसरे से कुछ निश्चित सम्बन्ध होते हैं। उनके परस्पर जो निश्चित सम्बन्ध होते हैं उनसे ही चरित्रों में अन्तर पैदा होता है। ऐसा कैसे होता है कि अभी एक जगत् की प्रधानता थी और अब दूसरे की हो गई? हम पहले ही कह चुके हैं कि यह सवाल मनोविज्ञान का विषय है, न कि नीतिशास्त्र का। मुख्य रूप से यह सवाल उन हेतुओं का है जो ध्यान और रुचि को वस्तु-विशेष में केन्द्रित करते हैं। इसका थोड़ा-बहुत वर्णन मनोविज्ञान की हरेक पाठ्य-पुस्तक में मिल जाएगा।¹ एक ढला हुआ चरित्र जिन कामों के बार-बार किए जाने में प्रकट होता है उन्हें आचरण (Conduct) कहा जाता है। इसका अर्थ हम अभी स्पष्ट करेंगे।²

13. समूह-संकल्प (The Group Will)

इस परिचयात्मक चर्चा में हमें मुख्य रूप से व्यक्ति की इच्छाओं और उद्देश्यों के बारे में कहना ही सुविधाजनक लगा। लेकिन यह याद रखना चाहिए कि व्यक्ति आमतौर पर राबिन्सन क्रूसो नहीं हुआ करते, और निश्चय ही इस बात को हम

1. इस अध्याय की कई बातों के बारे में और आगामी अध्यायों की कुछ बातों के बारे में भी सबसे अच्छी जानकारी प्रो० स्टाउट (Stout) के Mind, New Series, Vol. V, No. 19 में 'धैर्यकर्म' के विषय में प्रकाशित लेख से मिलेगी। उन्हीं की पुस्तक Manual of Psychology का अन्तिम अध्याय भी द्रष्टव्य है। ए० एफ० शैंड (A. F. Shand) की पुस्तक The Foundations of Character भी बहुत उपयोगी है, खास तौर से उसका खण्ड 3। अन्य बातों के अलावा शैंड ने उस शास्त्र के निर्माण की सम्भावना की भी चर्चा की है जिसे मिल (J. S. Mill) ने चरित्र-विज्ञान (Ethology) कहा है और जिसके द्वारा मानवीय चरित्र में अन्तर पैदा करनेवाली बातों को निश्चित किया जा सकता है। इस विषय पर एक रोचक लेख डॉ० वार्ड (Dr. J. Ward) ने लिखा था जो International Journal of Ethics की पहली जिल्द में प्रकाशित हुआ। मिल का चरित्र-विज्ञान का वर्णन उसके System of Logic खण्ड 6, अध्याय 5 में मिलेगा।
2. इस अध्याय में 'जगत्' शब्द का प्रयोग एकदम नया नहीं है। 'चरित्र का जगत्' (universe of a character), यह प्रयोग ग्रीन के Prolegomena to Ethics, खण्ड 4, अध्याय 1, अनु० 295 में हुआ है।

बराबर मानते चले आ रहे हैं। यदि व्यक्ति अपने जीवन में कुछ अकेला पड़ भी जाए तो भी वह अपने साथ थोड़े-बहुत स्पष्ट रूप से एक सामाजिक वातावरण लिये रहता है। व्यक्ति प्रायः सदैव एक परिवार, एक राष्ट्र, एक व्यापारी या व्यवसायी वर्ग का, या किसी अन्य बड़े समूह का सदस्य होता है; और वर्ग या समूह भी उसी तरह उचित या अनुचित कार्य कर सकता है जिस तरह उसमें रहनेवाले व्यक्ति करते हैं।

इधर के वर्षों में, अधिकांशतः ब्रेडले (F. H. Bradley) के प्रभाव से, 'लोका-चार' (Ethos of a people) के बारे में कहा एक आम बात हो गई है। यह विचार मूलतः हेगेल का है; और इससे कुछ यह सोचने की प्रवृत्ति बढ़ी है कि व्यक्तियों की अपेक्षा वह समूह, जिसके वे सदस्य होते हैं, अनुचित काम कम करता है। लेकिन यह बात सर्वत्र नहीं दिखाई देती। भीड़ के व्यवहार के बारे में बहुत लिखा गया है; और यह भी कहा गया है कि लोगों के अकस्मात् बन जानेवाले समूहों और कम या अधिक व्यवस्था-बद्ध समूहों में महत्त्वपूर्ण अन्तर होता है। अकस्मात् बन जानेवाले समूह का व्यवहार प्रायः भेड़ों के एक झुंड की तरह इतना अधिक आयेगात्मक होता है जितना एक अकेले व्यक्ति का शायद नहीं हुआ करता। दूसरी ओर, एक परिवार या राष्ट्र की तरह के स्थायी समूह से हम अपने कार्यों में इतना अधिक विचारशील होने की आशा कर सकते हैं जितना अकेला व्यक्ति नहीं होता। लेकिन अधिकतर समूह सहयोग से काम करनेवाले केवल आंशिक रूप में ही होते हैं। वे प्रायः कुछ बातों में भीड़-जैरे होते हैं और कुछ बातों में विचारशील समूहों जैसे।

इधर इस विषय पर बोसान्के के Philosophical Theory of the State, मैकडूगल के Group Mind, और विशेष रूप से मिस एम० पी० फॉलेट (Miss M. P. Follett) के New State के प्रकाशन के बाद से काफ़ी रोशनी पड़ी है। इन तथा अन्य लेखकों ने जिस बात का पता लगाया है वह है मानवीय विचार और कर्म में सहयोग का महत्त्व। सबसे ऊँचा उद्देश्य ऐसा कम ही होता है जिसे एक अकेला व्यक्ति अपने लिए बनाता है। वह अक्सर सहयोगपूर्ण चिन्तन-मनन का ही फल अधिक होता है। इस बात को निस्संदेह थोड़ा-बहुत हमेशा ही माना गया है; लेकिन व्यक्ति-मनो-विज्ञान और व्यक्ति के स्वातन्त्र्य की ओर जो अधिक ध्यान दिया गया है उसने इसके महत्त्व को शायद छिपाया है, खास तौर से इसलिए कि वीरों या अतिमानवों (Super-men) के महत्त्व को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाने की विरोधी प्रवृत्ति ने जोर पकड़ा है। आशा की जाती है कि इन सारी बातों का अर्थ आगे अधिक साफ़ हो जाएगा।

अभिप्रेरक और अभिप्राय (Motive and Intention)

1. प्राक्कथन

अब तक हम इच्छा और संकल्प के सम्बन्ध के सामान्य स्वरूप पर विचार करते रहे। अब संकल्प में निहित साध्य के स्वरूप पर ध्यान देना और विशेष रूप से यह देखना जरूरी है कि अभिप्राय और अभिप्रेरक में मुख्य अन्तर क्या है। यह एक ऐसी बात है जिस पर काफी चर्चा हुई है; और चूंकि इसमें उलझनें बहुत हैं, इसलिए इस पर विचार करने में बहुत सावधानी की जरूरत है। अतः सबसे पहले हमें अभिप्राय और अभिप्रेरक का ठीक-ठीक अर्थ समझ लेना चाहिए।

2. अभिप्राय का अर्थ

अर्थ की दृष्टि से 'अभिप्राय' और 'उद्देश्य' (Purpose) में बहुत निकट साम्य है। कभी-कभी तो इन्हें पर्यायवाची ही मान लिया जाता है। लेकिन ऐसा लगता है कि 'उद्देश्य' तो मानसिक प्रक्रिया का सूचक है और 'अभिप्राय' उस साध्य (end) का जिसकी ओर मानसिक प्रक्रिया प्रवृत्त होती है। इस अर्थ में, 'अभिप्राय' का मतलब हुआ कोई भी ऐसी बात जिसे करना हमारा उद्देश्य होता है। लेकिन इस तरह जिस बात को हम अपना उद्देश्य बनाते हैं वह प्रायः एक बहुत ही जटिल परिणाम होता है, और कभी-कभी यह निर्धारित करना बिल्कुल भी आसान नहीं होता कि उसका कितना भाग हमारे अभिप्राय के अन्तर्गत आता है।

जटिलता की दृष्टि से उद्देश्य या अभिप्राय की तुलना कारण से की जा सकती है। और वास्तव में वह होता भी एक प्रकार का कारण ही है—वह कारण जो भविष्यलक्षी होता है और जिसे आम तौर पर प्रयोजक कारण (Final Cause) कहा जाता है। प्रायः जब हम किसी घटना-विशेष का कारण पूछते हैं तब हमारा संकेत कुछ पहले घटने वाली किसी अन्य असाधारण घटना की ओर होता है, जिसने एक नियत अनुक्रम के अनुसार उस घटना-विशेष को जन्म दिया हो जिसके बारे में हमारी जिज्ञासा है।¹ अधिकतर मामलों में मामूली विचार करने से ही हमें यकीन हो जाता है कि यह असाधारण पूर्ववर्ती घटना अनुवर्ती घटना को जन्म देने वाला एकमात्र हेतु नहीं है; लेकिन हम आम तौर पर अन्य हेतुओं को कारण न कहकर उपाधियाँ (conditions) कहते हैं।

इसी तरह, जब हम किसी विशेष अवसर पर अपने अभिप्राय की बात करते हैं तब हमारा मतलब प्रायः उस परिवर्तन-विशेष से होता है जिसे पैदा करना हमारा लक्ष्य होता है। उदाहरण के लिए, हम कहते हैं कि हमारा अभिप्राय एक खास जगह

1. यह ध्यान रखना चाहिए कि भौतिकीय विज्ञान की हाल की खोजों ने कारण-कार्य-सम्बन्ध की इस धारणा को बहुत बदल दिया है।

जाने का है। यहाँ भी प्रायः थोड़े विचार के उपरान्त ही हमें यकीन हो जाता है कि हमारा अभिप्राय जितना हमने बताया है उससे कहीं अधिक है। हम केवल एक खास जगह जाने का ही अभिप्राय नहीं रखते बल्कि वहाँ पहुँचने पर कुछ करने का भी रखते हैं। लेकिन बहुधा जिन बातों को करने का हम अभिप्राय रखते हैं वे इतनी अधिक जटिल होती हैं, और कभी-कभी तो इतनी अधिक अनिश्चित होती हैं कि आसानी से उन्हें बताया नहीं जा सकता। अतः हम अधिक पसन्द यह करते हैं कि उन्हें करने के अपने अभिप्राय के बारे में कुछ कहें ही नहीं, और इसके बजाय यह कहें कि वे हमारे अभिप्रेरक हैं जो उस खास जगह जाने के लिए हमें अभिप्रेरित करते हैं।

लेकिन कभी-कभी शायद ये अभिप्रेरक हमारी जानकारी में उतने ही निश्चित होंगे जितनी वह चीज, जिसे हम अपना अभिप्राय कहते हैं। यदि हम कोई किताब देखने, किसी दोस्त से मिलने, स्वास्थ्य-लाभ करने, या भू-विज्ञानीय पर्यवेक्षण करने किसी जगह जा रहे हैं, तो शायद ये बातें लगभग या बिल्कुल उतने ही निश्चित रूप से हमें अभिप्रेत होंगी जितना उस जगह को जाना। इसके बावजूद भी शायद हम सोचेंगे कि हमारा तात्कालिक अभिप्राय उस जगह जाना है, और हम कहेंगे कि अन्य बातें जो हमें अभिप्रेत हैं, हमारे अभिप्रेरक हैं। समझाने के लिए शायद यह सुविधाजनक होगा कि हम उन अनेक तरीकों पर ध्यान दें जिनसे हमारे अभिप्रायों में इस तरह जटिलताएँ आ सकती हैं।

सबसे पहले हम किसी काम के तात्कालिक (immediate) और दूरस्थ (remote) अभिप्राय में भेद बताएँगे। दो आदमियों का समान तात्कालिक अभिप्राय एक तीसरे आदमी को डूबने से बचाना हो सकता है; लेकिन हो सकता है कि एक उसे इसलिए बचाना चाहता हो कि उसका जीवन सुरक्षित रहे और दूसरा इसलिए कि वह बाद में फाँसी पा सके।¹ इस दृष्टान्त में तात्कालिक अभिप्राय तो एक है लेकिन दूरस्थ अभिप्राय बहुत भिन्न है। दूरस्थ अभिप्राय को कभी-कभी अभिप्रेरक कहा जाता है, लेकिन यह प्रयोग बहुत ही आपत्तिजनक है।

दूसरा भेद आन्तर (inner) और बाह्य (outer) अभिप्रायों में होता है। इसका उदाहरण अब्राहम लिंकन और उस सूअर की प्रसिद्ध कथा में देखा जा सकता है जिसे लिंकन ने गड़ढे से बाहर निकाला था। इस काम के लिए सराहना पाने पर लिंकन ने यह कहा बताते हैं कि उन्होंने सूअर की भलाई के लिए ऐसा नहीं किया बल्कि स्वार्थवश किया, क्योंकि वह सूअर के कण्ठ में होने के बेचैन करने वाले विचार को अपने मन से दूर करना चाहते थे। यहाँ बाह्य अभिप्राय सूअर को बचाने का था, जबकि आन्तर अभिप्राय था मन से एक परेशान करने वाले भाव को बाहर निकालना।

इस दृष्टान्त में आन्तर अभिप्राय स्पष्टतः दूरस्थ अभिप्राय का ही एक रूप है, लेकिन ऐसा हरेक दृष्टान्त में नहीं होता। जैसे, यदि कोई आदमी ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए अपने मन में कोई भाव, यथा पश्चात्ताप या श्रद्धा का, लाने का प्रयत्न करे, तो उसका तात्कालिक अभिप्राय आन्तर होगा जबकि दूरस्थ अभिप्राय बाह्य होगा। दूरस्थ अभिप्राय की तरह ही किसी काम के आन्तर अभिप्राय को भी कभी-कभी भ्रमवश अभिप्रेरक मान लिया जाता है।

तीसरा भेद किसी काम के प्रत्यक्ष (direct) और परोक्ष (indirect) अभिप्रायों में होता है। यदि एक अराजकतावादी किसी गाड़ी को, जिसमें बादशाह और अन्य

1. देखिए, मिल का Utilitarianism, अध्याय 2, पृ० 27, टिप्पणी।

लोग जा रहे हैं, उड़ाने का इरादा करे,¹ तो उसका प्रत्यक्ष अभिप्राय शायद बादशाह को मारना होगा, लेकिन परोक्षतः उसका अभिप्राय गाड़ी के अन्य लोगों की जान लेना भी होगा, क्योंकि वह जानता है कि बादशाह के मरने के साथ और लोग भी ज़रूर मरेंगे।

चौथा भेद ज्ञात (conscious) और अज्ञात (unconscious) अभिप्रायों का है। कोई अभिप्राय अज्ञात कहाँ तक हो सकता है, यह मनोविज्ञान का सवाल है। यहाँ अज्ञात अभिप्राय से मतलब केवल उस अभिप्राय का है जिसे कर्ता स्पष्टतः अपना स्वीकार नहीं करता। आदमी का आचरण प्रायः वास्तव में इस तरह के अभिप्रायों से बहुत गम्भीर रूप से प्रभावित होता है। इस प्रकार हो सकता है कि कोई आदमी मानव-जाति के कल्याण को अपना अभिप्राय स्वीकार करे जबकि असल में उसका छिपा हुआ अभिप्राय अपनी ख्याति फैलाना मात्र हो।

पाँचवाँ भेद किसी काम के आकारिक (formal) और वास्तविक (material) अभिप्राय में होता है। वास्तविक अभिप्राय का मतलब है एक निष्पन्न तथ्य के रूप में सोचा हुआ कोई परिणाम-विशेष; आकारिक अभिप्राय का मतलब होता है उस तथ्य में मूर्तिमान् सिद्धान्त। दो आदमियों का समान लक्ष्य सरकार का तख्ता उलटना हो सकता है। ऐसी दशा में उनके वास्तविक अभिप्राय एक ही होंगे। लेकिन हो सकता है कि सरकार का तख्ता उलटने के पीछे एक का यह विचार हो कि वह आवश्यकता से अधिक प्रगतिशील है और दूसरे का यह कि वह बहुत ही रूढ़िवादी है। ऐसी हालत में दोनों के अभिप्राय आकारिक दृष्टि से बहुत भिन्न होंगे, हालाँकि उनके काम (जो केवल वोट देने या न देने तक भी सीमित रह सकते हैं) वास्तविक दृष्टि से एक ही होंगे।

इनके अलावा और भेद भी हो सकते हैं, लेकिन यहाँ जितने बताये गए हैं वे केवल उद्देश्य की जटिलताओं को दिखाने की दृष्टि से बताये गए हैं, और उनको दिखाना इसलिए महत्व रखता है कि अगर ऐसा न किया जाए तो अभिप्रेरक और अभिप्राय का सम्बन्ध समझना मुश्किल हो जाएगा।

संक्षेप में, हम अब कह सकते हैं कि, व्यापक अर्थ में, अभिप्राय एक ऐसा लक्ष्य होता है जिसे निश्चित रूप से संकल्प के विषय के रूप में अपनाया जाता है; और अभिप्राय कई प्रकार के हो सकते हैं।

3. अभिप्रेरक का अर्थ

‘अभिप्रेरक’ शब्द भी ‘अभिप्राय’ से कम अनेकार्थक नहीं है। अभिप्रेरक का मतलब है वह जो हमें एक विशिष्ट तरीके से काम करने के लिए ‘विवश’ करता है या हमें एक विशिष्ट तरीके से काम कराने का ‘कारण’ बनता है। लेकिन ‘कारण’ शब्द में कुछ अनेकार्थकता है। कारण निमित्त कारण (efficient cause) भी हो सकता है और प्रयोजक-कारण (final cause) भी। जैसे, किसी आदमी की गतियों का निमित्त कारण किन्हीं तन्त्रिकाओं, पेशियों इत्यादि की क्रियाएँ होता है; और प्रयोजक कारण इष्ट साध्य, यानी किसी लक्ष्य पर पहुँचना या किसी परिणाम को पैदा करना होता है। ‘अभिप्रेरक’ शब्द के प्रयोग में भी इसी तरह की अनेकार्थकता है।² अभिप्रेरक का मतलब वह भी हो सकता है जो हमें एक विशेष तरीके से काम करने को ‘विवश’ करे

1. सिजविक का *Methods of Ethics*, खण्ड 3, अध्याय 1, अनु० 2 (पृ० 202, टिप्पणी 2) देखिए। अब यह दृष्टान्त पुराना पड़ चुका है।

2. देखिए, म्यूरेड, *Elements of Ethics*, पृ० 60-2।



और वह भी जो हमें एक विशेष तरीके से काम करने में 'प्रवृत्त' करे।

पहले अर्थ में हम कहते हैं कि हम किसी भाव (feeling) या संवेग (emotion) से विवश हुए। इस प्रकार हम किसी आदमी के बारे में कहते हैं कि उसका अभिप्रेरक क्रोध, ईर्ष्या, भय, दया, सुख या दुःख था। कुछ लेखकों¹ ने तो यहाँ तक कह डाला है कि केवल सुख और दुःख ही अन्तिम अभिप्रेरक हैं। इस मत की परीक्षा हम इसी अध्याय में करेंगे। फ़िलहाल हमें केवल यह कहना है कि कभी-कभी निस्सन्देह लोग भाव के वश होकर काम करते हैं।

लेकिन जिस आचरण के बारे में कोई नैतिक निर्णय दिया जा सकता है उसमें आदमी केवल भाव के वश होकर प्रवृत्त हुआ हो, ऐसा कभी भी नहीं होता। यदि आदमी ने केवल किसी भाव, जैसे, क्रोध या भय, के वेग में बहकर कोई काम किया हो, तो यह कहना उचित नहीं है कि उसने काम किया है, ठीक वैसे ही जैसे किसी आदमी के द्वारा किसी वस्तु पर फेंके गए पत्थर के बारे में यह कहना उचित नहीं है कि उसने काम किया है। भाव या मनोवेग से आविष्ट व्यक्ति के चरित्र के बारे में हम निर्णय दे सकते हैं : हम कह सकते हैं कि उसे अपने को वेग में नहीं बहने देना चाहिए था; लेकिन यदि मनोवेग उसके ऊपर पूरी तरह से हावी हो गया है तो हम उसके काम के ऊपर कोई नैतिक निर्णय नहीं दे सकते, जैसे हम किसी पागल या शराब में मस्त आदमी के काम के ऊपर कोई नैतिक निर्णय नहीं दे सकते। नैतिक आचरण सोद्देश्य कर्म होता है; और सोद्देश्य कर्म ऐसा नहीं होता जो केवल भाव के वश होकर किया जाए : वह तो किया जाता है किसी साध्य की प्राप्ति के विचार से प्रेरित होकर। अतः हमें पहले अर्थ को छोड़कर अभिप्रेरक के दूसरे अर्थ को सही मानना होगा।

अन्तर समझने के लिए हम उस आदमी का दृष्टान्त देंगे जो करुणा के वश होकर किसी कष्ट में पड़े हुए प्राणी को सहायता देता है। स्पष्ट है कि मात्र करुणा का भाव हमसे सहायता दिलवाने के लिए काफ़ी नहीं है। करुणा सहायता देने के कर्म के निमित्त-कारण का एक अंश हो सकती है—अर्थात् जिस आदमी के अन्दर करुणा का तीव्र भाव है वह शायद सहायता देने के लिए उसकी अपेक्षा जल्दी तैयार हो जाएगा जो भावशून्य है। लेकिन अकेला भाव सहायता दिलाने के लिए काफ़ी नहीं है। अकेला करुणा का भाव अधिक-से-अधिक हमारे आँसू ला सकता है, जैसे नाटक में होता है जब हम एक काल्पनिक कष्ट की अवस्था देखते हैं। जब आदमी कर्म करने के लिए प्रवृत्त होता है तब उसके अन्दर खाली भाव के अलावा किसी साध्य की प्राप्ति का विचार होना भी ज़रूरी है। जैसे, वह एक प्राणी को दयनीय दशा में देखता है और यह भी देखता है कि कुछ प्रयत्न करके उसकी दशा सुधारी जा सकती है। उसकी दशा सुधारना उसे एक वांछनीय साध्य लगता है; और इस वांछनीय साध्य का विचार उसे एक विशेष तरीके से काम करने के लिए उकसाता है। यदि साथ ही उसके मन में करुणा भी आ जाए तो वह उसे उसकी दशा सुधारने के लिए और जल्दी विवश करेगी; लेकिन करुणा का भाव अकेला दशा में सुधार करने में प्रवृत्त नहीं करता, अर्थात् वह सही अर्थ में अभिप्रेरक नहीं है। अभिप्रेरक, जो हमें कर्म में प्रवृत्त करता है, किसी वांछनीय साध्य का विचार होता है। इस तरह, जब गोल्डस्मिथ (Goldsmith) के गाथा-काव्य में "कुत्ता अपने निजी साध्यों की पूर्ति के लिए पागल हो गया और उसने आदमी को काट खाया" तब अभिप्रेरक उसके

1. जैसे बेन्थम (Bentham), जिसके मत के बारे में हम बाद में बताएँगे।

निजी साध्य की पूर्ति था न कि खाली पागलपन ।²

4. अभिप्रेरकों और अभिप्रायों का सम्बन्ध

अब तक जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि अभिप्रेरकों और अभिप्रायों के बीच बहुत ही निकट सम्बन्ध है। हमारे काम का अभिप्रेरक वह होता है जो हमें उसे करने में प्रवृत्त करता है। यह भी स्पष्ट है कि यदि अभिप्राय को व्यापक अर्थ में लिया जाए तो अभिप्रेरक अभिप्राय के अन्दर शामिल होगा, लेकिन उसका सम्पूर्ण अभिप्राय से एक होना जरूरी नहीं है और न सामान्यतः ऐसा होता है।³ जो हमें किसी कर्म में प्रवृत्त करता है वह हमेशा कोई ऐसी चीज होती है जिसे हम उस कर्म से प्राप्त करने की आशा करते हैं।⁴ लेकिन ऐसा भी बहुत-कुछ हो सकता है जिसकी प्राप्ति की सम्भावना रहती है, बल्कि जिसकी प्राप्ति हमें जान-बूझकर अभिप्रेत होती है, लेकिन जो हमें कर्म में प्रवृत्त करने का कारण नहीं होगा, बल्कि शायद कर्म में निवृत्त करने का ही कारण बना होगा।

इस प्रकार किसी सुधारक का अभिप्रेरक अंशतः मानव-जाति की दशा सुधारने का और अंशतः नाम कमाने का हो सकता है। ये दोनों ही माध्य अधिकतम विस्तृत अर्थ में उसके अभिप्राय के भाग हैं। लेकिन सम्भव है उसे इस बात की भी अच्छी तरह जानकारी हो कि उसके काम का परिणाम कुछ समय के लिए दुनिया में शान्ति लाने वाला न होकर क्रान्ति लाने वाला हो। शायद उसे इस बात का भी पूर्वज्ञान होगा कि उसके काम का तात्कालिक परिणाम अव्यवस्था और दुर्दशा होगा और सम्भव है उसे कष्ट भी भोगना पड़े। यदि वह पहले से ही स्पष्ट रूप से जानता हो कि उसके काम के ये परिणाम होंगे तो यह कहना मुश्किल होगा कि ये उसे अभिप्रेत नहीं हैं। ऐसी दशा में वह जान-बूझकर उन्हें उस शुभ परिणाम के अनिवार्य सहचरों के रूप में स्वीकार करेगा जिसे प्राप्त करने की उसे आशा है। लेकिन हम निश्चय के साथ कह सकते हैं कि शुभ परिणाम को प्राप्त करने की चेष्टा में ये जो

1. इस विषय में टकर (Tucker) का *Light of Nature*, अध्याय 5 देखिए। अभिप्रेरक की उपयुक्त व्याख्या मुख्य बातों में अरस्तू के मत के अनुसार है जो उसके इस कथन में (*De Anima*, III, X, 4) प्रकट है कि हमें हमेशा कोई इष्ट वस्तु ही कर्म में प्रवृत्त करती है। लेकिन कुछ लेखक अब भी अभिप्रेरक के इस अर्थ में प्रयोग के खिलाफ हैं। देखिए *International Journal of Ethics*, Vol. IV, Nos. 1 & 2 में प्रकाशित चर्चाएँ। वहाँ पृ० 236 पर प्रो० Ritchie ने कहा है कि 'इच्छा' जाति (genus) है और 'अभिप्रेरक' उसकी एक उपजाति (species), तथा अभिप्रेरक का व्यवच्छेदक गुण (differentia) है किसी साध्य के विचार का होना। लेकिन यह निश्चय ही गलत है क्योंकि सभी इच्छाओं में किसी साध्य का विचार शामिल रहता है। यहाँ यह कह देना चाहिए कि मूल अंग्रेजी शब्द 'motive' पहले शायद गति के किसी निमित्त-कारण के लिए प्रयुक्त होता था और फिर धीरे-धीरे सामान्य जीवन की सुविधाओं और विज्ञान की जरूरतों के अनुसार उसका अर्थ बदल गया।
2. म्यूरहेड का *Elements of Ethics*, पृष्ठ 62 देखिए। जब प्रो० ड्यूई (*Outlines of Ethics*, पृष्ठ 9 में) यह कहते हैं कि "अग्रगण्य, कल्पना में मौजूद परिणाम कर्म के साध्य होते हैं और इस प्रकार अभिप्रेरक बनते हैं" तब ऐसा लगता है कि वे अभिप्रेरक को सम्पूर्ण अभिप्राय से एक कर देते हैं। यह गलत है, या 'अभिप्रेरक' का, कम-से-कम, असुविधाजनक प्रयोग तो है ही।
3. जब हम किसी भाव या मनोवेग मात्र के बशीभूत होते हैं, तब निश्चय ही ऐसा नहीं होता।

अशुभ परिणाम उसे हाथ लगेंगे वे उसके अभिप्रेरक में शामिल नहीं होंगे।

एक इससे भी सरल दृष्टान्त ब्रूटस (Brutus) का है। ब्रूटस ने अपने देश को बचाने के लिए (बशर्ते प्लूटार्क और शेक्सपियर का मत सही माना जाए) जब सीज़र को मारने में सहायता दी तब सीज़र का मारा जाना उसे अभिप्रेत था, लेकिन यह उसके अभिप्रेरक का अंग नहीं था। इस प्रकार, किसी काम का अभिप्रेरक अभिप्राय का एक भाग होता है, बशर्ते अभिप्राय को हम अधिकतम विस्तृत अर्थ में लें; लेकिन यह जरूरी नहीं है कि उसमें पूरा अभिप्राय शामिल हो जाए। अनुच्छेद 2 में हमने जो अन्तर किए थे उनको दृष्टि में रखते हुए हम कह सकते हैं कि अभिप्रेरक में आम तौर पर दूरस्थ अभिप्राय का ज्यादातर हिस्सा शामिल रहता है, लेकिन प्रायः तात्कालिक अभिप्राय का अधिक हिस्सा शामिल नहीं रहता; आम तौर पर प्रत्यक्ष अभिप्राय उसमें शामिल रहता है, लेकिन परोक्ष अभिप्राय नहीं रहता; आकारिक अभिप्राय लगभग हमेशा ही उसमें शामिल रहता है, लेकिन प्रायः वास्तविक अभिप्राय अधिक नहीं; तथा वह बाह्य और आन्तर अभिप्रायों एवं ज्ञात और अज्ञात अभिप्रायों में से कोई भी एक हो सकता है।

5. क्या अभिप्रेरक सदैव सुख का भाव (Pleasure) होता है ?

अब हम इस स्थिति में आ गए हैं कि इस सवाल पर विचार कर सकें। हम पहले भी कह चुके हैं कि कुछ लोगों ने कर्म का एकमात्र अभिप्रेरक सुख को माना है। एक और सवाल है जिससे इस सवाल को बिल्कुल अलग रखना चाहिए, और वह यह है कि क्या किसी अभिप्रेरक की उपस्थिति में सुख का भाव हमेशा शामिल रहता है ? इनके अन्तर को किसी विचार से सुख प्राप्त करने और सुख के विचार को लक्ष्य बनाने के अन्तर के रूप में भी प्रकट किया गया है। यह कहना शायद सही है कि जिस किसी चीज़ को हम अपना लक्ष्य बनाते हैं उसका विचार हमें सुखद होता है। हम अपने साध्य के पूरे होने के विचार से सुख प्राप्त करते हैं। यह कहना एक अलग बात है और यह कहना उससे बहुत अलग कि सुख का विचार ही वह साध्य है जिसे हम लक्ष्य बनाते हैं, अथवा यह कि हमेशा सुख का भाव ही हमें कर्म में प्रवृत्त करता है।¹ पहली बात प्रायः सभी मनोवैज्ञानिक स्वीकार करेंगे, लेकिन दूसरी बात केवल वे मानते हैं जिन्हें मनोवैज्ञानिक सुखवादी (Psychological Hedonists) कहते हैं। बेन्थम ने इस मत को (Principles of Legislation, अध्याय 1 में) इस प्रकार व्यक्त किया है :

“प्रकृति ने मनुष्य को सुख और दुःख के अधीन रखा है। हमारे सारे विचारों के स्रोत यही हैं; हमारे सारे निर्णय इन्हीं से सम्बद्ध हैं; और हमारे जीवन के सारे निश्चय इन्हीं से जुड़े हुए हैं। जो इनकी अधीनता से मुक्त होने की बात कहता है वह नहीं जानता कि वह क्या कह रहा है। जिस क्षण वह बड़े-से-बड़े सुख का त्याग करता है या तीव्र-से-तीव्र दुःख का आर्लिगन करता है, उस क्षण तक में उसका एकमात्र लक्ष्य सुख का लाभ और दुःख का त्याग होता है। इन शाश्वत और अदम्य भावों को नीतिशास्त्री और विधायक के अध्ययन का महान् विषय होना चाहिए। उपयोगिता का सिद्धान्त (Principle of Utility) प्रत्येक वस्तु को इन दो अभिप्रेरकों के नीचे रखता है।”

1. जैसा कि ब्रेडले ने कहा है, यह शायद सही है कि सुख का विचार हमेशा सुखद होता है (देखिए Mind, New Series, Vol. IV, No. 14)। लेकिन यहाँ जो बात उठाई गई है उससे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

यह इस मत का स्पष्ट कथन है कि सुख और दुःख, केवल ये दो ही कर्म के अभिप्रेरक हो सकते हैं, केवल ये ही वे साध्य हैं जिन्हें हम अपना लक्ष्य बना सकते हैं। इस मत पर नीचे विचार किया जाता है।

6. मनोवैज्ञानिक सुखवाद

मनोवैज्ञानिक सुखवाद के अनुसार इच्छा का अन्तिम विषय सुख है। इस मत का सबसे प्रसिद्ध समर्थक जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) था।¹ अपनी पुस्तक Utilitarianism के चौथे अध्याय में मिल ने सुखवाद का पक्ष-समर्थन इस प्रकार किया है :

“और अब हमें निश्चय करना है कि बात वास्तव में यही है कि मानव-जाति वस्तुतः अपने लिए उस चीज के अलावा कोई और नहीं चाहती जो उसे सुख देती है या दुःख को दूर करती है। यहाँ स्पष्टतः हम तथ्य और अनुभव के प्रश्न में पहुँच गए हैं, जिसका उत्तर इस तरह के सभी प्रश्नों के उत्तरों की तरह प्रमाण पर आश्रित है। इसका उत्तर केवल अभ्यास से पुष्ट आत्म-चेतना और आत्म-निरीक्षण से तथा दूसरों के निरीक्षण से ही प्राप्त हो सकता है। मुझे यकीन है कि इन प्रमाणों पर निष्पक्ष रूप से विचार करने पर यह सिद्ध हो जाएगा कि किसी चीज की इच्छा करना और उसे सुखद पाना, उसकी अनिच्छा करना और उसे दुःखद समझना दो ऐसी बातें हैं जिन्हें बिल्कुल भी पृथक् नहीं किया जा सकता, बल्कि यह कहना चाहिए कि जो एक ही तथ्य के दो भाग हैं, एक ही मनोवैज्ञानिक तथ्य के बारे में दो भिन्न प्रकार के कथन हैं। किसी वस्तु को वांछनीय समझना (उस अवस्था को छोड़कर जब उसे परिणामों के लिए वांछनीय माना जाता है) और उसे सुखद समझना बिल्कुल एक ही बात है। किसी चीज की, जिस मात्रा में उसका विचार सुखद होता है उसे छोड़कर, किसी अन्य रूप में चाह करना शारीरिक और तत्त्व-मीमांसीय दृष्टि से असम्भव है।”

इसका सिजविक ने अपनी पुस्तक Methods of Ethics (खण्ड 1, अध्याय 4) में अच्छी तरह से खण्डन किया है। सिजविक ने कहा है—मिल लिखता है कि “किसी चीज की इच्छा करना और उसे सुखद पाना एक ही मनोवैज्ञानिक तथ्य के बारे में दो भिन्न प्रकार के कथन हैं।” यदि ऐसा है तो यह बात समझ में आना मुश्किल है कि इसे ‘अभ्यास से पुष्ट आत्म-चेतना और आत्म-निरीक्षण’ के द्वारा सिद्ध करने की जरूरत कैसे हुई, क्योंकि तब तो इसका निषेध करने में वदतोव्याघात (contradiction in terms) दोष होगा। सचाई यह है कि ‘सुख’ शब्द के दो अर्थ हैं जिन्होंने इस प्रश्न के विचार में बहुत गड़बड़ी पैदा की है। जब हम कहते हैं कि एक आदमी जिस तरह ‘सुखी’ होता है (at his own pleasure, or as he pleases) उस तरह काम

1. लेकिन क़रीब-क़रीब सारे सुखवादी, विशेष रूप से स्वसुखवादी (Egoistic Hedonists), थोड़ा-बहुत स्पष्ट रूप से इस मत को मानते हैं। सुखवाद की सामान्य ऐतिहासिक जानकारी के लिए विद्यार्थी को Lecky का History of European Morals, अध्याय 1 और Watson का Hedonistic Theories, from Aristippus to Spencer देखना चाहिए। शुद्ध मनोवैज्ञानिक सुखवाद के अन्तिम समर्थकों में से एक प्रोफ़ेसर बेन (Bain) थे। उनका Mental and Moral Science, खण्ड 4, अध्याय 4 और The Emotions and the Will, ‘The Will’ अध्याय 8 देखिए। लेकिन बेन ने यह भी स्वीकार किया था कि किन्हीं क्षणों में सुख के अज्ञात अन्य बातों को लक्ष्य बनाना भी सम्भव है। सुखवाद के सामान्य अर्थ और उसके प्रमुख भेदों को आगे खण्ड 2, अध्याय 4, अनुच्छेद 1-8 में बताया गया है।

करता है, तब प्रायः हमारा मतलब केवल चुनाव या पसन्दगी से होता है; हम केवल यह कहना चाहते हैं कि उसकी इच्छा एक विशेष दिशा में है। अब, अगर 'सुखद' (pleasant) से हमारा मतलब उससे है, जो चुनाव को प्रभावित करता है, जो इच्छा या संकल्प को अपनी ओर खींचता है, तो यह कहना कि हम उसकी इच्छा करते हैं, जो सुखद होता है, या यह तक कहना कि हम किसी चीज की उसी मात्रा में इच्छा करते हैं जितनी मात्रा में वह सुखद लगती है, अकाट्य है, क्योंकि यह पुनरुक्ति (tautology) मात्र है।¹

यह कहने का मतलब केवल यह होगा कि हम किसी चीज की जितनी इच्छा करते हैं उतनी इच्छा करते हैं, क्योंकि 'सुखद लगता है' का मतलब केवल यह है कि 'हम इच्छा करते हैं।' लेकिन, जैसा कि सिजविक ने आगे कहा है, अगर हम 'सुख' शब्द को ठीक अर्थ में लें तो यह बात नहीं जैचती कि हम हमेशा केवल सुख की इच्छा करते हैं। यदि 'सुख' को उस अनुकूल भाव (agreeable feeling) के अर्थ में लिया जाए जो हमारी जीववृत्तियों की पूर्ति के साथ पाया जाता है, तो यह बात बिल्कुल भी नहीं जैचती कि इसी की हम हमेशा इच्छा करते हैं। इसके विपरीत, लगता यह है कि जिसकी हम इच्छा करते हैं वह हमेशा यह भाव नहीं होता।

7. इच्छा का विषय

(1) सुखवाद का विरोधाभास (Paradox of Hedonism)—सिजविक ने Methods of Ethics में आगे अपनी सुखवाद की परीक्षा जारी रखते हुए कहा है कि वस्तुतः जिस चीज की हम इच्छा करते हैं वह अधिकतर मामलों में कोई बाहरी साध्य होता है, न कि उसके साथ पैदा होनेवाला सुख का भाव। सिजविक ने आगे कहा है कि अगर हम सुख की इच्छा करें भी तो उसे पाने का सबसे अच्छा तरीका प्रायः उसे भूल जाना होता है। यदि हम स्वयं सुख की ही बात सोचते रहें, तो यह निश्चित-सा है कि हम उसे नहीं पा सकेंगे; लेकिन यदि हम अपनी इच्छाओं को बाहरी साध्यों की ओर लगाए रखें तो सुख स्वयं ही प्राप्त हो जाता है। यह बात सभी सुखों पर लागू नहीं होती, बल्कि मुख्यतः उन सुखों पर लागू होती है जिन्हें 'प्रयत्न-सुख'¹ (pleasures of pursuit) कहा गया है।

सिजविक ने कहा है—“उदाहरण के लिए, किसी खेल को लीजिए, जिसमें विजय-प्राप्ति के लिए प्रतियोगिता करनी पड़ती है, जैसा कि अधिकतर खेलों में होता ही है। प्रतियोगिता में शामिल होने से पहले कोई भी साधारण खिलाड़ी उसमें विजय पाने की इच्छा नहीं रखता—असल में प्रतियोगिता में जब तक वह वाकई शामिल नहीं हुआ है तब तक स्वयं को विजय का आनन्द लेता हुआ कल्पित करना उसे प्रायः कठिन लगता है। खेल शुरू होने से पहले जिस चीज की वह इच्छा करता है वह विजय नहीं बल्कि विजय के लिए संघर्ष करने में जो सुखद उत्तेजना मिलती है वह है; केवल इस सुख की पूर्ण निष्पत्ति के लिए खेल में विजयी होने की थोड़ी-सी इच्छा प्रायः आवश्यक होती है। यह इच्छा शुरू में नहीं रहती और पैदा होने के बाद स्वयं प्रति-योगिता उसे काफ़ी तीव्र मात्रा तक उद्दीप्त कर देती है।

“पूरा आनन्द लेने के लिए उपेक्षा का भाव भी कुछ मात्रा में जरूरी लगता है। जो आदमी खेल के दौरान में बराबर सुखान्वेषी की मनोवृत्ति रखता है, यानी सुख पर ही ध्यान जमाए रखता है, वह खेल की भावना को पूरी नहीं पकड़ पाता; उसकी व्यग्रता उत्तेजना की उस पराकाष्ठा पर नहीं पहुँच पाती जो सुख को अधिक-

तम रस प्रदान करती है। यहाँ एक बात दिखाई देती है जिसे हम सुखवाद का आधार-भूत विरोधाभास कह सकते हैं और जो यह है कि सुख की ओर हमारी वृत्ति का बहुत ही एकमुखी होना स्वयं अपने लिए घातक होता है। यह बात प्रयत्नहीन विषय-सुखों (sensual pleasures) में नहीं दिखाई देती, या मुश्किल से दिखाई देती है। लेकिन प्रयत्नापेक्षी भोगों के बारे में सामान्य रूप से यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि हम उनका आनन्द, या कम-से-कम उनका पूरा आनन्द तब तक नहीं ले सकते जब तक हम उनके ऊपर पूरा ध्यान जमाए रहते हैं।

“इसी तरह, विचार और अध्ययन के सुखों का पूरी मात्रा में आनन्द केवल वे ही उठा सकते हैं जिनके अन्दर जिज्ञासा का जोश रहता है, जो ध्यान को कुछ समय के लिए आत्मा और उसको होनेवाले संवेदनों से हटा देता है। इसी तरह, सब प्रकार की कलाओं में सर्जन-शक्ति के प्रयोग के साथ तीव्र और उत्कृष्ट सुख का अनुभव होता है, लेकिन उसे पाने के लिए उसे भूलना पड़ता है।”

मिल ने भी कुछ-कुछ सुखवाद के इस विरोधाभास को अस्वीकार किया था कि सुख प्राप्त करने के लिए सुख से भिन्न किसी चीज की ओर ध्यान लगाना जरूरी है। लेकिन ऐसा नहीं लगता कि उसे इस बात की अपने इस मत से असंगति जान पड़ी हो कि इच्छा सदैव सुख की ओर प्रवृत्त होती है। स्पष्ट है कि कम-से-कम कुछ समय के लिए इच्छा का सुख के बजाय कुछ बाह्य साध्यों की ओर प्रवृत्त होना सम्भव है।

8. इच्छा का विषय

(2) अस्तित्व की दृष्टि से आवश्यकताएँ पहले आती हैं और उनकी पूर्ति का सुख बाद में—अब हम एक अन्य महत्व की बात पर ध्यान देंगे जिसे मुख्य रूप से बटलर¹ (Butler) और हूचेसन (Hutcheson) ने उठाया है, हालाँकि बाद के कुछ लेखकों ने इसकी ओर ध्यान नहीं दिया। बात यह है कि अनेक प्रकार के सुखों का बिलकुल अस्तित्व ही न होता यदि उनसे पहले कुछ वस्तु-सम्बन्धी इच्छाएँ पैदा न हुई होतीं।

उदाहरण के लिए, परोपकार से मिलनेवाले सुखों को लीजिए। किसी को भी इन सुखों का अनुभव होना तब तक सम्भव नहीं है जब तक उसके अन्दर पहले परोपकार की इच्छा न हो। ऐसे मामले में सुख का अस्तित्व ही इस बात पर निर्भर होता है कि पहले इच्छा सुख के अलावा किसी अन्य बात की ओर उन्मुख हो। यहाँ तक भी कहा जा सकता है कि ऐसा ही सभी सुखों में होता है। सुख किन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद मिलता है और इसलिए आवश्यकताओं को सुख के पूर्ववर्ती होना चाहिए। खाना खाते हुए जो सुख प्राप्त होता है उसकी इच्छा हम तभी कर सकते हैं जब पहले हमें भोजन की ‘निष्काम’ इच्छा हो। इस तरह विचार करने से भी ऐसा लगता है कि कुछ इच्छाएँ ऐसी होती हैं जो सुख के लिए नहीं होतीं।

9. इच्छा का विषय

(3) बहुवचनान्त ‘सुख’ और एकवचनान्त ‘सुख’ (Pleasures and Pleasure)—साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि मिल के कथन में कुछ सत्याभास

1. देखिए सिजविक का History of Ethics, पृ० 192; ग्रीन द्वारा सम्पादित Hume, Vol. II, Introduction, पृ० 26; ग्रीन का Prolegomena to Ethics, अनु० 161, पृ० 167; तथा केयर्ड का Critical Philosophy of Kant, Vol. II, पृ० 230, टिप्पणी।

है और अब हमें देखना चाहिए कि वह क्यों है। ऐसा लगता है कि 'सुख' शब्द में एक द्व्यर्थकता¹ है, जो मिल के कथन के सच-सा लगने का कारण है। कभी-कभी 'सुख' का मतलब होता है अच्छा लगनेवाला भाव, यानी सन्तोष की अनुभूति, और कभी-कभी इसका मतलब होता है वह वस्तु जो सन्तोष दे। संगीत सुनने को कभी-कभी एक सुख कहा जाता है; लेकिन संगीत सुनना निश्चय ही सन्तोष की अनुभूति नहीं है, बल्कि एक चीज है जो सन्तोष प्रदान करती है।

सामान्य रूप से हम कह सकते हैं कि जब हम 'सुख' शब्द का बहुवचन में या जातिवाचक संज्ञा के अर्थ में प्रयोग करते हैं, तब हमारा मतलब सन्तोष देने वाली वस्तुओं से होता है; लेकिन जब हम 'सुख' शब्द का भाववाचक संज्ञा के अर्थ में प्रयोग करते हैं तब हमारा मतलब अधिकतर सन्तोष की उस अनुभूति से होता है जिसे इस तरह की वस्तुएँ अपने साथ लेकर आती हैं।² लेकिन ऐसा हमेशा नहीं होता।

शायद यह अन्तर सुख की अपेक्षा दुःख में अधिक स्पष्ट है। आम तौर पर दुःख को सुख का अभाव समझा जाता है और उसका अर्थ होता है अप्रिय भाव या असन्तोष की अनुभूति। लेकिन जब हम बहुवचन में 'दुःख' शब्द का प्रयोग करते हैं तब हमारा मतलब प्रायः उन वस्तुओं से होता है जो अप्रिय अनुभूति पैदा करती हैं, और एक विशेष प्रकार की वस्तुओं, यानी कुछ शारीरिक संवेदनों, को तो हम सचमुच ही प्रायः 'पीड़ाएँ' (दुःख) कहते हैं।

उदाहरण के लिए, दाँत-दर्द, दन्तपीड़ा या दाँत का दुःख एक असन्तोष की या अप्रिय अनुभूति मात्र नहीं है, बल्कि एक स्पष्ट संवेदन है। यह संवेदन एक चीज है—ऐसी चीज, जो एक अप्रिय अनुभूति को साथ लाती है। जलने का संवेदन एक अन्य चीज है; अचेत कर देने वाली चोट का संवेदन एक और चीज है; अनुचित काम करने की चेतना एक अन्य बात है। ये सभी चीजें अप्रिय अनुभूति पैदा करती हैं; लेकिन सभी में अप्रिय अनुभूति पैदा करने वाली चीज अप्रिय अनुभूति से बिल्कुल अलग होती है।³

जब यह कहा जाता है कि हम हमेशा सुख की ही इच्छा करते हैं तब मतलब यह मालूम पड़ता है कि जिस चीज को हम इच्छा करते हैं वह हमेशा कोई ऐसी चीज होती है जिसकी प्राप्ति के साथ प्रिय अनुभूति होती है। लेकिन यह बात इतनी सच्ची है कि पुनरुक्ति-जैसी लगती है। स्पष्ट है कि यदि हम किसी चीज की इच्छा करें तो उसकी प्राप्ति कम-से-कम थोड़े समय के लिए तो सन्तोष देगी ही, और इस सन्तोष के साथ सन्तोष का भाव अर्थात् सुख अवश्य रहेगा। फलतः, कोई भी चीज, जिसकी हम इच्छा करते हैं, सुख कही जा सकती है, अर्थात् वह जो प्राप्त होने पर सुख दे।

1. एक दूसरी द्व्यर्थकता। पहली द्व्यर्थकता, जिसे सिजविक ने दिखाया है, पहले ही ऊपर बताई जा चुकी है।
2. देखिए वार्ड का *Psychological Principles*, पृ० 266 तथा प्रो० स्ट्राउट का *Manual*, पृ० 113।
3. दुःख (पीड़ा) और अप्रियता में कुलपे (Kulpe) और टिचनर (Titchener) ने जिस बारीकी से अन्तर किया है (*Outline of Psychology* में), उसके लिए वे मनोवैज्ञानिकों में काफ़ी प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके हैं। आंगिक दुःख (पीड़ा) बिल्कुल उसी तरह एक पृथक् संवेदन लगता है जिस तरह मीठा स्वाद या गन्ध है। सुख और दुःख का भाव (या अनुभूति) इन अनुभवों से सम्भवतः अविवोच्य होता हुआ भी स्पष्टतः इनसे अलग पहचाना जा सकता है। इस अन्तर को अब सभी ने मान लिया है, हालाँकि नेरी समझ में इसके बारे में अब भी कभी-कभी गलतफ़हमी हो जाती है।

उदाहरण के लिए, जो आदमी किसी एक राजनीतिक दल को सत्ता से हटाना चाहता है वह इस घटना के होने पर सुखी होगा। और तब हम कह सकते हैं कि उस दल का सत्ता से हटना एक सुख था। हम जब यह कहते हैं कि 'एक अप्रत्याशित सुख प्राप्त हुआ', तब हम 'सुख' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में करते हैं। लेकिन स्पष्ट है कि किसी राजनीतिक दल का सत्ता से हटना स्वयं एक प्रिय भाव नहीं है; बल्कि प्रिय भाव तो केवल यह घटना अपने साथ लाती है। हमारा सुखों की इच्छा करना इस बात का प्रमाण नहीं है कि हम सुख की इच्छा करते हैं।

इसे समझने में शायद मिल के उद्धरण से सहायता मिलेगी। मिल ने Utilitarianism, अध्याय 4 में एक जगह लिखा है : "जैसे, धन-प्रेम के बारे में हम क्या कहेंगे ? मूलतः धन की इच्छा करने में चमकदार कंकड़ों की इच्छा करने से बढ़कर कोई विशेषता नहीं है। धन का महत्त्व केवल उन चीजों का महत्त्व है जो उससे खरीदी जा सकती हैं, उन इच्छाओं का महत्त्व है जो धन के अलावा अन्य चीजों के लिए होती हैं और जिन्हें पूरा करने का साधन धन होता है। इसके बावजूद, धन का प्रेम न केवल मानव-जीवन की सबसे प्रबल प्रेरक शक्तियों में से एक बन गया है बल्कि धन की इच्छा प्रायः स्वयं धन के लिए भी की जाती है; धन के स्वामी बनने की इच्छा प्रायः उसे खर्च करने की इच्छा से अधिक बलवती पाई जाती है, और जब वे सभी इच्छाएँ, जो धन के आगे की और धन से पूरी होने वाली होती हैं, घटती जाती हैं, तब भी धन की इच्छा बढ़ती ही जाती है। तब यह कहना सार्थक हो जाता है कि धन किसी अन्य साध्य के लिए नहीं चाहा जाता बल्कि साध्य के अंश के रूप में चाहा जाता है। पहले धन सुख का एक साधन होता है और फिर वह स्वयं व्यक्ति की सुख की धारणा का एक प्रमुख अंश बन जाता है।

"यही बात मानव-जीवन की अधिकतर बड़ी चीजों, जैसे शक्ति या यश के बारे में कही जा सकती है। शक्ति और यश दोनों का सबसे बड़ा आकर्षण यह है कि ये हमारी अन्य अभिलाषाओं की पूर्ति में बहुत भारी सहायता करते हैं; और इनके तथा इच्छा की हमारी सभी वस्तुओं के बीच इस प्रकार जो दृढ़ साहचर्य पैदा हो जाता है उसी के कारण सीधे शक्ति और यश की इच्छा में इतना अधिक बल आ जाता है जो कुछ बातों में अन्य सभी वस्तुओं की इच्छाओं के बल से बहुत आगे बढ़ जाता है। इस तरह से साधन साध्य का अंश बन जाता है और वह भी एक मामूली अंश नहीं, बल्कि ये चीजें जिन चीजों का साधन होती हैं उनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण अंश। जिसकी पहले कभी सुख की प्राप्ति के एक साधन के रूप में इच्छा की गई थी उसकी अब स्वयं अपने ही लिए इच्छा की जाती है, लेकिन स्वयं अपने लिए चाहे जाने में उसे सुख के एक भाग के रूप में चाहा जाता है। उसकी इच्छा सुख की इच्छा से भिन्न नहीं होती, जिस तरह संगीत की चाह या स्वास्थ्य की चाह सुख की चाह से भिन्न नहीं होती। ये सुख के अन्दर शामिल होते हैं। सुख की इच्छा में जो तत्त्व होते हैं ये उनमें से ही होते हैं। सुख कोई अमूर्त विचार नहीं है बल्कि एक मूर्त अवयवी है, और ये उसके कुछ अवयव हैं।"

इस सारे उद्धरण का मतलब बिल्कुल साफ़ है। स्पष्ट है कि धन, शक्ति, यश, संगीत और स्वास्थ्य प्रिय अनुभूति के अंग नहीं हैं। मिल का आशय यह है कि ये वस्तुओं की उस समष्टि के अंग हैं जो प्रिय अनुभूति पैदा करती है। अतः ऐसी चीजों की इच्छा से यह तो प्रकट होता है कि हम सुखों की इच्छा करते हैं, लेकिन यह नहीं कि हम सुख की इच्छा करते हैं। और इस अर्थ में यह कहना कि हम सुखों की इच्छा

करते हैं, पुनरुक्ति मात्र है। इसका मतलब केवल यह है कि हम उसकी इच्छा करते हैं जिसकी इच्छा करते हैं।

10. क्या तर्कना (Reason) अभिप्रेरक का काम कर सकती है ?

जो लेखक इस सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं कि केवल सुख और दुःख ही अभिप्रेरक हो सकते हैं, वे तक कभी-कभी यह मानते प्रतीत होते हैं कि कम-से-कम तर्कना तो ऐसी नहीं है जो कर्म का अभिप्रेरक बन सके। इस मत का सबसे खुला समर्थन करने वाला ह्यूम (Hume) था। ह्यूम का कहना था कि "तर्कना मनोवेगों (passions) की सेविका मात्र है और यही उसे होना भी चाहिए; मनोवेगों की आज्ञा के अनुसार चलने और उनकी दासता करने के अलावा अन्य काम उसका कभी हो ही नहीं सकता।"¹ मनोवेग और आवेग एक ही चीज हैं, और इस कथन का मतलब यह है कि सारे कर्म आवेगों पर आश्रित होते हैं तथा तर्कना अधिक-से-अधिक केवल उन उपायों को बता सकती है जिनके द्वारा इन आवेगों को सन्तुष्ट किया जा सकता है। तदनुसार, तर्कना हमें कोई नया अभिप्रेरक नहीं दे सकती; वह केवल ऐसा मार्ग बता सकती है जिस पर चलकर किसी पहले से विद्यमान अभिप्रेरक को अधिकतम सफलता के साथ पूरा किया जा सके।

लेकिन ऐसा लगता है कि यह मत इच्छा के स्वरूप के बारे में बनी हुई एक गलत धारणा पर आधारित है जिसकी ओर पहले ही संकेत किया जा चुका है। गलत धारणा यह है कि हमारा मानसिक जीवन अनेक पृथक् और स्वतन्त्र इच्छाओं से बना हुआ है और तर्कना इनके अन्दर एक पृथक् शक्ति के रूप में काम करती है। लेकिन यदि हम इस बात को मान लें कि हमारी इच्छाएँ एक जगत् का अंग होती हैं तो यह कहना ठीक नहीं होगा कि वे परस्पर स्वतन्त्र होकर रहती हैं। तब समस्या उस जगत् या समष्टि के स्वरूप को समझने की होगी जिसके अन्दर विशेष इच्छाएँ प्रकट होती हैं। यदि वह समष्टि तर्कनामूलक है तो जो इच्छाएँ उसके अन्दर प्रकट होंगी वे उन इच्छाओं से बहुत भिन्न होंगी जो उस प्राणी के अन्दर पैदा होंगी जिसके अन्दर अभी तर्कना का विकास नहीं हुआ है। अतः इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि तर्कना न केवल हमारी इच्छाओं, हमारे आवेगों या मनोवेगों को रास्ता दिखाती है बल्कि और गहराई में जाकर उनके स्वरूप को भी निर्धारित करती है। इस प्रकार, हम कह सकते हैं कि तर्कना हमारे लिए ऐसे साध्य या अभिप्रेरक निश्चित कर सकती है जिनकी एक तर्कनाहीन प्राणी के अन्दर बिल्कुल भी सम्भावना नहीं होगी।

11. क्या तर्कना ही एकमात्र अभिप्रेरक है ?

एक विपरीत प्रकार का भ्रम भी है जिससे हमें सतर्क रहना चाहिए, हालाँकि वह निस्सन्देह ऐसा है जिसमें पड़ने का खतरा आजकल बहुत कम है। हमें यह नहीं मानना चाहिए कि सारे ही अभिप्रेरक तर्कनामूलक होते हैं, अर्थात् यह कि आदमी हमेशा कर्म में तर्कना का अनुसरण करता हुआ ही प्रवृत्त होता है।

इस मत को हम सुकरात के सिद्धान्त के सन्दर्भ में और अच्छी तरह से समझ सकते हैं। सुकरात का कहना था कि "सदाचार ज्ञान है।" इससे उसका आशय यह था कि अगर हमें पूरी स्पष्टता के साथ नैतिक साध्य का स्वरूप ज्ञात रहे, तो अनिवार्य रूप से हम उसका अनुसरण करेंगे। यह तो निस्सन्देह सही है कि जो जगत् पूर्णतया

1. Treatise of Human Nature, खण्ड 2, भाग 3, अनुभाग 3, Dissertation on the Passions, अनुभाग 5 भी द्रष्टव्य है।

तर्कनापरक होगा उसके अन्दर सर्वोच्च शुभ सर्वोच्च अभिप्रेरक होगा। लेकिन यदि ऐसा हो कि आदमी सर्वोच्च शुभ का स्वरूप तो जानता हो पर पूर्णतया तर्कनापरक जगत् में न रहे, तो यह सम्भव है कि वह शुभ का ज्ञान रखता हुआ भी उसका अनुसरण न करे। अब कम-से-कम इतना तो साफ़ लगता है कि काफ़ी स्पष्टता के साथ शुभ का ज्ञान होने के बावजूद उसका अनुसरण न करना सम्भव है। इसका कारण यह है कि कर्म का अभिप्रेरक पूरी तरह से तर्कनापरक हमेशा नहीं होता।

12. अभिप्रेरकों का स्वरूप क्या होता है ?

इस तरह हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अभिप्रेरक न सिर्फ़ सुख और दुःख से बने होते हैं, न केवल प्रभावशाली इच्छाओं, मनोवेगों या आवेगों से बने होते हैं, और न मात्र तर्कना से बने होते हैं, बल्कि वे जिस जगत् के अन्दर प्रकट होते हैं उसके स्वरूप पर निर्भर होते हैं।

सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि अभिप्रेरक एक ऐसा साध्य होता है जो जिस जगत् के अन्दर प्रकट होता है उससे संगति या अनुरूपता रखता है। हमारे जीवन के किसी क्षण-विशेष में अनेक साध्य हमारे सामने आ सकते हैं। हम जिस दुनिया में रहते हैं उसकी वस्तुओं को अनेकानेक तरीकों से इस तरह बदला जा सकता है कि वे हमारी विचारधारा के अधिक अनुरूप बन सकें। यदि हमें ऐसा लगे कि किसी सीमा तक इस तरह का कोई परिवर्तन हम स्वयं अपनी चेष्टाओं से ला सकते हैं तो वह हमें कर्म में प्रवृत्त कराने वाला एक सम्भव अभिप्रेरक बन जाता है। यह अभिप्रेरक हमें वस्तुतः कर्म में प्रवृत्त करता है या नहीं, यह बात इस पर निर्भर करती है कि उसका उन अन्य सम्भव अभिप्रेरकों से विरोध तो नहीं है जो उस काल में हमारे अन्दर प्रकट होते हैं। कर्म की जिस दिशा को अन्त में हमारा संकल्प अपनाता है वह ऐसी होती है जिसकी हमारी चेतना के सामान्य स्वरूप से सबसे अधिक संगति होती है। जो दिशा अपनाई जाती है उसका तर्कना-संगत होना या न होना इस बात पर निर्भर करता है कि हम एक तर्कनापरक जगत् में निवास कर रहे हैं या नहीं।¹

यहाँ हम चरित्र और आचरण के सम्बन्ध के प्रश्न पर पहुँच जाते हैं, और चूँकि यह एक बहुत ही महत्व का प्रश्न है, इसलिए इसका विचार अलग ही अध्याय में करना अच्छा रहेगा।

सुख और इच्छा पर टिप्पणी

इस अध्याय में यह मान लिया गया है कि तृप्त इच्छा सुख प्रदान करती है और अतृप्त इच्छा या अतृप्त क्षुधा दुःख प्रदान करती है। लेकिन यह ध्यान देने की बात है कि इस प्रसंग को लेकर काफ़ी वाद-विवाद हुआ है और हमने इस सिलसिले में जो मत अपनाया है उसे सब लोगों ने नहीं माना है। जिस मुख्य बात के ऊपर मतभेद है वह उनके सम्बन्ध में है जिन्हें 'प्रयत्न-सुख' (Pleasures of Pursuit) कहा गया है। कुछ लेखक, विशेष रूप से प्रो० सिजविक, मानते हैं, चूँकि इस तरह के सुख पाए जाते हैं, इसलिए अतृप्त इच्छाएँ और क्षुधाएँ बहुधा अपने-आप में दुःखद न होकर सुखद होती हैं। अच्छा होगा कि इस बात की हम कुछ विस्तार से जाँच करें।

1. इस सिलसिले में Mind, New Series, No. 6, में छपे सिजविक के लेख Unreasonable Action को देखना लाभप्रद होगा। प्रो० स्टायट का Analytic Psychology (ज़िल्द 2, पृ० 267) भी शानबर्धक है। बोसान्के का Psychology of the Moral Self, Lecture 9, भी देखा जा सकता है।

प्रो० सिजविक ने *Methods of Ethics* खण्ड 1, अध्याय 4, अनुच्छेद 2, पृ० 48 में इस मत का कथन इस प्रकार किया है—“जब कोई इच्छा अपने स्वाभाविक प्रभाव के अनुसार ऐसे काम करवाती है जो उसके लक्ष्य की प्राप्ति की ओर हमें अग्रसर करते हैं” तब आम तौर पर उनके साथ जो चेतना होती है वह या तो तटस्थ होती है या थोड़ा-बहुत सुखद होती है, चाहे लक्ष्य की प्राप्ति अभी दूर ही क्यों न हो। जो भी हो, उत्सुकतापूर्ण क्रियाशीलता की चेतना, जिसमें कि इच्छा एक आवश्यक तत्त्व के रूप में मौजूद रहती है, अत्यधिक सुखद होती है; और वास्तव में इस तरह के सुखों का, जिन्हें हम सामान्य रूप से ‘प्रयत्न-सुख’ कह सकते हैं, जीवन के कुल आनन्द में भाग काफ़ी बड़ा होता है। कहा तो आमतौर पर यह भी जाता है कि उनका सिद्धि या प्राप्ति के सुखों (Pleasures of Attainment) से अधिक महत्व होता है; और अनेक दृष्टान्तों में, किसी प्रयत्न में लगने के लिए हमें प्रेरित करनेवाली प्रयत्न-सुख की आशा होती है, प्राप्ति-सुख की नहीं।”¹

मैं समझता हूँ कि ‘प्रयत्न’ और ‘प्राप्ति’ के इस विरोध के मूल में एक भ्रांत धारणा है, और इस भ्रांत धारणा को दूर करना मुझे बहुत महत्वपूर्ण लगता है। जहाँ तक मैं समझता हूँ, प्राप्ति-सुख से अलग कोई प्रयत्न-सुख नाम की चीज़ नहीं है। तथ्य यह प्रतीत होता है कि प्राप्ति दो प्रकार की होती है जिन्हें क्रम-प्राप्ति (progressive attainment) और सद्यःप्राप्ति (catastrophic attainment) कहा जा सकता है। मेरे विचार से जिसे ‘प्रयत्न-सुख’ कहा गया है वह असल में क्रम-प्राप्ति-सुख है। उदाहरण के लिए, जब यह कहा गया कि “यदि सत्य मेरी मूट्टी के अन्दर आ जाता तो मैं उसकी प्राप्ति के प्रयत्न-सुख के लिए उसे फिर छोड़ देता,” तब कहने वाले का आशय शायद सत्य की क्रम-प्राप्ति के सुख से था। और मैं समझता हूँ कि सिजविक ने जिन सुखों को प्रयत्न-सुख कहा है उनमें भी यही बात है।

उदाहरण के रूप में, सिजविक ने कौशल के खेल को लिया है। “किसी भी साधारण खिलाड़ी की ऐसी प्रतियोगिता में शामिल होने से पहले उसमें विजयी होने की कोई इच्छा नहीं होती, बल्कि असल में प्रतियोगिता में वाकई शामिल होने से पहले उसे अपने को इस तरह की विजय से तृप्ति पाता हुआ कल्पित करना कठिन लगता है। खेल शुरू होने से पहले वह जान-बूझकर जिस चीज़ की इच्छा करता है वह विजय नहीं बल्कि उसके लिए प्रयत्न करने में प्राप्त होने वाली सुखद उत्तेजना होती है; केवल इस सुख की पूरी वृद्धि के लिए खेल में विजयी होने की थोड़ी-सी इच्छा आम तौर से अपरिहार्य होती है। यह इच्छा शुरू में तो नहीं होती लेकिन स्वयं प्रतियोगिता इसे काफ़ी बड़ी मात्रा में उद्दीप्त कर देती है; और जितनी वह उद्दीप्त होती है उसके अनुपात में ही खाली प्रतियोगिता अधिक सुखद हो जाती है तथा विजय, जो कि शुरू में तटस्थ थी, अब बहुत आनन्द देने लगती है।”

इन उदाहरणों से मैं पूरी तरह सहमत हूँ, लेकिन केवल एक इस बात से नहीं हूँ कि खेल में ज्यों-ज्यों विजयी होने की इच्छा उद्दीप्त होती जाती है त्यों-त्यों, उसी अनुपात में, प्रतियोगिता भी अधिकाधिक सुखद होती जाती है। इसके विपरीत, मुझे लगता है कि खेल में विजयी होने की दो अलग-अलग प्रकार की इच्छाएँ होती हैं : एक है मात्र सद्यःप्राप्ति के बतौर विजयी होने की इच्छा, और दूसरी है लगातार प्रयत्न करते हुए अन्त में विजय प्राप्त करने की इच्छा। मुझे लगता है कि पहले प्रकार की इच्छा जितनी अधिक उद्दीप्त होती है, खेल की सुखदता उसी अनुपात में घटती

1. डॉ० सिजविक के मत के कुछ और उदाहरण *Mind*, New Series, Vol. I, No. 1 (जनवरी 1892) पृ० 94-101 पर मिलेंगे।

जाती है। मेरी समझ से यह एक आम अनुभव है कि जुआरी, जिसका लक्ष्य केवल जुए में जीतना होता है, जुए के खेल से कोई वास्तविक आनन्द नहीं पाता। खेल में जो आदमी वस्तुतः आनन्द लेता है वह, वह होता है जो विजय की इच्छा तो रखता है लेकिन उसे केवल एक क्रमिक प्रयत्न के परिणाम के रूप में चाहता है।

अन्य दृष्टान्तों में भी यही होता है। जो पर्वतारोही केवल सबसे ऊँची चोटी पर पहुँचने की अभिलाषा रखता है वह चढ़ाई की प्रक्रिया से केवल खीझता है : वह शायद बेलून या किसी अन्य साधन से वहाँ पहुँचना अधिक पसन्द करेगा। जो आदमी चढ़ाई में आनन्द लेता है वह वह होता है जो चोटी पर पहुँचने की वहाँ तक इच्छा रखता है जहाँ तक वह पहुँचने की प्रक्रिया को एकता और पूर्णता प्रदान करती है। इसी तरह, जो आदमी केवल कहानी के अन्त में ही रुचि रखता है वह उपन्यास पढ़ने में आनन्द नहीं लेता; उसका दृष्टिकोण क्रिस्टोफर स्लाइ (Christopher Sly) का जैसा होता है—“यह एक अत्युत्तम कृति है, लेकिन, काश इसका पढ़ना समाप्त हो गया होता !” जो आदमी वस्तुतः कहानी में आनन्द लेता है वह अन्त की परवाह केवल वहाँ तक करता है जहाँ तक पढ़ने का क्रम उस तक ले जाता है।

जो आदमी किसी साध्य की इच्छा उस तक पहुँचानेवाली प्रक्रिया के साथ करता है, उसे, मेरे विचार से, प्राप्ति से सुख का अनुभव करनेवाले से भिन्न प्रयत्न से सुख का अनुभव करनेवाला कहना सही नहीं है। प्रयत्न उसके लिए क्रम-प्राप्ति है। बात ही कुछ ऐसी है कि वह प्रयत्न किए बिना प्राप्त भी नहीं कर सकता। उदाहरण के लिए, कहानी में (अन्त की) प्राप्ति का इसके अलावा कोई दूसरा उपाय नहीं है कि उसे शुरू से आखिर तक पढ़ा जाए। ऐसी प्रक्रिया में इच्छा को लगातार तृप्ति मिलती रहती; यह कहना ठीक नहीं है कि अन्त में पहुँचने तक वह तृप्ति की प्रतीक्षा में बैठी रहती है।

मैं समझता हूँ कि यह व्याख्या भूख के दृष्टान्त में भी लागू होती है। मेरे विचार से भूख की क्षुधा (impulse) मात्र को इच्छा कहना बहुत ठीक नहीं है। भूख को भोजन की इच्छा से बिल्कुल अलग रखना ही ठीक है। मुझ लगता है कि मुख्यतः इन दोनों का एक-दूसरे से भेद न कर सकने के कारण ही प्रो० मिजविक ने भूख को ‘सुखवाद के विरोधाभास’¹ के सामान्य नियम का एक अपवाद² बताया है। मेरी समझ से यह अपवाद केवल इसलिए है कि यह इच्छा बिल्कुल है ही नहीं। लेकिन यह एक अलग बात है जिसका मैं इस समय आग्रह नहीं करना चाहता।

भूख यद्यपि सच्चे अर्थ में इच्छा नहीं है तथापि इसमें हमारी कुछ इच्छाओं की तरह ही क्रमिक तृप्ति देखी जाती है। मेरी समझ से, इसी कारण भूख प्रायः सुखद लगती है। वह सुखद इसलिए है कि वह क्रमशः अपनी चीज को प्राप्त करती जाती है। जहाँ तक मैं समझता हूँ भूख की तृप्ति सामान्य दशाओं में खाना शुरू करने से पहले से ही शुरू हो जाती है। मुँह में पानी आना, मेरे विचार से, तृप्ति की शुरुआत है; और शिकारी जानवरों में तो, मैं समझता हूँ, अनुसरण या प्रयत्न के काम तक से कुछ तृप्ति होती है।³ जो भी हो, भूख को शान्त करने का सामान्य काम सद्यःप्राप्ति के जैसा नहीं लगता। भूख को बुझाने का काम क्रमिक होता है।

1. ऊपर अनुच्छेद 7 देखिए।

2. Methods of Ethics, खण्ड 1, अध्याय 4, अनुच्छेद 2, पृ० 49 देखिए : “यह प्रभाव (अर्थात् सुख पर ध्यान केन्द्रित रखने से सुख का लोप हो जाना) निष्क्रिय विषय-सुखों में नहीं दिखाई देता या कम-से-कम बहुत ही नगण्य मात्रा में दिखाई देता है।”

3. मेरे विचार से वास्तव में ‘प्रयत्न-सुख’ यदि कहीं है तो केवल इस अर्थ में ही है।

अब यदि ऐसा है तो स्पष्ट है कि भूख का सामान्य स्थितियों में दुःखद होने के बजाय सुखद होना (जो कि सही लगता है) इस बात का प्रमाण नहीं माना जा सकता कि खाली क्षुधा, जहाँ तक वह अतृप्त बनी रहती है, अपने-आप में सुखद होती है, अथवा दुःखद नहीं होती। कारण यह है कि सामान्य स्थितियों में वह अतृप्त नहीं रहती बल्कि क्रमशः अपने लक्ष्य को प्राप्त करती चलती है।¹

इससे घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित एक और बात है, जो मुझे लगता है, प्रो० सिजविक ने उपर्युक्त विवेचन में छोड़ दी है; और वह यह है कि हमारी इच्छाएँ और क्षुधाएँ काफ़ी बड़ी सीमा तक कल्पना से तृप्त हो सकती हैं। डिकेन्स (Dickens) की 'Marchioness' कल्पना-शक्ति से अकेली सम्पन्न नहीं थी। यदि यह सही है कि

“कायर मृत्यु से पहले कई बार मर चुके होते हैं;
वीर मृत्यु का स्वाद केवल एक बार ही लेते हैं।”

तो यह भी कहा जा सकता है कि कल्पनाशील व्यक्ति अपनी इच्छाओं को वास्तव में तृप्त करने से पहले कई बार तृप्त कर चुके होते हैं जबकि कल्पनाहीन लोग केवल एक बार ही तृप्त करते हैं। कल्पनाशील खिलाड़ी अगर हारता है तो केवल कल्पना में बीसियों बार जीत चुकने के बाद एक ही बार हारता है; और ये काल्पनिक सफलताएँ उसके मन को शायद उस समय उतनी ही तृप्ति प्रदान करेंगी जितनी कि उतनी ही बड़ी संख्या की वास्तविक सफलताएँ करतीं।

‘प्रयत्न-सुख’ एक बड़ी सीमा तक इन्हीं मानसिक विजयों से बनते हैं; और यह तथ्य ही अधिकांशतः हमारे यह मानने का कारण है कि ‘प्रयत्न-सुख’ अतृप्त इच्छाओं के उदाहरण हैं। हमने ऐसा इसलिए कहा है कि प्रयत्न-सुख में इच्छा वस्तुतः अपने लक्ष्य को एक क्रमिक प्रक्रिया के द्वारा प्राप्त करती रहती है, यह व्याख्या शायद सर्वत्र लागू न हो।

मैंने ये बातें सिर्फ़ उस दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए कही हैं जो मुझे सही लगता है और जिसे मैंने इस किताब में अपनाया है। इन्हें कहने का उद्देश्य उस समस्या का, जिसे यहाँ उठाया गया है, पूर्ण समाधान करना कतई नहीं है।²

1. स्वेन्सर का Data of Ethics, पृ० 156-8 भी द्रष्टव्य है।

2. ‘प्रयत्न-सुख’ की चर्चा में रुचि रखने वालों को टकर (Tucker) के Light of Nature, अध्याय 6 में और अधिक विस्तृत सोद-हरण चर्चा पढ़ने को मिलेगी।

चरित्र और आचरण

1. प्राक्कथन

हम कुछ-कुछ जान चुके हैं कि संकल्प, इच्छा, अभिप्रेरक और अभिप्राय का क्या मतलब है तथा इनके मध्य क्या सम्बन्ध है। अब हम यह समझने के लिए तैयार हैं कि चरित्र का स्वरूप क्या है और उसका आचरण से क्या सम्बन्ध है। इन बातों का विवेचन करते-करते स्वभावतः हम संकल्प-स्वातन्त्र्य के प्रसिद्ध प्रश्न में पहुँच जाते हैं, क्योंकि चरित्र और आचरण का सम्बन्ध बताने के सिलसिले में यह बात महत्त्व रखती है। और, इस बात का विचार करते हुए 'परिस्थिति' (Circumstance) और 'आदत' (Habit) का अर्थ समझाना भी जरूरी लगता है। इस प्रकार, पहले हम चार अनुच्छेदों में क्रमशः चरित्र, आचरण, परिस्थिति और आदत पर विचार करेंगे, तब संकल्प-स्वातन्त्र्य का अर्थ समझाएँगे, और अन्त में ऐच्छिक कर्म के स्वरूप के बारे में बताएँगे।

2. चरित्र (Character)

हम देख चुके हैं कि चरित्र का मतलब है एक विशेष प्रकार के संकल्पित कर्मों से बना हुआ सम्पूर्ण जगत् या समष्टि। जैसा कि हम बाद में और अच्छी तरह जान जाएँगे, चरित्र नीतिशास्त्र के दृष्टिकोण से सामान्यतः जीवन में सबसे अधिक महत्त्व की चीज होता है।

किसी क्षण-विशेष में एक शुभ उद्देश्य का अकस्मात् प्रधानता प्राप्त कर लेना अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व नहीं रखता, बशर्ते वह किसी एक जगत् का आदत के अनुसार प्रधान बने रहने का सूचक न हो। इसीलिए ही अरस्तू ने किसी क्षण-विशेष में शुभ संकल्प के अस्तित्व मात्र को महत्त्व न देकर अच्छी आदत¹ के निर्माण पर—अर्थात्, जो शब्दावली हमने यहाँ अपनाई है उसके अनुसार, किसी जगत् को हमेशा के लिए प्रधान बना लेने पर—जोर दिया था और यह ठीक भी था। निस्सन्देह, संकल्प चरित्र की अभिव्यक्ति होता है, हालाँकि यह अभिव्यक्ति विशेष देश और विशेष काल की सीमाओं के अन्दर बँधी रहती है; और चरित्र में बहुत-कुछ अव्यक्त भी बना रह सकता है, जिसे ध्यान में रखना उस समय आवश्यक होगा जब हम किसी व्यक्ति का पूरा-पूरा नैतिक मूल्यांकन करना चाहेंगे।²

1. Ethics, खण्ड 2, अध्याय 5।

2. ब्राउनिंग के Rabbi Ben Ezra में इस बात की अच्छी अभिव्यक्ति हुई है—

“Not on the vulgar mass

Called ‘work’ must sentence pass,

Things done, that took the eye and had the price :

साथ ही यह भी सच है कि 'पेड़ की परख उसके फल से होती है।' अच्छा चरित्र स्वयं की अनिवार्य रूप से अच्छे संकल्पित कर्मों में प्रकट करता है।

3. आचरण (Conduct)

'आचरण' शब्द का कभी-कभी इस तरह ढीला-ढाला प्रयोग किया जाता है कि उसमें जीवन की सभी चेष्टाएँ, अथवा कम-से-कम किसी लक्ष्य से प्रेरित होने वाली सभी जीवन-क्रियाएँ, शामिल हो जाती हैं।

हर्बर्ट स्पेन्सर¹ ने इसी तरह 'Conduct' शब्द का प्रयोग किया था। उदाहरण के लिए, उसने घोंघे इत्यादि शंख के अन्दर रहने वाले जीवों के 'conduct' की बात कही थी।² लेकिन इस शब्द के अर्थ का इस तरह विस्तार करना असुविधाजनक है, हालाँकि घोंघे इत्यादि की चेष्टाएँ निस्सन्देह किसी लक्ष्य के अनुसार होती हैं, फिर भी हम उन्हें सोद्देश्य चेष्टाएँ नहीं कह सकते। सोद्देश्य चेष्टा (purposeful activity) मात्र किसी साध्य की ओर उन्मुख नहीं होती, बल्कि जैसा काण्ट ने कहा था, साध्य के विचार से प्रेरित होती है। लेकिन निम्न कोटि के जीवों की बात तो दूर रही, उच्च श्रेणी के पशुओं तक के बारे में, जहाँ तक वे मात्र सहज प्रवृत्ति (instinct) के अनुसार चलते हैं, यह नहीं कहा जा सकता कि उनके अन्दर इस तरह का कोई विचार होता है।³ वे कुछ साध्यों की ओर चलते ज़रूर हैं, लेकिन उनका संकल्प वे नहीं करते। उनका एक लक्ष्य तो होता है, लेकिन उद्देश्य नहीं होता।⁴

स्पेन्सर ने माना था कि निरुद्देश्य कर्मों को आचरण में शामिल नहीं करना चाहिए। अतः सबसे अच्छा यह होगा कि 'आचरण' शब्द का प्रयोग केवल उन्हीं कर्मों

But all, the world's coarse thumb

And finger failed to plumb,

So passed in making up the main account;

All instincts immature,

All purposes unsure,

That weighed not as his work, yet swelled the man's amount.

Thoughts hardly to be packed

Into a narrow act,

Fancies that broke through language and escaped :

All I could never be,

All, men ignored in me,

This, I was worth to God, whose wheel the pitcher shaped."

1. Data of Ethics, अध्याय 1।

2. वही, अध्याय 2।

3. यह संदिग्ध है कि उनके अन्दर कभी इस तरह का विचार रहता भी है। लेकिन लगता है कि चार्ल्स डार्विन (Charles Darwin), जो निश्चय ही बड़ा अधिकारी विद्वान् था, केंचुप जैसे बहुत ही तुच्छ जीव तक के अन्दर साधन के साध्य के अनुकूल होने की कुछ चेतना मानने के लिए तैयार था।

4. ऐसे कर्म के लिए (जैसी सहज-प्रवृत्ति-जनित गतियाँ होती हैं) जिसका कोई लक्ष्य प्रतीत होता है लेकिन जिसमें उस लक्ष्य का निश्चित बोध शामिल नहीं होता, 'सोद्देश्य' (purposeful) शब्द का प्रयोग न करके 'उद्देश्य-साधक' (purposive) शब्द का प्रयोग अधिक सुविधाजनक लगेगा।

तक सीमित रहे जो लक्ष्यों के साधक मात्र न हों बल्कि निश्चित रूप से संकल्पित भी हों। तब किसी व्यक्ति का आचरण उसके ऐसे कर्मों की पूरी समष्टि को कहेंगे जोकि उसके चरित्र के अनुसार होगी।

4. परिस्थिति (Circumstance)

हम कह चुके हैं कि आचरण चरित्र के अनुसार होता है। लेकिन, साथ ही यह बात भी निश्चित है कि कोई व्यक्ति जो विशेष कर्म करता है, वे न केवल उसकी चेतना की समष्टिगत एकता पर निर्भर होते हैं बल्कि उन परिस्थितियों या उस पर्यावरण पर निर्भर होते हैं जिनके या जिसके अन्दर उसका जीवन व्यतीत होता है। इसीलिए कभी-कभी यह कहा जाता है कि किसी आदमी का आचरण उसके चरित्र और उसकी परिस्थितियों पर निर्भर होता है। अब हमें यह देखना है कि परिस्थितियों का ठीक क्या मतलब समझा जाए।

सबसे पहले हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि यदि हमें किसी आदमी की परिस्थितियों का नैतिक महत्त्व समझना है तो हमें वह मत अपने मन से बिल्कुल निकाल देना चाहिए जिसके अनुसार परिस्थिति वह बाह्य पर्यावरण मात्र है जिसके अन्दर किसी आदमी का जीवन व्यतीत होता है। इस अर्थ में किसी भी समसामयिक घटना को एक परिस्थिति कहा जा सकता है, जैसे ग्रहों की स्थिति, ज्वार की अवस्था, हवा की दिशा, इत्यादि। लेकिन यदि हम फलित ज्योतिष में विश्वास नहीं करते तो ऐसी घटनाओं को परिस्थितियाँ बिल्कुल भी नहीं कहना चाहिए। इसी तरह, कोई आदमी जिस देश में रहता है उसकी भूगर्भीय बनावट की परिस्थितियों में गिनती करना शायद ही महत्त्व का हो, हालाँकि वहाँ सोना, कोयला या लोहे का होना काफ़ी महत्त्वपूर्ण परिस्थिति हो सकता है।

सम्पन्नता या गरीबी, स्वास्थ्य या बीमारी, इत्यादि प्रायः अधिक महत्त्व की परिस्थितियाँ होती हैं; और इसी तरह किसी आदमी के चारों ओर का समाज प्रायः एक महत्त्वपूर्ण परिस्थिति होता है।

इन बातों के विचार के बाद हम देख सकते हैं कि नैतिक दृष्टि से किसी आदमी की परिस्थितियों को निश्चित करना जितना आसान पहले-पहल लगता है उतना आसान है नहीं। इस दृष्टि से परिस्थिति आदमी के लिए कोई बिल्कुल बाहरी चीज़ नहीं है, बल्कि केवल वह बाहरी चीज़ है जो उसके जीवन में प्रवेश करती है। इस अर्थ में परिस्थितियाँ कौन होंगी, यह बात आदमी के चरित्र पर निर्भर करेगी। इस प्रकार, चरित्र और परिस्थिति के बारे में इस तरह से कहना मानो वे मानव-जीवन के दो बराबरी के कारक (factors) हों, कुछ भ्रामक है, क्योंकि यह बात अधिकांशतः चरित्र पर ही निर्भर करती है कि किसी चीज़ को परिस्थिति कहा जाए या नहीं।¹

एक सवाल यह भी पैदा होता है कि किसी आदमी की अच्छी स्मरण-शक्ति होना, अच्छा मिजाज होना, अच्छी समझ होना या अच्छा नाम होना उसके चरित्र

1. इस सिलसिले में कुछ महत्त्व की बातें ए० एफ० शेण्ड (A. F. Shand) के Mind, New Series, Vol. V, No. 18 में छपे 'Character and the Emotions' शीर्षक लेख में मिलेंगी। शेण्ड का 'The Foundations of Character' भी द्रष्टव्य है। चरित्र और परिस्थिति के बारे में बोसान्के का मत 'Aspects of the Social Problem' में देखिए। प्रो० मैकडूगल के 'Outline of Psychology' का अन्तिम अध्याय, जो चरित्र के बारे में है, काफ़ी शानवर्धक है।

का एक अंश कहा जाएगा या उसकी परिस्थितियों में से एक ? इस तरह की बातें अधिकांशतः आदमी के चेतनामय जीवन के व्यवस्थाबद्ध गठन पर निर्भर करती हैं, और इसीलिए उसके चरित्र का अंग होती हैं; लेकिन, दूसरी ओर उन्हें परिस्थितियों के रूप में भी देखा जा सकता है जो उसके जीवन को चलाने में साधक या बाधक होती हैं। यदि कोई आदमी काम करने की एक अच्छी आदत डाल चुका है, जैसे ठीक समय पर हर काम करने की आदत, तो उसे तब तक उसके भावी विकास की दृष्टि से एक अनुकूल परिस्थिति के रूप में माना जा सकता है। इस प्रकार, किसी बात को आदमी के चरित्र का अंग कहा जाए या उसकी परिस्थितियों में से एक, यह एक बड़ी सीमा तक उस दृष्टिकोण का सवाल है जिससे उसको देखा जाता है। शायद किसी आदमी की वर्तमान परिस्थिति का सबसे बड़ा भाग उसके भूतकालीन चरित्र की अभिव्यक्ति मात्र होता है।

अतः जब हम किसी आदमी के बारे में यह कहते हैं कि उसके कर्म उसके चरित्र और उसकी परिस्थितियों के मिले-जुले फल हैं, तब हमें याद रखना चाहिए कि दो आदमी, जो ऊपर से देखने में बिल्कुल सामान्य अवस्थाओं में रहते हैं, असल में शायद बिल्कुल भिन्न परिस्थितियों में रहते होंगे। जो चीज एक के लिए उत्साह-वर्धक होगी वह शायद दूसरे के लिए अवसादकारी होगी, ठीक वैसे ही जैसे "सन्ध्या, जो मुगियों को कटघरे के अन्दर भेजती है, लोमड़ियों को शिकार के लिए तैयार करती है तथा शेर की दहाड़, जो गीदड़ों को इकट्ठा करती है, भेड़ों में भगदड़ मचा देती है।"¹ ऐसे मामलों में जो बात भौतिक रूप में एक है वह व्यावहारिक रूप में अलग-अलग व्यक्तियों के लिए एक अलग परिस्थिति है।

5. आदत

आदत का महत्त्व कुछ-कुछ चरित्र के प्रसंग में पहले ही बताया जा चुका है और अरस्तू के इस मत का भी विशेष रूप से उल्लेख हो चुका है कि नैतिक जीवन में मुख्य चीज अच्छी आदतों का निर्माण है। यह मत अरस्तू ने सुकरात के इस सिद्धान्त के विरोध में प्रकट किया था कि सदाचार एक प्रकार का ज्ञान है;² फिर भी ये दोनों मत इतने अधिक परस्पर-विरोधी नहीं हैं जितने पहली दृष्टि में मालूम पड़ते हैं।

सदाचार एक प्रकार का ज्ञान भी है और एक प्रकार की आदत भी। असल में वह, जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, एक दृष्टिकोण है। सदाचारी आदमी वह है जो हमेशा कर्तव्य के जगत् में निवास करता है। हमेशा ऐसे जगत् में निवास करना एक आदत है। लेकिन साथ ही यह एक तरह की अन्तर्दृष्टि भी है। जो आदमी किसी और जगत् में निवास करता है वह आदत के अनुसार चीजों को एक भिन्न तरीके से देखता है—आलंकारिक भाषा में एक भिन्न रंग के चश्मे से देखता है। इसलिए सदाचारी होने का मतलब है आदत के अनुसार एक विशेष प्रकार की जानकारी या अन्तर्दृष्टि रखना। और इस तरह से सुकरात और अरस्तू दोनों की बात ठीक है। सदाचार एक प्रकार का ज्ञान भी है और एक प्रकार की आदत भी।

असल में आदत, जिस अर्थ में नैतिक चरित्र के लिए इस शब्द का प्रयोग होता है, एक रूढ़ि मात्र नहीं होती। वह इस प्रकार की आदतों के स्तर की नहीं होती

1. वार्ड का Psychological Principles, पृ० 50।

2. देखिए, सिजविक का History of Ethics, पृ० 24-5 और 54। सुकरात के मत के विस्तृत वर्णन के लिए ज़ेलर (Zeller) का Socrates and the Socratic Schools, भाग 2, अध्याय 7 देखिए।

जैसे हमारा चलने, बोलने या कपड़े पहनने का ढंग। संक्षेप में, वह उसकी तरह नहीं होती जिसे आम तौर से सीखी हुई स्वचालित क्रिया कहा जाता है। वह असल में संकल्प की आदत होती है। जिन आदतों का नैतिक महत्त्व होता है वे जान-बूझकर चुनाव करने की आदतें होती हैं।¹ लेकिन जान-बूझकर चुनाव करना विचार या तर्कना पर निर्भर होता है।² जो उचित है उसे चुनने के लिए, अगर ऐसे चुनाव का कोई नैतिक महत्त्व हो, यह आवश्यक है कि हमें उचित का ज्ञान हो। यदि संयोग मात्र से हम उचित मार्ग पर चल पड़ें तो यह नहीं कहा जा सकेगा कि हमने उचित का चुनाव किया है। इसलिए सत्संकल्प सही अन्तर्दृष्टि पर निर्भर करता है। यह एक भिन्न सवाल है कि सत्संकल्प के बिना सही अन्तर्दृष्टि का होना सम्भव है या नहीं, और हम जल्दी इस पर विचार करेंगे।

फिलहाल हम कुछ-कुछ समझ गए होंगे कि सुकगत का सदाचार को एक प्रकार का ज्ञान कहने का क्या मतलब था। सदाचार एक विशेष दृष्टिकोण रखने पर, एक विशेष तर्कनामूलक अन्तर्दृष्टि रखने पर निर्भर होता है। साथ ही, हम अरस्तू के इस कथन की सच्चाई भी जान गए हैं कि सदाचार एक आदत है। सदाचार एक संकल्पित कर्म मात्र नहीं है, बल्कि चरित्र की एक सनातन अवस्था है, एक निश्चित जगत् में अविचल रूप से निवास करना है।

इस सिलसिले में एक अन्य बात, जिम पर ध्यान देना महत्त्वपूर्ण है, यह है कि जो कर्म आदत बन जाता है वह सुखद लगता है। उदाहरण के लिए, अच्छा चरित्र वह है जिसकी प्रधान रुचि एक विशेष प्रकार के नैतिक जगत् के अन्दर होती है। ऐसा चरित्र इस रुचि के अनुसार कर्म करने में सुख का अनुभव करेगा। इसीलिए अरस्तू ने यह भी कहा है कि “कोई आदमी तब तक बिल्कुल भी अच्छा नहीं है जब तक वह अच्छे कर्मों में सुख का अनुभव न करे।” कोई भी ऐसे आदमी को न्यायी नहीं कहेगा जिसे न्याय करने में सुख न मिले, और न ऐसे आदमी को उदार कहेगा जिसे उदारतापूर्ण कामों में सुख न मिले, इत्यादि।³ इसके अलावा, जैसा कि कहा जाता है, आदत दूसरी प्रकृति बन जाती है; और इस तरह जिन कामों की आदत पड़ जाती है वे लगभग वैसे ही किए जाते हैं जैसे सहज-प्रवृत्ति से प्रेरक काम। कम-से-कम, उन्हें करते हुए सोच-विचार की आवश्यकता नहीं होती। इस बात को ध्यान में रखना जरूरी है। जब हम काण्ट के कुछ सिद्धान्तों पर विचार करेंगे तब इसका विशेष रूप से उपयोग होगा।

6. संकल्प की स्वतन्त्रता (Freedom of the Will)

अब हम इस बात पर विचार करने की स्थिति में आ गए हैं कि मानवीय स्वतन्त्रता का क्या मतलब है और उसका क्या नैतिक महत्त्व है।

इस बारे में कुछ मतों को तो हम तुरन्त ही त्याग्य ठहरा सकते हैं। इस प्रकार, कहा गया है कि असली स्वतन्त्रता है ही नहीं क्योंकि आदमी परिस्थितियों के अधीन होता है। इस मत का एक समर्थक समाजवादी रॉबर्ट ओवेन (Robert Owen) था। इस मत पर चलते हुए उसने लोगों की बाह्य दशाओं में सुधार करना अपने जीवन का महान् लक्ष्य बना दिया था। लेकिन हम देख चुके हैं कि नैतिक दृष्टि से महत्त्व रखने वाले किसी भी अर्थ में खाली बाह्य दशाएँ परिस्थितियाँ नहीं हैं। लोगों

1. “अतः सदाचार चुनाव की आदत है” अरस्तू का Ethics, II, vi, 15।

2. देखिए ग्रीन का Prolegomena to Ethics, खण्ड 2, अध्याय 2।

3. Nicomachean Ethics, I, viii, 12।

की दशाओं में सुधार करना शुरू करने से पहले हमें यह पक्का कर लेना चाहिए कि उनकी दशाएँ उनके लिए सच्ची परिस्थितियाँ कहाँ तक हैं और वे किस तरह की परिस्थितियाँ हैं। यह बात जान लेने का मतलब यह जान लेना भी है कि वे किस तरह के लोग हैं। यह मान लेना सरासर भूल है कि आदमी परिस्थितियों के अधीन होता है और परिस्थितियाँ उसके बाहर होती हैं।

स्वतन्त्रता का एक और अर्थ भी समझा जाता है जिसके अनुसार आदमी अभिप्रेरकों के बिना काम करने की शक्ति रखता है। लेकिन यह भी एक बेतुकी बात है। अभिप्रेरकों के बिना, यानी किसी ऐसी बात के बिना जो कर्म में प्रवृत्त कराने का समुचित कारण बन सके, काम करने का मतलब होगा अन्धे आवेग में आकर काम करना, जैसा कि कुछ निम्न श्रेणी के प्राणियों के बारे में कहा जाता है। लेकिन स्पष्ट है कि यह जो हम स्वतन्त्रता का मतलब समझते हैं उसका बिल्कुल उलटा है।

इस तरह की नितान्त भ्रान्त धारणाओं से बचने के लिए जरूरी है कि हम 'स्वतन्त्रता' के उस अर्थ को स्पष्ट कर लें जो नैतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

7. स्वतन्त्रता नैतिकता के लिए आवश्यक है

नैतिक चेतना में यह आस्था निहित रहती है कि हमें अमुक प्रकार से काम करना चाहिए और अमुक प्रकार से नहीं, कि अमुक कर्म शुभ या उचित है और अमुक कर्म अशुभ या अनुचित है। लेकिन, जैसा कि काण्ट ने कहा था, 'चाहिए' कहना उस दशा में निरर्थक होता यदि उसमें 'सकता हूँ' का बोध शामिल न होता।¹ लेकिन इस बात से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि 'सकता हूँ' तत्काल करने की सम्भावना बताता है। जैसे आदमी को ज्ञानवान् होना चाहिए; लेकिन ज्ञानवत्ता एक ऐसा गुण है जिसे केवल धीरे-धीरे ही लाया जा सकता है। तत्काल केवल इतना किया जा सकता है कि हम ज्ञान के अर्जन में लग जाएँ। इसी तरह, हमें अपने पड़ोसियों से स्नेह करना चाहिए। लेकिन स्नेह एक ऐसा भाव है जो स्वेच्छानुसार पैदा नहीं किया जा सकता।² हम केवल इतना ही कर सकते हैं कि दूसरों के प्रति सहृदयतापूर्ण स्नेह का अभ्यास शुरू कर दें। लेकिन यह कहना हास्यास्पद होगा कि आदमी को अपनी लम्बाई एक फुट बढ़ा लेनी चाहिए या दो सौ वर्षों तक जीवित रहना चाहिए। आदमी इन लक्ष्यों को पूरा करने के लिए कोशिश करने तक में नहीं लग सकता, और इसीलिए ये उसके कर्तव्य नहीं हो सकते।

अब अगर आदमी का संकल्प पूरी तरह से उसकी परिस्थितियों के अधीन

1. इमर्सन (Emerson) की एक कविता की पंक्तियों का भाव कुछ ऐसा ही है—

“So nigh is grandeur to our dust,
So near is God to man,
When duty whispers low, Thou must,
The youth replies, I can.”

2. इस कारण से काण्ट ने इस बात तक से इन्कार कर दिया था कि स्नेह करना एक कर्तव्य है। देखिए, *Metaphysic of Morals*, अनुभाग 1 (Abbott का अंग्रेजी अनुवाद, पृ० 15-16)। लेकिन स्नेह को अभ्यास से प्राप्त करना सम्भव है, हालाँकि उसे तत्काल पैदा नहीं किया जा सकता। इस बात और इससे मिलती-जुलती अन्य बातों के बारे में काण्ट के मत का आधार वह नितान्त विरोध है जो उसे तर्कना और भाव के बीच माना है। देखिए, केयर्ड का *Critical Philosophy of Kant*, जिल्द 2, पृ० 280-2। आगे खण्ड 2, अध्याय 3, अनु० 13 भी देखिए।

होता तो जो कुछ वह बन चुका है उसके अलावा और कुछ बनना उसके लिए बिल्कुल असम्भव होता, और फलतः यह कहना भी बिल्कुल असम्भव होता कि उसे कुछ और बनना चाहिए। इस प्रकार 'चाहिए' का सवाल बिल्कुल पैदा होता ही नहीं; नैतिक आदेश (imperatives) अपनी सार्थकता को बिल्कुल खो देते। इसीलिए परतन्त्रतावादी (determinist) लेखक जब अपने सिद्धान्त से पूरी संगति रखते हुए बात करते हैं, तब वे किसी निरपेक्ष 'चाहिए' (ought) के अस्तित्व से इन्कार कर देते हैं और नीतिशास्त्र को एक मानकीय विज्ञान न मानकर प्रकृति-विज्ञान (natural history) की एक साधारण शाखा मानते हैं जो इस बात की जाँच-पड़ताल करती है कि मनुष्य क्या करते हैं या क्या प्रवृत्ति रखते हैं, न कि इस बात की कि उन्हें क्या करना चाहिए। सोपेनहावर (जिसने संकल्प पर जोर देने के बावजूद सभी दृष्टियों से शुद्ध परतन्त्रतावाद को अपनाया था) का यही मत था।¹

इसीलिए, यदि नैतिक आदेश में कोई सार्थकता है तो संकल्प पूरी तरह से परिस्थितियों के अधीन नहीं हो सकता, बल्कि किसी अर्थ में उसे अवश्य स्वतन्त्र होना चाहिए। अगर हम काण्ट की तरह नैतिक साध्य को आदेश-स्वरूप न भी मानें, बल्कि एक शुभ या आदर्श के रूप में मानें जिसे प्राप्त करना है, तो भी ऊपर का कथन सही ही होगा।² तब भी यह बात सच होगी कि जैसा अरस्तू ने कहा है, इस तरह के आदर्श को मनुष्य के लिए व्यवहार्य और प्राप्ति-योग्य होना चाहिए।

8. अवश्यता (Necessity) भी नैतिकता के लिए जरूरी है

इसके बावजूद एक तरह से अवश्यता भी नैतिक-जीवन के लिए जरूरी है। जैसा कि हम बता चुके हैं, नैतिक जीवन का मतलब चरित्र का निर्माण करना है। लेकिन चरित्रवान् होने का मतलब है आदत के अनुसार एक निश्चित जगत् में निवास करना। और, किसी भी निर्दिष्ट जगत् में इच्छाओं की एक-दूसरी की तुलना में एक निश्चित स्थिति होती है, जिससे इस बात में कोई सन्देह नहीं रहता कि कौन इच्छा किस इच्छा के सामने अपना आग्रह त्याग देगी। इसलिए, जितनी अधिक दृढ़ता के साथ कोई चरित्र निमित्त होगा, उसके चुनाव और उसके काम में उतनी ही अधिक एकरूपता होगी। इतना ही नहीं, बल्कि जो चरित्र अधूरे निमित्त होते हैं उनमें काम के बारे में जो अनिश्चितता होती है वह तक केवल हमारी अधूरी जानकारी के कारण होती है। जो आदमी लगातार एक जगत् को छोड़ता हुआ दूसरे में पहुँचता रहता है वह किसी क्षण क्या कर बैठेगा, यह भविष्यवाणी करना कठिन होता है। लेकिन यदि कोई उस सम्बन्ध को ठीक-ठीक जान जाए जो उसके मानसिक जीवन में इन विभिन्न जगत्‌ओं के बीच है, तो उसे उसके द्वारा किये जाने वाले काम का सही-सही पूर्व-ज्ञान रहेगा।

और, न केवल यह बात आदमियों के नैतिक जीवन में तथ्यतः सच पाई जाती है बल्कि यदि नैतिक जीवन का कोई अर्थ है तो इसे सच होना भी चाहिए। नैतिक जीवन का मतलब है चरित्र का निर्माण करना, अर्थात् कर्म की निश्चित आदतें

1. देखिए, Janet का Theory of Morals, पृ० 138। विशुद्ध परतन्त्रतावाद का एक अन्य अच्छा उदाहरण Simmel के Einleitung in die Moralwissenschaft में मिलेगा। Simmel ने साथ ही आत्मा की एकता का निषेध भी किया है। इस तरह उसके मत से नीतिशास्त्र प्रकृति-विज्ञान की एक शाखा बन जाता है। बेंथम का दृष्टिकोण भी कुछ-कुछ ऐसा ही है। आगे खण्ड 2, अध्याय 4, अनु० 5 देखिए।

2. देखिए, आगे खण्ड 2, अध्याय 2।

डालना। और अगर कर्म की कोई आदत निश्चित है तो वह स्वरूप और पूर्वानुमान-गम्य होगी। अवश्यता का अर्थ प्रायः केवल एकरूपता समझा जाता है। अतः इस अर्थ में अवश्यता नैतिक जीवन के लिए जरूरी है।

9. स्वतन्त्रता का सही अर्थ

ऐसा लग सकता है जैसे कि नैतिक जीवन की इन दो माँगों के बीच कोई विरोध हो। लेकिन जब हम यह ठीक तरह से देख लेंगे कि जिस स्वतन्त्रता की माँग है उसका स्वरूप क्या है और जिस अवश्यता की माँग है उसका स्वरूप क्या है, तब कोई विरोध नहीं मालूम पड़ेगा। नैतिक जीवन में अवश्यता का मतलब केवल यह है कि एक निश्चित चरित्र के कर्मों में एकरूपता होती है। दूसरी ओर स्वतन्त्रता का मतलब केवल यह है कि हमारे कामों को निर्धारित करने वाला स्वयं चरित्र के बाहर कोई नहीं है।

इस प्रकार, एक दुर्जन एक दृष्टि से अच्छा काम कर सकता है, और एक दृष्टि से नहीं कर सकता। वह नहीं इस दृष्टि से कर सकता है कि अच्छा काम वैसे चरित्र का फल नहीं हो सकता जैसा उसका है। सड़ा हुआ पेड़ अच्छा फल नहीं दे सकता। लेकिन वह कर इस दृष्टि से सकता है कि उसे रोकने वाला उसके अपने ही चरित्र के अलावा, यानी स्वयं उसी के अलावा कोई और नहीं है। अब, आदमी स्वयं अपने से बाहर खड़ा नहीं हो सकता और अपने ही चरित्र के दोष को अपने सत्कर्म के बाधक के रूप में नहीं देख सकता। यदि जैसा वह है उसके बावजूद वह ऐसा कर सकता है तो एकमात्र उस अर्थ में जो नैतिकता के लिए जरूरी है। स्वतन्त्र होने का मतलब यह है कि आदमी से कुछ काम करानेवाला स्वयं उसके सिवाय और कोई नहीं है।¹ इसका अर्थ अब हम और अधिक विस्तार से समझाने की कोशिश करेंगे।

10. जानवरों की स्वतःप्रवृत्ति (Animal Spontaneity)

एक जानवर स्वतन्त्र किस अर्थ में होता है? स्पष्ट है कि एक घोड़े या पत्थर की तुलना में जानवर कुछ स्वतःप्रवृत्ति रखता है। एक पत्थर अपनी इच्छा से इधर-उधर नहीं जाता बल्कि कोई बाहरी शक्ति उसे-इधर-उधर हटाती है। इसके विपरीत, जानवर अपनी आन्तरिक अनुभूतियों के अनुसार अपने को इधर-उधर चलाता है। फिर भी, यह ध्यान देने की बात है कि पत्थर भी बिल्कुल बाहर से ही चालित नहीं होता। कोई भी पत्थर कभी ज़मीन पर अपनी सहमति के बिना नहीं फेंका गया। जिन्हें हम प्रकृति के नियम कहते हैं और जिनके अनुसार पत्थर ऊपर या नीचे फेंके जाते हैं वे पत्थर की प्रकृति के नियम भी हैं और पत्थर के बाहर की चीजों की प्रकृति के नियम भी। “जूफ़ा दीवार में उगता है क्योंकि सारी दुनिया भी

1. जो लेखक इस बात पर जोर देते हैं कि हमारे सारे कर्म निर्धारित या नियत होते हैं, यानी वे नियम के अधीन होते हैं, और जो इस आधार पर स्वतन्त्रता का निषेध करते हैं उन्हें सामान्य रूप से अवश्यतावादी (Necessitarians) कहते हैं। इसके विपरीत, जो स्वेच्छातन्त्रता (liberty) पर यहाँ तक जोर देते हैं कि मानवीय आचरण में कोई नियम या बंधन मानते ही नहीं, वे स्वेच्छातन्त्रतावादी (Libertarians) या अतन्त्रतावादी (Indeterminists) कहलाते हैं। अब आम तौर पर यह मान लिया गया है कि ये दोनों सम्प्रदाय एक ही तथ्य के दो विरुद्ध पक्षों की वकालत करते हैं और आत्मतन्त्रता (self-determination) की धारणा इन दोनों पक्षों से समझौता करा देती है।

उसे उगने से नहीं रोक सकती।”¹ दूसरी तरह से यह भी कहा जा सकता है कि जूफा वहाँ इसलिए उगता है कि सारी दुनिया उसे वहाँ उगाती है।” नियम जैसे उसके अन्दर काम करता है वैसे ही उसके बाहर भी।

इस दृष्टि से हेगेल का यह कहना असंदिग्ध रूप से सत्य है कि ग्रह अमर देवताओं की तरह सूर्य के चारों ओर स्वतन्त्रता से घूमते हैं। कहा यह जाता था कि “सूर्य उन्हें आकर्षित करता है।” लेकिन आइन्स्टाइन (Einstein) और उनके अनुयायियों ने हमें बताया है कि ऐसा कहना गलत है। हम कम-से-कम इतना तो कह सकते हैं कि जब तक वे आकर्षित होने के लिए तैयार न हों, अर्थात् जब तक उनकी प्रकृति ही आकर्षित होने की न हो तब तक सूर्य उन्हें आकर्षित नहीं कर सकता। फिर भी, हम प्रायः यह नहीं कहते कि ग्रहों या अन्य जड़ वस्तुओं के अन्दर गतियाँ स्वतः प्रवृत्ति से होती हैं। और यह ठीक भी है। ग्रहों की गतियाँ स्वयं ग्रहों के द्वारा निर्धारित नहीं होतीं क्योंकि उनके अन्दर आत्मा नहीं है। नियम जितना उनके बाहर है उतना ही उनके अन्दर भी है; लेकिन साथ ही यह भी सच है कि नियम जितना उनके अन्दर है उतना ही उनके बाहर भी है। जैसा कि हम प्रायः कहते हैं, नियम ‘प्रकृति का नियम’ है, न कि इस या उस वस्तु-विशेष का। कोई ऐसा केन्द्र नहीं है जिसे गति का निश्चित रूप से उद्गम बताया जा सके।

जानवर की बात इससे अलग है। उसकी एक आत्मा होती है, उसके कामों का एक केन्द्र होता है जो स्वयं जानवर की चेतना है। इसी केन्द्र से गति का प्रारम्भ होता है, और इसलिए हम कहते हैं कि वह स्वतःप्रवृत्त है।

11. आदमी की स्वतन्त्रता

फिर भी जानवर जो कि मात्र जानवर है पूरे अर्थ में आत्मा नहीं रखता। उसकी आत्मा केवल वर्तमान क्षण की अनुभूति होती है। उसके कामों को एकता में बाँधनेवाला कोई निश्चित जगत् नहीं होता। इसके विपरीत, आदमी की आत्मा वह जगत् है जिसमें वह आदत के अनुसार निवास करता है। इस कारण से आदमी एक अर्थ में स्वतन्त्र है जिसमें एक जानवर स्वतन्त्र नहीं है। यदि जानवर के अन्दर सोचने और बोलने की शक्ति होती तो वह अपने कामों को नहीं बताता बल्कि उन आवेगों को बताता जो इस या उस क्षण में पैदा होते हैं।² निस्सन्देह उसके आवेगों में तब भी कुछ सातत्य होता और उन्हें कुछ-कुछ पहले से बताया जा सकता। लेकिन फिर भी उसके क्षण-प्रतिक्षण के आवेगों में कुछ अन्य-निरपेक्षता होती और उनका किसी एक केन्द्र से सम्बन्ध न होता। इसका मतलब निश्चय ही केवल यह है कि जानवर सोचता नहीं और इसलिए वह अपनी चेतना के क्षणों में एकता नहीं ला सकता। इसके विपरीत, आदमी अपने चरित्र के जगत् के अन्दर निवास करता है। क्योंकि उसके क्षणिक आवेग उस चरित्र से प्रभावित नहीं होते और उसकी अभिव्यक्ति नहीं होते, इसलिए वह उन्हें पूरी तरह से अपने नहीं समझता। उसके कर्म केवल तभी उसके अपने होते हैं जब उन्हें करते समय वह अपने आप में रहता

1. मेरी समझ से यह उक्ति कार्लाइल की है, लेकिन यह याद नहीं आता कि कहाँ उन्होंने यह कहा।
2. देखिए ड्यूई का *Outlines of Ethics*, पृ० 158-9 “जानवर, जिसके अन्दर अपने साध्यों का विचार करने की शक्ति नहीं होती, अपनी चेतना में इस या उस क्षण में पैदा होनेवाली जीववृत्तियों और छुधाओं के द्वारा संचालित होता है। वह काम के लिए उदीप्त होता है।” Gizeycki का *Introduction to the Study of Ethics*, अध्याय 6 भी द्रष्टव्य है।

है, अर्थात् जब वे उसके अपने सदा के जगत् के केन्द्र से फूटते हैं। इस प्रकार उसके कर्म का एक केन्द्र होता है जो अपेक्षाकृत कुछ स्थायी होता है; और इसी कारण उसके कर्म एक तरह से स्वतन्त्र होते हैं; जबकि किसी जानवर की गतियाँ स्वतः प्रवृत्त होने के बावजूद स्वतन्त्र नहीं होतीं।

जिन लेखकों ने स्वतन्त्रता का निषेध करते हुए परतन्त्रता पर जोर दिया है, उन्होंने आम तौर पर व्यक्तिगत आत्मा या चरित्र की एकता से भी इन्कार किया है। इस प्रकार ह्यूम (जिसे आधुनिक परतन्त्रतावाद का जन्मदाता कहा जा सकता है) कहता है :¹ "जब मैं उसकी, जिसे मैं 'मैं' कहता हूँ, गहराई में उतरता हूँ तब मैं हमेशा गर्मी या सर्दी, प्रकाश या छाया, प्रेम या घृणा, सुख या दुःख के किसी संवेदन-विशेष से टकरा जाता हूँ।" इससे ह्यूम ने यह निष्कर्ष निकाला है कि "आत्मा या व्यक्तित्व उन विभिन्न संवेदनों के पुंज के अलावा कुछ नहीं है जो कल्पनातीत तेंजो के साथ एक के बाद एक आते रहते हैं और निरन्तर परिवर्तनशील और गतिशील होते हैं।" मिल ने भी इस मत को माना है।²

12. सर्वोच्च स्वतन्त्रता

इस तरह हम देखते हैं कि स्वतन्त्रता के ऊँचे-नीचे प्रकार होते हैं। पत्थर तक बिलकुल बाहर से नियन्त्रित नहीं होता। जानवर के अन्दर स्वतःप्रवृत्ति होती है। लेकिन आदमी इनसे भी ऊँची स्वतन्त्रता रखता है। इस बात से स्वाभाविक रूप से यह जिज्ञासा होती है कि आदमी में साधारणतः जो स्वतन्त्रता होती है वह सर्वोच्च प्रकार की स्वतन्त्रता है या किसी उससे भी ऊँचे प्रकार की स्वतन्त्रता की सम्भावना है।

स्पष्टतः यह लगता है कि इससे भी ऊँचे प्रकार की स्वतन्त्रता होती है। और यह इस बात से सिद्ध होता है कि एक आत्मा और भी उच्च प्रकार की होती है। इस बात पर विस्तार से विचार बाद में किया जाएगा। फ़िलहाल इतना पहले से जान लेना चाहिए कि एक दृष्टि से तर्कनापरक आत्मा (rational self) के अलावा कोई भी आत्मा परमार्थतः सच्चा नहीं माना जा सकता। यदि ऐसी बात हो तो एकमात्र सच्ची या पारमाथिक स्वतन्त्रता वह स्वतन्त्रता होगी जो इस आत्मारूपी केन्द्र से फूटनेवाले कर्म में प्रकट होगी। यह बात साधारण बोलचाल की भाषा में भी मानी जाती है। जो आदमी अतर्कनापूर्वक काम करता है उसके बारे में कहा जाता है कि "वह अपने मनोवेगों का दास है।" इस प्रकार वह पूरी तरह स्वतन्त्र नहीं है। और वास्तव में ऐसे क्षण भी आते हैं जब आदमी यह महसूस करता है कि उसके अतर्कनापूर्ण काम सच्चे अर्थ में उसके अपने नहीं हैं। उसकी असली आत्मा तो नीचे दबी रहती है।

मालूम होता है कि संत पाल के पत्रों (Pauline Epistles) में लेखक ने जब अपने दोषों को अपना न कहकर अपने अन्दर रहनेवाले 'पाप' का परिणाम बताया तब उसने ऐसा ही महसूस किया था। उसके यह कहने का अर्थ यह है कि लेखक ऊँची अथवा तर्कनापरक आत्मा से अपना तादात्म्य करता है। लेकिन एक अन्य स्थल में वह निम्न आत्मा से भी अपना तादात्म्य करता हुआ लगता है, क्योंकि वह कहता है, "अब मैं यहाँ निवास नहीं करता बल्कि ईसा मेरे अन्दर निवास करता है।" यहाँ 'मैं'

1. Treatise on Human Nature, खण्ड 1, भाग 4, अनुभाग 6।

2. मिल का Examination of Sir W. Hamilton, अध्याय 12 देखिए। इसकी आलोचना के लिए देखिए ग्रीन द्वारा सम्पादित Hume, जिल्द 1, भूमिका, अनु० 342, तथा बार्ड का Psychological Principles, पृ० 264, टिप्पणी 3।

निम्न आत्मा यानी व्यक्ति के रोज-रोज के चरित्र को कहा गया है, जबकि उच्च या सच्ची आत्मा को 'ईसा' कहा गया है जो उसके अन्दर निवास करता है और धीरे-धीरे पूर्ण अभिव्यक्ति की ओर अग्रसर हो रहा है।

असल में हरेक आदमी के अन्दर तीन आत्माएँ होती हैं। एक आत्मा वह है जो कभी-कभी आवेगों के रूप में प्रकट होती है, जिन्हें हम पूरी तरह से दबा नहीं सकते और जिन्हें हमें अपने अन्दर रहनेवाला 'पाप' कहना पड़ता है। दूसरी आत्मा है हमारा स्थायी चरित्र, यानी वह जगत् जिसमें हम आदत के अनुसार रहते हैं।¹ तीसरी आत्मा हमारी सच्ची, तर्कनापरक आत्मा है। केवल इसी में हम सन्तोष का अनुभव करते हैं। संत पाल के रूपक के अनुसार यह हमारे अन्दर निवास करने वाला 'ईसा' है जिससे हम अपना उत्तरोत्तर अधिक तादात्म्य करने की आशा करते हैं। और, जैसा कि अन्यत्र कहा गया है, "उसकी सेवा ही पूर्ण स्वतन्त्रता है।"

एक अर्थ में यह माना जा सकता है कि पूर्ण स्वतन्त्रता इसके अलावा कोई और नहीं है। एकमात्र सच्ची आत्मा तर्कनापरक आत्मा है; और एकमात्र सच्ची स्वतन्त्रता वह है जो हमें तर्कनापरक बनने से प्राप्त होती है। लेकिन यह एक ऐसी बात है जो तब तक पूरी तरह से नहीं समझी जा सकती जब तक हम नैतिक आदर्श पर विचार न कर चुके हों।

शायद इसका मतलब ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़ते जाएँगे त्यों-त्यों अधिक स्पष्ट होता जाएगा। अभी हम आचरण या ऐच्छिक कर्म के स्वरूप के बारे में जिन निष्कर्षों पर पहुँचे हैं उन्हें संक्षेप में बताएँगे।

13. ऐच्छिक कर्म का स्वरूप

ऐच्छिक कर्म के विभिन्न तत्वों का स्वरूप समझने में शायद एक दृष्टांत सहायक होगा।

खाने की इच्छा को लीजिए। इसमें रहनेवाला पहला तत्व एक शुद्ध पाशविक क्षुधा है। यह शुरू में एक अन्धा आवेग मात्र होता है जो एक फूल के रोशनी की ओर मुड़ने के जैव आवेग से मिलता-जुलता है; लेकिन उससे इसमें भिन्नता यह होती है कि इसके साथ चेतना भी रहती है।

इस चेतना में दो मुख्य तत्व होते हैं—एक यह कि कल्पना में इष्ट वस्तु की एक धुँधली-सी आकृति मौजूद रहती है,² और दूसरा है सुख और दुःख का भाव। भावानुभूति में दो बातें होती हैं : भावी तृप्ति का विचार सुखद होता है, और वर्तमान क्षण में उसके अभाव की चेतना बेचैनी पैदा करती है। इस प्रकार, भूख में एक अजीब-सी चाह होती है जो कुछ सुखद होती है और कुछ अशांत बनानेवाली, और साथ ही जिस तरह की वस्तु भूख को मिटाएगी उसकी एक थोड़ी-बहुत अस्पष्ट चेतना भी होती है।³ इच्छा क्षुधा मात्र से इस बात में भिन्न होती है कि उसमें उस वस्तु की निश्चित रूप से चेतना रहती है जिसे साध्य मानकर प्राप्त करने की चेष्टा की जाती है। भूख की क्षुधा में एक अस्पष्ट-सी बेचैनी रहती है, इस बेचैनी को जिस तरह की

1. इसमें कुछ जटिलता भी पैदा हो सकती है। फाउस्ट (Faust) ने कहा था, "अफ़सोस ! मेरे इस सीने के अन्दर दो आत्माएँ रहती हैं।" और यही बात कुछ-कुछ अधिकतर लोग कहेंगे। रेनन (Renan) ने कहा था, "मेरे दो स्वरूप हैं; कभी-कभी मेरा एक स्वरूप ईसता है तो दूसरा रोता है।" पागलपन में ये दो आत्माएँ प्रायः एक-दूसरी से विलकुल पृथक् हो जाती हैं।
2. पशुओं की चेतना में इस तत्व की उपस्थिति संदिग्ध है। देखिए ऊपर अध्याय 1, अनु० 3।

चीज दूर करेगी उसकी अस्पष्ट-सी चेतना रहती है, और उस मुख की अस्पष्ट-सी कल्पना रहती है जो इष्ट वस्तु की प्राप्ति से मिलेगा। दूसरी ओर, खाने की इच्छा में खाने की चीज का, जिसे प्राप्त करना है, निश्चित विचार मौजूद रहता है। जिस तरह क्षुधा में इष्ट वस्तु की धूँधली-सी चेतना के साथ सुख और दुःख का तत्व भी रहता है उसी तरह इच्छा में भी यह तत्व रहता है।

इच्छा में जो वस्तु एक साध्य के रूप में चेतना में स्पष्टतः वर्तमान रहती है वह इच्छा का अभिप्रेरक कहलाती है। इस तरह के अभिप्रेरकों में विरोध पैदा हो सकता है, साध्यों की परस्पर असंगति हो सकती है। इसलिए इन अभिप्रेरकों से सम्बद्ध इच्छाएँ रुकी रह सकती हैं। हो सकता है कि जिस वस्तु को इच्छा के साध्य के रूप में सोचा जाता है उसे एक साध्य के रूप में निश्चित रूप से न चुना जा सके—अर्थात् सम्भव है वह अभिलाषा न बन पाए। अभिलाषा वह इच्छा है जो चुन ली जाती है। यह वह इच्छा होती है जिसके ऊपर ध्यान केन्द्रित किया जा चुका होता है और फलतः जो हमारी चेतना में कुछ प्राधान्य प्राप्त कर चुकी होती है। खाने की अभिलाषा खाने की इच्छा मात्र से कुछ बढ़कर होती है। अभिलाषा एकाग्रभूत इच्छा है। लेकिन इच्छा का अभिलाषा बन जाना अभी संकल्पित कर्म नहीं होता।

संकल्पित कर्म में अभिलाषा के अलावा एक निश्चित उद्देश्य या अभिप्राय भी रहता है; अर्थात् उसमें हम किसी साध्य की प्राप्ति को शुभ समझते हुए उस पर अपना ध्यान एकाग्र मात्र नहीं करते बल्कि यह भी मानते हैं कि उस साध्य को हमें प्राप्त करना है। भोजन प्राप्त करने का उद्देश्य, जीविका-उपार्जन का अभिप्राय, भोजन की खाली अभिलाषा से, एक प्रार्थना या आकांक्षा मात्र से बढ़कर होता है। लेकिन संकल्प इससे भी बढ़कर एक शारीरिक प्रयत्न होता है। उद्देश्य या अभिप्राय भविष्यलक्षी होता है, और हो सकता है कि उसे कार्यान्वित न किया जाए। संकल्पित कर्म में विचार शक्ति का रूप ले लेता है। ऐसा कैसे होता है, इस सवाल का जवाब मुश्किल है; और इस समस्या को सुलझाना हमारा काम भी नहीं है। संकल्पित कर्म में शामिल रहनेवाले इस चेष्टा-तत्व को ध्यान में रखना मात्र यहाँ अपेक्षित है। जो आदमी भोजन प्राप्त करने का संकल्प करता है वह कुछ करने का कोरा अभिप्राय नहीं रखता बल्कि कुछ प्रयत्न भी करता है। अन्त में, चरित्र एक बनाई हुई आदत है, जैसे किसी उद्योग-विशेष से सम्बन्धित कार्य-कलाप की आदत।¹

14. उत्तरदायित्व की समस्या

आजकल संकल्प की स्वतन्त्रता के प्रश्न में जो रुचि बढ़ी है उसका मुख्य कारण मानवीय उत्तरदायित्व को ठीक-ठीक समझने की चाह है।² स्वर्ग और नरक की मध्ययुगीन धारणाओं ने इस चाह को विशेष बल दिया है। यह माना जाता था कि ईश्वर जगत् के बाहर कहीं बैठा हुआ सर्वोच्च न्यायाधीश है जो मनुष्यों को उनके इस लोक के कर्मों के अनुसार, या, जैसा कि कुछ और लोग समझते हैं, उनके इस लोक के विश्वासों के अनुसार, अनन्त काल के लिए पुरस्कृत और दण्डित करता है।

इस धारणा में अनेक गम्भीर कठिनाइयाँ थीं। एक यह थी कि यदि उदासीनता की स्वतन्त्रता (Liberty of Indifference) मानी जाए, यदि यह माना जाए कि आदमी अभिप्रेरकों के बिना ही काम करने की, अपने चरित्र की अर्थात् आदत के

1. इस अनुच्छेद की कई बातों के सिलसिले में प्रो० स्ट्राउट का लेख 'Voluntary Action' जिसकी ओर पहले भी संकेत किया जा चुका है, द्रष्टव्य है।
2. देखिए आगे खण्ड 3, अध्याय 6, अनु० 7।

अनुसार वह जिस इच्छा-जगत् में निवास करता है उसकी उपेक्षा करते हुए किसी भी कर्म-मार्ग के चुनाव की शक्ति रखता है, तो एक तो यह बान स्वयं भी समझ में नहीं आती और, दूसरे, एकमात्र दूसरे के बनाये हुए, सीमित और पराश्रित जीवन के लिए यह इतनी अधिक स्वतन्त्रता का दावा करती है जितनी युक्तिसंगत नहीं लगती। दूसरी कठिनाई यह है कि यदि आदमी को केवल इस अर्थ में स्वतन्त्र माना जाए कि उसके काम आत्म-निर्धारित (self-determined) हैं तो ऐसा लगता है जैसे उसे अपने चरित्र के निर्माण के लिए, जिस जगत् में उसे रहना है उसके चुनाव के लिए अन्तिम रूप से उत्तरदायी नहीं माना जा सकता। यह कठिनाई बहुत पहले संत पाल के जमाने में भी महसूस की गई थी; और इसका एकमात्र हल यह लगता है कि इसे एक रहस्य समझकर छोड़ दिया जाए।

लेकिन आजकल भी व्यक्ति के समाज के प्रति उत्तरदायित्व के प्रसंग में कुछ इससे मिलती-जुलती कठिनाई सामने आती है। यह देखते हुए कि आदमी कुछ सहज रूझानों और प्रवृत्तियों को लेकर पैदा होता है और उसके जीवन का पूरा विकास-क्रम उस नैतिक वातावरण के द्वारा निर्धारित होता है जिसमें वह डाल दिया गया है, हम पूछ सकते हैं कि वह कैसे अपने चरित्र के स्वरूप के लिए उत्तरदायी माना जा सकता है? एक दृष्टि से हम स्वयं ही अपने जगत् का चुनाव करते हैं; लेकिन 'हम' यानी चुननेवाली आत्मा कोई अतन्त्र सत्ता नहीं है। हमें अच्छाई या बुराई की कुछ विशेष पूर्ववृत्तियों के साथ इस दुनिया में भेजा गया है। इस 'आद्य पाप' (original sin) या आद्य सद्गुण के ऊपर, जो हमारी प्रकृति में शुरू से ही मौजूद है, हमारा कोई वश नहीं है। यह हम स्वयं हैं; हम जिस विशेष प्रकृति को लेकर पैदा होते हैं उसका यह अंग है; और जिन दिशाओं में यह हमें चलाता है वे उन परिस्थितियों पर निर्भर होती हैं जिनमें हम पले-पुसे हैं। तब समाज को क्या अधिकार है कि वह हमें अपने अपराधों के लिए दण्ड दे?

कार्लाइल व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का बड़ा दृढ़ समर्थक था और अपराध के लिए दण्ड देने का पक्का हिमायती था। लेकिन उसने भी यह माना है, बल्कि आग्रह के साथ कहा है, कि आदमी का चरित्र आनुवंशिक होता है और उसका विकास शारीरिक गुणों से प्रभावित होता है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि इस सिद्धांत का जोरदार समर्थन करने के बावजूद कि हरेक आदमी अपने भाग्य का निर्माता स्वयं होता है, कार्लाइल ने सर वाल्टर स्कॉट (Sir Walter Scott) के बारे में लिखते हुए यह स्पष्टोक्ति की है: "बीमारी, जो कि केवल ऊपरी है और बाहर से लंगड़ा कर देती है, बालक को ग्रस्त नहीं करती, बल्कि उस दिशा में उसे आगे बढ़ाती है जिसके लिए वह योग्य है। भयानक बीमारी वह होती है जो अन्दर के उत्कृष्ट अवयवों को लगती है और सामान्य शरीर-रचना को विकृत कर देती है। ऐसी बीमारी में वाल्टर स्कॉट का विकास न हुआ होता, यानी अपनी अन्य नैसर्गिक उपलब्धियों से युक्त स्कॉट की उत्पत्ति सम्भव न हुई होती।" तब, उत्तरदायित्व कहाँ रहा? क्या यहाँ भी हमें उस जितनी सच्ची पहली (या विप्रतिषेध) के दर्शन नहीं होते जिसने मध्ययुगीन धर्म-मीमांसा को उलझन में डाल दिया था?

इसका जवाब कुछ-कुछ हम पहले ही देख चुके हैं। यदि आदमी एक जानवर से अधिक कुछ न होता तो एकमात्र तर्कसंगत रास्ता यह होना कि हम जैसा उसे पाते हैं उससे अधिक की आशा न करते। तब दण्ड का औचित्य केवल यह होना कि शायद उसके द्वारा हम उनके स्वभाव में कुछ सुधार ला सकें। लेकिन कोई भी

आदमी अपने को मात्र एक जानवर नहीं मानेगा, और न आदमियों का कोई समाज अपने सदस्यों को जानवर मात्र मानेगा। आदमियों को किसी आदर्श से अनुप्राणित जीव मानना पड़ता है, जिसे प्राप्त करना उनका लक्ष्य होता है और जिसे वे प्राप्त कर भी सकते हैं यदि उन्हें इस आबन्ध (obligation) का बोध हो जाए।

कोई भी आदमी अपने दुराचरण के लिए यह बहाना नहीं करेगा कि वह एक जंगली पशु-मात्र है जिसे अच्छाई का ज्ञान नहीं है; और न कोई समाज अपने किसी सदस्य की ओर से ऐसा बहाना मानने को तैयार होगा। यह एक अलग सवाल है कि दुनिया के ऊपर न्यायाधीश की तरह बैठे हुए किसी ईश्वर को भी यह बहाना नहीं मानना चाहिए, और इससे हमारा यहाँ कोई सम्बन्ध है भी नहीं। हमारा सवाल केवल इस बात से सम्बन्ध रखता है कि किसी आदमी या आदमियों के समाज को मानवीय आचरण को किस रूप में देखना चाहिए। और इस दृष्टिकोण से इतना कहना काफी है कि आदमियों को अपने को तथा अन्यो को आदर्श के सिपाही समझना चाहिए; कि जो आदर्श के लिए संघर्ष करने में असफल रहते हैं उन्हें भगोड़े समझना चाहिए और जो उसकी प्रभुसत्ता को नहीं मानते उन्हें मानव-प्रकृति के गौरव के प्रति द्रोह के अपराधी करार दिया जाना चाहिए। आदमी की नैतिक प्रगति के रास्ते में कोई पत्थर की दीवार खड़ी नहीं है। अगर कोई खड़ा है तो वह स्वयं ही है। और आदमी अपने को एक वस्तु मात्र नहीं मान सकता; अगर मान सकता है तो केवल ऐसी वस्तु जो एक आदर्श से शासित है।

मैं नहीं समझता कि इस तरह की बातें विद्यार्थी के मन से सारी उलझनें दूर कर देंगी। फिर भी, इस सवाल को जब एक सीमा से आगे बढ़ाया जाता है तब हम तत्त्वमीमांसा और धर्ममीमांसा के क्षेत्र में पहुँच जाते हैं और उसका विशुद्ध नीति-शास्त्रीय महत्त्व जाता रहता है। इस कठिन सवाल का पूरा विवेचन करने के लिए हमें स्पष्टतः इस परिचयात्मक पुस्तक की सीमाओं को लाँघना पड़ेगा। यहाँ हमने इसे वहीं तक छुआ है जहाँ तक हमें नीतिशास्त्र से इसका सम्बन्ध दिखाना जरूरी लगा है।¹

1. विस्तृत विवेचन के लिए निम्नलिखित ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं :

Green : Prolegomena to Ethics, Book II, chap. i

Green : Collected Works, pp. 308-33

Bradley : Ethical Studies, Essay I

Sidgwick : Methods of Ethics, Book I, chap. v

Sidgwick : Ethics of Green, Spencer and Martineau, Lecture II

James : Principles of Psychology, Vol. II, chap. xxvi

James : Will to Believe, p. 180 sqq.

Caird : Critical Philosophy of Kant, Book II, chap. iii

Martineau : Study of Religion, Book III, chap. ii

Bosanquet : Value and Destiny of the Individual, Lecture IV

Ward : Realm of Ends, Lecture XIII

Alexander : Moral Order and Progress, pp. 336-41

Stephen : Science of Ethics, pp. 278-93

Seth : Study of Ethical Principles, Part III, chap. i

McTaggart : Some Dogmas of Religion, chap. v

Taylor : Elements of Metaphysics, Book IV, chap. iv

G. E. Moore : Ethics, chap. vi

Rashdall : Theory of Good and Evil, Book III, chap. iii

ये भी द्रष्टव्य हैं :

Stout : Manual of Psychology, Book IV, chap. x

Dewey : Outlines of Ethics, Part I, chap. iii

Muirhead : Elements of Ethics, pp. 52-6

Lotze : Practical Philosophy, chap. iii

ये लेखक बहुत ही भिन्न मत प्रस्तुत करते हैं; लेकिन अधिकतर इस पुस्तक में स्वीकृत दृष्टिकोण से सामान्य मतैक्य रखते हैं। अतन्त्रतावाद की ओर अधिक झुकाव रखने वाले हैं : James, Martineau, Lotze, Ward और Seth। इस वाद का समर्थन Renouvier के ग्रंथों में (विशेषतः *La Nouvelle Monadologie*) में और Bergson के ग्रंथों (विशेषतः *Time and Free Will*) में मिलेगा। परतन्त्रतावाद का धोरदार समर्थन Stephen, Alexander और McTaggart ने किया है। इस सम्बन्ध में Simmel का *Einleitung in die Moral-wissenschaft*, Vol. II, chap. vi, और Schopenhauer का *Die beiden Grundprobleme der Ethik* भी द्रष्टव्य हैं। Sidgwick का दृष्टिकोण तटस्थ है। अन्य लेखकों में से अधिकतर आत्मतन्त्रता की धारणा को महत्त्व देते हैं।

अध्याय 4

आचरण का क्रम-विकास

1. प्राक्कथन

मानव-जीवन के अन्य पक्षों की तरह ही आचरण भी व्यक्ति और जाति दोनों में उत्तरोत्तर विकास की प्रक्रिया में से गुजरता है। यह विकास सामाजिक जीवन के प्रकारों और रूढ़ाचारों (customs) के सामान्य विकास से घनिष्ठ रूप से जुड़ा होता है, और इस प्रकार उस सामग्री का एक भाग है जिसकी छानबीन का काम अब एक बहुत ही उन्नतिशील विज्ञान, समाजशास्त्र, ने ले लिया है।

समाजशास्त्र के हाल के लेखकों का झुकाव सामाजिक रूढ़ियों के विकास को समझने के प्रसंग में उन तथ्यों के समूह पर काफ़ी जोर देने की ओर रहा है जिनका वर्णन 'अनुकरण' (Imitation) और 'सुझाव' (Suggestion) नामक प्रकरणों के अन्तर्गत किया जाता है।¹ अनुकरण और सुझाव के प्रत्यय शायद सामाजिक विकास में मौजूद ऊँचे तत्त्वों को समझाने में अपर्याप्त हैं; लेकिन मानव और पशु-जीवन के आदिम तथ्यों की व्याख्या करने में वे अवश्य ही महत्त्व के लगते हैं, और इस तरह इनसे ही शुरू करना कुछ सुविधाजनक रहेगा।

यह मनोविज्ञान का एक सामान्य सत्य प्रतीत होता है कि गति का विचार जिसमें शामिल हो ऐसा प्रत्येक संवेदन अपने साथ उस गति का एक छोड़ा-बहुत स्पष्ट 'सुझाव' लेकर आता है, अर्थात् वह उस गति को करने की एक प्रवृत्ति पैदा करता है। ऐसी बात तब विशेष रूप से होती है जब जिस गति का विचार पशु को सूझता है वह ऐसी होती है जिसे करने के लिए उसके शारीरिक अंगों की रचना उपयुक्त होती है। तब वह गति को पैदा कर देता है जिसे मूल गति का 'अनुकरण' कहा जा सकता है। यह ध्यान देने की बात है कि उस गति को चेतन अनुकरण नहीं माना जा सकता, बल्कि उसे 'सुझाव' की तरह का मानना चाहिए।

इसमें कम ही सन्देह है कि भाषा-सम्बन्धी तथ्यों और अन्य भावाभिव्यंजक गतियों की एक बड़ी सीमा तक इस रीति से व्याख्या की जा सकती है; और पूरी-पूरी सम्भावना इस बात की भी है कि निम्न श्रेणी के प्राणियों के अनेक सहज-प्रवृत्ति-जनित (instinctive) कार्यों² की तथा आदिमजाति के लोगों की अनेक रूढ़ियों

1. इस तरह के तथ्यों पर बहुत ज्यादा जोर खास तौर से दो फ्रांसीसी लेखकों Guyau और Tarde, ने दिया है।

2. यह अभी अनिर्णीत है कि 'instinct' का ठीक क्या मतलब लिया जाए; और इस प्रश्न का विवेचन यहाँ स्पष्टतः अनुपयुक्त होगा। कुछ लेखक 'instinct' का प्रयोग केवल उन क्रियाओं के लिए करते हैं जो जन्मजत हैं; लेकिन यदि प्रो० लॉयड मॉर्गन के मत को सही मानते हुए यह कहा जाए कि जानवरों में कुछ उपयुक्त उद्दीपनों की उपस्थिति में कुछ विरोध प्रकार

(customs) की व्याख्या भी इसी तरह से की जा सकती है। विषय से परिचय कराने के लिए इस सिलसिले में कुछ और कहना पर्याप्त होगा।

2. निम्न श्रेणी के जीवों में आचरण के अंकुर मौजूद हैं

हालाँकि यह कहना शायद सही है कि आचरण यथार्थ रूप में निम्न श्रेणी के जीवों के कार्यों में कृतई नहीं पाया जा सकता, फिर भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जो आदमी के अन्दर आचरण का रूप लेता है उसके अंकुर उनके अन्दर ढूँढे जा सकते हैं। जानवरों को किसी साध्य का सीधा ज्ञान रहता है, यह तो शायद ही कहा जा सकेगा, लेकिन कम-से-कम इतना तो कहा जा सकता है कि वे स्वाभाविक आवेगों के प्रभाव से साध्यों की प्राप्ति करते हैं, हालाँकि उनका बोध उन्हें नहीं रहता। प्रसिद्ध गिरजों के निर्माताओं की तरह 'जितना वे जानते हैं उससे अच्छा निर्माण करते हैं,' प्रायः उनकी सहज-प्रवृत्तियाँ उन्हें अपनी जाति के साध्यों की प्राप्ति इतने अधिक निश्चय के साथ कराती हैं जितने निश्चय के साथ हमारी मानवीय तर्कबुद्धि हमें अपने साध्यों की प्राप्ति नहीं कराती।

सहज-प्रवृत्ति का स्वरूप अधिकतर अज्ञात है।¹ ऐसा प्रतीत होता है कि सहज-प्रवृत्ति अंशतः विशेष प्रकार के उद्दीपनों (stimulus) की उपस्थिति में कुछ विशेष प्रकार की गतियाँ करने के आनुवंशिक आवेगों पर निर्भर होती है; लेकिन ऐसा भी प्रतीत होता है कि किसी सीमा तक वह पशु के जीवन-काल में अजित की जाती है और सुझाव के प्रभाव से विकसित भी होती है। पशु का बच्चा अपनी जाति के बड़े पशुओं का अनुकरण करके सीखता है।² यह बात विशेष रूप से उन जानवरों

की कियाँ करने की शारीरिक प्रवृत्तियों के अलावा कुछ भी जन्मजात नहीं है, तो मनोवैज्ञानिक अर्थ में instinct बटकर शून्य के बराबर रह जायगी। (मार्गन के ग्रन्थ Comparative Psychology और Habit and Instinct देखिए।) अभी हमारा उद्देश्य यह कहने से पूरा हो जायगा कि instinct के अन्तर्गत वे सारी गतियाँ आ जाती हैं जो (मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से) प्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष-प्रतिमाओं (perceptual images) से अधिक अन्य किसी चीज के अस्तित्व की अपेक्षा नहीं रखती।

1. लेकिन वह अज्ञान धीरे-धीरे लॉयड मार्गन, मैकडूगल और अन्य पशु-मनोविज्ञान के लेखकों के प्रयासों से दूर होता जा रहा है।
2. यहाँ भी तथ्य कुछ विवादास्पद है। नीचे हम प्रो० लॉयड मार्गन, जो कि शायद ऐसे विषयों के सबसे बड़े अधिकारी विद्वान् हैं, की पुस्तक Habit and Instinct, पृ० 166-7 से एक उद्धरण दे रहे हैं।

“यदि चूओं के एक समूह का एक चूआ उस तरह के आकस्मिक अनुभव से, जिसका पहले वर्णन किया जा चुका है, पानी के एक टीन से पानी पीना सीख जाता है, तो अन्य चूचे दौड़कर टीन तक जायेंगे और पानी पर चोंचें मारेंगे तथा स्वयं पानी पीने लगेंगे। मुर्गी जमीन पर चोंच मारकर अपने बच्चों के आगे अन्न के दाने गिराकर उन्हें दाने या अन्य खाने की चीजें उठाना सिखाती है, और ऐसा लगता है कि बच्चे मुर्गी की गतियों का अनुकरण करते हुए यह सीख जाते हैं। पेंसिल की नोक या एक बारीक चिमटी से मुर्गी की गतियों की नकल करके भी चूओं और तीतरों को चोंच मारना सिखाया जा सकता है। मि० पील (Mr. Peal) के कथनानुसार, जो कि पीछे उद्धृत किया जा चुका है, असम के लोग देखते हैं कि अगर जंगली तीतर के बच्चों की चोंच मारने की गतियों को इस तरह उद्दीप्त न किया जाए तो वे मर जायेंगे; और प्रो० क्लेपोल (Claypole) ने मुझे बताया है कि पेटी के अन्दर गमों पट्टाकार अंडों से निकाले हुए शुतुरमुर्ग के बच्चों के साथ भी ऐसा

में देखी जाती है जो झुण्ड में रहनेवाले अधिक होते हैं, जैसे हमारी सुपरिचित भेड़। ऐसे जानवर अपने अगुआ की गतियों को ध्यान से देखते रहते हैं, और इनमें कुछ आदतों-जैसी चेष्टाओं का विकास हो जाता है¹ जो आदमियों की रूढ़ नैतिकता (customary morality) से बहुत मिलती-जुलती हैं। कभी-कभी ऐसा लगता है कि झुण्ड के अन्दर जो रूढ़ियाँ विकसित हो चुकी हैं उनका उल्लंघन करनेवाले को दण्ड तक दिया जाता है। इसमें नैतिक कर्म और नैतिक निर्णय के अंकुर दिखाई देते हैं, हालाँकि यह कहना कि अंकुर से भी अधिक कुछ दिखाई देता है, शायद अत्युक्ति होगा।

3. जंगली जातियों में आचरण

जंगली जातियों में भी नैतिक चेतना अधिकांशतः अंकुर-रूप में रहती है। उनके काम एक बड़ी सीमा तक आवेगात्मक होते हैं, और इस बात का लक्षण उनमें कम ही दिखाई देता है कि दूरस्थ परिणामों का विचार वे पहले कर लेते हैं। इसके बावजूद, उनका एकमात्र पथ-प्रदर्शक मन की तरंग हो, ऐसी बात कतई नहीं है। जंगली जाति का मनुष्य एक कबीले का सदस्य होता है, और उसका जीवन रूढ़ रीति-रिवाजों से घिरा रहता है जिनका उद्देश्य हमेशा बहुत स्पष्ट नहीं होता। इनके निर्माण में सुझाव और जान-बूझकर अनुकरण करने का निस्सन्देह बहुत भाग होता है। और जब इनका उद्देश्य स्पष्ट रहता है तब भी हमेशा यह नहीं मान लेना चाहिए कि जिन्होंने उस उद्देश्य की प्राप्ति के साधन के रूप में इनको अपनाया था उनके मन में वह उद्देश्य चेतन रूप से विद्यमान था।

4. रूढ़ि के द्वारा आचरण का पथ-प्रदर्शन

मनुष्य-जाति के जंगली अवस्था से काफ़ी आगे बढ़ आने के बाद भी आचरण को निर्धारित करने में रूढ़ि का प्रभाव एक लंबी अवधि तक सबसे अधिक बना रहता है। यूनानी शब्द 'ईयास' (Ethos), लैटिन शब्द 'मोरीज' (mores) इत्यादि

ही होता है।¹ चिड़ियों के बच्चों का विकास तब वाकई बहुत आसान होता है जब बड़ी चिड़ियाँ उनके सामने खाने-पीने के नमूने रखती होती हैं; और इस तरह की सहज-प्रवृत्तात्मक गतियाँ, जैसे जमीन कुरेदना, समय से कुछ पहले की जाने लगती हैं यदि उन्हें अनुकरण के अवसर दे दिए जाएँ।² इसी तरह के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं, लेकिन चिड़ियों के बच्चों के एक समूह के प्रारम्भिक विकास का निरीक्षण करते समय देखनेवाले को जो बात प्रभावित करती है वह है अनुकरण की प्रवृत्ति का उनके अन्दर पाया जाना, जो कि अनेक छोटे-मोटे रूपों में प्रकट होती है, जिनका विस्तार से वर्णन करना आसान काम नहीं है।³

निस्सन्देह इन सारे मामलों में जन्मजात रुझान (और शायद जन्मजात आवेग भी) पहले से मौजूद रहती है। इनमें कितना आनुवंशिकता का अंश मानना उचित है और कितना सुभाव का प्रभाव होता है, यह एक मुश्किल सवाल है, जिससे सौभाग्य से हमारा सम्बन्ध नहीं है।

इधर के वर्षों में अधिकांशतः लॉयड मार्गन और प्रो० अलेक्जेंडर के प्रभाव से 'उद्गामी क्रम-विकास' (Emergent Evolution) की धारणा को बहुत बल मिला है। लेकिन इसका ठीक-ठीक अर्थ अभी तक अनिश्चित है। देखिए पृ० 37।

1. ये कहाँ तक एक जानवर के जीवन-काल में विकसित होती हैं और कहाँ तक अनुकरण के फल होती हैं, ये बातें अभी भी विवादास्पद हैं। रानी-मक्खी का कोष्ठिका से बाहर निकलते ही अपने प्रतिद्वन्द्वियों को मार देने का काम प्रायः जन्मजात आवेग का परिणाम लगेगा।

राष्ट्रों की नैतिकता के निर्माण में रूढ़ि के महत्त्व के प्रमाण हैं। अंग्रेजी में 'मैनेर्स' (manners) शब्द का अर्थ काफ़ी संकुचित होकर एक महत्त्वहीन बात का द्योतक रह गया है; लेकिन अब भी कभी-कभी अधिक विस्तृत और गम्भीर अर्थ में प्रयुक्त होने की सामर्थ्य इसमें है, जैसे मिल्टन (Milton) को लक्ष्य करके वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) द्वारा लिखे हुए सॉनेट की इस पंक्ति में—

"And give us manners, virtue, freedom, power."

जो भी हो, शब्द हम चाहें जो इस्तेमाल करें, इसमें कोई सन्देह नहीं है कि रूढ़ि नैतिकता उस नैतिकता से पहले आती है जो क़ानून या चिन्तन-मनन पर आधारित होती है।

5. क़ानून के द्वारा आचरण का पथ-प्रदर्शन

लेकिन किसी जाति के जीवन में धीरे-धीरे कर्म के निश्चित नियम बनने लगते हैं। एक सीमा तक ये नियम रूढ़ि रीति-रिवाज़ मात्र होते हैं जो अधिक निश्चित बना दिये गए होते हैं; लेकिन आम तौर पर जब पिछली रूढ़ियों को निश्चित क़ानूनों का रूप दे दिया जाता है तब उनमें कुछ परिवर्तन आ जाता है। उदाहरण के लिए, जब बदले की आदिमकालीन रूढ़ि की जगह अपराधियों को दण्ड देने के निश्चित क़ानून ले लेते हैं तब प्रतिशोध की मात्रा काफ़ी सीमित हो जाती है और न्याय की एक अधिक स्पष्ट धारणा बन जाती है।

6. विचारों के द्वारा आचरण का पथ-प्रदर्शन

जब निश्चित क़ानून बना लिए जाते हैं तब जल्दी ही चिन्तन-मनन शुरू हो जाता है। नियमों का रूढ़ि से और एक-दूसरे से विरोध अनिवार्य हो जाता है; और कम-से-कम इतने कड़े तो वे लगते ही हैं कि उनके अनुसार आचरण करना मुश्किल हो जाता है। अपवादात्मक परिस्थितियाँ पैदा हो जाती हैं और लोगों को यह देखने के लिए कि विशेष कठिनाइयों में नियमों में क्या तबदीलियाँ की जाएँ, उनके आधार-भूत सिद्धान्तों पर चिन्तन-मनन करना पड़ता है। इस चिन्तन-मनन का परिणाम यह होता है कि धीरे-धीरे क़ानून का अक्षरशः पालन पीछे छूट जाता है और उसकी जगह उसके मूल में काम करने वाली भावना प्रधान बन जाती है। लोग नियम के बजाय सिद्धान्त के अनुसार अपना मार्ग निर्धारित करने लगते हैं, अर्थात् अपने सबसे प्रमुख लक्ष्यों के अनुसार चलते हैं और उनकी प्राप्ति के लिए जो साधन सबसे अधिक उपयुक्त होते हैं उन्हें अपनाते हैं। जब यह अवस्था आ जाती है तब हम सुझाव और अनुकरण के क्षेत्र से प्रायः पूरी तरह बाहर निकल आते हैं। तब रूढ़ि रीति-रिवाज़ों का स्थान विचार-प्रधान नीति ले लेती है।

7. कर्म और विचार-विमर्श

नैतिकता के सबसे अधिक विकसित रूपों में भी विचार-विमर्श का उतना हाथ नहीं होता जितना हम प्रायः सोचेंगे। सबसे अधिक उन्नत अवस्थाओं तक में नैतिक जीवन बिल्कुल ठण्डे दिमाग से विचार-विमर्श करते हुए नहीं चलता; और यदि वह चलता भी तो जिस सामग्री पर विचार-विमर्श किया जाता है वह इतनी अधिक उलझी हुई होती है कि विचारमूलक सिद्धान्तों का पूरा भराव उसमें हो ही न पाता। बहुत जल्दी निर्णय करने पड़ते हैं और बहुत दूर की योजनाएँ बनानी पड़ती हैं; फलतः जब नैतिक जीवन की प्रत्यक्ष परिस्थितियों में व्यवहार करने का प्रसंग

आता है तब बहुत ही विचारशील लोग भी एक बड़ी सीमा तक अपनी निष्ठा के अनुसार चलते हैं और पूरी तरह से भली-भाँति सोचे-विचारे सिद्धान्तों के अनुसार अपना मार्ग स्थिर नहीं कर पाते। वे जिन विचारों का अनुसरण करते हैं वे कुछ तो चिन्तन-मनन के फल होते हैं, लेकिन अंशतः अपने व्यक्तिगत अनुभव और अंशतः जाति के अनुभव से भी प्राप्त होते हैं।

इस तरह, यहाँ भी अनुकरण और सुझाव बिलकुल वर्जित नहीं होते। हमारे सबसे अधिक विकसित आचरण तक में सहज-प्रवृत्ति और आवेग का कुछ-कुछ प्रभाव बना ही रहता है।

8. नैतिक विचार और नैतिकता के बारे में विचार

इसके बाद हमारा ध्यान एक महत्वपूर्ण अन्तर की ओर जाता है, जिसके ऊपर हाल में काफ़ी जोर दिया गया है। यह अन्तर, बोसान्के¹ के अनुसार, 'नैतिक विचारों' (Moral Ideas) और 'नैतिकता के बारे में विचारों' (Ideas about Morality) का है। संक्षेप में, इस अन्तर को 'नैतिक विचारों' और 'नीतिशास्त्रीय विचारों' (Ethical Ideas) का अन्तर भी कहा जा सकता है।

जिन विचारों का हम अपने कर्मों में अनुसरण करते हैं वे थोड़े-बहुत चिन्तन-मूलक हो सकते हैं। हो सकता है कि एक आदमी किसी स्पष्ट रूप से निश्चित साध्य का अनुसरण करे, जैसे प्रसन्नता या पूर्णता की प्राप्ति और अपने सम्पूर्ण आचरण को इसकी प्राप्ति में केन्द्रित कर दे। ऐसी दशा में उसका पथ-प्रदर्शन एक नीति-शास्त्रीय विचार, अर्थात् बोसान्के के अनुसार, 'नैतिकता के बारे में एक विचार' करेगा, जो कि नैतिक साध्य के स्वरूप के बारे में चिन्तन-मनन करने के बाद बनता है। लेकिन यह जरूरी नहीं है कि नैतिक विचार इस प्रकृति का ही हो। जैसा कि कभी-कभी कहा जाता है, नैतिक विचार हमें अपने 'आध्यात्मिक वातावरण' (spiritual atmosphere) से भी प्राप्त हो सकता है। उदाहरण के लिए, जिस प्रकार का आचरण एक 'भद्र व्यक्ति' या 'धर्मनिष्ठ व्यक्ति' के लिए उचित है उसका विचार हमेशा नैतिक साध्य के ऊपर चिन्तन-मनन करने से प्राप्त नहीं होता, बल्कि परम्परा और अनुभव से प्राप्त होता है। इसलिए यह याद रखना चाहिए कि कोई आदमी तब भी नैतिक विचारों के अनुसार अपना मार्ग निर्धारित कर सकता है जब उसने नैतिकता के स्वरूप के बारे में निश्चित रूप से कभी कोई चिन्तन-मनन किया ही न हो। साथ ही यह भी सम्भव है कि आदमी ने चिन्तन-मनन तो बहुत किया हो, यहाँ तक कि बहुत गहराई से भी किया हो, फिर भी उसके नैतिक विचारों का भण्डार बहुत ही सीमित और अकिञ्चक हो।

निस्सन्देह यह सम्भव है कि हमने इस अन्तर को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया हो; और शायद बोसान्के ने तो, जिसने कि इस अन्तर को साफ़-साफ़ बताया है, इनके पारस्परिक विरोध के बारे में कुछ अत्युक्ति की ही है। प्रत्येक नैतिक विचार में चिन्तन-मनन के द्वारा विश्लेषण करने की गुंजाइश होती है, और इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि उसके पीछे कोई नीतिशास्त्रीय विचार होता है। इसी तरह प्रत्येक नीतिशास्त्रीय विचार स्वभावतः नैतिक विचारों का स्रोत बन जाता है।

यह जाँच-पड़ताल रोचक सिद्ध हुई होती कि आधुनिक ईसाई दुनिया के नैतिक

1. बोसान्के का इस सम्बन्ध में एक लेख The International Journal of Ethics, Vol. I, No. 1, में छपा था जिसे The Civilization of Christendom, पृ० 160-207 पर फिर छपा गया था।

विचार कहाँ तक अपने-आप होनेवाले विकास के फल हैं और कहाँ तक यूनानी विचारधारा के चिन्तन-मननात्मक विश्लेषण के फल, यानी प्लेटो, अरस्तू, स्टोइकों (Stoics) इत्यादि के विचारों से प्रभावित हैं। अथवा, यह भी पूछा जा सकता था कि जानवरों के प्रति हमारे जो कर्तव्य हैं उनके बारे में हमारे आधुनिक विचार कहाँ तक उपयोगितावाद (Utilitarianism) से प्रभावित हैं और कहाँ तक वे नैतिक भावना के स्वाभाविक विकास के फल हैं। लेकिन इस तरह के सवालों का जवाब देना मुश्किल है। "हवा जहाँ चाहती है वहाँ चलती है, और तुम उसकी आवाज सुनते हो, लेकिन तुम नहीं बता सकते कि कहाँ से वह आती है और कहाँ वह जाती है।" यह बात अब भी हमारे नैतिक विकास के अधिकतर भाग पर लागू होती है।

फिर भी, जब हम नैतिक सिद्धान्त का व्यावहारिक आचरण पर प्रभाव दिखाएँगे तब उस प्रसंग में हमें इस बात पर कुछ विस्तार से विचार करने का अवसर मिलेगा। फ़िलहाल नैतिक और नीतिशास्त्रीय विचारों के महत्वपूर्ण अन्तर को याद रखना काफ़ी होगा।

9. नैतिक चेतना का विकास

इस संक्षिप्त रूपरेखा से इस बारे में एक सामान्य धारणा बनाई जा सकती है कि किस तरह नैतिक जीवन सुझाव और अनुकरण पर आधारित रूढ़ आचरण की अवस्था से विकास करते-करते चिन्तन-मनन पर आधारित स्वतन्त्र चुनाव की अवस्था तक पहुँचता है। लेकिन नैतिक चेतना के विकास को हम पूरी तरह से तभी समझ पाएँगे जब हम आचरण किस तरह से विकसित हुआ है, यह समझने के साथ ही आचरण पर दिए जानेवाले निर्णय के विकास को भी, जो कि आचरण के विकास के समानान्तर चलता है, समझ जाएँ। जिसे नैतिकता कहा जा सकता है उसकी सबसे पहले जब शुरुआत हुई होगी तभी से मनुष्य न केवल विशेष तरीकों से काम करते रहे हैं बल्कि विभिन्न तरीकों से कुछ कामों के उचित और अनुचित होने के बारे में अपने मत भी प्रकट करते रहे हैं।

विकास की ये दो दिशाएँ परस्पर बहुत घनिष्ठता के साथ जुड़ी हुई हैं, लेकिन एक-दूसरी से बिल्कुल अलग भी हैं; क्योंकि प्रायः यह बात साफ़ दीखती है कि लोग जिस काम को उचित ठहराते हैं उसे करते नहीं हैं और जिसे अनुचित ठहराते हैं उससे बाज़ नहीं आते। अतः अब यह ज़रूरी लगता है कि हम विकास की दूसरी दिशा, यानी नैतिक निर्णय के विकास, को लें।

समाजशास्त्र पर टिप्पणी

इस अध्याय में वर्णित बातों का और कुछ हद तक उनका भी, जिनका अगले अध्याय में वर्णन किया जाएगा, विस्तृत विवेचन समाजशास्त्र का उपयुक्त विषय प्रतीत होता है, जो कि आजकल बहुत तेज़ी से विकास करता जा रहा है।

इसका अंकुर-रूप अरस्तू के Politics में दिखाई देता है। आधुनिक युग में इसके निर्माण में हॉब्स, स्पिनोज़ा, लॉक, शेफ़्ट्सबरी, ह्यूसन, रूसो, मॉन्टेस्क्यू (Montesquieu), सेंट साइमन, ऐडम स्मिथ, कांट, फ़िस्ते, हेगेल और बहुत-से अन्य विद्वानों का बहुत हाथ रहा है। लेकिन इसकी निश्चित नींव रखनेवाला कौंट (Comte) को माना जाएगा। इंग्लैंड में इसको प्रधानता हर्बर्ट स्पेन्सर की छोटी-सी रोचक पुस्तक The Study of Sociology से और बाद में उसके बृहत् ग्रन्थ

Principles of Sociology से प्राप्त हुई। फ्रांस में इसका प्रचार De Greef की पुस्तक *Introduction a la sociologie*, Tarde की पुस्तक *Les lois de l'imitation* तथा Fouillee और Guyau तथा बहुत-से अन्य लेखकों के प्रयास से हुआ। जर्मन भाषा में सबसे बृहत् ग्रन्थ है Schaffle का *Bau und Leben des sozialen Körpers*। सिम्मेल के ग्रन्थ (*Ueber soziale Differenzierung* और *Einleitung in die Moralwissenschaft*) विशेष रूप से रोचक हैं, क्योंकि उसने समाजशास्त्र और नीतिशास्त्र का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध दिखाने की कोशिश की है। उसने नीतिशास्त्र को समाजशास्त्र का एक विभाग मान लिया है। उसके मत का कुछ वर्णन और उसकी कुछ आलोचना Bougle की पुस्तक *Les sciences sociales en Allemagne* में मिलेगी। Barth का *Philosophie der Geschichte als Sociologie* भी एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। अनेक अमरीकी लेखकों ने भी समाजशास्त्र पर लिखा है। इनमें प्रमुख हैं Lester F. Ward, Prof F. H. Giddings, Dr. E. A. Ross, Profs. Small, Vincent, Fairbanks, इत्यादि। *The Sociological Review* और *American Journal of Sociology* से पता चलता है कि यह शास्त्र किन-किन दिशाओं में काम कर रहा है। लेकिन अभी यह कहना कठिन है कि इसके कोई सर्वसम्मत सिद्धान्त हैं या कोई सर्वसम्मत प्रणाली है।

समाजशास्त्र की वर्तमान स्थिति के बारे में जिज्ञासा रखनेवाले विद्यार्थी के लिए शायद Giddings की *The Principles of Sociology* और Prof. Fairbanks की *An Introduction to Sociology* सबसे अधिक सहायक होगी। दोनों ही में अच्छी सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूचियाँ दी गई हैं। इधर के वर्षों में Prof. L. T. Hobhouse की रोचक कृतियों (विशेषतः *Morals in Evolution*) और इससे भी ज्यादा Prof. Westermarck के विस्तृत और सांगोपांग ग्रन्थ *The Origin and Development of the Moral Ideas* ने नीतिशास्त्र के समाजशास्त्रीय पहलू को विशेष प्रधानता प्रदान की है। Prof. MacIver की पुस्तक *Community*, Dr. McDougall की पुस्तकें *Social Psychology* और *The Group Mind* तथा Prof. G. Wallas की पुस्तक *The Great Society* भी बहुत ज्ञानवर्धक हैं।

नैतिक निर्णय का विकास

1. नैतिक निर्णय के आदि रूप

आचरण के अंकुरों की तरह नैतिक निर्णय (moral judgment) के अंकुर भी निम्न श्रेणी के जीवों में देखे जा सकते हैं। प्रायः पालतू जानवरों के, विशेषतः कुत्तों के, व्यवहार को देखकर ऐसा लगता है जैसे उन्हें बुराई की चेतना हो; कम-से-कम यह तो लगता ही है कि जब वे कोई ऐसा काम कर बैठते हैं जिससे दण्ड मिलता हो तब उन्हें ज्ञान रहता है कि अब दण्ड मिलेगा। झुण्ड में रहने वाले जंगली जानवरों में भी नैतिक निर्णय के प्रारम्भिक अपक्व रूप पाए जाते हैं। कम-से-कम व्यवहार की किसी सामान्य और बंधी हुई आदत के टूटने पर कुछ बेचैनी तो उनमें दिखाई ही देती है; बल्कि कुछ दृष्टान्तों में तो, अगर प्रचलित कथाएँ सब सच्ची हों, झुण्ड के उन सदस्यों को दण्ड भी दिया जाता है जो उसकी परम्पराओं को तोड़ते हैं। लेकिन सबसे अधिक दण्ड का भागी शायद उन्हें बनना पड़ता है जिनका एकमात्र अपराध बीमार या घायल होना होता है। यदि इस तरह के व्यवहार की कोई नैतिक व्याख्या जैसी व्याख्या देना सम्भव हो¹, तो शायद यह कहा जाएगा कि वह झुण्ड को उस चीज से बचाने का एक सहज प्रवृत्त्यात्मक उपाय होता है, जिससे झुण्ड के कमजोर पड़ने की आशंका रहती है, न कि कोई ऐसी बात जिसे स्पष्टतः नैतिक निर्णय की अभिव्यक्ति माना जा सके।

मनुष्य जाति की आदिम नस्लों में भी आचरण के ऊपर जो निर्णय दिये जाते हैं और जो पुरस्कार और दण्ड के रूप में अभिव्यक्त होते हैं उनका अर्थ क़बीले को बलवान् बनाने वाली चीज का अनुमोदन करने और क़बीले को निर्बल बनाने वाली चीज का अनुमोदन करने से कुछ ही अधिक प्रतीत होता है।

कुछ अधिक विकसित समुदायों में भी कुछ परिस्थितियों में इसी तरह की बात देखने में आती है। Bryce के American Commonwealth (अध्याय 63, टिप्पणी 1) में अमरीकी राजनीतिक जीवन के कुछ पक्षों के बारे में इस तरह कहा गया है : "नगरनिवासी राजनातिज्ञों तक की कोई आचार-संहिता (Moral Code) होनी चाहिए और कोई नैतिक मानक होना चाहिए। वह मामूली अव्यवसायी नागरिक की संहिता नहीं होती। उसमें झूठ, सार्वजनिक धन का दुरुपयोग, मतदान में गोलमाल करना इत्यादि निषिद्ध नहीं होते। लेकिन उसमें उदासीनता या कायरता, आज्ञा-भंग तथा सबसे अधिक दल के प्रति विश्वासघात निन्दनीय होते हैं। उसमें प्रधान सद्गुण दृढ़ता, कार्यकर्ताओं में दिल, दिमाग और प्रयत्न की एकता तथा दल के प्रति पूर्ण

1. प्रो० स्ट्राउट ने अधिक सम्भावना इस बात की मानी है कि "साथी का कष्ट और विशेष रूप से रक्त की गन्ध अन्धे प्रकोप को पैदा करती है जो बाहर निकलने का कोई निश्चित रास्ता ढूँढता है और इस प्रकार जो ध्यान का केन्द्र बना होता है, अर्थात् स्वयं कष्ट में पड़ा हुआ साथी, उस पर उतरता है। यदि निकट शत्रु खड़ा हो तो यह प्रकोप उसके ऊपर उतरेगा।"

बफ़ादारी होते हैं। जो अपनी मर्जी के माफ़िक चलता है वह द्रोही माना जाता है और उसे न केवल सख्ती से बल्कि बदले की भावना से भी दण्ड दिया जाता है।”

इस तरह का नैतिक मानक इंग्लैंड की दलगत राजनीति में, चिकित्सा के पेशे में, या श्रमिक संस्थाओं में बिल्कुल अज्ञात हो, ऐसी बात नहीं है। लेकिन आधुनिक युग में इस तरह का नैतिक मानक, जो कि मानक के अन्दर मानक जैसा लगता है, लोगों के स्वीकृत नैतिक मानक के विरुद्ध अपने को पूरी तरह से क़ायम रखने में समर्थ नहीं होता। पेशेवर राजनीतिज्ञ को भी कभी-कभी ‘समुदाय के नैतिक बोध के अनुसार चलना’ ज़रूरी लगता है। (American Commonwealth, अध्याय 68)

लेकिन ध्यान देने की मुख्य बात यह है कि नैतिक निर्णय के सबसे प्रारम्भिक रूपों में उस क़बीले या समुदाय की ओर संकेत रहता है जिसका व्यक्ति केवल एक सदस्य होता है। इसका अंकुर निस्तन्देह जानवरों की यूथ-चेतना (gregarious consciousness) में पाया जाता है।

2. क़बीली आत्मा (The Tribal Self)

इस बात को क्लिफ़ोर्ड (Clifford) ने अपने ‘क़बीली आत्मा’ के वर्णन¹ में एक रोचक ढंग से प्रकट किया है। क्लिफ़ोर्ड ने शुरू में कहा है कि ‘आत्मा का सच्चा मतलब है एक तरह का केन्द्र, जिसके इर्द-गिर्द हमारे दूरस्थ अभिप्रेरक घूमते रहते हैं और जिसका वे हमेशा खयाल रखते हैं।’ संक्षेप में, वह एक तरह का निर्देश-जगत् है।

आगे कहा गया है : “अब यदि हम मनुष्य जाति की कुछ सीधी-सादी नस्लों को देखें तो हमें न केवल यह पता चलेगा कि उनके जीवन में तात्कालिक इच्छाएँ कहीं अधिक प्रभाव रखती हैं और इसलिए आत्मा का प्रत्यय कम प्रयुक्त और कम विकसित होता है, बल्कि यह भी कि यह प्रत्यय निश्चित कम और विस्तृत अधिक होता है। जब कोई असभ्य व्यक्ति के पैर पर पैर रखता है न केवल तब बल्कि जब कोई उसके क़बीले पर हमला करता है तब भी उसे चोट लगती है। वह अपनी शॉपड़ी, औरत और खाना पाने के अवसरों से वंचित हो सकता है। इस प्रकार, स्वाभाविक रूप से क़बीली आत्मा के उस प्रत्यय के अन्दर शामिल हो जाता है जो दूरस्थ इच्छाओं को तात्कालिक बनाकर उनकी पूर्ति सम्भव कर देता है।”

“क़बीले को क़बीले के रूप में अस्तित्व बनाए रखना है, और उसके अस्तित्व के बने रहने का एकमात्र जैविक उपाय यही है कि उसके सदस्यों के मन में क़बीली आत्मा की धारणा रहे। इसीलिए जिन जातियों में यह धारणा सबसे अधिक बलवती होती है और आदत के अनुसार तात्कालिक इच्छाओं के ऊपर एक अभिप्रेरक के रूप में सबसे अधिक हावी होती है उनका प्राकृतिक चुनाव हो जाता है (अर्थात् अन्य जातियों के मिट जाने पर भी उनका अस्तित्व बना रहता है)। ऐसा इतना अधिक हुआ है कि विकास-क्रम में क़बीले की आत्मा व्यक्ति की आत्मा से पुरानी नहीं है, यह मानना काफ़ी सन्देहास्पद हो गया है। काल-क्रम में यह आनुवंशिक संक्रमण की बात हो जाती है और इस तरह सामाजिक मनुष्य की मानसिक गठन के अन्दर यह धारणा एक विशिष्ट लक्षण के रूप में स्थिर हो जाती है। देशों के आबाद हो जाने और क़बीलों के जुड़कर राष्ट्रों का रूप ले लेने पर इस धारणा का रूप अधिक विस्तृत और सूक्ष्म हो जाता है; और इसकी पराकाष्ठा तब होती है जब क़बीली आत्मा बढ़कर सम्पूर्ण मानव-जाति में व्याप्त हो जाती है। जब यह इतनी ऊँचाई तक नहीं पहुँच पाती तब

1. Lectures and Essays (“On the Scientific Basis of Morals”).

नैतिक निर्णय का विकास

परिवार और नगर में रहती है। आदमी के उस गुण या प्रवृत्ति को, जो परिवार या कबीली आत्मा को सर्वोच्च सत्ता मानते हुए अभिप्रेरकों को उसके अधीन रखती है, मैं 'कुलनिष्ठा' (Piety) कहूँगा।

विल्फोर्ड ने इस प्रसंग में जो कुछ कहा है उसकी हर बात को पूरी तरह न मानते हुए, हम कम-से-कम उस बात के महत्त्व को तो मान सकते हैं जिस पर उसने यहाँ बल देना चाहा है। वह बात है आदिम नैतिक चेतना की सामाजिकता। शुरू में आदमी स्वयं को एक स्वतन्त्र व्यक्ति नहीं मानता बल्कि एक समष्टि का अंग मानता है;¹ और इस समष्टि को काफ़ी वास्तविक अर्थ में एक 'आत्मा' कहा जा सकता है, क्योंकि वह एक जगत् होता है जिसे व्यक्ति अपने जीवन को चलाने वाला मानता है। इस प्रकार यहाँ हम नैतिक निर्णय का प्राचीनतम आधार देखते हैं; और इसके निर्माण की प्रक्रिया को बताने में, विल्फोर्ड ने जैसा कहा है, उसका अनुसरण करना अब भी सुविधाजनक होगा।

3. अन्तर्भावना का प्रारम्भ (The Origin of Conscience)

विल्फोर्ड ने आगे कहा है: "हम उस आदमी को पसन्द नहीं करते जिसका चरित्र ऐसा हो कि हमारा उससे हानि पहुँचने की आशंका करना उचित हो। किसी आदमी को इस तरह उसके चरित्र के कारण नापसन्द करना अलग-अलग हानियों मात्र को नापसन्द करने से अधिक जटिल भाव है। एक बिल्ली आपका हाथ, आपकी गोद, और जो खाना आप उसे देते हैं, वह पसन्द करती है; लेकिन मेरे मत से उसके मन में आपके बारे में कोई धारणा नहीं होती। लेकिन एक कुत्ता जब आप उसे मारते हैं आपके बारे में कोई धारणा नहीं होती। लेकिन एक कुत्ता जब आप उसे मारते हैं तब भी शायद आपको पसन्द करता है, हालाँकि मार को वह पसन्द नहीं करता। इस तरह की पसन्द और नापसन्द कबीली आत्मा को भी महसूस हो सकती हैं। यदि कोई आदमी ऐसा काम करता है जो आम तौर पर कबीले के लिए हितकर समझा जाता है, तो मेरी कबीली आत्मा कह सकती है कि 'तुमने जो किया है उसे मैं पसन्द करती हूँ।' व्यक्तिगत कामों का इस प्रकार सबके द्वारा अनुमोदन किये जाने से एक अभिप्रेरक के रूप में कुलनिष्ठा का प्रभाव निश्चित हो जाता है; और अन्त में प्राकृतिक चुनाव उन कबीलों का अस्तित्व बनाए रखेगा जो सही बातों का अनुमोदन करता रहा, अर्थात् उन बातों का जिन्होंने उस समय कबीले को जीवन-संचय की दृष्टि से लाभ पहुँचाया।

"लेकिन इसके बाद यह भी हो सकता है कि एक आदमी नियमित रूप से हमेशा कुलनिष्ठा से काम करता रहे और कबीले के लिए हितकर बातें करे। ऐसी दशा में कबीली आत्मा कहेगी, 'मैं तुम्हें पसन्द करती हूँ।' व्यक्ति के यह कहने में प्रकट इस भाव को कि 'कबीले के नाम पर मैं तुम्हें पसन्द करता हूँ' मैं अनुमोदन (approbation) कहता हूँ। यह कुलनिष्ठा व्यक्तियों का वह भाव है जो ऐसे चरित्र को देखकर पैदा होता है जो उन्हें समुदाय के लिए हितकर लगता है।"

विल्फोर्ड आगे कहता है: "अब मान लीजिए कि एक आदमी ने ऐसा काम किया है जो स्पष्टतः समुदाय के लिए हानिकारक है। ऐसे मामले में कोई तात्कालिक इच्छा या व्यक्ति की आत्मा एक बार कबीली आत्मा से बढ़कर सिद्ध हुई होती है। जब कबीली आत्मा जाग पड़ती है तब आदमी कहता है, 'कबीले के नाम पर मैं इस

1. यह ध्यान देने की बात है कि कबीली एकता का विचार आम तौर पर कबीले के देवता की प्रतिमा के रूप में मूर्तिमान् होता है, और समष्टि को एकता प्रदान करने में इस धार्मिक बन्धन का महत्त्व अधिकाधिक बढ़ता जाता है।

बात को पसन्द नहीं करता जिसे मैंने व्यक्ति की हैसियत से किया है।' कबीले के नाम पर इस तरह अपने ऊपर दिया जाने वाला निर्णय अन्तर्भावना (Conscience) कहलाता है। यदि आदमी और आगे बढ़कर इस काम से तथा इसी तरह के अन्य कामों से अपने ही चरित्र के बारे में अनुमान करता है तो वह कहेगा, 'कबीले के नाम पर मैं अपनी व्यक्तिगत आत्मा को पसन्द नहीं करता।' इसे अनुताप (remorse) कहते हैं।"

इस सम्पूर्ण कथन को समझने में उस विद्यार्थी को कोई दिक्कत नहीं होगी जो उन विभिन्न जगत्‌ओं की बात को, जिनके अन्दर हम निवास करते हैं, समझ चुका है। जिस जगत् के दृष्टिकोण से आदिम नैतिक निर्णय दिया जाता है वह वही है जिसे क्लिफोर्ड ने 'कबीली आत्मा' कहा है। इस दृष्टिकोण से आदिम युग के असम्य मनुष्य की चेतना अपने ऊपर तथा कबीले के अन्दर रहने वाले अन्य व्यक्तियों के ऊपर निर्णय देती है। और सामान्यतः कर्मों को अच्छे या बुरे तथा व्यक्तियों को प्रशंसा या निन्दा के योग्य इसलिए ठहराया जाता है कि वे कबीले के अस्तित्व और हित के साधक या बाधक होते हैं।

4. नैतिक मानक रूढ़ि के रूप में

फिर भी हमें यह नहीं मान लेना चाहिए कि आदिम मनुष्य का व्यवहार उतना आत्मचेतनापूर्ण होता है जितना क्लिफोर्ड के कहने के ढंग से लगता है। आदिम मनुष्य जान-बूझकर अपने को यह नहीं पूछता कि उसका आचरण उसके कबीले के लिए हितकारी है या नहीं। और अपने या अन्यो के सामान्य चरित्र के बारे में तो इस तरह का सवाल वह और भी कम पूछता है।

जैसा कि हम पहले संकेत कर चुके हैं, होता यह है कि किसी समुदाय के जीवन में कर्म के रूढ़ तरीके विकसित हो जाते हैं कि समुदाय के लिए कर्म के जो तरीके हितकर होते हैं वे सामान्यतः चुन लिए जाते हैं और स्थायी हो जाते हैं, और कि कर्म के वे ही तरीके आमतौर पर अनुमोदित होते हैं। इस प्रकार अनुमोदन करने में व्यक्ति कबीले के दृष्टिकोण से देखता है, लेकिन ऐसा वह जान-बूझकर नहीं करता; उसके मन में यह बात नहीं आती कि उसके लिए किसी और दृष्टिकोण से देखना भी सम्भव है। उसके अन्दर अभी अपने को एक स्वतन्त्र व्यक्ति के रूप में देखने की या अन्यो को स्वतन्त्र व्यक्तियों के रूप में देखने की शक्ति नहीं आई होती। इसलिए भी यह कहना पूरी तरह से सही नहीं है कि वह अपने या दूसरों के चरित्रों के ऊपर निर्णय देता है। चरित्र की तो बात वह शायद ही सोचता हो। वह कामों की बात सोचता है।

होमर द्वारा वर्णित कथा में नैतिक चेतना अपेक्षाकृत उन्नत अवस्था में पहुँच गई थी, लेकिन वहाँ भी चरित्र के ऊपर सामान्य निर्णय देने का विचार मुश्किल से ही दिखाई देता है। जैसा कि सीले (Seeley)¹ ने कहा है, इलियड (Iliad) में उचित और अनुचित का भेद मुश्किल से ही दिखाई देता है, और मनुष्यों का अच्छों और बुरों में विभाजन तो बिल्कुल भी नहीं किया गया है। प्रायः यह कहा गया है कि उसमें खलनायक है ही नहीं। इसका कारण यह नहीं है कि कवि ने अपने पात्रों को दुष्कर्म करते हुए नहीं दिखाया है, क्योंकि उनमें से ऐसा एक भी नहीं है जो सबसे गहिरे और लज्जास्पद काम न कर सकता हो। असल में कारण यह है कि कवि इन कामों के प्रति दृढ़ता के साथ अनुमोदन (disapprobation) का भाव नहीं प्रकट करता, और बाद के कवियों में नैतिक रोष का जो भाव तीव्र रूप में पाया जाता है वह उसमें इतनी अल्प मात्रा में है कि वह अपने किसी भी पात्र के प्रति उसके अपराध के लिए

घृणा का भाव प्रकट करने में बिल्कुल असमर्थ है। जैसे उसके अन्दर एक अभ्यस्त सदाचारी व्यक्ति की धारणा नहीं है, वैसे ही एक दुष्ट व्यक्ति की भी नहीं है। थोड़े-से कामों को, जैसे याचक या पिता की हत्या करने को, वह बुरा मानता तो है, लेकिन इसके बावजूद वह मानता है कि मनोवेग के प्रभाव में आकर या दैवी इच्छा से चित्त के भ्रान्त हो जाने पर हर आदमी समान रूप से इस तरह के पाप कर सकता है।"

समाज की ऐसी अवस्था में कुछ ऐसे काम होते हैं जिन्हें "कोई करता नहीं," जो रुढ़ नहीं होते, लेकिन ऐसा कोई काम शायद हो हो जिसके प्रति तीव्र नैतिक अनुमोदन का भाव हो।

5. क़ानून के रूप में नैतिक मानक

फिर भी, जैसा कि हम देख चुके हैं, "धीरे-धीरे क़ानून आचरण को नियंत्रित करने में रुढ़ि की जगह ले लेता है। इसके साथ ही नैतिक निर्णय में भी कुछ परिवर्तन आ जाता है। जब 'कोई करता नहीं' की जगह 'तुम नहीं करोगे' ले लेता है तब उचित-अनुचित का अन्तर और अधिक निश्चित हो जाता है; और जिसे उचित माना जाता है उसका उल्लंघन करना और अधिक निश्चित रूप से निन्दनीय समझा जाता है। सीले के अनुसार, रुढ़ि नैतिकता की शुरू की अवस्था में 'लोग आसानी से अपराध कर बैठते हैं और उतनी ही आसानी से उसके दुष्परिणामों से मुक्त भी हो जाते हैं।' अगामेम्नोन (Agamemnon) को सम्पत्ति के अधिकार का घोर उल्लंघन करने के बाद केवल यह कह देना पड़ता है कि 'मेरा मन भ्रान्त हो गया था,' और यह बहाना उसकी अन्तर्भावना को तुष्ट करने के लिए पर्याप्त होता है, तथा इसे जनता, यहाँ तक कि जिसकी हानि हुई है वह भी, स्वीकार कर लेता है, क्योंकि वह भी अनुभव करता है कि कभी-कभी मानसिक भ्रम-वशा वह भी यह अपराध कर सकता है।"

"जब क़ानून बन जाता है तब अपराध का प्रायश्चित्त इतना हलका कभी नहीं हो सकता और न उसे कभी इतनी आसानी से भुलाया जा सकता है।" "क़ानून से पाप का बोध होता है। कर्म का एक मानक स्थिर हो जाता है, जो हरेक आदमी के लिए अपने जीवन को चलाने के नियम और अपने पड़ोसियों की आलोचना के आधार का काम करता है। तब मनुष्य दो वर्गों में बँट जाते हैं : एक उनका जो आदत के अनुसार इस नियम का अनुसरण करते हैं और दूसरा उनका जो इसका उल्लंघन करते हैं, एक अच्छों का और दूसरा बुरों का; और इस वर्गीकरण के अनुरूप भाव भी जल्दी ही पैदा हो जाते हैं : एक वर्ग के प्रति आदर का और दूसरे के प्रति घृणा का भाव पैदा हो जाता है।"

6. नैतिक नियम (The Moral Law)

लेकिन जब तक उस नियम का, जिसे मानक के रूप में अपनाया जाता है, देश के क़ानून से स्पष्ट भेद नहीं किया जाता, तब तक नैतिक निर्णय पूरी तरह से नहीं बन पाता। किसी देश का क़ानून मुख्यतः उन स्थूल कर्मों का विरोध करने के लिए बना होता है जो समाज के हित के लिए घातक होते हैं, जबकि नैतिक निर्णय अपने पूरी तरह से विकसित रूप में मनुष्यों के स्थूल व्यवहार के बजाय उनके अभिप्रायों, अभिप्रेरकों और चरित्रों को ध्यान में रखता है।

किसी विकासमान् समुदाय के जीवन में यह भेद धीरे-धीरे पैदा होता है। इसका शायद सबसे स्पष्ट उदाहरण यहूदियों का है, जिन्होंने दस धर्मादेशों (Ten Commandments) को देश के औपचारिक और दीवानी क़ानूनों से स्पष्टतः पृथक्

माना। इन धर्मदिवशों में "तुम लालच नहीं करोगे" और "तुम चोरी नहीं करोगे," ये नियम भी शामिल हैं, और इस तरह ये आन्तरिक मनोवृत्ति तथा स्थूल कर्म, दोनों ही के ऊपर निर्णय देने का श्रीगणेश करते हैं। ज्यों-ज्यों नैतिक चेतना का विकास होता जाता है त्यों-त्यों यह धारणा अधिकाधिक उन्नत होती जाती है।

7. नैतिक अन्तर्विरोध (Moral Conflict)

जब नैतिक विकास ऐसी अवस्था में पहुँच जाता है तब कर्म और कर्म पर दिया जानेवाला निर्णय, दोनों ही में कुछ अन्तर्विरोधों का पैदा होना प्रायः अनिवार्य हो जाता है। आदिम समाजों में हरेक आदमी का कर्त्तव्य अपेक्षाकृत स्पष्ट होता है। श्रम का विभाजन कम ही होता है, और कबीले के हित-साधन का तरीका भी अनिश्चित कम होता है। लेकिन जब रूढ़ि के साथ कानून भी जुड़ जाता है और कानून के साथ नैतिक नियम जुड़ जाता है, तथा जब एक आदमी अपने समाज में अपने को एक साथ अनेक विभिन्न स्थितियों में देखता है (जैसे पिता, सिपाही, न्यायाधीश, किसान इत्यादि के रूपों में), तब किसी अवसर पर क्या करना उचित होगा, यह हमेशा स्पष्ट नहीं रहता। कानून का तब रूढ़ि से, या एक कानून का दूसरे कानून से विरोध हो सकता है।

इस तरह के विरोध का एक प्राचीन दृष्टान्त सोफ़ोक्लीज (Sophocles) के 'एंटिगोन' (Antigone) में पाया जाता है जिसमें राज्य का एक निश्चित कानून पारिवारिक स्नेह के सिद्धान्त से, जो रूढ़ि अधिक होता है, टकरा जाता है। एंटिगोन दूसरे को अधिक पसन्द करता है, क्योंकि वह अति प्राचीन है, और उसका प्रारम्भ कब हुआ, यह नहीं बताया जा सकता, जबकि राज्य का कानून मनुष्य-निर्मित है और उसे बदला भी जा सकता है। लेकिन ऐसे विरोध के फलस्वरूप अन्त में चिन्तन-मनन शुरू हो जाता है और निर्णय के किसी और अधिक मौलिक मानक की खोज की जाने लगती है।

8. मानक के रूप में व्यक्ति की अन्तर्भावना

ऐसा मानक कभी-कभी व्यक्ति के हृदय की आवाज या अन्तर्भावना में ढूँढा जाता है। राज्य के स्थूल कानून की अपील आन्तरिक आवाज या हृदय के कानून के सामने की जा सकती है। लेकिन जल्दी ही मालूम हो जाता है कि यह असंतोषप्रद है, क्योंकि स्थूल कानून का अन्तर्विरोध असल में आन्तरिक कानून में भी पाया जाता है। उदाहरण के लिए, हृदय परिवार के विचार का पक्ष ग्रहण कर सकता है, लेकिन वह राज्य के विचार का भी पक्ष ले सकता है; और एक के प्रति निष्ठा दूसरे के प्रति निष्ठा की विरोधी हो सकती है।¹ इस तरह हमें फिर चिन्तन-मननात्मक विश्लेषण की ओर लौट जाना पड़ता है।

1. शेक्सपियर के नाटक King John (अंक 3, दृश्य 1) में Blanche की अभिवृत्ति से तुलना कीजिए :

"Which is the side that I must go withal ?

I am with both : each army hath a hand ;

And in their rage, I having hold of both,

They whirl asunder and dismember me.

Husband, I cannot pray that thou mayst win ;

Uncle, I needs must pray that thou mayst lose ;

9. चिन्तनपरक निर्णय का विकास

इस प्रकार लोग धीरे-धीरे अपने से यह सवाल पूछने की स्थिति में आ जाते हैं कि नैतिक निर्णय का सच्चा आधार क्या है। इस सवाल के बाद अनिवार्यतः कोई सांगोपांग वैज्ञानिक नैतिक सिद्धान्त बनाने के प्रयास चलने लगते हैं। लेकिन हो सकता है कि हम पूरी तरह से वहाँ तक न पहुँच पाएँ और थोड़े समय के लिए किसी निश्चित सांगोपांग सिद्धान्त के बजाय केवल कुछ मौलिक सिद्धान्तों को ही सूत्रबद्ध कर पाएँ। जो भी हो, सार्वभौम सिद्धान्त, जो सभी कालों और सभी लोगों में लागू हो सकें, धीरे-धीरे विशेष कबीलों और विशेष जातियों की रूढ़ियों और कानूनों का स्थान ले लेते हैं।

10. प्राचीन लोगों के उदाहरण

नैतिक निर्णय के विकास की जानकारी करने का सबसे आसान उपाय शायद प्राचीन काल की महान् जातियों का अध्ययन करना रहेगा, जिनमें बाहरी हस्तक्षेप उतना नहीं रहा जितना अधिकतर आधुनिक जातियों में रहा।

उदाहरण के लिए, यहूदी जाति में रूढ़ और औपचारिक कानून से दस धर्मादेशों में से होते हुए उन अधिक सूक्ष्म और आन्तरिक सिद्धान्तों तक पहुँचने वाले विकास-क्रम को देखना आसान है जो भजन-संग्रह (Psalms) और बाद के पैगम्बरों के उपदेशों में पाए जाते हैं। बाह्य नियमाचार (observance) की जगह धीरे-धीरे 'शुद्ध हृदय' का विचार ले लेता है; और ईसाई धर्म में तो कानून की जगह निश्चित रूप से प्रेम का आन्तरिक सिद्धान्त ले लेता है। जब ऐसा हो जाता है तब साथ ही यहूदी नैतिकता की जातीयता भी समाप्त हो जाती है और उसका रूप सार्वकालिक और सार्वलौकिक हो जाता है।

लेकिन यह ध्यान देने की बात है कि विकास के इस क्रम में प्रत्येक चरण का प्रारम्भ मानो एक नए विधान से होता है। पुराने सिद्धान्तों से अधिक सूक्ष्म सिद्धान्त हमेशा किसी पैगम्बर की वाणी के द्वारा सूत्रबद्ध किया जाता है, जो कि निश्चित रूप से 'प्रभु' के नाम पर घोषणा करती है। पूरे विकास-क्रम में ईश्वरीय नियम का विचार मूलभूत रहता है। जब पुरानी व्यवस्था के बाह्य नियमों के विरुद्ध ईसाई धर्म का आन्तरिक सिद्धान्त घोषित किया जाता है तब भी वह एक निश्चित विधान के रूप में, एक 'नए धर्मादेश' के रूप में, रखा जाता है: "पुराने लोगों ने ऐसा कहा था...लेकिन मैं तुमसे कहता हूँ..." दुहाई फिर भी आप्त-नियम (authoritative law) की दी जाती है।

यूनानियों की बात इससे बहुत भिन्न थी। यहाँ भी निश्चित रूप से बात

Father, I may not wish the fortune thrive;
Grandam, I will not wish thy wishes thrive;
Whoever wins, on that side shall I lose;
Assured loss before the match be played."

यहाँ समस्या यह है कि आत्मा किसका पक्ष लेती है; सबसे गहरा और स्थायी स्वार्थ किसमें है?

Othello (अंक 1, दृश्य 3) में Desdemona की अभिवृत्ति भी द्रष्टव्य है:

"I do perceive here a divided duty."

वास्तव में इस तरह के अन्तर्विरोध से ही सबसे अधिक दुःखद परिस्थितियाँ पैदा होती हैं।

क्रानून से, निस्संदेह ईश्वरीय क्रानून से, शुरू होती है। लेकिन यह क्रानून ऐसा है जिसे धर्मदिश-संहिता के रूप में साफ़-साफ़ कभी सूत्रबद्ध नहीं किया गया; और इसके विकास की प्रक्रिया भी भिन्न है। पुराने सिद्धान्तों से अधिक सूक्ष्म सिद्धान्त एक पैगम्बरी घोषणा के रूप में नहीं बल्कि एक चिन्तनप्रधान व्याख्या से रूप में प्रस्तुत किया गया। लोगों ने कर्म के पुराने सिद्धान्तों की प्रामाणिकता के बारे में सन्देह प्रकट करना शुरू किया, और स्वयं से पूछा कि उनका औचित्य क्या है, और इसके पश्चात् चिन्तनप्रधान नीतिशास्त्रीय सिद्धान्तों की उत्पत्ति हुई।

इन सिद्धान्तों के विकास का संक्षिप्त वर्णन अगले खण्ड में किया जाएगा। लेकिन ध्यान देने की अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि यद्यपि यूनानियों में नैतिकता के विकास का क्रम उससे भिन्न है जो यहूदियों में पाया जाता है, तथापि अन्तिम परिणाम दोनों के मुख्य बातों में समान हैं। यहाँ भी विकास बाह्य नियमाचार से शुरू होता है और सिद्धान्त को कर्म का आधार बनाने के विचार में पहुँचता है—राज्य के क्रानून का पालन करते हुए कर्त्तव्य करने के विचार से शुरू होता है और कर्त्तव्य के 'सौन्दर्य' या उसकी श्रेष्ठता की खातिर कर्त्तव्य करने के विचार में पहुँचता है। साथ ही प्रगति उस तरह के जीवन के विचार से शुरू होती है जो बर्बर लोगों के लिए नहीं बल्कि केवल यूनानियों के लिए सम्भव है और उस तरह के जीवन के विचार तक पहुँचती है (जो स्टोइकों की विचारधारा में विशेष रूप से प्रधान हो जाता है) जो मात्र मानवोचित है, जो सार्वभौम है, जो विश्व के प्रत्येक नागरिक के लिए है।

रोमन लोगों में विकास-क्रम इससे बहुत कम मिलता-जुलता है। अपने उत्तर-वर्ती काल में वे यूनानी विचारधारा से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उनमें कोई स्वतन्त्र चीज विकसित नहीं हो पाई। लेकिन उनके क्रानून के विकास में कुछ उसी तरह की चीज हम देखते हैं। रोमनों का क्रानून शुरू में केवल रोमनों का रहा और किसी निश्चित सिद्धान्त पर आधारित नहीं रहा। लेकिन स्टोइकों के दर्शन के प्रभाव से उन्होंने भी उसमें धीरे-धीरे एक आन्तरिक सिद्धान्त का समावेश कर दिया, और ऐसा होने के बाद वह रोमनों का क्रानून न रहकर विश्व का क्रानून बन गया।

इस प्रकार, यहूदी, यूनानी और रोमन—इन तीन जातियों ने धीरे-धीरे अपने क्रानूनों के अनुसार बाह्य आचरण करने की जगह कर्म का एक आन्तरिक सिद्धान्त अपना लिया और इसके साथ ही अपनी जातीय संस्थाओं से एक सार्वभौम धर्म, एक सार्वभौम विज्ञान और एक सार्वभौम क्रानून का विकास किया।

11. नैतिक विकास का सामान्य स्वरूप

इस संक्षिप्त रूपरेखा से नैतिक निर्णय के विकास का सामान्य स्वरूप थोड़ा-बहुत स्पष्ट हो गया होगा। निम्नलिखित बातें इसमें मुख्य हैं :

- (1) यह रुढ़ियों से शुरू होता है और क्रानून से होते हुए चिन्तनप्रधान सिद्धान्तों में पहुँचता है।
- (2) आरम्भ में निर्णय बाहरी कार्यों पर दिया जाता है और बाद में आन्तरिक उद्देश्य तथा चरित्र पर।
- (3) शुरू में विशेष कबीलों और जातियों की विशेष परिस्थितियों के अनुसार विचार होते हैं और फिर विकसित अवस्था में विचार सार्वभौम हो जाते हैं।

इस प्रकार नैतिक निर्णय के विकास का सामान्य स्वरूप बता चुकने के बाद हम ऐसी स्थिति में आ गए हैं कि उन आवश्यक तत्त्वों पर विचार कर सकें जो पूरी तरह से विकसित नैतिक निर्णय के अन्दर शामिल रहते हैं।

नैतिक निर्णय का अर्थ

1. नैतिक निर्णय का स्वरूप

अब तक जो कुछ कहा गया है उससे नैतिक निर्णय का सामान्य स्वरूप काफ़ी स्पष्ट हो जाना चाहिए, फिर भी नैतिक निर्णय की पूरी तरह से विकसित विषय-वस्तु और उसके अर्थ के बारे में कुछ सवाल ऐसे हैं जिन्हें पूछना ज़रूरी है। ये सवाल स्वभावतः दो अलग-अलग शीर्षकों के अन्तर्गत आते हैं : पहली बात तो स्पष्टतः यह है कि नैतिक निर्णय का स्वरूप उमके जैसा मात्र नहीं है जिसे तर्कशास्त्र में निर्णय कहा जाता है; वह खाली किसी चीज़ के बारे में निर्णय नहीं है बल्कि किसी चीज़ के ऊपर निर्णय है। वह किसी चीज़ का स्वरूप मात्र नहीं बताता बल्कि उसकी किसी मानक से तुलना करता है और इस आधार पर उसे शुभ या अशुभ, उचित या अनुचित घोषित करता है। नैतिक दृष्टिकोण को मानकीय कहने का यही मतलब है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि दो मुख्य सवाल हैं जिन्हें पूछना है : (1) वह कौन-सी चीज़ है जिसके ऊपर निर्णय देना है ? (2) वह कौन-सा दृष्टिकोण है जिससे ऐसा निर्णय देना सम्भव है ? इन सवालों पर विचार करते हुए स्वभावतः हम मानक के यथार्थ स्वरूप की छानबीन में पहुँच जाएँगे, जो कि अगले खण्ड का विषय है।

जिन दो सवालों पर अब हमें विचार करना है वे संक्षेप में इस प्रकार रखे जा सकते हैं : (1) नैतिक निर्णय का विषय क्या है ? (2) नैतिक निर्णय का दृष्टिकोण क्या है ?

2. नैतिक निर्णय का विषय (Object)

जिस विषय पर नैतिक निर्णय दिया जाता है उसका स्वरूप मोटे तौर पर काफ़ी स्पष्ट है। वह विषय ऐच्छिक कर्म है। जैसा कि हम देख चुके हैं, नीतिशास्त्र का सम्बन्ध बराबर इसी से रहता है। नीतिशास्त्र संकल्प को सही दिशा में रखने से सम्बन्धित है। जो नैतिक निर्णय हम देते हैं वे भी इसी तरह संकल्प से सम्बन्धित होते हैं। जो संकल्पित नहीं है वह नैतिक गुण से रहित होता है। पहाड़ से नीचे फिसलती हुई चट्टान एक गाँव को बर्बाद कर सकती है; वर्षा किसी देश को अकाल से बचा सकती है; लेकिन हम न चट्टान को बुरी कहते हैं और न वर्षा को भली। इसी तरह, जब तक हम शेरों या घोड़ों के कामों को संकल्पित नहीं बल्कि सहज-प्रवृत्ति के वश होकर किये हुए समझते हैं तब तक हम उनकी की हुई हानियों या उनकी सेवाओं पर कोई नैतिक निर्णय नहीं देते। जब हम उनकी सराहना या निन्दा करते भी हैं तब केवल चुपचाप यह मानते हुए कि उनके काम ऐच्छिक हैं।

इस प्रकार, नैतिक निर्णय सब तरह की चीज़ों पर नहीं दिए जाते, न सब तरह के कामों पर दिए जाते हैं, बल्कि केवल आचरण पर दिए जाते हैं।

3. शुभ संकल्प (The Good Will)

इससे हम उस प्रसिद्ध घोषणा पर पहुँच जाते हैं जिससे कांट ने नीतिशास्त्र के अपने महान् ग्रन्थ का श्रीगणेश किया था।¹ कांट ने इस प्रकार शुरू किया था : “जगत् में, बल्कि उसके बाहर भी, शुभ संकल्प को छोड़कर कोई भी चीज ऐसी नहीं है जिसे निरुपाधिक रूप से शुभ कहा जा सके।” उसने आगे कहा था कि भाग्य की देन और वह प्रसन्नता, जो वे अपने साथ लाती हैं, केवल इस शर्त पर शुभ मानी जा सकती हैं कि उनका सही ढंग से प्रयोग हो। इसी तरह प्रतिभा और लौकिक ज्ञान भी केवल तभी शुभ हैं जब इन्हें ऊँचे लक्ष्यों की प्राप्ति में सहायक बनाया जाए। ये चीजें केवल सोपाधिक रूप से शुभ हैं। लेकिन शुभ संकल्प निरुपाधिक रूप से, यानी बिना किसी शर्त के शुभ होता है। जैसा कि कांट ने कहा था, शुभ संकल्प ही एकमात्र वह रत्न है जो अपने ही प्रकाश से चमकता है।

लेकिन इस प्रकार शुभ संकल्प को सर्वोच्च शुभ कहते और उसे नैतिक निर्णय के द्वारा स्वीकृत अन्तिम वस्तु मानते हुए हमें यह सावधानी रखनी चाहिए कि संकल्प को अभिलाषा से अलग रखें। कहावत है कि “नरक की सीढ़ी में अच्छे इरादे जड़े हुए हैं।” शुभ संकल्प उस तरह का एक शुभ अभिप्राय-मात्र नहीं है जिसे हम एक पूरी तरह से बने हुए उद्देश्य से भिन्न कहते हैं;² बल्कि यह किसी शुभ परिणाम को पैदा करने के लिए एक संकल्पित प्रयत्न है—हालाँकि यह एक ऐसा प्रयत्न भी हो सकता है जिसे कार्यान्वित होने के लिए अभी उपयुक्त अवसर की तलाश हो। नैतिक दृष्टि से, ऐसा प्रयत्न सर्वोच्च शुभ है, भले ही कुछ अप्रत्याशित घटनाओं के कारण शुभ परिणाम प्राप्त न हो सके। शुभ अभिलाषा इस बात की चेतना-मात्र होती है कि एक साध्य की प्राप्ति सन्तोष प्रदान करेगी; लेकिन शुभ संकल्प में व्यक्ति उस साध्य के साथ तदाकार हो जाता है।

“साथ ही यह बात भी है कि जब हम शुभ संकल्प को सर्वोच्च शुभ कहते हैं, भले ही वह किसी शुभ परिणाम को प्राप्त करने में सफल न हो, तब यह नहीं मान लेना चाहिए कि शुभ संकल्प, यदि वह कभी कार्यान्वित हुआ तो, शुभ काम में परिणत होने में असफल रह सकता है।³ संकल्प और कर्म, जब वह कर्म में परिणत होता है तब, एक ही बात के आन्तरिक और बाह्य पक्ष मात्र हैं। शुभ संकल्प शुभ कर्म में प्रकट होता है; और विलोमतः कोई भी शुभ कर्म शुभ संकल्प के बिना नहीं हो सकता। लेकिन ऐसा हो सकता है कि कोई कर्म, जो स्वयं शुभ हो, अन्य परिस्थितियों के बीच में पड़ने से कोई अशुभ परिणाम पैदा कर दे, और एक अशुभ कर्म एक शुभ परिणाम पैदा कर दे।

डॉ० जानसन⁴ ने कहा था, “किसी काम की नैतिकता उस अभिप्रेरक पर निर्भर करती है जिससे हम उसे करते हैं। यदि मैं एक गिन्नी किसी भिखारी पर इस इरादे से फेंकूँ कि उसके सिर पर चोट लग जाए, और वह उम उठाकर उससे खाने की सामग्री खरीद ले, तो उसके शरीर के लिए तो अच्छा होगा लेकिन मेरे लिए काम बहुत ही बुरा होगा।” दूसरी ओर, जो काम स्वतः शुभ है वह बिगड़कर अन्त में

1. Metaphysic of Morals, Section I.

2. इरादा या अभिप्राय वहाँ इस खण्ड के अध्याय 1 में जिसे अभिप्राय कहा गया है, उससे कुछ भिन्न अर्थ रखता है। यहाँ मतलब अभिलाषा से है।

3. खण्ड 1, अध्याय 1, दैखिए।

4. Boswell द्वारा लिखित Life of Johnson, Vol. I.

अशुभ हो सकता है। कैलिब्रन प्रोस्पेरो से कहता है, “तुमने मुझे भाषा सिखाई और मैंने उसका लाभ यह उठाया कि मैं गाली देना जान गया।” जो दूसरे की भलाई करता है वह, सम्भव है, केवल एक साँप को पाल रहा हो। किसी कर्म का शुभत्व अभिप्राय के शुभत्व से होता है; लेकिन शुभ अभिप्राय शुभ कर्म पैदा करने के साथ शुभ परिणाम भी पैदा करे, यह आवश्यक नहीं है। शुभ परिणाम प्रायः अनेक कारणों का सम्मिलित फल होता है और किसी विशेष कर्ता का संकल्प उनमें से केवल एक होता है।

यदि हम किसी आदमी के कर्मों के प्रत्यक्ष और परोक्ष सभी प्रभावों का विचार करें तो सम्भवतः हम पाएँगे कि फल में शुभ की मात्रा अनुपाततः अभिप्राय के शुभ की मात्रा के उससे कहीं अधिक निकट है जितना हम प्रायः सोचते हैं। ग्रीन ने कहा है, “इसमें सन्देह करने का कोई वास्तविक कारण नहीं है कि किसी कर्म के अभिप्रेरक की शुभ या अशुभ की मात्रा उसके परिणामों के शुभ या अशुभ की मात्रा के ठीक बराबर होती है।”¹ यह ध्यान देने की बात है कि यहाँ तक जो-कुछ कहा गया है उसमें इस सवाल का विचार नहीं रखा गया है कि नैतिक निर्णय ठीक-ठीक अभिप्राय पर दिया जाता है या अभिप्रेरक पर। अभी कुछ आगे इस सवाल पर विचार किया जाएगा।

4. कर्म पर निर्णय और कर्ता पर निर्णय

यहाँ तक तो कोई दिक्कत नहीं है। लेकिन अब नैतिक निर्णय देने के दो तरीकों के बीच अन्तर करना जरूरी है। हम किसी आदमी के कामों पर निर्णय दे सकते हैं और स्वयं आदमी के ऊपर भी निर्णय दे सकते हैं। इस बात के बारे में शायद ही कोई सन्देह करेगा कि निर्णय के ये दो रूप नैतिक चेतना की अब तक की सबसे अधिक विकसित अवस्था में भी पाए जाते हैं। यह अन्तर मुख्य रूप से उचित और शुभ के अन्तर से सम्बन्धित है। किसी आदमी के कुछ काम उचित हो सकते हैं, फिर भी सम्भव है कि हम उसे शुभ (अच्छा) आदमी न कहें। इसी तरह, हो सकता है कि आदमी अच्छा हो, लेकिन उसके कुछ काम उचित न हों। कहने का मतलब यह है कि हम कभी चरित्र पर निर्णय देते हैं और कभी संकल्प (संकीर्ण अर्थ में) पर।

चरित्र पर निर्णय देने के सिलसिले में तो कोई विशेष कठिनाई नहीं प्रतीत होती। हम लोगों के चरित्र पर निर्णय इस आधार पर देते हैं कि उनकी नैतिक चेतना की समग्र अन्तर्वस्तु सर्वोच्च साध्य की, जो भी धारणा उसके बारे में हमारी हो, प्राप्ति में कितनी मात्रा में सहायक है। लेकिन यह कहना आसान नहीं है कि जब हम कर्ता पर नहीं बल्कि कर्म पर निर्णय देते हैं, तब हम किस चीज पर दृष्टि रखते हैं। हम कर्म पर उसके परिणामों के अनुसार निर्णय नहीं देते, बल्कि कर्ता के उद्देश्य के अनुसार निर्णय देते हैं। इस बात पर सभी एकमत हैं। लेकिन जो बात पूछनी है वह यह है कि हम उस पर पूरे अभिप्राय को देखते हुए निर्णय देते हैं या अभिप्राय के उस भाग को देखते हुए जिसे अभिप्रेरक कहा जाता है। इस बात को लेकर काफ़ी मतभेद है, और इसमें और भी उलझन इसलिए आ जाती है कि ‘अभिप्राय’ और ‘अभिप्रेरक’, इन शब्दों की व्याख्याओं में एकरूपता नहीं है।

5. नैतिक निर्णय का अभिप्रेरक से सम्बन्ध है या अभिप्राय से ?

इस विषय¹ को लेकर विवाद मुख्यतः अन्तःप्रज्ञावाद और उपयोगितावाद² के समर्थकों के बीच चला है। अन्तःप्रज्ञावादियों ने सामान्यतः यह माना है कि नैतिक निर्णय का सम्बन्ध केवल हमारे कर्मों के अभिप्रेरकों तक ही है, कि हमारे कामों को उन अभिप्रेरकों की, जो हमें उन्हें करने में प्रवृत्त करते हैं, अच्छाई या बुराई के अनुपात से अच्छा या बुरा समझा जाना चाहिए। इस प्रकार, हाल के अन्तःप्रज्ञावादियों में से सबसे प्रसिद्ध, मार्टिन्यू (Martineau) ने हमारे आचरण के अभिप्रेरकों की एक विशद सूची बनाई है और श्रेष्ठता के अनुसार उन्हें ऊपर-नीचे रखा है।³ उसने समर्पण (reverence) को सबसे ऊपर रखा है और निन्दा, प्रतिहिंसा और संदेहशीलता को सबसे नीचे। इनके बीच में अनेक तरह के मनोवेगों, क्षुधाओं, भावों, स्थायी भावों इत्यादि को रखा गया है, जैसे आरामपसन्दी, भय, महत्त्वाकांक्षा, उदारता और करुणा।

इस तरह की सूची के गुण-दोष बताने में निश्चय ही हमें इस प्रारम्भिक पुस्तक की सीमाओं के बाहर जाना पड़ेगा। फिर भी इस सम्बन्ध में दो बातें कह देना उचित होगा।

पहली बात यह है कि अभिप्रेरकों, अथवा, जैसा कि इन्हें दूसरे नाम से कहा जाता है, 'कर्म के स्रोतों' (springs of action) की यह सूची मनोवैज्ञानिक विभागों की श्रुत धारणा पर आधारित मालूम पड़ती है। मनोविज्ञान का विद्यार्थी शायद इस आपत्ति से परिचित हो चुका होगा। आधुनिक मनोविज्ञान मानवीय मन को एक अंगीय एकता (organic unity) के रूप में देखता है, और शक्तियों (faculties) के इस तरह के सहत भेदों का विरोध करता है जैसे मार्टिन्यू की सूची में किये गए मालूम पड़ते हैं। जो अभिप्रेरक उसने गिनाए हैं वे सरल नहीं बल्कि बहुत ही जटिल चीजें हैं, और किसी विशेष दृष्टांत में उनकी अच्छाई-बुराई इस बात पर निर्भर करेगी कि उनमें कौन-कौन तत्त्व मौजूद हैं। उदाहरण के लिए, भय चेतना में रहनेवाला एक सरल तत्त्व नहीं बल्कि एक जटिल अवस्था है, और इसकी अच्छाई या बुराई इस बात पर निर्भर करती है कि हम किस रूप में डरते हैं और किस चीज से डरते हैं। यही बात महत्त्वाकांक्षा पर और मार्टिन्यू द्वारा गिने हुए अधिकतर अन्य अभिप्रेरकों पर लागू होती है।

लेकिन, इसके अलावा, इस सूची में 'अभिप्रेरक' शब्द के विभिन्न अर्थों का गोलमाल भी प्रतीत होता है, जिसकी ओर पहले ही संकेत किया जा चुका है। इस प्रकार, भय और करुणा वस्तुओं से सम्बन्धित होते हुए भी संवेगात्मक अवस्थाएँ हैं; जबकि महत्त्वाकांक्षा कोई भावात्मक अवस्था नहीं है बल्कि कोई चीज है जिसे लक्ष्य बनाया जाता है, हालाँकि वह चीज कोई एक निश्चित चीज नहीं होती बल्कि लगभग अनन्त प्रकार की चीजों की एक श्रेणी होती है (जिसमें नगर का मेयर बनने की इच्छा से लेकर अपने देश को मुक्ति दिलानेवाला बनने की इच्छा तक विविध इच्छाएँ

1. इस विषय पर प्रो० ड्यूई ने अपने Outlines of Ethics, पृष्ठ 4-6 पर अच्छा लिखा है, और म्यूरेड ने Elements of Ethics, पृष्ठ 59-64 पर और भी अच्छा लिखा है।
2. ये दो वाद आगे अच्छी तरह समझ में आ जाएँगे।
3. Types of Ethical Theory, Part 2, Book 1, Chap. 6. मार्टिन्यू के मत की आलोचना सिजविक ने Methods of Ethics, Book 3, Chap. 12 में की है। उसका समर्थन प्रो० मुकजी ने Int. J. of Ethics, vol. xxvi में किया है।

शामिल होती हैं) जिनमें एकमात्र समान बात होती है व्यक्तिगत उत्कर्ष की कामना। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, मन में रहनेवाले कोरे भाव, जैसे भय और कृणा, सही अर्थ में अभिप्रेरक लगते ही नहीं हैं, क्योंकि वे स्वतः कर्म में प्रवृत्त करानेवाले नहीं होते। हमें कर्म में प्रवृत्त जो चीज करती है वह है किसी साध्य का विचार, जिसे प्राप्त करना है। फलतः, यदि हमें अभिप्रेरकों की सूची बनानी है तो उसे प्राप्तव्य साध्यों के वर्गीकरण के रूप में होना चाहिए, न कि हमारे मन में रहनेवाले भावों के वर्गीकरण के रूप में। इसके अलावा, इन साध्यों को 'महत्वाकांक्षा' इत्यादि अनिश्चित स्वरूप वाले शीर्षकों के अन्तर्गत नहीं रखना चाहिए बल्कि उनके वास्तविक, ठोस रूप के अनुसार रखना चाहिए।

उपयोगितावादियों का विरोध अंशतः अन्तःप्रज्ञावाद के अपर्याप्त होने पर आधारित लगता है। इस प्रकार मिल (Utilitarianism, अध्याय 2, पृ० 27, टिप्पणी) कहता है कि "किसी कर्म की नैतिकता पूरी तरह से अभिप्राय पर, यानी कर्ता जो करने का संकल्प करता है उस पर, निर्भर करती है। लेकिन अभिप्रेरक, अर्थात् वह भाव जो उससे बैसा करने का संकल्प करवाता है, यदि कर्म में कोई अन्तर नहीं लाता तो उसकी नैतिकता में भी कोई अन्तर नहीं लाता, हालाँकि कर्ता के बारे में हमारे मूल्यांकन में वह बहुत अन्तर ले आता है, विशेष रूप से तब जब वह उसकी अच्छी या बुरी स्थायी मनोवृत्ति का सूचक होता है।" मिल अन्यत्र (वही, पृ० 26) कहता है, "कर्म का अभिप्रेरक कर्म की नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं रखता, हालाँकि कर्ता के मूल्य से उसका बहुत सम्बन्ध है।"

इस मत का औचित्य स्पष्ट ही है। यदि एक आदमी कृणा से प्रेरित है और दूसरा भय से, तो हम पहले को अच्छे स्वभाव का और दूसरे को कायर कह सकते हैं; लेकिन यदि दोनों ही बिल्कुल एक-सा काम करते हैं, तो क्या उनके कामों को समान रूप से अच्छा या बुरा नहीं कहा जाएगा? शायद वे समान रूप से अच्छे आदमी नहीं हैं, लेकिन सवाल यह नहीं है। एक अच्छा आदमी कोई बुरा काम कर सकता है, और एक बुरा आदमी कोई अच्छा काम कर सकता है। सवाल सिर्फ यह है कि उनके काम अच्छे हैं या बुरे? अपने काम करते हुए उनके भाव क्या हैं, ये विचार हमारे उन निर्णयों को प्रभावित कर सकते हैं जो हम उनके चरित्रों पर देते हैं, उनके समग्र जीवन के ऊपर देते हैं, लेकिन उनको नहीं जो हम उनके विचाराधीन विशेष कर्मों पर देते हैं। निश्चय ही, यदि उनके कर्मों में उनके भावों के कारण अन्तर आ जाता है—जैसे यदि जो कृणा का अनुभव करता है वह काम को अधिक सुचारु रूप से करता है और जो भय का अनुभव करता है वह उसे जल्दी-जल्दी भट्ठे ढंग से करता है—तो उन कर्मों पर हमारे नैतिक निर्णय अलग-अलग होंगे। लेकिन इसका कारण यह है कि इस दृष्टांत में भाव संकल्पित कर्म के स्वरूप को कुछ बदल देता है। यह मिल का मत है; और यहाँ तक यह स्पष्टतः युक्तिसंगत है। फिर भी यह मुझे गलत लगता है।

6. नैतिक निर्णय अंशतः अभिप्रेरकों से सम्बन्ध रखता है

जहाँ तक उन भावों मात्र का सम्बन्ध है जो हमारे कर्मों के साथ पाए जाते हैं वहाँ तक, निश्चय ही, मिल के मत का विरोध करने की कोई आवश्यकता नहीं है।¹

- I. निश्चय ही हमारे भावों का स्वरूप अन्त में उन साध्यों के स्वरूप पर निर्भर करता है जिन्हें हम अपने सामने रखते हैं, और फलतः भावों के बारे में जो भी मत हो उसका विरोध करने में हम वास्तव में साध्य-विषयक मत का भी विरोध करते हैं।

लेकिन यदि अभिप्रेरक को हम उस चीज के अर्थ में लेते हैं जो हमें एक विशेष प्रकार से कर्म करने में प्रवृत्त करती है, तो शायद हमें कहना पड़ेगा कि नैतिक निर्णय अभिप्रेरक के ऊपर दिया जाता है, अथवा कम-से-कम यह कि निर्णय देने में अभिप्रेरक का उचित रूप से ध्यान रखा जाता है। मिल इसलिए गलती करता प्रतीत होता है कि वह नैतिक निर्णय को उन चीजों पर दिया जानेवाला मानता है जो की जा चुकी है, जबकि नैतिक निर्णय की हुई चीजों पर नहीं बल्कि करते हुए व्यक्ति पर दिया जाता है। अगर ऐसा न होता तो हमारा जानवरों के सहज-प्रवृत्ति-जनित कामों पर, यहाँ तक कि चट्टानों, बादलों और तूफानों की गतियों पर भी नैतिक निर्णय देना उचित होता। हम आचरण पर निर्णय देते हैं। इसका मतलब यह है कि हम न केवल स्थूल कर्म पर बल्कि कर्ता की अभिवृत्ति पर भी निर्णय देते हैं, और उसकी अभिवृत्ति में अनिवार्यतः उसका अभिप्रेरक भी शामिल रहता है।

स्वयं मिल मानता है कि अभिप्रेरक (भावमात्र के अर्थ में भी, और जिस साध्य को सामने रखकर हम कर्म में प्रवृत्त होते हैं उसके अर्थ में तो निश्चित रूप से और भी अधिक) कर्ता के नैतिक मूल्यांकन में अन्तर ले आता है। यह तो निश्चय ही सच है कि किसी विशेष कर्म के ऊपर नैतिक निर्णय देने में हमें उसे करनेवाले व्यक्ति के सम्पूर्ण चरित्र पर विचार करने की जरूरत नहीं है। यदि कोई आदमी नशे में हो जाता है, झूठ बोल देता है या अपने पड़ोसी के प्रति धोखा करता है तो हम कह सकते हैं कि उसने बुरा काम किया है, बिना छानबीन किये कि और बातों के लिहाज से वह अच्छा आदमी है या बुरा। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि हम उसके काम पर केवल बाहरी दृष्टि से, यानी जो उसने किया है उसी की दृष्टि से, निर्णय देते हैं। जिस पर हम निर्णय देते हैं, वह है उक्त काम करता हुआ व्यक्ति; और यह सवाल कि किस बात ने उसे उस काम में प्रवृत्त किया, इस निर्णय से असम्बद्ध नहीं है। यह माना जा सकता है कि हम निर्णय देते हुए प्रायः आदमी के आचरण के इस आन्तरिक पक्ष को छोड़ देते हैं। लेकिन कारण इसका यह है कि आन्तरिक पक्ष का निश्चित ज्ञान बहुत कठिन होता है। अपने अलावा बाकी सभी लोगों के बारे में एक बात ध्यान देने की यह है कि उनकी चेष्टाओं का आन्तरिक पक्ष बहुत-कुछ अँधेरे में रहता है।

इसीलिए कहा गया है कि 'निर्णय मत दो।' फिर भी हम निर्णय देते ही हैं, और जब हम अपने नैतिक मूल्यांकनों में पूरी तरह से न्यायनिष्ठ रहने की कोशिश करते हैं तब यह निर्विवाद लगता है कि हम अभिप्रेरक का ध्यान रखते हैं और हमें ध्यान रखना ही पड़ता है।

एक उदाहरण से यह बात साफ़ हो जाएगी। कहा गया है कि यदि किसी आदमी को मृत्यु-दण्ड देना न्यायोचित है तो यह काम खाली इस वजह से बुरा नहीं हो जाएगा कि उसे फाँसी पर लटकाते हुए हमारे अन्दर क्रोध या दुरेखणा का भाव पैदा होता है। मैं तो निश्चित रूप से यह कहूँगा कि इस काम की नैतिकता में खाली क्रोध के भाव से वैसे ही फर्क नहीं आएगा जैसे अनिच्छा या ऊब के भाव से नहीं आता। लेकिन यदि इस काम का अभिप्रेरक इस भाव की तुष्टि हो, तो फर्क अवश्य आएगा। यदि एक न्यायाधीश अपराधी को मृत्यु-दण्ड उसे न्यायोचित समझकर नहीं बल्कि इसलिए देता है कि उसे रोष का अनुभव होता है और इस भाव को शान्त करने का उसका लक्ष्य है, तो निस्संदेह उसका काम बुरा होगा, हालाँकि उसका परिणाम शायद आकस्मिक रूप से अच्छा हो जाए—अर्थात् सम्भव है अपराधी का फाँसी पर लटका दिया जाना उचित रहा हो।

इस उदाहरण में अभिप्राय और अभिप्रेरक भी निश्चय ही बुरे हैं। ऐसा होना अनिवार्य भी है, क्योंकि अभिप्रेरक अभिप्राय का ही अंश होता है। इस कल्पित उदाहरण में अपने रोष के भाव को शान्त करना न्यायाधीश के अभिप्राय का अंश है (जिसे हमने आन्तरिक अभिप्राय कहा है); लेकिन यदि यह उसके अभिप्रेरक का अंश न होता, यानी यदि यह उसे काम में प्रवृत्त करने वाली चीज का एक अंश न होता, तो यह उसके काम को बुरा बनाने का कारण न हुआ होता।

निस्सन्देह यह आपत्ति की जा सकती है कि कभी-कभी आदमी के अभिप्रेरक बहुत ही उत्कृष्ट होते हैं, फिर भी हमें उसके कामों की निन्दा करने के लिए मजबूर होना पड़ता है। उदाहरण के लिए, कुछ धर्मान्ध लोग यह मानते हुए कि वे ईश्वर की सेवा कर रहे हैं, बहुत ही जघन्य काम कर चुके हैं। पूछा जा सकता है कि क्या हम इन कामों का इसलिए अनुमोदन करें कि इनके पीछे उद्देश्य अच्छा था?

इस सवाल का जवाब देने में हमें यह सावधानी रखनी चाहिए कि सवाल को हम ठीक-ठीक समझ लें। क्या हम यह समझें कि ऐसे कामों में की हुई चीज को एक वांछनीय परिणाम समझने की बात हमसे पूछी जा रही है? यदि ऐसा है तो हमारा जवाब निश्चित रूप से 'नहीं' होगा। इसी तरह हमें कहना चाहिए कि बर्फ़ की चट्टान का गिरना वांछनीय परिणाम नहीं है। लेकिन दोनों ही मामलों में हमारा निर्णय नैतिक निर्णय नहीं है। दूसरी ओर, यदि हमें पूछा जाए कि क्या धर्मान्ध व्यक्तियों ने उचित किया, तो हमारा जवाब यह होगा कि जहाँ तक वे एक निश्चित साध्य को पूरा करने में निष्ठा के साथ लगे हुए थे और जहाँ तक वह साध्य अच्छा था वहाँ तक हमें उनके कामों का अनुमोदन करना पड़ेगा। लेकिन सामान्यतः हम निश्चय ही उनका पूरा अनुमोदन नहीं करेंगे। इसका कारण यह है कि हम उनके लक्ष्यों को पूर्णतः शुभ नहीं मानते। यह बात उन्हें धर्मान्ध कहने में छिपी हुई है। धर्मान्ध व्यक्ति वह है जो एक संकीर्ण साध्य का अनुसरण इस तरह से करता है मानो वह सर्वोच्च साध्य हो। इस तरह के व्यक्ति का अभिप्रेरक सर्वोत्तम नहीं होता, और उस अभिप्रेरक के अनुसार वह जितनी अधिक निष्ठा से काम करता है उतने ही अधिक निश्चित रूप से उसके काम सर्वोत्तम नहीं होते।

7. लेकिन निर्णय अस्सल में चरित्र पर दिया जाता है

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि निर्णय के अभिप्राय या अभिप्रेरक मात्र पर दिए जाने की बात कुछ खींचतान के साथ ही कही जा सकती है। सचाई यह प्रतीत होती है कि पूरी तरह से विकसित निर्णय हमेशा प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कर्ता के चरित्र पर ही दिया जाता है। कहने का मतलब यह है, जैसा हम पहले कह चुके हैं, निर्णय कभी भी खाली की हुई बात पर नहीं दिया जाता, बल्कि हमेशा काम करते हुए व्यक्ति पर हम नैतिक निर्णय देते हैं।

यह सच है कि कुछ मामलों में हम केवल अमुक विशेष काम करते हुए व्यक्ति पर ही ध्यान देते हैं, जबकि अन्य मामलों में हम उस पर काम की कुछ आम आदतें रखने वाले के रूप में विचार कर सकते हैं। लेकिन सभी मामलों में जब हम सही अर्थ में नैतिक निर्णय देते होते हैं तब हम काम को एक पृथक् घटना के रूप में नहीं बल्कि एक जीवन-पद्धति के अंग के रूप में देखते हैं। हम अन्य बातों से पृथक् करके उसके अर्थ का निर्णय नहीं करते बल्कि यह देखते हैं कि जो व्यक्ति उसे करता है वह जिस परिस्थिति में है और दुनिया को जिस दृष्टि से देखना उसने सीखा है उसके लिए उसका क्या अर्थ है। इस प्रकार हम काम को इस बात के अनुसार भला या बुरा

बताते हैं कि कहाँ तक सम्पूर्ण चेतना के विभिन्न तत्त्व काम में प्रवृत्त कराने वाले या उससे निवृत्त कराने वाले बनते हैं। कर्म को इस रूप में देखने में हम समूचे अभिप्राय पर निर्णय देते होते हैं, किन्तु केवल वहीं तक जहाँ तक उसके विभिन्न तत्त्व कर्म के अभिप्रेरकों का काम करते हैं या नहीं करते। इस प्रकार हम अभिप्रेरकों पर भावात्मक और निषेधात्मक दोनों प्रकार से देखते हुए निर्णय देते हैं और ऐसा करते हुए समूचे अभिप्राय पर निर्णय देते हैं। इसलिए यह कहना कुछ भ्रामक है कि हम केवल अभिप्राय पर निर्णय देते हैं या केवल अभिप्रेरक पर निर्णय देते हैं।¹

8. नैतिक निर्णय का दृष्टिकोण (Subject)

इस प्रकार जिस विषय पर नैतिक निर्णय दिया जाता है उसके सही स्वरूप पर विचार कर चुकने के बाद अब हमें उस दृष्टिकोण पर ध्यान देना है जिससे किसी कर्म को शुभ या अशुभ घोषित किया जाता है। एक तरह से कहा जा सकता है कि हरेक आदमी जिस क्षण कोई काम करता होता है उस क्षण उस काम को शुभ ही मानता है। सोच-विचार के बाद उसका चुनाव करने में वह उसे ऐसा काम बताता है जो उस क्षण में उसे सबसे अधिक प्रेरित करता है। तब, हम पूछ सकते हैं कि किसी अन्य को उसे बुरा कहने का क्या अधिकार है? अथवा, यह कैसे होता है कि स्वयं काम करने वाला ही जब शान्त-चित्त होकर विचार करता है तब अपने ही काम को आदर्श से गिरा हुआ घोषित करता है?

जवाब यह है कि जब व्यक्ति ने वह विशेष काम करने का निश्चय किया था तब उसका दृष्टिकोण और था, वह एक भिन्न जगत् में निवास कर रहा था और अब उसका दृष्टिकोण कुछ और है, जिस जगत् में वह निवास कर रहा है वह कुछ और है। लेकिन जितने जगत्‌ों के अन्दर एक काम को रखा जा सकता है, जितने दृष्टिकोणों से किसी काम या कर्ता के ऊपर निर्णय दिया जा सकता है, उनकी संख्या अनन्त है। इनमें से किसी एक में कौनसी अच्छाई है, जो उसे अन्यो से श्रेष्ठ माना जाए?

इस सवाल का जवाब पूरा-पूरा देने के लिए हमें विभिन्न आचार-विषयक सिद्धान्तों की चर्चा में पड़ना पड़ेगा जो कि पुस्तक के अगले खण्ड में किया जाएगा। लेकिन इस समय इस चर्चा में पड़े बिना नैतिक निर्णय के दृष्टिकोण के बारे में कुछ मतों का उल्लेख कर देना शायद लाभप्रद रहेगा।

9. नीति-मर्मज्ञ (The Moral Connoisseur)

इस विषय को समझने में एक तरीका जो सहायक हो सकता है, यह है कि हम नैतिक निर्णयों की तुलना उन निर्णयों से करें जो कलाकृतियों पर दिए जाते हैं। हम कहते हैं कि अमुक कविता, नाटक, या उपन्यास एक अच्छी या बुरी कलाकृति है। ऐसा कहने में हम उसके ऊपर उसी तरह निर्णय देते हैं, जिस तरह किसी काम को शुभ या अशुभ बताने में निर्णय देते हैं। अब सवाल यह है कि ऐसा निर्णय किस दृष्टिकोण से दिया जाता है? स्पष्ट है कि उस व्यक्ति के दृष्टिकोण से नहीं जो उस समय उस कलाकृति को पढ़ता, सुनता, या देखता होता है, वैसे ही जैसे नैतिक निर्णय उस

1. इस बात की और अधिक जानकारी के लिए विद्यार्थी को निम्नलिखित पुस्तकें पढ़नी चाहिए : ग्रीन का Prolegomena to Ethics, खण्ड 2, अध्याय 2; खण्ड 3, अध्याय 1; खण्ड 4, अध्याय 1; मार्टिन्स का Types of Ethical Theory, भाग 2, खण्ड 1, अध्याय 6, अनुच्छेद 15; और International Journal of Ethics, खण्ड 4, संख्या 1 और 2।

व्यक्ति के दृष्टिकोण से नहीं दिया जाता जो विचाराधीन काम को कर रहा होता है। कलाकार जनसमूह के निर्णय को न मानकर कुशल और सहानुभूतिशील आलोचक के निर्णय को मानता है।¹

इसी तरह से कहा जा सकता है कि जब आचरण की परख का सवाल होता है तब नीति-मर्मज्ञ के निर्णय की अपेक्षा की जाती है। यह नैतिक संवित्तिवादियों के सम्प्रदाय (Moral Sense School) का मत है जिसका उल्लेख आगे किया जाएगा, और विशेष रूप से यह इस वाद के सबसे प्रसिद्ध समर्थक शेफ्ट्सबरी (Shaftesbury) का मत है। इस समय इस वाद के दृष्टिकोण पर विस्तार से विचार किए बिना यह कहना काफ़ी है कि यह वाद मौजूदा सवाल का सन्तोषप्रद जवाब देने में असमर्थ लगता है। जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, किसी कलाकृति का लक्ष्य एक परिणाम को उत्पन्न करना होता है। इस बात का निर्णय कि ऐसा परिणाम उत्पन्न हुआ है, केवल कुशल आलोचक ही कर सकता है। “हम संगीतज्ञ लोग जानते हैं।” लेकिन नैतिक आचार (morals) में, जैसा कि हम देख चुके हैं, निर्णय परिणाम के बजाय कर्म पर दिया जाता है। परन्तु उस पर तो, यदि वह सच्चा कर्म है, पहले ही उसे करनेवाले व्यक्ति के द्वारा निर्णय दिया जा चुका है। वह सोच-विचार के बाद एक विशेष तरीके से काम करने का निश्चय कर चुका है। फिर भी, उसका कर्म बुरा घोषित किया जाता है, और न केवल नीति-मर्मज्ञ के द्वारा बल्कि स्वयं उसके द्वारा भी जब वह स्वयं उसके ऊपर विचार करता है।

10. निष्पक्ष द्रष्टा (The Impartial Spectator)

इससे कुछ अधिक विचारपूर्ण मत ऐडम स्मिथ (Adam Smith) का है। उसका मत सहानुभूति की बात पर आधारित है, जिसकी ओर पहले ही संकेत किया जा चुका है। ऐडम स्मिथ का कहना है कि दूसरों के आचरण का हमारा अनुमोदन या अननुमोदन करना इस बात पर निर्भर करता है कि कहाँ तक हम उनसे सहानुभूति रख सकते हैं।

ऐडम स्मिथ² ने कहा है, “हम न केवल सफल व्यक्ति को बधाई देने के लिए दौड़ पड़ते हैं बल्कि दुःखी व्यक्ति के साथ शोक प्रकट करने के लिए भी; और किसी ऐसे व्यक्ति से वार्तालाप करने में जिससे उसकी सारी हार्दिक भावनाओं के साथ हम पूरी तरह से सहानुभूति रख सकते हैं, हमें जो सुख मिलता है वह उस शोक की जो उसकी परिस्थिति को देखने से हमें व्याप्त कर लेता है, दुःखदता की क्षतिपूर्ति करने वाले से भी बढ़कर प्रतीत होता है।”

“यदि हम किसी व्यक्ति को जोर-जोर से अपने दुर्भाग्य का रोना रोते हुए सुनते हैं, लेकिन उसे अच्छी तरह समझने के बाद हमें लगता है कि हम पर उतना तीव्र प्रभाव उसका नहीं हो सकता, तो हमें उसके शोक से एक धक्का लगता है; और

1. ब्राउनिंग के Bishop Blougram's Apology की ये पंक्तियाँ देखिए :

“Like Verdi when, at his worst opera's end
(The thing they gave at Florence—what's its name ?)
While the mad houseful's plaudits near out-bang
His orchestra of salt-box, tongs and bones,
He looks through all the roaring and the wreaths
Where sits Rossini patient in his stall.”

2. Theory of the Moral Sentiments, भाग 1, अनुभाग 1, अध्याय 2.

चूँकि हम उससे सहानुभूति नहीं रख सकते, इसलिए उसके शोक को हम भीरुता और दुर्बलता कहते हैं। दूसरी ओर, किसी को थोड़े-से सौभाग्य पर बहुत ही प्रसन्न या बहुत ही उत्साहयुक्त देखकर हमें कोप हो आता है। हमें उसके हर्ष से विरक्ति होती है और चूँकि हम उससे सहानुभूति नहीं रख सकते, इसलिए उसे हलकापन और बेवकूफी कहते हैं। यदि हमारे साथी किसी मज़ाक पर जितना हम उचित समझते हैं उससे अधिक या देर तक हँसते हैं, अर्थात् जितना हम स्वयं हँस सकते हैं उससे अधिक, तो हमारी हँसी गायब हो जाती है।”

ऐडम स्मिथ ने आगे¹ कहा है, “जब सम्बन्धित व्यक्ति की मूल भावनाएँ द्रष्टा के सहानुभूतिपूर्ण संवेगों के पूरी तरह से अनुरूप होती हैं तब वे द्रष्टा को अनिवार्य रूप से उचित और न्याय्य, तथा सम्बन्धित वस्तुओं के उपयुक्त लगती हैं; और, इसके विपरीत जब स्थिति को पूरी तरह से समझ लेने पर द्रष्टा देखता है कि जैसा वह अनुभव करता है उससे उनका मेल नहीं है, तब अनिवार्यतः वे उसे अनुचित, अन्याय्य और उन्हें उभारनेवाली वस्तुओं के अनुपयुक्त लगती हैं। अतः दूसरे की भावनाओं को उनकी वस्तुओं के उपयुक्त समझकर उनका अनुमोदन करना और यह महसूस करना कि हम उनसे पूरी सहानुभूति रखते हैं, एक ही बात है; तथा उन्हें उपयुक्त न समझकर उनका अनुमोदन न करना और यह महसूस करना कि हम पूरी तरह से उनसे सहानुभूति नहीं रखते, एक ही बात है। जो आदमी मेरी हानियों से कुपित होता है और देखता है कि मैं भी उससे ठीक उतना ही कुपित हूँ जितना वह है, वह अनिवार्य रूप से मेरे कोप का अनुमोदन करेगा। जिस आदमी की सहानुभूति मेरे शोक के साथ है वह मेरे शोक के औचित्य को मानने से नहीं रक सकता। जिस तसवीर या कविता की मैं प्रशंसा करता हूँ उसकी जो ठीक मेरी ही तरह प्रशंसा करता है वह अवश्य ही मेरी प्रशंसा के औचित्य को मानेगा। जिस मज़ाक पर मैं हँसता हूँ उस पर जो ठीक मेरी ही तरह हँसता है वह मेरी हँसी के औचित्य से इन्कार नहीं कर सकता।”

“इसके विपरीत, जो आदमी विभिन्न अवसरों पर उन संवेगों का अनुभव नहीं करता जिनका मुझ अनुभव होता है, या मेरे संवेगों की अपेक्षा कभी कम, कभी ज्यादा अनुभव करता है, वह मेरी भावनाओं का अननुमोदन करने से नहीं रक सकता, क्योंकि उसकी और मेरी भावनाओं में विषमता है। यदि मेरा द्वेष-भाव बहुत अधिक है और मेरे मित्र का रोष उसकी तुलना में बहुत कम है, यदि मेरा प्रशंसा का भाव उसके भाव की तुलना में बहुत तीव्र या बहुत अल्प है, यदि मेरा शोक इतना अधिक है कि वह प्रयत्न करके भी मेरे साथ पूरी संवेदना नहीं रख सकता, यदि मैं जोर से खुलकर हँसता हूँ, जबकि वह केवल मुसकराता है, या इसके विपरीत, मैं केवल मुसकराता हूँ जबकि वह जोर से खुलकर हँसता है, तो वह बात को समझकर और मेरे ऊपर उसके प्रभाव को देखकर जितना अधिक या कम वैषम्य अपनी और मेरी भावनाओं के बीच पाएगा उतना ही अधिक या कम मेरा अननुमोदन करेगा, और प्रत्येक अवसर पर वह मेरी भावनाओं के ऊपर निर्णय अपनी ही भावनाओं को मानक मानकर देगा।”

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि हमारे सबसे शुरू के निर्णय ऐसे होते हैं जो अपने ऊपर नहीं बल्कि दूसरों के ऊपर दिए जाते हैं। ऐडम स्मिथ ने कहा है,² “व्यक्तिगत सुन्दरता या कुरूपता के हमारे प्रथम विचार दूसरों की आकृति को देखने

1. वही, अध्याय 3.

2. वही, भाग 3, अध्याय 1.

से आते हैं, न कि अपनी आकृति को देखने से। लेकिन जल्दी ही इस बात का बोध भी हो जाता है कि दूसरे भी हमारी वंसी ही आलोचना करते हैं।" "इसी तरह हम पहले-पहले जो नैतिक आलोचनाएँ करते हैं वे अन्य लोगों के चरित्र और आचरण की होती हैं; और तुरन्त ही हम देख लेते हैं कि ऐसी हर आलोचना का हमारे ऊपर क्या प्रभाव पड़ता है। जल्दी ही हम यह भी सीख लेते हैं कि अन्य लोग भी हमारे चरित्र और आचरण के बारे में उतने ही स्पष्टवादी होते हैं। हम यह जानने के लिए उत्सुक रहते हैं कि कहाँ तक हम उनकी निन्दा या प्रशंसा के योग्य हैं, और कि क्या हम उन्हें उतने ही भले या बुरे जन्म दिखाई देते हैं जितने वे सोचते हैं। इस वजह से हम स्वयं ही अपनी भावनाओं और अपने आचरण की जाँच शुरू कर देते हैं, और स्वयं को दूसरों की स्थिति में रखकर यह विचार करने लगते हैं कि ये उन्हें कैसे लगते होंगे।"

"हम स्वयं को अपने ही व्यवहार के द्रष्टा मानते हैं और यह कल्पना करने की कोशिश करते हैं कि इस तरह से वह हमारे ऊपर क्या प्रभाव डालेगा। केवल यही वह शीशा है जिसके द्वारा हम किसी मात्रा में अन्य लोगों की ग्राह्यता से स्वयं अपने आचरण के औचित्य का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। यदि इस तरह से देखते हुए हम अपने आचरण से प्रसन्न हुए तो हम काफ़ी निश्चित हो जाते हैं। तब हम दूसरों की प्रशंसा के प्रति अधिक उदासीन हो सकते हैं, और कुछ मात्रा में दुनिया की निन्दा की उपेक्षा करते हैं, इस बारे में आश्वस्त होते हुए कि दुनिया हमें कितना ही गलत क्यों न समझे, या हमारे बारे में कितना ही गलत क्यों न सोचे, हम अनुमोदन के ही पात्र हैं।"

ऐडम स्मिथ ने आगे कहा है, "जब मैं अपने ही आचरण की जाँच करने की कोशिश करता हूँ, जब मैं उसके ऊपर निर्णय देने की कोशिश करता हूँ और उसका अनुमोदन या उसकी भत्सना करना चाहता हूँ, तब स्पष्ट है कि मैं स्वयं को मानो दो व्यक्तियों में विभक्त कर देता हूँ, तथा परीक्षक और निर्णयता 'मैं' और दूसरा 'मैं' जिसके आचरण की परीक्षा करनी है और जिसके आचरण पर निर्णय देना है, ये दोनों भिन्न चरित्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं। पहला द्रष्टा है, जिसकी स्थिति में स्वयं को रखकर और जिसके विशिष्ट दृष्टिकोण से यह देखते हुए कि मेरा आचरण मुझे कैसा दिखाई देगा, मैं अपने आचरण के बारे में उसकी जो भावनाएँ हैं उनमें प्रवेश करने की चेष्टा करता हूँ। दूसरा कर्ता है वह, जिसे मैं खास तौर पर 'मैं' कहता हूँ और एक द्रष्टा की हैसियत से जिसके आचरण के बारे में कोई निर्णय देने की कोशिश करता हूँ। पहला निर्णायक है और दूसरा वह जिसके ऊपर निर्णय देना है। लेकिन निर्णायक का हर बात में उस व्यक्ति से एक होना, जिसके ऊपर निर्णय देना है, उतना ही असम्भव है जितना कारण का हर बात में कार्य से एक होना।"

इस प्रकार ऐडम स्मिथ उसकी धारणा में पहुँचा जिसे उसने 'निष्पक्ष द्रष्टा' कहा है, जिसके दृष्टिकोण से हमारे नैतिक निर्णय घोषित किए जाते हैं। वह इस दृष्टिकोण को 'अन्दर रहने वाले मनुष्य' का दृष्टिकोण कहता है, जिसके निर्णय 'बाहर रहने वाले मनुष्य' के निर्णयों से भिन्न होते हैं। ऐडम स्मिथ कहता है,¹ "लोगों के निर्णयों की अपील एक बहुत ऊँचे न्यायालय में होती है जो कि उनकी अपनी अन्तर्भावनाओं का न्यायालय है, उस द्रष्टा का न्यायालय है जो निष्पक्ष और विवेकवान् माना जाता है, जो हृदयस्थ मनुष्य का, उनके आचरण के महान् निर्णायक और पंच का, न्यायालय है।"

11. आदर्श अहम् (The Ideal Self)

यहाँ यह विचार नहीं किया जा सकता कि 'निष्पक्ष द्रष्टा' का यह प्रत्यय कहाँ तक उपयोगी है और उसकी 'निष्पक्षता' का ठीक-ठीक क्या मतलब समझा जाए। यहाँ ऐडम स्मिथ के मत का उल्लेख केवल इस वजह से किया गया है कि उसने बहुत ही स्पष्टता के साथ हमारे नैतिक निर्णयों में कर्म को करने वाले व्यक्ति के दृष्टिकोण की अपेक्षा एक ऊँचे दृष्टिकोण के रहने की बात सामने रखी है, जिसे 'पिये हुए फ़िलिप के दृष्टिकोण से भिन्न संयत फ़िलिप का दृष्टिकोण' कहा जा सकता है।

इस प्रकार जिस दृष्टिकोण से निर्णय दिया जाता है उसे सबसे अधिक औचित्य के साथ आदर्श अहम् का दृष्टिकोण कहा जा सकता है। विकास की शुरु की अवस्थाओं में यह उसके अनुरूप होता है जिसे विलफोर्ड ने 'क्रबीली आत्मा' कहा है। क्रबीले के मानकस्वरूप (normal) सदस्य को¹ 'निष्पक्ष द्रष्टा' कहा जा सकता है जिससे निर्णय माँगा जाता है। मानवीय विकास की अधिक उन्नत अवस्थाओं में आदर्श अहम् का स्वरूप कुछ अधिक जटिल हो जाता है; और जब तक हम नैतिक मानक के अर्थ पर विचार न कर लें तब तक हम इसकी संतोषजनक व्याख्या नहीं दे सकते।

फ़िलहाल इतना ही यह दिखाने के लिए पर्याप्त है कि नैतिक निर्णय में व्यक्ति की चेतना का जगत् किसी ऊँची या अधिक व्यापक व्यवस्था से विचार की माँग करता है। यह ध्यान में रखकर अब हम नैतिक मानक के बारे में जो विभिन्न सिद्धान्त हैं उनके ऊपर विचार शुरू कर सकते हैं।²

12. अन्तर्भावना का अर्थ

इस पूरे अध्याय में और कुछ पिछले अध्यायों में भी हमने कई बार अन्तर्भावना का उल्लेख किया है; और यह अच्छा होगा कि यहाँ हम उस अर्थ (या उन अर्थों) की ठीक-ठीक व्याख्या कर लें, जिसमें इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। अंग्रेजी शब्द conscience जिस लैटिन धातु (conscire) से निकला है, उसका अर्थ होता है (बुराई की) चेतना होना। यूनानी का Syneidesis, जर्मन का Gewissen, और पुरानी अंग्रेजी का Inwit भी ऐसा ही अर्थ रखते हैं। Conscientia शब्द का प्रयोग लगभग समान रूप से अन्तर्भावना और सामान्य चेतना के अर्थ में होता था; और conscience शब्द का कभी-कभी फ्रेंच³ की तरह अंग्रेजी में भी

1. इसकी तुलना 'मानकस्वरूप मनुष्य' की उस धारणा से की जा सकती है जिसे डॉ० सिम्मेल इत्यादि कुछ लेखकों ने प्रस्तुत किया है। कुछ इससे मिलती-जुलती धारणा नैतिक मूल्य के मानक के उस सिद्धान्त में भी पाई जाती है जो मीनॉंग (Meinong) ने अपने ग्रन्थ Psychologisch-ethische Untersuchungen zur Werththeorie में अपनाया है। उसका अन्य ग्रन्थ System der Werththeorie भी द्रष्टव्य है।
2. इस अध्याय के सिलसिले में डॉ० जी० ई० मूर के Ethics के वे दो अध्याय पढ़ने चाहिए जो Objectivity of the Moral Judgment के ऊपर लिखे गए हैं। रैशडल की पुस्तक 'Is Conscience an Emotion?' भी द्रष्टव्य है। व्यक्तिनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ औचित्य के अन्तर के विषय में आगे खण्ड 2, अध्याय 6 देखिए।
3. Malebranche और कुछ अन्य फ्रेंच लेखक Conscience शब्द का प्रयोग विशेष रूप से आत्म-चेतना के अर्थ में करते हैं।

सामान्य चेतना के अर्थ में प्रयोग देखा जाता है। इसी अर्थ में मिल्टन ने अपने अन्वेषण की ओर संकेत करते हुए लिखा है :

“What supports me dost thou ask?
The conscience, Friend, to have lost them overplied
In liberty's defence, my noble task,
Of which all Europe rings from side to side.”

लेकिन यहाँ भी शायद नैतिक चेतना का कुछ भाव है, जैसा हैमलेट के इस कथन में है :

“Thus conscience doth make cowards of us all.”

हालाँकि यहाँ इसका अर्थ विचार-विमर्श से थोड़ा अधिक लगता है। चाउसर (Chaucer) के प्रायोरेस (Prioress) के इस वर्णन में :

“All was conscience and tender heart,”

इसका अर्थ प्रायः संवेदनशीलता है। इसके बावजूद, इसका स्पष्ट नैतिक अर्थ जल्दी ही अंग्रेजी में रूढ़ हो गया, विशेषतः बटलर इत्यादि लेखकों के प्रभाव से।

लेकिन इस शब्द के नैतिक अर्थ में भी कुछ अनिश्चितता है। कभी-कभी इसका अर्थ सुख या दुःख का भाव होता है, और विशेष रूप से दुःख का भाव, जो किसी सर्वमान्य कर्तव्य के उल्लंघन से पैदा होता है। कभी-कभी इसका अर्थ निर्णय का वह स्रोत होता है जिसके अनुसार हम एक कर्म या एक प्रकार के कर्म को उचित और दूसरे को अनुचित घोषित करते हैं। इस दूसरे अर्थ में भी अनिश्चितता यह है कि कभी निर्णय का स्रोत उसे माना जाता है जो किसी व्यक्ति-विशेष के अन्दर रहता है और कभी उसे जो मनुष्यों के एक समूह में रहता है। इस अर्थ-भेद के उदाहरण इस तरह के कथन हैं जैसे ‘the Non-Conformist Conscience,’ ‘the Conscience of Europe,’ इत्यादि।

अन्तर्भावना के स्वरूप के बारे में हम कुछ और बातें विशेष रूप से नैतिक आचार के अन्तःप्रज्ञावादी सम्प्रदाय के प्रसंग में और नैतिक चेतना के समाजिक स्वरूप की चर्चा करते हुए कहेंगे। फ़िलहाल conscience शब्द के प्रयोग के बारे में हमने जितना कहा है वही काफी है।

नैतिक मानक के सिद्धान्त



अध्याय 1

नीतिशास्त्रीय विचारधारा का विकास

1. प्राचीन यूनानी नीति

प्राचीनतम युग से ही, जिसकी हमें स्पष्ट ऐतिहासिक जानकारी है, नैतिक जीवन की समस्याओं का लोगों के विचारों में प्रमुख स्थान रहा है। इन समस्याओं के बारे में चिन्तन-मनन का प्रारम्भ जहाँ-जहाँ हुआ उनमें से कुछ सबसे अधिक उल्लेखनीय देश भारत, चीन, फ़ारस इत्यादि हैं। और निश्चय ही हममें से अधिकतर दस घमदिशों से परिचित होंगे जिनमें मूसा (Moses) ने जूडिया (Judaea) में सदाचरण के कुछ मुख्य सिद्धान्तों को मूत्रवद्ध किया था, तथा उस देश में बाद में पंगम्बरो ने जो उपदेश दिये थे उनसे भी परिचित होंगे। लेकिन सब मिलाकर यही कहना ठीक है कि जैसे अधिकतर अन्य वैज्ञानिक विषयों पर वैसे ही नीतिशास्त्र पर भी सबसे पहले चिन्तन-मनन ने व्यवस्थित रूप यूनान में ग्रहण किया।¹

फिर भी, इस विषय की ओर काफ़ी अच्छी तरह से ध्यान तब दिया गया जब सामान्य दार्शनिक चिन्तन-मनन का विकास शुरू हुए काफ़ी समय बीत चुका था। सबसे पहले के यूनानी विचारकों ने अपना ध्यान मुख्य रूप से भौतिकीय समस्याओं की ओर लगाया—विशेष रूप से इस प्रश्न की ओर कि विश्व किस तत्त्व से बना है। लेकिन ऐसा लगता है कि दो भौतिकीय दार्शनिकों ने कुछ स्पष्टता के साथ नैतिक समस्या पर अवश्य विचार किया था। इनके नाम हैं हेराक्लाइटस (Heraclitus) (530-470 ई० पू०) और डेमोक्रीटस (Democritus) (460-370 ई० पू०), जिन्हें कहीं-कहीं क्रमशः 'रोनेवाला' और 'हँसने वाला' दार्शनिक भी कहा गया है। इन दोनों को उन दो विचारधाराओं के आदि-प्रवर्तक माना जा सकता है जो बाद में क्रमशः स्टोइकवाद (Stoicism) और एपिक्यूरसवाद (Epicureanism) के रूप में विकसित हुए।

हेराक्लाइटस ने अग्नि को मूल भौतिक तत्त्व माना था जो कि प्रकाशवान् और शुष्क है, और शायद यह कल्पना की थी कि इस तत्त्व का अन्धकारमय और आर्द्र स्वरूप वाले विरोधी तत्त्व से निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। शायद उसने यह भी सोचा था कि मनुष्य के जीवन में इस संघर्ष को निरन्तर चलते हुए देखा जा सकता है; तथा नैतिक जीवन का महान् लक्ष्य प्रकाशवान् और शुष्क तत्त्व को विजय दिलाना है। उसका मूल नैतिक सिद्धान्त था, "अपनी आत्मा को शुष्क रखो।" बहुधा उद्धृत इस लोकाति का कि "शुष्क आत्मा (अथवा शुष्क प्रकाश) सर्वोत्तम

1. ऐसा जिस तरह हुआ उसका विस्तृत वर्णन सिजविक के History of Ethics में देखिए।

है," मूल यही प्रतीत होता है। आद्र और शुष्क—'रक्त और निर्णय'¹—का यह विरोध एक बहुत लम्बे युग तक दार्शनिक विचारधारा में बना रहा। दूसरी ओर, डीमोक्रीटस शायद आचार का मूल सिद्धान्त सुख को मानता था।² लेकिन इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि इन दार्शनिकों में से किसी ने भी अपने नीतिशास्त्रीय विचारों को व्यवस्थित रूप से विकसित करने का कोई प्रयत्न किया हो।

2. सोफिस्ट (The Sophists)

पार्मेनिडीज (Parmenides) और पियेगोरस के अनुयायियों (Pythagoreans) तथा कुछ-कुछ सभी प्राचीन दार्शनिकों ने विशुद्ध सैद्धान्तिक रूप में या सीधे व्यावहारिक रूप में दर्शन के नीतिशास्त्रीय और राजनीतिक पक्षों के बारे में सोचा था। वास्तव में, काफ़ी प्राचीन युग में यूनानी विचारक दर्शन को जीवन का और साथ ही सोचने का एक तरीका मानने लगे थे।³ लेकिन नीतिशास्त्रीय समस्या को सबसे पहले सबसे आगे रखने वाले शायद वे प्रसिद्ध शिक्षक थे जिन्हें सामूहिक रूप से सोफिस्ट कहा जाता है, जिनका 450-400 ई० पू० में प्राधान्य था।

इन शिक्षकों का लक्ष्य बहुत बड़ी सीमा तक व्यावहारिक, अर्थात् एथेन्स के युवकों को कुशल नागरिक बनने के लिए तैयार करना था। उन्हें नागरिक के कर्तव्य सिखाने में राजनीतिक आवन्ध और सामान्य सामाजिक नैतिकता के आधार की छान-बीन करना ज़रूरी लगा था। प्रतीत होता है कि उन्होंने ऐसा आम तौर पर गम्भीरता और निष्पक्षता के साथ किया; लेकिन इस तरह की छानबीन स्वभावतः पुराने नैतिक मानकों के लिए कुछ घातक सिद्ध हुई, और जो लोग कुछ अधिक रूढ़िवादी थे वे डर गए।

इस डर की अभिव्यक्ति विशेष रूप से अरिस्टोफेनीज (Aristophanes) के उपहासात्मक नाटक में हुई; और चूँकि सोफिस्टों की शिक्षा के बारे में प्लेटो के विचार भी काफ़ी प्रतिकूल थे, इसलिए सोफिस्टों का नाम बुरा समझा जाने लगा। शायद सोफिस्टों की यह आलोचना अनुचित थी, बहुत-कुछ वैसे ही जैसे आधुनिक विज्ञान के बारे में कार्लाइल और रस्किन जैसे लोगों की आलोचनाएँ प्रायः अनुचित थीं। शायद सोफिस्ट अपने समय के सबसे बड़े ज्ञानी थे और नगर के बौद्धिक जागरण के लिए उन्होंने अन्यो की अपेक्षा अधिक काम किया था।⁴

1. "Blest are those

Whose blood and judgment are so well commingled
That they are not a pipe for fortune's fingers
To play what stop she pleases."

हेराक्लाइटस के मत के बारे में बर्नेट की Early Greek Philosophy, अध्याय 3, विशेषतः अनुच्छेद 69 द्रष्टव्य है।

2. लेकिन विषय-सुख (sensuous pleasure) को नहीं। इसके बजाय यह कुछ रान्ति जैसा था। आधुनिक युग में इससे मिलता-जुलता मत डॉ० स्टेन्टन कॉयट (Stanton Coit) का है देखिए (Mind, Old Series, Vol. XI, पृ० 324 sqq.)।

3. इस प्रकार हम 'पार्मेनिडीज जीवन', 'पियेगोरसीय आचरण-नियम' इत्यादि की बात सुनते हैं।

4. इस सिलसिले में 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' में सोफिस्टों और सुकरात के बारे में लिखे निबन्धों को देखना लाभप्रद होगा।

3. सुकरात (Socrates)

सुकरात (470-399 ई० पू०) का सोफिस्टों से घनिष्ठ सम्बन्ध था, और अरिस्टोफेनीज ने तो वास्तव में उसे पक्का सोफिस्ट बताया है। लेकिन सुकरात अधिकतर सोफिस्टों से इस बात में भिन्न था कि उसने स्वयं को कभी एक व्यावसायिक शिक्षक नहीं बनाया, बल्कि वह आजीवन अपने-आपको नीतिशास्त्र का विद्यार्थी कहता रहा। जब देववाणी (oracle) ने उसके ज्ञान की सराहना की थी तब उसने जवाब दिया था कि उसका ज्ञान अपने अज्ञान को जानने तक ही सीमित था। उसके इस दृष्टिकोण से शायद अधिक विनय तो नहीं प्रकट होता (क्योंकि उसका विनय कम-से-कम आंशिक रूप में व्यंग्यात्मक था), लेकिन कम-से-कम यह तो प्रकट होता ही है कि वह अपने साथ के अन्य सोफिस्टों से अधिक जिज्ञासु था। वह मताग्रही कम था, क्योंकि नैतिक समस्या की कठिनाई की उसे अधिक स्पष्ट जानकारी थी।

एक बात, जिसके बारे में उसका पक्का विश्वास था, यह थी कि नैतिक जीवन की आम तौर पर जो व्याख्याएँ दी जाती हैं वे असन्तोषजनक हैं और उनकी एक अधिक वैज्ञानिक व्याख्या की जरूरत है। उसका विश्वास था कि इसकी जरूरत न केवल सैद्धान्तिक जिज्ञासा की तृप्ति के लिए है बल्कि व्यावहारिक नैतिकता के लिए भी है। उसे ऐसा लगा था कि सच्ची नैतिकता वह नहीं हो सकती जो एक वैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित न हो। उसने कहा था कि "सदाचार ज्ञान है" (अथवा विज्ञान है)। उसे यकीन था कि यदि किसी को नैतिक साध्य का स्वरूप पूरी तरह से स्पष्ट हो जाए तो वह उसका अनुसरण किए बिना नहीं रहेगा। इसके विपरीत, वह मानता था कि यदि कोई नैतिक साध्य के स्वरूप को पूरी तरह से न समझ पाए तो वह नीतिपरायण नहीं हो सकेगा और यदि होगा तो केवल आकस्मिक रूप से, लेकिन यह पूरे अर्थ में नैतिकता कतई नहीं होगी। जो ज्ञानपूर्वक नहीं किया जाता वह पाप है।¹

लेकिन नैतिक साध्य के स्वरूप के बारे में सुकरात ने कहा था कि वह उसका जिज्ञासु मात्र है। इस बारे में उसने जो मत व्यक्त किया था वह कभी-कभी सुखवाद की ओर झुका हुआ लगता है;² लेकिन यह मानने का कोई कारण नहीं है कि इस विषय पर उसने स्पष्ट रूप से कोई विस्तृत सिद्धान्त बना लिया था।³ बाद में बहुत-सी

1. यह शायद कुछ अत्युक्ति है। लेकिन सुकरात ने प्लेटो की तरह यह माना था कि ज्ञान के बिना मिताचारी या साहसी होना एक तरह से अमिताचार से मिताचारी होना या कायरता से साहसी होना है। उसने तो यहाँ तक कह डाला था कि अधोपपूर्वक करने के बजाय बोध-पूर्वक बुरा काम करना अच्छा है, क्योंकि बोधपूर्वक बुरा काम करने में कम-से-कम उचित का ज्ञान तो रहता है। देखिए, जेलर-कृत *Socrates and the Socratic Schools*, पृ० 147, *History of Greece*, जिल्द 6 में Grote ने सुकरात के बारे में जो लिखा है उसे देखना भी लाभदायक होगा।
2. प्लेटो के 'प्रोटागोरस' (Protagoras) में उसे निश्चित रूप से यह सिद्धान्त प्रस्तुत करते दिखाया गया है; और खेनोफोन (Xenophon) के *Memorabilia* में भी इसी प्रवृत्ति के प्रमाण हैं।
3. बहुत ही विश्वास के साथ सुकरात के विचारों के बारे में कोई भी कुछ नहीं कह सकता, क्योंकि इस बारे में अब भी काफी सन्देह है कि प्लेटो के सुकरात-सम्बन्धी वार्तालापों (Dialogues) में कहाँ तक सुकरात के विचारों को दृढ़-रखा गया है। इस विषय पर अब क्या मत हैं, यह जानने के लिए विद्यार्थी को बर्नेट, पृ० ६० टेलर प्रभृति विद्वानों की पुस्तकें पढ़नी चाहिए।

ऐसी विचारधाराओं का उदय हुआ जो सुकरात से अपना उद्भव होने का दावा करती थीं, जिससे कुछ यह बात प्रमाणित होती है कि सुकरात का मत काफ़ी स्पष्ट नहीं था।

4. नीतिशास्त्रीय विचारधारा के प्रारम्भिक सम्प्रदाय

सुकरात के समय के तुरन्त बाद नीतिशास्त्रीय चिन्तन-मनन अलग-अलग सम्प्रदायों में बँट गया; और यह कहा जा सकता है कि ये सम्प्रदाय कुछ परिवर्तनों के साथ हमारे समय तक चले आए हैं। सुकरात के अनुयायियों के दो सर्वाधिक स्पष्ट नीतिशास्त्रीय सम्प्रदाय सिनिकों (Cynics) और साइरीनेइकों (Cyrenaics) के थे, जिनसे बाद में स्टोइकों (Stoics) और एपिक्यूरसवादियों (Epicureans) के सम्प्रदाय उत्पन्न हुए।

इन सम्प्रदायों के सदस्यों ने जितना सुकरात की विचारधारा पर ध्यान केन्द्रित किया लगभग उतना ही उसके जीवन-चरित और प्रभाव से सम्बन्धित बातों पर भी। सिनिक उसकी स्वतन्त्रता और निर्द्वन्द्वता से प्रभावित हुए, और इसी को उन्होंने अपना आधारभूत सिद्धान्त बनाया। साइरीनेइक अपने आस-पास की चीजों का अच्छे-से-अच्छा उपयोग करने की उसकी चतुराई और कुशलता से अधिक प्रभावित हुए। इस प्रकार सिनिक यतित्ववाद (asceticism) के समर्थक बने और साइरीनेइक सुखवाद के। ये दो प्रवृत्तियाँ नीतिशास्त्रीय चिन्तन-मनन के लगभग पूरे विकास-क्रम में बनी रहीं।

5. प्लेटो और अरस्तू

लेकिन सुकरात के बाद कुछ अन्य लेखक ऐसे हुए जिन्होंने नैतिक विचारों को दर्शन के सामान्य सिद्धान्तों से जोड़ने और इस प्रकार विरोधी सम्प्रदायों की एकांगिता से ऊपर उठने के अधिक निश्चित प्रयास किए। खास तौर से प्लेटो (427-347 ई० पू०) ने विश्व के बारे में एक दार्शनिक मत सामने रखा, जिसके ऊपर उसने अपनी नीतिशास्त्रीय धारणाओं को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। उसका सामान्य दार्शनिक मत प्रत्ययों या प्ररूपों के सिद्धान्त (the theory of Ideas or Types)¹ के नाम से प्रसिद्ध है। उसका विश्वास था कि चीजों की आधारभूत सत्यता प्ररूपों में है, जिनके वे अनुरूप होती हैं और जिनके वे अपूर्ण प्रतिरूप हैं। उसका विचार था कि इन प्ररूपों में सबसे आधारभूत शुभ का प्ररूप या प्रत्यय (Type or Idea of the Good) है, और सदाचार का आदर्श यह है कि इस प्ररूप के उत्तरोत्तर निकट पहुँचा जाए। इस प्ररूप को समझने के लिए दार्शनिक प्रशिक्षण के एक क्रम में से गुजरना ज़रूरी होता है, और इसलिए सदाचार का सर्वोच्च रूप केवल दार्शनिक ही प्राप्त कर सकता है। लेकिन प्लेटो ने सदाचार का एक निम्न रूप भी माना था जिसे

1. Eide. अंग्रेजी में इसका अनुवाद करना कठिन है। अंग्रेजी में 'idea' शब्द का अर्थ (मुख्यतः लौकिक, वर्कल और ह्यूम के प्रभाव से) वह चीज हो गया है जो हमारे मस्तिष्क के अन्दर रहती या घटती है। 'Ideal' शब्द प्लेटो के आशय के अधिक निकट है, वरतें हम यह याद रखें कि प्लेटो इसे वह चीज समझता है जो एक अव्यास्तविक छायाकृति नहीं है बल्कि सब चीजों से अधिक वास्तविक है, यह विश्व जिसकी छायाभाव है (अथवा, जैसा कि प्लेटो की उक्तियों से प्रायः लगता है, एक अपूर्ण माध्यम में जिसका वास्तवीकरण है)। ऊपर पृ० 26-27 की टिप्पणी और आगे खण्ड 3, अध्याय 5, अनु० 7 देखिए।

अच्छा नागरिक प्राप्त कर सकता है, और तदनुसार प्लेटो ने नागरिक के सद्गुणों का विश्लेषण किया।

अरस्तू (384-322 ई० पू०) ने इस विश्लेषण को आगे बढ़ाया, यहाँ तक कि उसने अपने नीतिशास्त्र-विषयक महान् ग्रन्थ का एक बहुत बड़ा भाग अपने समय के एथेन्स के समाज में पाए जाने वाले सदाचारमय जीवन के विभिन्न पहलुओं के वर्णन को दिया¹, हालाँकि वह प्लेटो के इस विचार से सहमत था कि जीवन का सर्वोच्च रूप नागरिक के कार्यव्यस्त जीवन के बजाय दार्शनिक के चिन्तनमय जीवन में पाया जाना चाहिए।

दार्शनिक के जीवन और साधारण नागरिक के जीवन के बीच इस तरह जो विरोध बताया गया उसे स्टोइकों ने और आगे बढ़ाया। स्टोइक लोग जिस समय पैदा हुए थे उस समय यूनानी नगर-राज्य ह्रास की अवस्था में था, और इस प्रकार वे नागरिक के जीवन में उस तरह की आत्म-सिद्धि (self-realization) का दर्शन करने में असमर्थ थे, जिस तरह की आदर्श आत्म-सिद्धि का दर्शन प्लेटो और अरस्तू ने किया था। अतः मानव-जीवन का उच्चतम रूप उन्हें अच्छे नागरिक की सक्रियता के बजाय साधु की पूर्ण स्वतन्त्रता में खोजना पड़ा। इसी तरह की प्रवृत्ति एपिक्यूरस-वादियों और संशयवादियों (Sceptics) के सम्प्रदायों में भी दिखाई देती है। फिर जब ईसाई धर्म का आगमन हुआ केवल तभी एक ऐसे आदर्श राज्य की कल्पना सम्भव हो सकी जिसके सभी सदस्य हैं और जिसमें छोटे-से-छोटा नागरिक भी अपनी श्रद्धा की बदौलत भाग ले सकता है, हालाँकि जिस एकता के अन्दर उसका जीवन व्यतीत होता है उसके स्वरूप को पूरी तरह समझ पाना उसके बश की बात नहीं है।

6. मध्ययुगीन नीति

नीतिशास्त्र के बारे में मध्ययुग में जो विचार² थे वे प्लेटो और अरस्तू के विचारों से बहुत प्रभावित थे, लेकिन उन पर कुछ प्रभाव स्टोइकों और ईसाई धर्म पर आधारित विचारों का भी पड़ा। नैतिक आचार के धार्मिक पक्षों का विशेष रूप से विकास हुआ; और व्यक्ति के जीवन का पथ-निर्देश करने में नीतिशास्त्रीय विचारों के अनुप्रयोग (application) के ऊपर भी काफी ध्यान दिया गया। इस दिशा में जो प्रयत्न किये गए उन्हीं से किकर्तव्यमीमांसा (Casuistry) का उद्भव हुआ।

7. आधुनिक काल में नीतिशास्त्रीय सम्प्रदाय

आधुनिक युग में नीतिशास्त्र का विकास पहले से बहुत जटिल हो गया, और उसकी कुछ मुख्य दिशाओं की ओर संकेत-भर किया जा सकता है।

आम तौर पर देकार्त (Descartes) को आधुनिक दर्शन का जन्मदाता माना जाता है; लेकिन उसकी रुचियाँ मुख्यतः तत्त्वमीमांसा में थीं। नीतिशास्त्र में उसके सम्प्रदाय ने स्टोइकों की विचारधारा का विकास करने के अलावा थोड़ा ही अधिक काम किया। स्टोइकों की तत्त्वमीमांसा में मन और शरीर का जो विरोध बताया गया था उसके कारण ही देकार्त उसकी ओर विशेष रूप से आकर्षित हुआ।

1. वर्णनात्मक नीतिशास्त्र (Descriptive Ethics) के इस रूप का और आगे विकास थियोफ्रेस्टस (Theophrastus) ने किया, जो अरस्तू का प्रधान शिष्य था। उसका Characters देखिए।

2. सिजविक के History of Ethics में इनका वर्णन काफी विस्तार के साथ किया गया है।

लेकिन इस बीच दर्शन का जड़वादी सम्प्रदाय भी विकसित हो रहा था जिसके नेता गैसेन्डी (Gassendi) और हॉब्स (Hobbes) (1588-1679) थे। इस सम्प्रदाय के सदस्य प्राचीन युग के एपिक्यूरसीय सम्प्रदाय की ओर झुके। गैसेन्डी निश्चित रूप से एपिक्यूरस का अनुयायी था। हॉब्स ने कुछ स्वतन्त्र दिशा में चिन्तन-मनन किया और शक्ति की प्राप्ति को मानव-जीवन का महान् लक्ष्य माना।

हॉब्स का विरोध कैम्ब्रिजिय प्लेटोवादियों (Cambridge Platonists) और कम्बरलैंड (Cumberland) ने किया, जिन्होंने मानव-प्रकृति के अधिक सामाजिक और साथ ही अधिक तर्कनापरक पक्ष को सामने रखने का प्रयास किया। इनके विचारों से उस मत का विकास हुआ जो बाद में नैतिक संवित्तिवादी सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ और शेफ्ट्सबरी और हचेसन जिसके प्रतिनिधि थे। इन लेखकों के अनुसार सुन्दर और असुन्दर के भेद का ज्ञान जिस तरह सौन्दर्यात्मक प्रत्यक्ष से होता है, उसी तरह उचित और अनुचित के भेद का ज्ञान भी अन्तःप्रज्ञात्मक प्रत्यक्ष से होता है; लेकिन साथ ही इन्होंने यह भी माना कि इस प्रत्यक्ष की व्याख्या की जा सकती है। यह मनुष्य की सामाजिक प्रकृति पर आधारित होता है। जो समाज के लिए हितकारी होता है वह स्वभावतः शुभ प्रतीत होता है; जो समाज के लिए हानि-प्रद होता है वह सहज रूप से अशुभ माना जाता है। यह दृष्टिकोण एक तरह की जल-विभाजक रेखा है जिससे अनेक नीतिशास्त्रीय विचारधाराओं का उदय हुआ।

इस प्रकार कुछ लेखकों ने एकमात्र इस तथ्य पर जोर दिया कि उचित-अनुचित का अन्तःप्रज्ञात्मक प्रत्यक्ष होता है। इस बात को लेकर रीड (Reid) और उसके अनुयायियों का अन्तःप्रज्ञावादी (Intuitionist) सम्प्रदाय पैदा हुआ। अन्य विशेष रूप से इस तथ्य से प्रभावित हुए कि शुभ और अशुभ का भेद कर्म के परिणामों के युक्तियुक्त विचार पर आधारित होता है। इसी बात को लेकर लॉक, क्लार्क (Clarke), वोल्लास्टन (Wollaston) प्रभृतियों का तर्कनावादी (rationalistic) सम्प्रदाय पैदा हुआ। इस विचारधारा की चरम परिणति कांट के ग्रन्थों में हुई; और कांट के तुरन्त बाद के अनुयायियों के ग्रन्थों में जो दृष्टिकोण अपनाया गया वह प्लेटो और अरस्तू के दृष्टिकोणों के जैसा था। बाद में यह दृष्टिकोण अंग्रेजी विचार-धारा में पहुँच गया और फलतः वहाँ आधुनिक प्रत्ययवादी सम्प्रदाय ने जन्म लिया, जिसके प्रतिनिधि ग्रीन, ब्रैडले, बोसान्के प्रभृति हैं। अन्त में, जो नैतिक संवित्तिवादी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों से प्रभावित थे उनमें से कुछ इस बात को विशेष महत्त्व देने लगे कि शुभ वह है जो समाज के लिए हितकारी है, या जो मनुष्य के सुख में वृद्धि करने वाला है। इस विचार से आधुनिक उपयोगितावादी सम्प्रदाय का विकास हुआ।

जब तक आधुनिक क्रमविकासवादियों (Evolutionists) और महान् जर्मन प्रत्ययवादियों (Idealists) के सम्प्रदाय पैदा नहीं हो गए तब तक आधुनिक नीति-शास्त्रीय विचारधारा में अन्तःप्रज्ञावादी, तर्कनावादी और उपयोगितावादी—इन्हीं तीन सम्प्रदायों का प्राधान्य रहा।

नीतिशास्त्रीय सिद्धान्त के प्ररूप

1. सामान्य सर्वेक्षण

अब हम उन स्थिति में आ गए हैं कि दर्शन के इतिहास में जिन मुख्य प्रकार की नीतिशास्त्रीय विचारधाराओं का उदय हुआ उनकी ओर ध्यान दे सकें। विस्तार की बातों में उनमें बहुत विविधता है, लेकिन मोटी रूपरेखा की दृष्टि से उनके प्ररूप थोड़े और सरल हैं। नीतिशास्त्रीय चिन्तन के इतिहास में परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों के रूप में दो प्ररूप खास तौर से बार-बार दिखाई देते हैं—ये वे प्ररूप हैं जिनका प्रतिनिधित्व हेराक्लाइटस और डीमोक्रिटस ने, ऐंतिस्थीनीज (Antisthenes) और अरिस्टिप्पस (Aristippus) ने, जेनो (Zeno) और एपिक्यूरस ने, देकार्त¹ और गैसेन्डी ने, कडवर्थ और हॉब्स ने, रीड और ह्यूम ने, कांट और बेन्थम ने किया था। इस विरोध को मोटे तौर से उनके विरोध के रूप में रखा जा सकता है जो तर्कना पर बल देते हैं और जो मनोवेग पर बल देते हैं; लेकिन आगे हमें इस विरोध को अधिक बारीकी से स्पष्ट करने की कोशिश करनी पड़ेगी।

इन विरोधी सम्प्रदायों के अलावा नीतिशास्त्र के पूरे इतिहास में हम एक अन्य दृष्टिकोण को भी व्याप्त देखते हैं जो तर्कना या मनोवेग जैसे किसी एकांगी गुण पर जोर न देते हुए मनुष्य के सर्वांगीण व्यक्तित्व पर जोर देता है। यह दृष्टिकोण प्रायः उपर्युक्त दो दृष्टिकोणों के विरोधी के रूप में नहीं दिखाई देता, बल्कि ऐसे दृष्टिकोण के रूप में दिखाई देता है जो उन दोनों का समन्वय करता है और उनसे ऊपर उठ जाता है। यह मुख्यतः उन महान् दार्शनिक विचारकों में दिखाई देता है जो सम्प्रदायों के पारस्परिक खण्डन-मण्डन से ऊपर उठ गए थे—जैसे प्लेटो और अरस्तू, हेगेल तथा एक या दो अन्य।² लेकिन हाल में अन्य सम्प्रदायों के साथ-साथ यह स्पष्टतः एक तीसरे सम्प्रदाय के (अथवा शायद हमें दो सम्प्रदाय कहना चाहिए) रूप में सामने आया है—वह सम्प्रदाय जिसे मोटे तौर पर विकासपरक सम्प्रदाय कहा जा सकता है।

1. देकार्तिय सम्प्रदाय के नीतिशास्त्रीय पक्ष का प्रतिनिधित्व Geulinx तथा Malebranche ने स्वयं देकार्त की अपेक्षा अधिक निश्चित रूप से किया।
2. सब मिलाकर देखते हुए स्पिनोजा का नाम भी इनके साथ रखना चाहिए। देकार्त का अनुयायी होते हुए भी उसने हॉब्स जैसे लेखक के दृष्टिकोण में पाए जानेवाले सत्य के अंश को पूरी तरह स्वीकार किया था, और 'ईश्वर के बौद्धिक प्रेम' (Intellectual Love of God) के रूप में उसने परम शुभ के बारे में जो अन्तिम मत व्यक्त किया था वह एक बड़ी सीमा तक प्लेटो और अरस्तू के उस सिद्धान्त की पुनरावृत्ति है जो इन्होंने चिन्तनमय जीवन के बारे में बनाया था। स्पिनोजा के दर्शन का एक बहुत ही प्रशंसनीय वर्णन डॉ॰ आर॰ ए॰ डफ (R. A. Duff) के ग्रन्थ Spinoza's Political and Ethical Philosophy में मिलेगा।

इन प्रधान मतों के अलावा बहुत-से अन्य मत भी हैं जो अल्पस्थायी रहे और जिनका पुनरावृत्ति कम हुई। इनमें से एक सौन्दर्य संवित्तिवादियों का मत है जिसका प्रतिनिधित्व नैतिक-संवित्तिवादी लेखकों और हर्बर्ट ने किया, और दूसरा सहानु-भूतिवादी मत है जिसका प्रतिनिधि ऐडम स्मिथ था। इनके अलावा दो-एक अन्य मत भी हैं।

अब हम मुख्य मतों के विरोध को थोड़ा और स्पष्ट करेंगे।

2. तर्कना और मनोवेग (Reason and Passion)

इस बात की ओर पहले ही संकेत किया जा चुका है कि मतों का मुख्य विरोध तर्कना और मनोवेग के विरोध पर आधारित है। हम देख चुके हैं कि मान-वीय चेतना को एक जगत् या समष्टि कहा जा सकता है। कर्म-पक्ष में यह विभिन्न इच्छाओं से निर्मित होता है जो एक कम या अधिक पूर्णता के साथ समन्वित समूह के अन्दर रहती हैं। यह सम्भव है कि हम इस समष्टि के अन्दर रहनेवाली अलग-अलग इच्छाओं पर विशेष रूप से ध्यान दें, या एकता के उस रूप पर विशेष ध्यान दें जो इन्हें एक समष्टि में बाँधकर रखती है। हम मानव-जीवन को तत्त्वतः तृप्ति चाहने वाली इच्छाओं के संघर्ष के रूप में देख सकते हैं, अथवा इन इच्छाओं को समष्टि के प्रत्यय के अधीन लाने के प्रयत्न के रूप में। उपर्युक्त दो सम्प्रदायों का विरोध मुख्य रूप से इन पक्षों में से किसी एक या दूसरे को महत्त्व देने की प्रवृत्ति से पैदा होता है।

पहले पक्ष को अधिक महत्त्व देने की प्रवृत्ति शायद सबसे पहले अच्छी तरह हम के इस सिद्धान्त में प्रकट होती है कि "तर्कना हमेशा मनोवेगों की सेविका रहती है और ऐसा होना भी चाहिए," अर्थात् तर्कना इसके अलावा और कुछ नहीं कर सकती कि विशेष आवेगों को तृप्ति का रास्ता बताए। जब यह मत अपनाया जाता है तब जीवन का मुख्य ध्येय प्रायः अनिवार्य रूप से केवल यह मानना पड़ता है कि विशेष आवेगों का अनुभव होने पर उनकी तृप्ति की जाए। यही साइरनेइकों का मत था, और कुछ संशोधित रूप में यही सब सुखवादियों का मत है।

इसका विरोधी मत वह है जो किसी ऐसे नियम को मानता है जिसके अधीन विशेष आवेगों को लाकर उन्हें एक समष्टिबद्ध रूप दिया जाना चाहिए। नीतिशास्त्रीय चिन्तन-मनन के इतिहास में इस नियम को आम तौर पर तर्कना का नियम माना गया है, ठीक वैसे ही जैसे विशेष आवेगों के ध्येय की प्राप्ति को आम तौर पर सुख समझा गया है। लेकिन हॉब्स ने इच्छाओं के ध्येय को सुख के बजाय शक्ति (Power) माना है; और इसी तरह ऐसे विचारक भी हुए हैं जिन्होंने आवेगों को जिस नियम के अधीन करना है उसे तर्कना का नियम मानने के बजाय कुछ और माना है। अतः अब हमें इस विरोध को थोड़े बदले हुए रूप में बताना है।

3. उचित और शुभ

पहले ही इस बात की ओर संकेत किया जा चुका है कि नैतिक आदर्श दो मुख्य रूपों में सामने आता है—एक रूप है उचित का और दूसरा है शुभ का। हम नैतिकता को किसी नियम या मानक के अनुरूप होने के रूप में ले सकते हैं अथवा किसी साध्य के अनुसरण के रूप में। नीतिशास्त्र के दो विरोधी सम्प्रदायों का अन्तर काफ़ी बड़ी सीमा तक इस अन्तर से जुड़ा हुआ है। सब मिलाकर यह कहा जा सकता है कि हेराक्लाइटस से लेकर स्टोइकों से होते हुए कांट तक विचारकों की जो परम्परा

चली आई है वह नैतिकता के सर्वोच्च मानक को एक तरह का कानून, नियम या आदेश मानती है, जिससे हम यह जानते हैं कि अमुक कर्म उचित है। इसके विपरीत, डीमोक्रेटस से लेकर एपिक्यूरसवादियों से होते हुए वेन्थम तक विचारकों की जो दूसरी परम्परा चली आई है वह शुभ के बारे में सोचती है (जिसे आम तौर पर सुख कहा जाता है) जिसे लोग अपना लक्ष्य बनाते हैं और जिसे सामने रखकर उनके कामों की प्रशंसा या निन्दा की जाती है। इस प्रकार उक्त दो सम्प्रदायों को मोटे तौर पर क्रमशः कर्तव्य और सुख को अपने मानक बनानेवाले कहा जा सकता है।

4. कर्तव्य, सुख, पूर्णता

यदि उक्त दो विरोधी सिद्धान्तों को कर्तव्य और सुख के सिद्धान्त कहा जाए तो काफ़ी बड़ी सीमा तक इन दोनों का मेल कराने वाले तीसरे मध्यमार्गी सिद्धान्त की विशेषता बताने के लिए 'पूर्णता' शब्द का प्रयोग करना उचित होगा।

यह ध्यान रखना चाहिए कि ये नैतिक मानक के बारे में तीन भिन्न सिद्धान्त मात्र नहीं हैं बल्कि ये तीन भिन्न प्रकार के जीवनो से जुड़े हुए हैं। कांट के बारे में यह कहा गया है कि उसका जीवन हमें 'कर्तव्य के निरपेक्ष आदेश' की याद दिलाता है जो उसके लिए आचार का सार-तत्त्व था।¹ इसी तरह वेन्थम के जीवन को भी सुखवादी सिद्धान्त का प्रारूपिक उदाहरण कहा जा सकता है। उसका जीवन सुख की साधनभूत रहन-सहन की यान्त्रिक परिस्थितियों के सुधार में रत रहते बीता था।²

1. केयर्ड का Critical Philosophy of Kant, जिल्द 1, पृ० 63—इस सिलसिले में केयर्ड ने हाइने (Heine) से कांट के बारे में एक मजेदार उद्धरण दिया है—“इमानुएल कांट के जीवन का वर्णन करना कठिन है। असल में न उसके जीवन को जीवन कहना यथार्थ है और न उसके इतिहास को इतिहास कहना। वह जर्मनी की उत्तर-पूर्वी सीमा पर स्थित एक पुराने शहर कोनिग्सबर्ग (Konigsberg) की एक कोने की गली में एक बूढ़े अविवाहित व्यक्ति का एकाकी और यान्त्रिक जीवन बिताता था। मैं नहीं समझता कि उस शहर के गिरजे की विशाल बड़ी अपनी दिनचर्या वहाँ के निवासी इमानुएल कांट की अपेक्षा कम भावुकता और अधिक नियमित रूप से पूरी करती थी। सोकर उठने, कॉफी पीने, लिखने, पढ़ाने, खाने, टहलने इत्यादि हर बात का एक निश्चित समय था; और जब पड़ोसी देखते थे कि प्रोफेसर कांट अपना भूरा कोट पहने, हाथ में छड़ी लिए अपने मकान के दरवाजे से बाहर पैर निकाल रहे हैं और उस छोटे नींबू के पेड़ वाले मार्ग की ओर बढ़ रहे हैं जो उनके नाम पर 'प्रोफेसर का मार्ग' के नाम से प्रसिद्ध है, तब वे जान लेते थे कि अब ठीक साढ़े चार बजे का समय है। वर्ष की प्रत्येक ऋतु में वह उस मार्ग पर आठ बार ऊपर-नीचे चलता था, और जब मौसम खरब होता था या भूरे बादलों के बरसने का डर होता था तब उनके पुराने नौकर लैम्पे को अपनी बराल में एक बड़े छाते को दबाए बिधाता की छाया की तरह उनके पीछे जल्दी-जल्दी चलते देखा जा सकता था।”

“कांट के बाह्य जीवन और उसके विश्व-विनाशक विचार के बीच विचित्र विषमता थी। सच्चाई तो यह है कि यदि कोनिग्सबर्ग के निवासियों को उस विचार के अर्थ का थोड़ा-सा भी संकेत मिल गया होता तो वे कांट के सामने वैसे ही थरते जैसे एक हत्यारे के सामने। लेकिन उन अछड़े लोगों ने उसमें एक दर्शन के प्रोफेसर के अलावा और कुछ नहीं देखा; और जब वह निश्चित समय पर उनके सामने से गुजरता था तब वे उसका मित्रवत् अभिवादन करते थे और अपनी बड़ियों को ठीक करते थे।

2. वेन्थम की बहुत बड़ी रूचि विधान में थी। सर हेनरी मैने (Sir Henry Maine) ने

पूर्णता की धारणा के अनुसार जिस तरह का जीवन होना चाहिए वह सबसे अच्छी तरह ऐसे लोगों में दिखाई देगा जैसे प्लेटो, अरस्तू, अथवा आधुनिक यूनानी, गेटे ।

किसी सीमा तक हीब्रू, रोमन और यूनानी—इन तीन महान् जातियों को इन तीन आदर्शों के प्रतिनिधि माना जा सकता है । हीब्रू लोगों में सदाचार का नियम सर्वोच्च था । रोमन लोग भी नियमनिष्ठ थे, लेकिन एक दूसरे ही रूप में । जिस नियम में वे सबसे अधिक रुचि रखते थे वह था जीवन की यान्त्रिक स्थितियों पर शासन करनेवाला नियम—उन स्थितियों पर जो सुख की सामग्री प्रदान करती हैं । यूनानी लोग स्पष्टतः व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के आदर्श के प्रतिनिधि थे ।

5. मिले-जुले सिद्धान्त

आचार के सर्वोच्च मानक के बारे में इन विभिन्न मतों का वैषम्य दिखाते हुए यह हमेशा याद रखना चाहिए कि अधिकतर प्रतिनिधि-लेखकों के अनेक सिद्धान्त ऐसे हैं जिन्हें बिल्कुल निश्चित होकर किसी एक शीर्षक के नीचे नहीं रखा जा सकता बल्कि जो विभिन्न मतों के मिले-जुले रूप हैं ।

इस प्रकार, स्टोइकों तक के बारे में यह कहा जा सकता है कि उनका मत कर्तव्य-सिद्धान्त और पूर्णता-सिद्धान्त के बीच का था, क्योंकि यद्यपि उनके आदर्श को नियम-पालन का आदर्श कहा जा सकता है, तथापि साथ ही वह पूर्णतः ज्ञानी मनुष्य के जीवन की प्राप्ति का आदर्श भी था । देकार्त और कंट के बारे में भी यही बात कही जा सकती है । फिर, नैतिक संवित्तिवाद में भी कर्तव्य और सुख के विचार एक बड़ी सीमा तक मिले-जुले हैं; तथा हेनरी सिजविक के मत में भी, लेकिन एक भिन्न रूप में । हर्बर्ट स्पेन्सर इत्यादि आधुनिक क्रमविकासवादियों के मत में सुख और पूर्णता के विचार मिले-जुले हैं । और भी कई अन्य तरीकों से विभिन्न सिद्धान्त मिल-जुल गए हैं ।

लेकिन, चूंकि इस समय हम नीतिशास्त्रीय सिद्धान्त के इतिहास का अध्ययन नहीं कर रहे हैं, बल्कि केवल उसके सर्वाधिक उत्कृष्ट रूपों का अध्ययन कर रहे हैं, इसलिए सबसे सुविधाजनक यह होगा कि हम विभिन्न मतों पर भरसक अलग-अलग विचार करें ।

Early History of Institutions, पृ० 400 पर लिखा है—“वेन्थम सही अर्थ में न विधिश्च था और न नीतिश्च । उसने विधि के बारे में नहीं बल्कि विधान के बारे में लिखा । सावधानी से जाँच करने के बाद लगेगा कि वह आचार के क्षेत्र में भी एक विधायक था । निस्सन्देह कभी-कभी उसकी भाषा से ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे वह नैतिक तथ्यों की व्याख्या कर रहा है, लेकिन वास्तव में वह विधान के विषय पर चिन्तन-मनन करके जिस कामचलाऊ नियम पर पहुँच चुका है उसके अनुसार नैतिक तथ्यों को बदलना या नए सिरे से व्यवस्थित करना चाहता होता है । अपने कामचलाऊ नियम को उसका विधान से नैतिकता में स्थानान्तरित करना ही मुझे उन आलोचकों का सच्चा आधार लगता है जिनका वेन्थम नैतिक तथ्यों के एक विश्लेषक के रूप में उचित रूप से पात्र लगता है ।

अध्याय 3

मानक : नियम के रूप में

भाग 1 : नैतिक नियम का सामान्य प्रत्यय

1. प्राक्कथन

नीतिशास्त्रीय सिद्धान्त के विभिन्न प्ररूपों का विवरण देने में सबसे अधिक सुविधाजनक यह लगता है कि उन प्ररूपों से शुरू किया जाए जो कर्त्तव्य, उचित, नियम या आबन्ध को अपने आधारभूत प्रत्यय के रूप में ग्रहण करते हैं। जैसे बच्चे के वैसे ही जाति के सामने भी नैतिकता प्रायः धर्मदेशों के, बल्कि धर्मकियों तक के, रूप में आती है। केवल विकास की एक आगे की अवस्था में पहुँचकर ही हम नैतिक-जीवन को एक शुभ वस्तु के रूप में, और अन्त में स्वयं अपने ही स्वरूप की सिद्धि के रूप में देखना सीखते हैं। इसलिए सबसे स्वाभाविक यह लगता है कि उन सिद्धान्तों से शुरू किया जाए, जो शुभ के प्रत्यय के बजाय उचित के प्रत्यय पर आधारित हैं। इस दृष्टिकोण से नैतिकता हमारे सामने कर्त्तव्य के नियम का पालन करने के रूप में आती है। अब हमें यह देखना है कि इस प्रत्यय का क्या अर्थ है और इसके क्या-क्या भिन्न रूप हो सकते हैं।

2. नीतिशास्त्र में नियम का अर्थ

नीतिशास्त्र के अध्ययन में, और साथ ही कुछ अन्य विषयों के अध्ययन में भी, काफ़ी गड़बड़ी 'नियम' शब्द के अर्थ में कुछ अनिश्चितता होने के कारण पैदा हुई है। इसलिए अच्छा होगा कि हम इस शब्द का यहाँ ठीक-ठीक जिस अर्थ में प्रयोग करना है उसको समझने की कोशिश कर लें।

इस शब्द के दो अलग-अलग अर्थों में भेद किया जाता रहा है। हम किसी देश के नियमों (कानूनों) की बात करते हैं और प्रकृति के नियमों की भी; लेकिन यह स्पष्ट है कि इन दो बातों में नियम के जिन प्रकारों की ओर संकेत होता है वे बहुत ही भिन्न हैं। देश के नियम वहाँ रहने वाले लोगों या उसके शासकों के द्वारा बनाए जाते हैं; और मीडिया-निवासियों (Medes) और पर्सिया-निवासियों तक में उनके बदल दिए जाने की हमेशा सम्भावना रहती है। यह सम्भावना भी हमेशा रहती है कि देश के निवासी उनका उल्लंघन करें; और आम तौर पर अन्य देशों के निवासियों पर वे बिल्कुल लागू नहीं होते। इसके विपरीत, प्रकृति के नियम¹ अपरिवर्तनीय, अनुल्लंघनीय और सर्व-व्यापक होते हैं।

अतः तीन बातें होती हैं जिनके अनुसार विभिन्न प्रकार के नियमों में अन्तर

- I. मेरा मतलब ऐसे नियमों से है जैसे सैद्धान्तिक यान्त्रिकी की किताबों में बताए जाते हैं। ये नियम उन प्रवृत्तियों से सम्बन्धित होते हैं, जो सम्पूर्ण प्रकृति में काम करती हैं। आगे की टिप्पणी देखिए।

किया जा सकता है। कुछ नियम अपरिवर्तनशील होते हैं, तो कुछ परिवर्तनशील होते हैं। कुछ अनुल्लंघनीय होते हैं, तो कुछ का उल्लंघन किया जा सकता है। कुछ सार्वभौम होते हैं, तो कुछ केवल एक सीमित दायरे में लागू होते हैं। लेकिन इन बातों में से तीसरी लगभग पहली-जैसी ही है, क्योंकि जो सार्वभौम है वह सामान्यतः अपरिवर्तनशील और अनिवार्य भी होता है, और इसी तरह जो अपरिवर्तनशील और अनिवार्य है वह सार्वभौम भी होता है। फलतः इस समय विभिन्न प्रकार के नियमों में केवल (1) परिवर्तनशीलता-अपरिवर्तनशीलता, और (2) उल्लंघनीयता-अनुल्लंघनीयता की दृष्टि से ही भेद करना पर्याप्त होगा, हालाँकि जल्दी ही हमें विभाजन के तीसरे आधार की ओर लौटना होगा। उक्त दो आधारों को अपनाते हुए हम स्पष्टतः नियमों को चार वर्गों में रखते हैं—(1) वे जिन्हें बदला जा सकता है और जिनका उल्लंघन भी किया जा सकता है; (2) वे जिन्हें बदला तो जा सकता है लेकिन जिनका उल्लंघन नहीं किया जा सकता; (3) वे जिनका उल्लंघन किया जा सकता है लेकिन जिन्हें बदला नहीं जा सकता; (4) वे जिनका न उल्लंघन किया जा सकता है और न जिन्हें बदला जा सकता है।

इनमें से पहले और अन्तिम वर्ग के नियमों के उदाहरण पहले ही दिए जा चुके हैं।

दूसरे वर्ग के नियमों के उदाहरण पाना भी कोई मुश्किल नहीं है। सौर-परिवार के, दिन-रात के, बीज बोने और फसल काटने के काल के, और ऋतुओं के सारे परिवर्तनों के नियम तब तक अनुल्लंघनीय होते हैं जब तक कुछ स्थितियाँ बनी रहती हैं; लेकिन यदि ये स्थितियाँ बदल जाएँ—जैसे सूर्य के ठण्डे पड़ने, पृथ्वी की गति के मन्द पड़ने, या उसके किसी पुच्छल तारे या पथभ्रष्ट उल्का से टकरा जाने से हो जाएँ—तो उनके साथ ही ये नियम भी बदल जाएँगे।¹ अर्थशास्त्र के अधिकतर नियम भी इसी प्रकार के होते हैं। वे विशेष प्रकार के समाजों और विशेष अभिप्रेरकों से काम करने वाले लोगों पर लागू होते हैं, तथा इन सीमाओं के अन्दर वे अनुल्लंघनीय होते हैं। लेकिन यदि समाज की हालत बदल जाए, या उसके अन्दर रहने वाले लोगों की प्रकृति भिन्न हो जाए, तो अनेक मामलों में ये नियम भंग हो जाएँगे। ऐसे नियमों को कभी-कभी सोपाधिक कहा जाता है। वे केवल तभी तक वैध रहते हैं जब तक यह माना जाता है कि कुछ हालतें मौजूद हैं और अपरिवर्तनशील बनी हुई हैं।

कुछ दार्शनिकों (जैसे, जे० एस० मिल) ने यह माना है कि गणित के नियम भी इस वर्ग में आते हैं—कि कोई दुनिया ऐसी भी हो सकती है जिसमें दो और दो पाँच के बराबर हों; और कि यदि एक ऐसा त्रिभुज बनाया जाए जिसका आधार पृथ्वी का व्यास हो और स्थिर तारों में से कोई एक जिसका शीर्षबिन्दु हो, तो शायद उसके तीनों कोणों का योग दो समकोणों के बराबर नहीं होगा।² लेकिन यह शल्लत लगता है। गणित के नियम चार वर्गों में से अन्तिम वर्ग के हैं।

नीतिशास्त्र के नियमों को सब मिलाकर तीसरे वर्ग के मानना चाहिए। उन्हें बदला तो नहीं जा सकता, लेकिन उनका उल्लंघन किया जा सकता है। जैसा कि

1. कहा जा सकता है कि प्रकृति के सभी नियम इस तरह के होते हैं, अर्थात् वे सब सोपाधिक होते हैं और विश्व की वर्तमान रचना के बने रहने पर निर्भर होते हैं। यह सही है, बशर्ते कुछ नियम इस प्रकार के न हों कि उनके बिना प्रकृति की कोई भी व्यवस्था न चल सके। लेकिन इस प्रश्न का विचार करना तत्त्वमीमांसा का काम है।

2. यह गौस (Gauss) का मत था।

पहले कहा जा चुका है, यह सच है कि आचार के विशेष नियम जीवन की अलग-अलग परिस्थितियों में परिवर्तनशील हो सकते हैं, लेकिन मोटे-मोटे नियम हमेशा वही बने रहते हैं और न केवल सब तरह के मनुष्यों पर लागू होते हैं, बल्कि सभी तर्कनाशील प्राणियों पर लागू होते हैं। यदि परलोक से कोई आत्मा आकर हमारे बीच शामिल हो जाए, तो शायद हमें उसकी प्रकृति और रचना की कोई जानकारी नहीं होगी। शायद हमें ज्ञात नहीं होगा कि उसे क्या चीज कड़वी या मीठी लगती है, क्या उसे सख्त या मुलायम लगती है, या गर्मी, ध्वनि या रंग का उसके ऊपर क्या प्रभाव होगा। लेकिन कम-से-कम इतना तो हम उसके बारे में जानते होंगे कि जैसे हमारे लिए वैसे ही उसके लिए भी सम्पूर्ण अपने किसी एक अंश से बड़ा है, और प्रत्येक घटना का कोई कारण होता है; और कि हमारी तरह उसे भी झूठ नहीं बोलना चाहिए, तथा अविचारपूर्वक हत्या नहीं करनी चाहिए।¹ ये नियम अपरिवर्तनशील हैं। फिर भी इन्हें तोड़ा जा सकता है।

निश्चय ही, हम ऐसे नीतिशास्त्रीय नियम बता सकते हैं, जिन्हें तोड़ना असम्भव हो। उदाहरण के लिए, नीतिशास्त्र का कोई लेखक जोर देकर कह सकता है कि प्रत्येक पाप का फल किसी प्रकार के दण्ड के रूप में मिलता है। यह एक ऐसा सत्य है जिससे त्राण नहीं है, लेकिन यह नीतिशास्त्रीय सत्य के बजाय एक तत्त्वमीमांसीय सत्य है। यह विश्व की रचना से सम्बन्धित एक तथ्य है, न कि कोई नैतिक नियम।

केवल नैतिक नियम ही इस प्रकार के नहीं होते, बल्कि प्रत्येक सच्चे मानकीय विज्ञान और व्यावहारिक विज्ञान के नियम अनिवार्यतः इस प्रकार के होते हैं। कोई भी वास्तुशिल्प, नौपरिवहन, या वक्तृत्व-कला के आधारभूत सिद्धान्तों को जैसे वे हैं उनसे भिन्न नहीं बना सकता, हालाँकि व्यवहार में कोई भी जो फल भुगतने के लिए तैयार हो उनकी उपेक्षा कर सकता है। निस्सन्देह इन विज्ञानों के नियमों को अगर किसी दूसरे ग्रह के निवासियों पर लागू करना है, तो शायद इन्हें बदलने की जरूरत होगी, और हमारी पृथ्वी में भी वे एकदम से अनम्य नहीं हैं। भवन-निर्माण की जो शैली आइसलैण्ड के लिए उपयुक्त होगी वह उष्ण-प्रदेशों के लिए शायद ही उपयुक्त हो। मिस्रीसीपी का नौपरिवहन अटलांटिक के नौपरिवहन से भिन्न है और जो वाग्चातुर्य पूर्वी देशों के निवासियों को प्रभावित करेगा वह शायद अंग्रेज श्रोताओं को हास्यास्पद-मात्र लगेगा।

फिर भी, इन सारे विज्ञानों में कुछ ऐसे मोटे-मोटे सामान्य नियम स्थिर करना सम्भव है, जो सर्वत्र लागू हों, या कम-से-कम उन सभी सम्भावित स्थितियों में लागू हो सकें जिनमें हम उन्हें लागू करना चाहेंगे। निश्चय ही ये नियम ऐसे होंगे जिनसे हम उन विशेष परिवर्तनों तक का अनुमान कर सकेंगे, जो विशिष्ट मामलों में आवश्यक होंगे।

उदाहरण के लिए, हम इसे वक्तृत्व-कला के एक सिद्धान्त के रूप में ले सकते हैं कि यदि श्रोताओं को किसी ऐसे काम के लिए प्रेरित करना है या उनसे कोई ऐसी सचाई मनवानी है जिसकी ओर उनका झुकाव न होने की आशंका हो, तो वक्ता को चाहिए कि वह किसी ऐसी बात से शुरू करे, जो उन्हें सीधी-सादी और परिचित लगे तथा जिससे उनका स्वाभाविक लगाव हो, और फिर धीरे-धीरे आगे बढ़ते हुए आसानी से उन्हें मुख्य बात पर ले आए। इससे तुरन्त यह अनुमान किया जा सकता है कि इस

1. कुछ धर्मशास्त्र के लेखकों ने इस बात से इन्कार किया है, यह मानते हुए कि ईश्वर का शुभत्व मनुष्य के शुभत्व से बिल्कुल भिन्न चीज हो सकती है। Examination of Hamilton, अध्याय 7 में मिल ने इस मत का योग्यता के साथ खण्डन किया है।

तरह की अपील का स्वरूप अलग-अलग श्रोता-समूह के साथ अलग-अलग होगा, अपने अनुभव के कारण जिन चीजों के वे अभ्यस्त हो चुके हैं उनके स्वरूप के साथ बदल जाएगा, उन चीजों से उनका लगाव जिन भावों के कारण है उनकी तीव्रता के अनुसार, और एक बात से दूसरी में उनकी बुद्धि औसत रूप से जितनी शीघ्रता के साथ पहुँच सकती है उसके अनुसार बदल जाएगा। नियम तो अपरिवर्तनशील है, लेकिन बदलेगा केवल उसका अनुप्रयोग ही।

तर्कशास्त्र में इस प्रकार के नियमों के और भी स्पष्ट उदाहरण मिलते हैं। सही विचार के नियम बदले नहीं जा सकते, हालाँकि लोग सबसे ज्यादा जो गलतियाँ करते हैं वे अध्ययन के विषयों, भाषाओं और मानसिक आदतों की भिन्नता के अनुसार अलग-अलग होती हैं। जैसे नीतिशास्त्र में वैसे ही यहाँ भी नियम बदले नहीं जा सकते, लेकिन उनका उल्लंघन किया जा सकता है।

निस्सन्देह यह कहा जा सकता है कि तर्कशास्त्र के नियमों में से कुछ केवल किन्हीं औपाधिक सीमाओं के अन्दर ही लागू होते हैं। उदाहरण के लिए, उनमें से कुछ (जैसे वे जिनका आम तौर पर आकारिक तर्कशास्त्र के अन्तर्गत वर्णन किया जाता है) तादात्म्य के नियम, व्याघात के नियम और विमध्य-नियम को मानने पर निर्भर हैं; और यह कहा जा सकता है कि ऐसी चीजें भी हैं जिनके ऊपर ये नियम ठीक-ठीक लागू नहीं होते। लेकिन यह एक इतनी सूक्ष्म बात है कि यहाँ इसकी ओर इशारा-भर किया जा सकता है।

इतना और जोड़ देना अच्छा होगा कि जिन नियमों को तोड़ा जा सकता है और जिनको नहीं, उनका अन्तर इसी तरह के अन्य अन्तरों की तरह कुछ सावधानी से समझा जाना चाहिए और इसे बहुत आगे नहीं ले जाना चाहिए। एक तरह से किसी प्राकृतिक नियम का उल्लंघन किया जा सकता है, अर्थात् जिन स्थितियों में वह लागू होता है उनसे हम बच निकल सकते हैं। एक दृष्टि से किसी नैतिक नियम का उल्लंघन करना हमारे लिए सम्भव नहीं है। जैसा कि हम आगे देखेंगे, अनुचित काम करना स्वयं अपने ही विरुद्ध होना है, और "जो मकान स्वयं में ही विभक्त हो गया है वह खड़ा नहीं रह सकता।" इसी तरह, किसी देश का नियम तक, बशर्ते वह सच्चा नियम हो, तोड़ा नहीं जा सकता। दण्ड को इस असम्भवता की खुली अभिव्यक्ति कहा जा सकता है। उल्लंघन करने वाले पर ही वापस लौटता है और उसे तथा उसके काम को विनष्ट कर देता है।¹

3. है, अवश्य है, और होना चाहिए

पिछले अनुच्छेद में जो भेद किये गए हैं उन्हें हम सुविधा के साथ संक्षेप में यह कहकर प्रकट कर सकते हैं कि कुछ नियम जो है उसे, कुछ जो अवश्य है उसे, और कुछ जो होना चाहिए उसे बताते हैं।²

1. देखिए खण्ड 3, अध्याय 6, अनु० 5, लेकिन यह सब नियमों के विभिन्न वर्गों के अपेक्षाकृत सच्चे अन्तर में बाधक नहीं है।
2. अंग्रेजी भाषा में दार्शनिक दृष्टिकोण से एक अच्छाई यह है कि इस अन्तर को कमरा: is, must (या shall), और ought—इन तीन शब्दों के द्वारा बड़ी खबी से बताया जा सकता है। जर्मन भाषा में यह अच्छाई नहीं है। वहाँ sollen एक शब्द है जो ought की अपेक्षा shall के अधिक निकट है। हेगेल ने sollen शब्द के प्रयोग के विरुद्ध जो आपत्ति उठाई है (Logic of Hegel, Wallace का अंग्रेजी अनुवाद) वह मुख्यतः इस तथ्य की

जिन्हें हम प्रकृति के नियम कहते हैं वे जो है उसके बारे में सामान्य कथन-मात्र हैं। गुरुत्वाकर्षण का नियम केवल इस बात का कथन है कि पिण्ड एक-दूसरे की अपेक्षा कुछ तरीकों से गति करते हैं। अधिक सूक्ष्म विज्ञानों तक के स्वीकृत नियम इस तरह के होते हैं। माँग और पूर्ति का नियम केवल यह कहता है कि सामान्यतः क्रीमों कुछ खास तरीकों से अपने अन्दर घट-बढ़ करती हैं।¹

दूसरी ओर, देशों के नियम उसका कथन करते हैं जो अवश्य है, अर्थात् जो होकर रहेगा, बशर्ते कुछ दण्ड सहने के लिए कोई तैयार न हो। परमाणु और क्रीमों अपने नियमों को न तोड़ते हैं, न तोड़ सकते हैं, तब तक जब तक कि उपयुक्त स्थितियाँ बनी रहती हैं। इनके नियम उन तरीकों के कथन के अलावा और कुछ नहीं हैं जिनके अनुसार कुछ घटनाएँ किन्हीं स्थितियों में एकरूपता के साथ घटती हैं। इसके विपरीत, मनुष्य अपने देश के नियमों को तोड़ सकते हैं और तोड़ते हैं। लेकिन नियम यह कहता है कि उन्हें ऐसा कृतर्ष नहीं करना है, और जो करते हैं उनके लिए दण्ड (या अनुशासन) का विधान करता है।

अन्त में, नैतिक नियम ऐसा नियम है जो यह कहता है कि कुछ बात होनी चाहिए। वह एक आदर्श का कथन होता है। इस प्रकार, यदि कोई सरकार एक ऐसे युद्ध में पड़ना चाहती है जिसे उसके नागरिक अनुचित मानते हैं, तो कुछ सिपाही ऐसा महसूस कर सकते हैं कि सेना में काम करना अनुचित है, अर्थात् आचरण का वे जिसे आदर्श मानते हैं उसके यह विरुद्ध है। यहाँ उनका उससे विरोध हो जाता है जिसे वे नैतिक नियम मानते हैं। इसके बावजूद, उन्हें सेना से भागना नहीं होगा; अर्थात् यदि वे भागेंगे तो उन्हें गोली से उड़ा दिया जाएगा। मान लिया कि वे भाग जाते हैं और गोली से उड़ा दिए जाते हैं, तब वे प्रकृति के नियम के अनुसार मर जाएँगे।

4. निरपेक्ष (या निरुपाधिक) आदेश (The Categorical Imperative)

अब हम ऐसी स्थिति में आ गए हैं कि उस महत्वपूर्ण प्रत्यय को समझ सकें जिसे कांट ने नैतिक नियम के प्रसंग में प्रस्तुत किया था। उसने कहा था कि नैतिक नियम का स्वरूप निरपेक्ष आदेश का है। इसका अर्थ अभी समझ में आ जाएगा। उन सारे नियमों को, जो प्राकृतिक एकरूपताओं के कथन-मात्र नहीं हैं, आदेश के स्वरूप का कहा जा सकता है। देशों के नियम सरकार द्वारा निकाले हुए आदेश हैं, जिनका

वजह से उठाई गई लगती है कि यह शब्द (1) परिनिष्पन्न वस्तु के विपरीत भाव्य वस्तु का, और (2) किसी बाहरी प्रभावशाली व्यक्ति के द्वारा आदिष्ट चीज का सुझाव देता है। अंग्रेजी का ought शब्द इन दोनों ही दोषों से मुक्त लगता है।

1. पहले ही इस बात की ओर संकेत किया जा चुका है (विषय-प्रवेश, अध्याय 1 की टिप्पणी) कि एक दृष्टि से अधिक सूक्ष्म विज्ञानों के सिद्धान्तों को मानकीय कहा जा सकता है—कि सैद्धान्तिक ज्योतिष को उन नियमों का कथन करने वाला कहा जा सकता है जिनके अनुसार ग्रहों की चलना चाहिए, कि रेखागणित को उन नियमों का कथन करने वाला कहा जा सकता है जिन्हें पूर्ण त्रिभुज या वृत्त में लागू होना चाहिए, इत्यादि। लेकिन इस अर्थ में 'चाहिए' का मतलब यह है कि ये सम्बन्ध सच्चे हैं, क्योंकि उपयुक्त स्थितियाँ सच्ची हैं; और इन विज्ञानों की सार्थकता इस तथ्य से है कि अनुभव की ठोस दुनिया में या तो ये नियम लग-भग पूरी तरह से लागू होते हैं या वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को निर्धारित करने वाले हेतु हैं। सच्चे मानकीय नियम इस तरह के नहीं होते। यदि सब लोग पागल हो जाँदें तो भी सही विचार के नियम पहले की तरह सच बने रहेंगे।

उल्लंघन करनेवालों के लिए दण्ड की व्यवस्था भी साथ ही रहती है। नैतिक नियमों को भी (कुछ उपाधियों के साथ) आदेश कहा जा सकता है, हालाँकि अभी हम यह विचार नहीं कर सकते कि वे किसके आदेश हैं।

आदेश निरपेक्ष या निरुपाधिक भी हो सकते हैं और सापेक्ष या सोपाधिक भी। देश के नियम ऐसे नियम हैं जिनका हमें पालन करना ही पड़ता है, यदि हम उनका पालन न करने के फल भुगतने के लिए तैयार न हों। वक्तुत्व-कला के आधार-भूत सिद्धान्तों को भी आदेश के स्वरूप का कहा जा सकता है; लेकिन इस तरह के आदेश केवल वक्तुता देनेवालों पर ही लागू होते हैं। इसी तरह वास्तुशिल्प के नियम केवल उन पर लागू होते हैं जो पक्की, विस्तृत और सुन्दर इमारतें बनाना चाहते हैं। अर्थशास्त्र के कुछ नियम भी न अपरिवर्तनशील हैं और न सार्वभौम। वे अपरिवर्तनशील इसलिए नहीं हैं कि समाज की स्थितियों के बदल जाने पर वे बदल सकते हैं। वे सार्वभौम इसलिए नहीं कि वे केवल उन पर लागू होते हैं जो धन पैदा करना चाहते हैं। आकारिक तर्कशास्त्र तक के नियम सार्वभौम नहीं हैं। वे केवल उन्हीं पर लागू होते हैं जो विचार में स्वसंगति रखना चाहते हैं।¹ कोई ऐसा आदमी हो सकता है जो इस लक्ष्य को न चाहे। शायद वह इमर्सन² की तरह कहे।

“मान लीजिए कि आप स्वव्याघात करते हैं, तो इससे क्या?” “मूर्खतापूर्ण स्वसंगति तुच्छ बुद्धिवालों का भूत है जिसकी तुच्छ राजमर्मज्ञ, दार्शनिक और धर्मशास्त्री पूजा करते हैं। स्वसंगति से महान् आत्माओं को कुछ लेना-देना नहीं है।”³ अतः इस तरह के आदेश सोपाधिक (hypothetical) मात्र हैं।⁴ वे केवल उन्हीं पर लागू होते हैं जो उन साध्यों को अपनाते हैं जिनसे उस विशेष मानकीय विज्ञान का सम्बन्ध होता है।

नीतिशास्त्र के नियम अन्य सब नियमों से इस बात में भिन्न हैं कि वे

1. निस्सन्देह यहाँ मैं यह मानकर चलता हूँ कि तर्कशास्त्र एक मानकीय विज्ञान है जो स्वसंगत विचार के नियम स्थिर करता है। कुछ तर्कशास्त्री इससे भिन्न मान्यता रखते हैं और तर्कशास्त्र को एक साधारण वास्तविक विज्ञान, या एक कला, या इन दोनों का एक संयुक्त रूप समझते हैं।
2. ‘Self-Reliance’ पर निबन्ध।
3. निस्सन्देह यहाँ इमर्सन का संकेत विचार की स्वसंगति के बजाय कर्म की स्वसंगति से है। लेकिन यही बात कुछ स्थितियों में विचार की स्वसंगति के बारे में भी कही जा सकती है। जैसा कि ब्रेडले ने Appearance and Reality में कहा है, “सोचने के लिए आपको हर हालत में अपने सामने कोई मानक रखना पड़ेगा।” सोचना एक खेल है और “यदि आप खेल खेलने बैठते हैं तो खेलने का केवल एक तरीका होता है।” इस तरह नैतिकता के नियमों को खेल के नियम माना जा सकता है। लेकिन यह खेल ऐसा है जिसे हमें सदैव खेलते रहना पड़ता है। हम सोचने से छुट्टी ले सकते हैं और तब सोचने के बजाय अनभव कर सकते हैं या सपना देख सकते हैं, लेकिन सोच-विचार के नियम हमें ऐसा करने से रोक नहीं सकते। इसके विपरीत, नैतिकता का दावा है कि सब कोई उसके अधिकार-क्षेत्र में आते हैं। विचार का यह नियम नहीं है कि आपको हमेशा विचार करते रहना पड़ेगा; लेकिन कर्म का यह नियम है कि आपको हमेशा वह काम करते रहना पड़ेगा जो दी हुई परिस्थितियों में उचित हो।
4. ऐसे नियम, जैसे अर्थशास्त्र के हैं, दो तरह से सोपाधिक हैं—एक उन स्थितियों की दृष्टि से जिनमें वे लागू होते हैं, और दूसरे उस साध्य की दृष्टि से जिसके कारण वे लागू होते हैं।

सोपाधिक नहीं बल्कि निरुपाधिक या निरपेक्ष होते हैं। यह सच है कि इमर्सन ने स्वसंगति का जो विरोध किया है उसका समर्थन उस उपदेशक के विरोधी कथन से भी होता है जिसने कहा था कि “बहुत अधिक सदाचारी न बनिए।”¹ लेकिन यदि इस उक्ति का कोई समझ में आ सकनेवाला अर्थ है तो हमें ‘सदाचारी’ शब्द को कुछ संकीर्ण अर्थ में लेना चाहिए। इसका यह मतलब नहीं लिया जा सकता कि हमें बहुत ज्यादा हद तक वह नहीं करना चाहिए जो हमें करना चाहिए। इस तरह तो वदतोव्याघात-दोष हो जाएगा। यदि हमें कुछ विशेष नैतिक नियमों के पालन के बारे में बहुत ही दुराग्रही नहीं होना है तो ऐसा इसलिए कि कुछ और नैतिक नियम या सिद्धान्त हैं जिनकी प्रेरक शक्ति और भी ऊँची किस्म की है और इसलिए जिनको प्राथमिकता देनी है। सर्वोच्च नैतिक सिद्धान्त, जो भी वह हो, अपना आदेश हमारे ऊपर निरपेक्ष या निरुपाधिक रूप से लागू करता है, और प्रतिवाद की गुंजाइश नहीं छोड़ता। जो हमें करना चाहिए वह हमें करना चाहिए। कोई भी इससे ऊँचा नियम ऐसा नहीं हो सकता जो नैतिक आदेश को हटा सके।

निश्चय ही, कुछ और नियम भी ऐसे हैं जो शायद ही इससे कम निरपेक्ष लगें, क्योंकि उनका ऐसे साध्यों से सम्बन्ध होता है जिन्हें हर कोई स्वभावतः पाना चाहता है। इस प्रकार, हर कोई सुखी होना पसन्द करेगा; और फलतः यदि सुखी होने का कोई व्यावहारिक विज्ञान हो तो हर कोई उसके नियमों को मानने के लिए बाध्य होगा। तदनुसार कांट ने ऐसे नियमों को दृढोक्त (assertorial) कहा था,² क्योंकि यद्यपि वे इस प्राक्कल्पना पर निर्भर हैं कि हम सुख चाहते हैं तथापि हरेक के बारे में दृढ़ता के साथ कहा जा सकता है कि वह इस साध्य को पाना चाहता है। इसी तरह बौद्धिक पूर्णता एक ऐसा साध्य है जिसकी चाह किये बिना कोई बुद्धिमान प्राणी नहीं रह सकता। शायद ऐसा कोई नहीं होगा जो भरसक न्यूटन की तीक्ष्णता, या शेक्सपियर या गेटे की ग्रहण-शक्ति को न पाना चाहता हो। अतः यदि कोई विज्ञान ऐसा हो जो इस तरह की पूर्णता को प्राप्त करने का उपाय बता सके तो उसके नियम लगभग सर्वत्र लागू होंगे।

फिर भी इस तरह के नियम तक आचार के नियमों की पूरी बराबर नहीं कर पाएँगे। यदि वे सार्वभौम हों तो उनकी सार्वभौमता इस बात पर निर्भर होगी कि वे जिस साध्य से सम्बन्धित होंगे उसे हरेक चाहता है; लेकिन आचार के नियम सब मनुष्यों पर लागू होते हैं, वे चाहे जो भी चाहते या न चाहते हों। निस्सन्देह यदि सुख का सदाचार से और दुख का कदाचार से अनिवार्य सम्बन्ध सिद्ध कर दिया जाए, तो सुख के नियमों का पालन करने का आबन्ध उसी तरह निरपेक्ष होगा जिस तरह नैतिक नियम का पालन करने का आबन्ध; लेकिन केवल इस कारण कि ये दोनों उस हालत में अभिन्न हो जाएँगे। इसी तरह, यदि हम कार्लाइल के इस मत को अक्षरशः मान लें कि सारी बौद्धिक पूर्णता की जड़ नैतिकता होती है जिससे आदमी की अच्छाई ठीक उसकी बुद्धि के अनुपात में होती है, तो यहाँ भी बौद्धिक पूर्णता की प्राप्ति के नियम निरपेक्ष हो जाएँगे, लेकिन केवल इस कारण कि वे नैतिक हो जाएँगे।

I. स्टीफेन का Science of Ethics, पृ० 418 देखिए। व्यावहारिक दूरदर्शिता भी यह कहती लगती है कि “यदि तुम सुखी होना चाहते हो तो अच्छे बनो;” लेकिन साथ ही वह जोर देकर यह भी कहती है कि “बहुत अधिक अच्छे न बनो।”

2. Metaphysics of Morals, Section 2.

अतः नैतिक नियम विलक्षण होता है। वही एकमात्र निरपेक्ष आदेश है।¹

यहाँ तक हमने यथाशक्ति काण्ट का अनुसरण किया है। लेकिन इसमें दो बातें ऐसी हैं जिनकी हल्की-सी आलोचना जरूरी लगती है या कम-से-कम जिनके बारे में थोड़ी-सी सावधानी रखना अपेक्षित है।

(1) नैतिक नियम को एक आदेश कहना कुछ भ्रामक है। कम-से-कम ऐसा कहने से नैतिक नियम के स्वरूप के बारे में एक ऐसी धारणा प्रकट होती है जिस पर आगे विचार करना पड़ेगा। उसे आदेश कहना 'करना पड़ेगा' के स्वरूपवाला बताना है, न कि 'करना चाहिए' के स्वरूपवाला। असल में उसका इस तरह वर्णन करना चाहिए कि वह एक आदर्श पर आधारित प्रतीत हो।

(2) नैतिक नियम को निरपेक्ष या निरुपाधिक कहते हुए हमें यह याद रखना चाहिए कि इस समय निरपेक्ष केवल यह सिद्धान्त दिखाई देता है कि जब हम जो काम उचित है उसे जानते हैं तब हमें उसे अवश्य करना चाहिए। यह देखना फिर भी बाकी रहता है कि जो उचित है उसका निर्णय करने के लिए कोई नियम स्थिर करना सम्भव है या नहीं। यदि ऐसा कोई नियम है तो वह निरपेक्ष होगा; लेकिन यह भी सम्भव है कि कोई ऐसा नियम हो ही नहीं। यदि यह सच हो तो निरपेक्ष आदेश की बात करना कुछ भ्रामक होगा।

नैतिक नियम के बारे में इन सामान्य बातों को कहने के बाद अब हम यह पूछ सकते हैं कि जो नियम इस प्रकार हमारे ऊपर निरपेक्ष रूप से लागू होता है वह ठीक-ठीक क्या है।

भाग 2 : नैतिक नियम के बारे में विभिन्न धारणाएँ

5. कबीले का नियम

हम पहले ही देख चुके हैं कि नियम की धारणा सबसे पहले जिस रूप में सामने आती है वह है कबीले या कबीले के मुखिया के नियम की धारणा।² लेकिन जल्दी ही यह महसूस हो जाता है कि वह निरपेक्ष नहीं है। वह प्रायः आत्मविरोधी हो जाता है और चिन्तनशील बुद्धि किसी ऐसी चीज़ की माँग करने लगती है जो अधिक स्वसंगत हो। अधिक-से-अधिक वह हमें 'करना पड़ेगा' दे सकता है, न कि 'करना चाहिए' और स्वतन्त्र मनुष्य जल्दी ही इस बाहरी शासन के विरुद्ध विद्रोह कर बैठता है।

6. ईश्वर का नियम

इससे अधिक उन्नत अवस्था में नैतिक नियम को देश के नियम से भिन्न माना जाता है और उसे ऐसा सिद्धान्त समझा जाता है जिसे किसी मनुष्य या मनुष्यों के समुदाय के कारण नहीं बल्कि ईश्वर या देवताओं के कारण बल प्राप्त होता है।

1. इस विषय पर काण्ट का *Metaphysic of Morals*, Section 2 द्रष्टव्य है। क्लिफोर्ड के निबन्ध 'On the Scientific Basis of Morals' के शुरू के परिच्छेद भी शान-वर्धक हैं, हालाँकि वह यहाँ दिये हुए मत को पूरी तरह से नहीं मानता।
2. इस तरह के नियम का एक आजकल का उदाहरण एक पहाड़ी स्त्री की इस प्रसिद्ध बात में मिलेगा जो उसने सुली के निकट खड़े अपने पति से कही थी, "मेरे प्यारे डोनल्ड, ऊपर चढ़ो, यह जमींदार की आशा है।" पीछे पृ० 92 पर उद्धृत रेंटिगोन के इष्टिकोण से इसकी तुलना कीजिए।

इस तरह के नियमों का सबसे प्रसिद्ध उदाहरण यहूदियों के दस धर्मविशेषों में दिखाई देता है। लेकिन इनमें भी विरोध पैदा हो सकता है, और तब उनमें कुछ संशोधन की जरूरत होती है। इसके अलावा, नैतिक बुद्धि जल्दी ही यह पूछने लगती है कि दैवी नियम का प्रामाण्य किस पर आधारित है। यदि वह शक्तिशाली अलौकिक सत्ताओं के आदेश मात्र पर आधारित है तो उसका स्वरूप अभी भी वही 'करना पड़ेगा' का है, न कि 'करना चाहिए' का। यदि ईश्वर स्वयं सदाचारी न हो तो उसका नियम उसकी श्रेष्ठ शक्ति मात्र के कारण हमारा नैतिक कर्तव्य नहीं बन सकता। लेकिन यह पूछना कि ईश्वर सदाचारी है या नहीं, एक ऐसे नियम की माँग करना है जो स्वयं ईश्वर से भी ऊपर हो और जिस देखते हुए ईश्वर के ऊपर भी निर्णय दिया जा सकता हो। इसलिए ईश्वर के नियम को अन्तिम नहीं माना जा सकता।

7. प्रकृति का नियम

इस कठिनाई से बचने के लिए कभी-कभी यह माना जाता है कि सबसे आधारभूत नियम सब नियमों में वह है जो चीजों की प्रकृति में विद्यमान रहता है। खास तौर से प्राचीन यूनानी नीतिशास्त्र में प्रकृति की धारणा बहुत प्रमुख काम करती है। यूनानियों ने प्रकृति को वस्तुओं के उस तात्त्विक स्वरूप के रूप में समझा था जो उनके ऊपरी दिखावे के नीचे अवस्थित रहता है। स्टोइकों ने 'प्रकृति के अनुसार रहो' यह प्रसिद्ध बात इसी दृष्टि से कही थी। आधुनिक युग में भी, खास तौर से सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और अठारहवीं शताब्दी के अधिकांश में प्राकृतिक नियम की बात बहुत कही गई है। शायद नीतिशास्त्र में इस प्रत्यय का एक सबसे अधिक उल्लेखनीय प्रयोग सैम्युअल क्लार्क (Samuel Clarke) (1675-1729) की विचार-धारा में पाया जाता है। क्लार्क का मत यह था कि वस्तुओं के कुछ अन्तर और सम्बन्ध उनकी स्वकीय प्रकृति में निहित होते हैं, तथा कोई भी जो उनका सावधानी और निष्पक्षता के साथ अवलोकन करेगा, इन अन्तरों और सम्बन्धों को जान जाएगा।

"वस्तुओं के प्राकृतिक और नैतिक दोनों ही प्रकार के अन्तर, सम्बन्ध और अनुपात, जिनके बारे में सब निष्पक्ष बुद्धिवाले लोग उपर्युक्त रीति से स्वभावतः एकमत होंगे, निश्चित, अपरिवर्तनीय और प्रकृतिसिद्ध होते हैं।¹ इस प्रकार प्रकृति के जो नियम ज्ञात होते हैं उन्हें सर्वत्र सभी लोगों की तर्कबुद्धि स्वाभाविक और आवश्यक रूप से स्वीकृति देती है, उसी प्रकार जिस प्रकार सब लोग वर्ष की सफ़ेदी या धूप की चमक के बारे में एकमत होते हैं।"² यह बात भी कि विभिन्न वस्तुओं के इन विभिन्न सम्बन्धों से अनिवार्यतः कुछ वस्तुओं का अन्य वस्तुओं से साम्य या वैषम्य पैदा होता है, अथवा विभिन्न बातों या सम्बन्धों के लागू होने की योग्यता या अयोग्यता पैदा होती है, उतनी ही स्पष्ट है जितनी यह कि रेखागणित या अंकगणित में अनुपात नाम की एक चीज है। या पिंडों की आकृतियों की परस्पर तुलना करने में एकरूपता या अनेकरूपता नाम की चीज है।"³

यहाँ 'वस्तुओं की योग्यता' (fitness of things) का सुप्रसिद्ध सिद्धान्त है। लेकिन इस तरह के जिन कथनों को नैतिक सिद्धान्त का आधार बनाया जाता है उन सबमें एक भ्रांति स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। प्रकृति में निश्चय ही नियम हैं; लेकिन, जैसा कि हम देख चुके हैं, ये घटनाओं के होने के एकरूप तरीकों के कथन-

1. Natural Religion, पृ० 44-5।

2. वही, पृ० 66।

3. वही, पृ० 29।

मात्र हैं, और इस तरह के नियम अशुभ घटनाओं में भी ठीक वैसे ही प्रकट होते हैं जैसे शुभ घटनाओं में। बम फटने से किसी इमारत का नष्ट होना भी प्रकृति के नियमों से अनुमानित वस्तुओं की योग्यता के अनुसार ही है, ठीक वैसे ही जैसे सौर-परिवार के ग्रहों की गतियाँ।¹ यदि योग्यता को किसी अर्थ में नैतिक सिद्धान्तों के आधार के रूप में उपयोगी होना है तो उसे किसी चीज़ के लिए योग्यता होना चाहिए—अर्थात् उसका कुछ सम्बन्ध किसी साध्य या आदर्श से होना चाहिए, और प्राकृतिक नियमों को देखने मात्र से उसका ज्ञान होना कभी भी सम्भव नहीं है।² 'है' के इस तरह के किसी भी विश्लेषण से 'चाहिए' का ज्ञान कदापि नहीं हो सकता।

1. इस भ्रांति के उदाहरण के बतौर प्राकृतिक और नैतिक व्यवस्था के सम्बन्ध की उन आदिम-युगीन धारणाओं की ओर संकेत किया जा सकता है जिनके अनुसार कोई आदमी एक अपराध करके भूचाल पैदा कर सकता है। इस तरह के कुछ रोचक तथ्य D' Alviella के Hibbert Lectures (पृ० 168) में पाए जाएँगे। इस भ्रांति को दूर करने के लिए मिल का 'Nature' के ऊपर निबन्ध (उसके ग्रन्थ Three Essays on Religion में) अभी भी उपयोगी है। Marshall का Principles of Economics (तीसरा संस्करण), पृ० 55-7 भी द्रष्टव्य है।

2. देखिए Le Rossignol का Ethical Philosophy of Samuel Clarke, पृ० 43। यहाँ क्लार्क के सिद्धान्त पर Sir Leslie Stephen की टिप्पणी (English Thought in the Eighteenth Century, जिल्द 2, पृ० 7) भी ध्यान देने योग्य है।

उसने लिखा है, "इस वर्ग के सारे तर्कों में, यहाँ तक कि सबसे परिष्कृत तर्कों में भी, एक कठिनाई स्पष्टतः दिखाई देती है। क्लार्क के दर्शन के सामान्य अभ्युपगमों (postulates) के अनुसार यह सिद्धान्त प्रकृति के नियमों पर लागू हो सकता है, लेकिन नैतिक नियम पर इसे शायद ही लागू किया जा सके। प्रत्येक विज्ञान थोड़े-से प्राथमिक सत्यों से निगमनात्मक अनुमान की प्रक्रिया से निकाला जा सकता है। इस प्रकार, उदाहरणार्थ, पर्याप्त ज्ञान रखनेवाला कोई प्राणी मानवीय प्रकृति के बारे में एक सम्पूर्ण सिद्धान्त की रचना कर सकता है, जिसका प्रत्येक तर्कवाक्य या तो स्वयंसिद्ध होगा या स्वयंसिद्ध वाक्यों से पूरी तरह निगम्य होगा। ऐसे तर्कवाक्य नैतिक नहीं बल्कि वैज्ञानिक अर्थ में नियमों का रूप ग्रहण करेंगे; संयोजक 'है' होगा, न कि 'चाहिए'; सामान्य सत्र होगा 'सब मनुष्य ऐसा करते हैं', न कि 'तुम ऐसा करोगे'। नैतिक नियम के बारे में जिस भाषा का प्रयोग वह करता है वह वास्तव में केवल वैज्ञानिक नियम पर ही लागू होती है। यह कहना शायद तर्कसंगत प्रतीत होगा कि 'सब मनुष्य मरणशील हैं', यह तर्कवाक्य कुछ स्वयंसिद्धियों से निगमन द्वारा सिद्ध किया जा सकता है, अतः इसका निषेध करना व्याघातयुक्त होगा। लेकिन 'तुम हत्या नहीं करोगे,' यह वाक्य एक धमकी है, न कि किसी सत्य का कथन; और क्लार्क ने इसे उसी वर्ग के अन्तर्गत लाने की जो कोशिश की है वह भ्रामक है और समूचे सिद्धान्त के लिए घातक है। यह असल में मानवीय आचरण की कला और उसके विज्ञान के बीच भेद न जानने का फल है।"

मैंने यह उद्धरण इस उद्देश्य से दिया है कि यह न केवल क्लार्क के प्राकृतिक और नैतिक नियमों में भेद न करने की खालती को प्रकट करता है, बल्कि इस दूसरी खालती को भी कि नैतिक नियम और किसी श्रेष्ठ पुरुष का आदेश दोनों एक चीज़ हैं। एक नैतिक नियम के रूप में यह कथन कि 'तुम हत्या नहीं करोगे' कोई धमकी नहीं है, बल्कि एक मानवीय सिद्धान्त का कथन है। इसी तरह नीतिशास्त्र को आचरण की कला के रूप में दिखाना एक भूल मालूम होती है।

बलाक के सिद्धान्त से मिलते-जुलते सिद्धान्त आजकल भी अनेक लेखकों ने सामने रखे हैं¹, लेकिन उन सबमें वही घातक भूल दिखाई देती है।

8. नैतिक संवित्ति (The Moral Sense)

यदि प्रकृति के नियम या ईश्वर के नियम हमें कोई नैतिक सिद्धान्त प्रदान करते हैं तो इसका कारण केवल यह है कि वे किसी रूप में स्वयं हमारी चेतना को रुचते हैं कि हम किसी रूप में उनका पालन या अनुसरण करने को उस आदर्श की प्राप्ति का साधन महसूस करते हैं जिसे हम अपने साथ लेकर आते हैं। इस तरह के बाह्य नियमों और स्वयं अपनी बुद्धि के बीच सम्बन्ध जोड़ने का एक स्पष्ट तरीका यह कहना है कि हमारे अन्दर एक सहज संवित्ति है जो हमसे कुछ बातों का अनुमोदन कराती है और कुछ बातों का अननुमोदन।

नीतिशास्त्र के अनेक अन्य दृष्टिकोणों की तरह इस दृष्टिकोण का भी एक लम्बा इतिहास रहा है। यह अनिवार्यतः उस प्राचीन यूनानी मत से जुड़ा हुआ है जो सुन्दर और शुभ के बीच अभेद बताता है। यूनानी भाषा में *tokalon* का प्रयोग हमेशा सुन्दरता और नैतिक उत्कृष्टता दोनों के लिए होता था। इस प्रकार स्टोइकों का यह सूत्र—“*di monon agathon to kalon*” यह अर्थ रखता है कि केवल सुन्दर (अर्थात् नैतिक दृष्टि से उत्कृष्ट) ही शुभ है।

आधुनिक काल में भी इस तरह का मत अनेक बार सामने आया है। दार्शनिक हर्बर्ट ने शुभत्व और सौन्दर्य के अभेद पर बहुत जोर दिया था और नीतिशास्त्र को निश्चित रूप से सौन्दर्यशास्त्र का एक अंग माना था।² नैतिक निर्णय के साथ सौन्दर्यात्मक अनुभूति की तरह की जो अनुभूति पाई जाती है उसकी धारणा केम्ब्रिज प्लेटोवादियों के नाम से प्रसिद्ध सम्प्रदाय के कुछ लेखकों, विशेषतः हेनरी मोर, की पुस्तकों में भी पाई जाती है। लेकिन जो लेखक नैतिक संवित्ति की धारणा के प्रति-निधियों के रूप में विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं, वे हैं शेफ्ट्सबरी (1671-1713) और हचेसन (1694-1747)।³

1. उदाहरणार्थ, जेम्स हिन्टन (James Hinton) का सिद्धान्त—यदि उसका वाक्य कोई सिद्धान्त हो—बलाक के सिद्धान्त से बहुत मिलता-जुलता लगता है। उसके विचारों का एक रोचक वर्णन *Mind, old series, Vol. IX* में है।
2. उदाहरण के लिए उसका *Science of Education* देखिए, जिसका हाल में मि० और मिसेज फेलकिन (Felkin) ने अंग्रेजी में अनुवाद किया है। बोसान्के का *History of Aesthetics*, पृ० 369 भी देखने योग्य है। इस सिलसिले में रस्किन का यह कथन ध्यान देने योग्य है कि “अभिरुचि (Taste) नैतिकता का एक अंग और लक्षण मात्र नहीं है बल्कि एकमात्र नैतिकता है। किसी भी जीवित प्राणी को पहला, अन्तिम और सबसे निजी सवाल उसकी नैतिकता को जाँचने के लिए यह पूछना चाहिए कि ‘तुम क्या पसन्द करते हो? मुझे यह बता दो कि तुम क्या पसन्द करते हो और मैं तुम्हें बता दूँगा कि तुम क्या हो,’ (Sesame and Lilies)। ऐडम स्मिथ का *Theory of the Moral Sentiments*, भाग 4, अनुभाग 2 भी देखिए। ऊपर खण्ड 1, अध्याय 3, अनु० 5 में अरस्तू का जो कथन उद्धृत किया गया है वह भी द्रष्टव्य है।
3. शेफ्ट्सबरी इस मत का आदिप्रवर्तक था और बाद में इसका विकास और प्रसार मुख्यतः हचेसन के कारण हुआ। सिजबिक का *History of Ethics*, पृ० 189-90 तथा 201-3 देखिए। यहाँ ‘संवित्ति’ शब्द का जिस अर्थ में प्रयोग हुआ है उसे बताने की शायद ही

शेफ्ट्सबरी कहता है, (Characteristics, 'An Essay on the Freedom of Wit and Humour') "शायद कोई जो एक भद्र पुरुष दिखाई देता हो, मुझसे पूछे कि 'जब कोई देखने वाला न हो तब मैं गन्दा क्यों न रहूँ?' यह प्रश्न सुनकर सबसे पहले मेरा यह विश्वास हो जाएगा कि जो यह सवाल पूछ सकता है उसे स्वयं एक बहुत ही गन्दा आदमी होना चाहिए; और कि सच्ची सफ़ाई क्या है, यह उसे समझाना मेरे लिए एक बहुत मुश्किल काम है। फिर भी, इसके बावजूद मैं उसे एक छोटा-सा उत्तर देना चाहूँगा और कहूँगा कि 'मेरे शरीर में एक नाक है, इसलिए।' शायद वह फिर पूछे कि 'अगर मुझे जुकाम हो तो?' या कि 'यदि मेरी सूँघने की शक्ति स्वाभाविक रूप से इतनी तेज न हो तो?' इसका जवाब शायद मैं यह दूँगा कि 'मैं स्वयं को गन्दा देखना उतना ही कम चाहूँगा जितना कम अन्य लोग मुझे गन्दा देखना चाहेंगे।' लेकिन अगर अँधेरा हो तो? क्यों? तब मेरी नाक या आँख तो काम नहीं करेगी, लेकिन मेरी इस बात की संवित्ति तो तब भी वही बनी रहेगी। घृणित वस्तु के विचार मात्र से मेरी प्रकृति चौंक पड़ेगी; और यदि नहीं, तो मेरी प्रकृति अवश्य ही बहुत गर्द-गुजरी होगी और मुझे अपने से उसी तरह घृणा होगी जिस तरह एक पशु से। यदि मेरा अपने प्रति वस्तुतः जो कर्तव्य है और एक मनुष्य के रूप में मेरे लिए जो उचित है उसकी अच्छी संवित्ति मुझे न हो, तो मैं अपने को आदर की दृष्टि से कभी न देख सकूँगा।" आगे उसने कहा है, "बहुत-कुछ इसी तरह से मैंने यह सवाल सुना है कि 'कोई आदमी अँधेरे में ईमानदार क्यों हो?' मैं नहीं कहूँगा कि इस सवाल को पूछनेवाला क्या होगा," इत्यादि। इस प्रकार शेफ्ट्सबरी की यह धारणा बनी कि सदाचारी होना और 'कलामर्मज्ञ' होना एक ही बात है, कि परिष्कृत अभिरुचि हमारा एकमात्र पथ-प्रदर्शक है। "दार्शनिक बनने का ठीक अर्थ केवल अभिरुचि को और परिष्कृत करना है।"

इस दृष्टिकोण में जो सचाई का आभास है, वह मुख्यतः इसलिए कि भली-भाँति विकसित चरित्र वाले के अन्दर नैतिक नियम का पालन करने की आदत एक दूसरी प्रकृति बन जाती है और फलतः उचित का चुनाव करना और अनुचित से दूर रहना उसके लिए एक तरह की सहज-प्रवृत्ति जैसी बात हो जाती है। इस दृष्टिकोण से बिल्कुल उचित रूप से यह कहा जा सकता है कि नैतिक संवित्ति एक तरह की अभिरुचि है। लेकिन यह याद रखना चाहिए कि सौन्दर्य की, और जो उचित है उसकी भी संवित्ति की व्याख्या की जा सकती है और उसका तर्क से समर्थन किया जा सकता है। यद्यपि आम तौर पर यह कहा जाता है कि 'अभिरुचियों को लेकर कोई झगड़ा नहीं किया जा सकता', तथापि उनके बारे में हम हमेशा ही वादविवाद करते हैं और उन्हें उचित या अनुचित बताते हैं। अतः नैतिक अभिरुचि यहाँ तक सौन्दर्यात्मक अभिरुचि से काफ़ी मिलती-जुलती है, और उसे संवित्ति कहना काफ़ी सही माना जा सकता है।¹ लेकिन चूँकि वह एक अनिवार्य संवित्ति मात्र नहीं है

जल्दतर पड़ेगी। यह प्रयोग उससे भिन्न है जो स्वाद, स्पर्श, दृष्टि इत्यादि की संवित्ति की बात कहने में अभिप्रेत है। इन 'संवित्तियों' से केवल वस्तुओं के विशेष गुणों का बोध होता है, जबकि 'नैतिक संवित्ति' या 'सुन्दरता की संवित्ति' ऐसे गुणों के ऊपर निर्णय देती है। 'नैतिक संवित्ति' कहने का उद्देश्य केवल यह बताना है कि वह निर्णय की एक अन्तःप्रज्ञात्मक शक्ति है। इसी तरह हम कह सकते हैं कि स्वाद-भर्म्मज्ञ या चाय को चखकर गुण बतानेवाले के निर्णय एक संवित्ति पर आधारित होते हैं; लेकिन ऐसे निर्णय 'स्वाद की संवित्ति' मात्र पर निर्भर नहीं होते, क्योंकि उनमें बोध के साथ-साथ एक मानक भी शामिल रहता है।

1. इस सिलसिले में ध्यान रखना चाहिए कि लम्बे अभ्यास के बाद जटिल बौद्धिक प्रक्रियाएँ भी

बल्कि उसकी तर्कनापरक व्याख्या भी की जा सकती है, इसलिए किसी भी ऐसे नैतिक सिद्धान्त को पूर्ण नहीं कहा जा सकता जो उसे एक संवित्ति मात्र मानता हो और उसकी व्याख्या करने की चेष्टा न करे।

इसके अलावा, जिसका स्पष्टीकरण हो सकता है उसकी प्रायः आलोचना भी की जा सकती है। उदाहरणार्थ, जब सौन्दर्य की संवित्ति का स्पष्टीकरण दिया जा चुका हो तब जिस रूप में वह व्यक्ति-विशेषों के अन्दर पाई जाती है उसकी आलोचना भी सम्भव हो जाती है और यह कहना सम्भव हो जाता है कि कुछ लोगों की सौन्दर्यात्मक अभिरुचि अच्छी है जब कि अन्यो की दोषपूर्ण है। इसी तरह, जब नैतिक संवित्ति का स्पष्टीकरण हो जाएगा तब स्वाभाविक रूप से विभिन्न व्यक्तियों की नैतिक अभिरुचियों पर, यहाँ तक कि विभिन्न युगों और जातियों की नैतिक अभिरुचियों पर भी, निर्णय देना सम्भव हो जाएगा। अतः इन कारणों से एक ऐसा नीतिशास्त्रीय सिद्धान्त, जो नैतिक संवित्ति के विचार-मात्र से सन्तुष्ट हो जाता है, सन्तोषजनक मुश्किल से ही माना जाएगा।

ऐसी बन जाती है कि उन्हें अन्तःप्रश्न प्रत्यक्ष से अलग पहचानना मुश्किल हो जाता है। जो आदमी किसी कला में बहुत ही निपुण होता है वह किसी कलाकृति में क्या बाकी रह गया है, यह बात एक ही दृष्टि में जान लेता है। फिर भी हम इस तरह के मामलों में किसी संवित्ति की परिकल्पना नहीं करते, क्योंकि हम जानते हैं कि विशेषज्ञ के निर्णय वास्तव में बौद्धिक आधार पर प्रतिष्ठित होते हैं (हालाँकि प्रायः अपने निर्णय के आधार को साफ़-साफ़ बताने में वह असमर्थ रहता है)। इससे मिलता-जुलता एक उदाहरण उस परामर्श में देखा जा सकता है जो लार्ड मैन्फील्ड (Lord Mansfield) ने एक आदमी को दिया था जो अच्छी व्यावहारिक बुद्धि रखता था और जिसे एक उपनिवेश का राज्यपाल बनने पर अदालती काम का अनुभव या कानूनी शिक्षा के न होने के बावजूद वहाँ के न्यायालय के प्रधान का काम करना था। उसे परामर्श यह दिया गया था कि वह निर्णय बिना किसी संकोच के दे, लेकिन कारण बताने की कमी कोशिश न करे, क्योंकि वे लगभग हमेशा ही ग़लत होंगे (मिल का Logic, खण्ड 2, अध्याय 3, अनु० 3)।

इस तरह के मामले में काम के हेतु अप्रकट रहते हैं, लेकिन किसी को भी इसमें सन्देह नहीं होगा कि ढूँढ़ने पर वे मिल जाएँगे। इस प्रकार नैतिक जीवन में अनेक बार ऐसा लगता है कि सहज अपने कर्तव्य को सहज रूप से जानता है, लेकिन प्रायः वह कोई हेतु नहीं बता पाता। यही तथ्य है जिसके कारण यह प्रतीत होता कि जैसे कोई विशिष्ट 'नैतिक संवित्ति' हो।

लेकिन सचाई यह है कि इस दृष्टि से देखने पर बौद्धिक अन्तर्दृष्टि तक एक तरह की विकसित अन्तःप्रज्ञा पर निर्भर लगेगी। जो कुछ भी हम वास्तव में जानते हैं वह सब चीज को सीधे देखकर जानते हैं, न कि उसके बारे में तर्क-वितर्क करके। जैसा कि गेटे ने कहा है, "दुनिया में जितनी भी सोच-विचार की प्रक्रिया है वह हमें विचार के पास नहीं ले जाती; हमें प्रकृति से सही होना चाहिए ताकि सद्बिचार हमारे पास ईश्वर की मुक्त सन्तानों की तरह आ सकें और चिल्लाकर कहें कि 'हम ये हैं'।" नैतिक प्रत्यक्ष में भी यही बात है। यह विकसित संवित्ति या अन्तःप्रज्ञा पर निर्भर होता है, लेकिन किसी दुर्बोध संवित्ति या आन्तरिक नियम से रहित संवित्ति पर नहीं। Mach ने (Science of Mechanics, अध्याय 1, अनु० 2) कहा है, "हमारा सहज-प्रवृत्तिमूलक ज्ञान हमें उस नियम में पहुँचाता है जो स्वयं उस ज्ञान की व्याख्या करता है और जो उस ज्ञान के अस्तित्व से पुष्ट होता है।" हमारी सहज-प्रवृत्तिमूलक नैतिकता के साथ भी यही बात है।

असल बात यह है कि नैतिक संवित्ति को न शेफ्ट्सबरी ने और न हचेसन ने नीतिशास्त्र का पर्याप्त आधार माना था। उन दोनों ने ही इसका कारण मनुष्य की सामाजिक प्रकृति को बताने की कोशिश की थी। दोनों ने ही यह सोचा था कि परिष्कृत नैतिक अभिरुचि जिस बात का अनुमोदन करती है वह सारे समाज के लिए हितकारी होती है, वह 'अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख' प्रदान करने की ओर प्रवृत्त होती है।¹ उन्होंने आग्रह केवल इस बात का किया था कि इस सिद्धान्त पर विचार करना जरूरी नहीं है, क्योंकि यह बात स्वभावतः हर परिष्कृत अभिरुचि में निहित रहती है।

लेकिन, निश्चय ही, नैतिक आचार में हम एक ऐसा सिद्धान्त चाहते हैं जो सबंध लागू हो सके, केवल परिष्कृत अभिरुचि की बातों पर नहीं; या कम-से-कम हम यह निश्चित रूप से जानना चाहते हैं कि परिष्कृत अभिरुचि क्या है, ताकि यथाशक्ति सारी मानव-जाति में उसका विकास किया जा सके। इस तरह नैतिक संवित्ति कलात्मक संवित्ति से भिन्न होती है। जिस आदमी में कलात्मक संवित्ति की कमी होती है वह समाज का सम्माननीय सदस्य बना रह सकता है; लेकिन जिसके अन्दर नैतिक संवित्ति की कमी होती है उसकी ऐसी संवित्ति रखने वाले सभी निन्दा करते हैं। जब नैतिक संवित्ति को सौन्दर्य की संवित्ति के सदृश माना जाता है तब जिस चीज को पर्याप्त रूप से स्पष्ट नहीं किया जाता, वह है नैतिक संवित्ति की यही श्रेष्ठता।

9. अन्तर्भावना का नियम

इस बात में शेफ्ट्सबरी के मत की असन्तोषजनकता से बिशप बटलर (Bishop Butler) (1692-1752) बहुत प्रभावित हुआ था; और इस कमी को दूर करने के लिए उसने नैतिक संवित्ति की जगह अन्तर्भावना का विचार प्रस्तुत किया। अपने-आपमें यह परिवर्तन बहुत अल्प है; लेकिन अन्तर्भावना से बटलर का मतलब उससे बहुत भिन्न है जो शेफ्ट्सबरी का नैतिक संवित्ति से था। बटलर ने मानवीय प्रकृति को एक आंगिक साकल्य (organic whole) के रूप में समझा था जिसमें अनेक तत्त्व होते हैं और कुछ स्वभावतः अन्यो से गौण होते हैं। इस प्रकार, हमारी प्रकृति के अन्दर अनेक विशेष मनोवेग या आवेग होते हैं जो हमसे विशेष वस्तुओं का अनुसरण करवाते हैं; लेकिन ये सब स्वभावतः एक ओर आत्म-प्रेम (Self-love) से और दूसरी ओर परहितैषणा (Benevolence) से गौण हैं; अर्थात् हमारे लिए अपने या दूसरों के हित को देखते हुए अपने मनोयोगों को रोकना या सही दिशा में रखना स्वाभाविक है। लेकिन मानवीय प्रकृति में एक और भी तत्त्व है जो स्वभावतः आत्म-प्रेम और परहितैषणा दोनों से भी ऊँचा है। यह औचित्य के नियम पर विचार करने वाला तत्त्व है; और बटलर ने इसे ही अन्तर्भावना कहा था।

उसने इस तत्त्व को मानव-प्रकृति में सर्वोपरि होने के कारण निरपेक्ष माना था। "इस प्रकार उस तत्त्व को, जिसके द्वारा हम अपने ही हृदय, मनोवृत्ति और कर्माँ की जाँच करते हैं और उनका अनुमोदन या अननुमोदन करते हैं, न केवल कुछ प्रभाव रखने वाला समझा जाना है, क्योंकि प्रभाव रखने वाला तो हर मनोवेग, अधम-से-अधम क्षुधाओं तक को कहा जा सकता है, बल्कि इसे श्रेष्ठ, अन्य सभी तत्त्वों के

1. हचेसन ने वस्तुतः 'The greatest happiness of the greatest number' इन शब्दों का प्रयोग किया था।

ऊपर श्रेष्ठता का दावा करने वाला भी मानना है, क्योंकि आप निर्णय, पथनिर्देश और अधीक्षकता को उसके अन्दर शामिल किए बिना इस शक्ति, अन्तर्भावना, की धारणा नहीं बना सकते। यह इस धारणा अर्थात् स्वयं इस शक्ति का आवश्यक भाग है : और अधीक्षण एवं शासन करना मनुष्य की व्यवस्था और प्रकृति के अनुसार ही इसका काम है। यदि इसका बल भी उतना ही होता जितना इसका अधिकार है, अगर इसकी शक्ति भी उतनी ही होती जितनी इसकी श्रेष्ठता है, तो दुनिया पर इसका पूरा-पूरा शासन होता।" (Sermon II)

लेकिन जब यह पूछा जाता है कि इस श्रेष्ठ तत्त्व का स्वरूप क्या है, तब दो भिन्न मत सामने आते हैं। एक मत के अनुसार यह एक दुर्बोध शक्ति है जिसे हम अपने अन्दर देखते हैं और जो नियमों का विधान करती है। दूसरे मत के अनुसार यह एक सुबोध प्रभुसत्ता है जिसके आदेशों को तर्कनापरक चिन्तन-मनन में समझा जा सकता है। यह पर्याप्त रूप से स्पष्ट नहीं है कि बटलर ने अन्तर्भावना को इन दो में से किस रूप में समझा था; लेकिन उसके अनुयायी इन दोनों मतों के अन्तर को स्पष्टतः पहचानने लगे थे। पहला मत उस मत का कुछ संकीर्ण रूप है जिसे आम तौर पर अन्तःप्रज्ञावाद कहा जाता है। दूसरा मत तर्कना के नियम को मानने वाला है।

10. अन्तःप्रज्ञावाद (Intuitionism)

अन्तःप्रज्ञावाद¹ सामान्यतः यह सिद्धान्त है कि कर्म अपनी ही आन्तरिक प्रकृति के अनुसार उचित या अनुचित होते हैं, न कि किन्हीं बाह्य साध्यों के साधक या बाधक होने के कारण। इस प्रकार, सच बोलना एक कर्तव्य है, इसलिए नहीं कि वह सामाजिक कल्याण के लिए आवश्यक है, या कोई और बाहरी कारण है, बल्कि इसलिए कि वह स्वतः उचित है।² यह सिद्धान्त अनेक रूपों में पाया जाता है जो कम या अधिक दार्शनिक स्वरूपवाले हैं। इन रूपों के पूरे विवरण के लिए नीतिशास्त्र

1. अन्तःप्रज्ञावादी कहते हैं कि हम कर्मों को देखने मात्र से उनका औचित्य या अनौचित्य जान लेते हैं और इसके लिए बाहर रहनेवाले किन्हीं साध्यों से उनका सम्बन्ध जाँचने की जरूरत नहीं होती।
2. यह ध्यान देने की बात है कि 'अन्तःप्रज्ञावाद' शब्द में कुछ द्युर्थकता है। इसका प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है—एक व्यापक और दूसरा संकीर्ण। संकीर्ण अर्थ में इसका मतलब वह सिद्धान्त है जो हमारे नैतिक निर्णयों को एक प्रकार के अविश्लेष्य प्रत्यक्ष पर आधारित मानता है—ऐसे विशुद्ध अन्तःप्रज्ञात्मक विश्वास पर आधारित जिसका कोई तर्कनापरक विवरण नहीं दिया जा सकता। इस अर्थ में काएट और उसके पूर्ववर्ती क्लार्क, बोलास्टन इत्यादि, अन्तःप्रज्ञावादी नहीं थे, क्योंकि कम-से-कम काएट ने तो नैतिक निर्णय को व्यावहारिक तर्कना (practical reason) पर आधारित माना था, प्रत्यक्ष पर आधारित नहीं। लेकिन व्यापक अर्थ में इन सभी को अन्तःप्रज्ञावादी कहा जा सकता है, क्योंकि ये स्वतःसिद्ध नियमों का आश्रय लेते हैं; किसी प्रकार के शुभ के प्रत्यय का नहीं, जिसका हमारे नैतिक कर्मों को साधन माना जा सके।

डॉ० जी० ई० मूर तक को अन्तःप्रज्ञावादी कहा गया है, क्योंकि यद्यपि उन्होंने नैतिक आबन्ध को शुभ के प्रत्यय पर आधारित बताया है, तथापि शुभ को उन्होंने अपरिभाष्य कहा है! उनके मत पर बाद के किसी अध्याय में (खण्ड 2, अध्याय 6) विचार किया जाएगा।

और दर्शन के इतिहास देखने चाहिए।¹ यहाँ केवल मुख्य बातों का ही उल्लेख किया जा सकता है।

संकीर्ण अर्थ में अन्तःप्रज्ञावाद वह सिद्धान्त है जो कर्मों पर निर्णय देनेवाला अन्तर्भावना को मानता है और अन्तर्भावना को एक ऐसी शक्ति मानता है जिसके निर्णय का विरोध या जिसके निर्णय की अपील सम्भव नहीं है।

जब अन्तर्भावना को इस प्रकार नैतिक आचार का आधारभूत तत्त्व माना जाता है तब हमें यह नहीं समझना चाहिए कि वह इस या उस व्यक्ति की अन्तर्भावना है। व्यक्ति-विशेष की अन्तर्भावना केवल इस बात की चेतना होती है कि उसके अपने कर्म-उचित के उसके अपने ही मानक से संगति रखते हैं या नहीं, और यदि उसके मानक में दोष हो तो वही दोष उसकी अन्तर्भावना में भी आ जाएगा। जैसा कि रस्किन ने कहा है, उसकी अन्तर्भावना 'एक गधे की अन्तर्भावना' हो सकती है। जो आदमी अन्तर्भावना-परायण होकर कर्म नहीं करता वह निश्चय ही अनुचित कर्म करता है : वह औचित्य के स्वयं अपने मानक का भी अनुसरण नहीं करता। लेकिन यह सम्भव है कि कोई आदमी अपनी अन्तर्भावना के अनुसार चले, फिर भी उसका काम अनुचित हो, क्योंकि उसके मानक में कोई कमी हो सकती है। जो किसी दोष-पूर्ण मानक का अनुसरण करता हुआ अन्तर्भावनापरायण होकर काम करता है उसे प्रायः 'मतांध' (fanatic) कहते हैं।²

लेकिन जब काण्ट कहता है कि "भूल करनेवाली अन्तर्भावना एक असम्भव कल्पना है," या जब बटलर कहता है कि "जितनी स्पष्टतः वह श्रेष्ठ है उतनी ही उसके अन्दर शक्ति भी होती तो वह दुनिया के ऊपर पूरा-पूरा शासन करती," या जब अन्तर्भावनावादी लेखक सामान्य रूप से अन्तर्भावना को नैतिक आचार का सर्वोच्च तत्त्व कहते हैं, तब अन्तर्भावना से उनका मतलब जिस चीज से होता है उसे सार्वभौम अन्तर्भावना कहा जा सकता है। उनका मतलब कर्मों के औचित्य और अनौचित्य की उस अन्तिम पहचान से होता है जो सभी मनुष्यों में अव्यक्त रूप से रहती है, लेकिन कुछ मनुष्यों में अन्यो की अपेक्षा अधिक विकसित होती है। जो सिद्धान्त यह पहचान करवाते हैं उन्हें कभी-कभी साधारण बुद्धि (Common Sense) के सिद्धान्त कहा जाता है, क्योंकि उन्हें सम्पूर्ण मनुष्य-जाति में समान या सार्वभौम माना जाता है।³

1. अन्तःप्रज्ञावादी सिद्धान्त का सर्वोत्तम आधुनिक वर्णन मार्टिन्स के Types of Ethical Theory, Part 2 में मिलेगा। अन्तःप्रज्ञावाद की बहुत ही अच्छी आलोचना सिजविक के Methods of Ethics, खण्ड 1, अध्याय 8 और 9 तथा खण्ड 3 में की गई है। इसका इतिहास सिजविक के History of Ethics, विशेषतः पृ० 224-236, और पृ० 170-204 में देखिए।
2. ऊपर खण्ड 1, अध्याय 6, अनु० 6 देखिए। वहाँ कहा गया है कि किसी काम को हम अनुचित इसलिए कहते हैं कि वह सर्वोत्तम अभिप्रेरक से किया हुआ नहीं होता। फिर भी, कर्ता को वह सर्वोत्तम लग सकता है, आगे खण्ड 3, अध्याय 1, अनु० 14 भी देखिए।
3. इस प्रकार ऐसा मालूम पड़ेगा कि 'अन्तर्भावना' शब्द के प्रयोग में कुछ द्व्यर्थकता है। एक अन्य द्व्यर्थकता भी है जिसका उल्लेख आगे किसी प्रसंग में किया जाएगा। अन्तर्भावना से प्रायः, बल्कि हमेशा, नैतिक निर्णय के सिद्धान्त नहीं बल्कि पीड़ा का वह भाव समझा जाता है जिसका नैतिक नियम का उल्लंघन करने पर अनुभव होता है। जब हम 'अन्तर्भावना की आवाज' की बात करते हैं और अन्तर्भावना को नियम का विधान करनेवाली कहते हैं, तब हम निश्चय ही उसे पीड़ा की अनुभूति मात्र नहीं मानते, बल्कि उन सिद्धान्तों की जननी

साधारण बुद्धि के बारे में कुछ लेखकों ने इस तरह से कहा है जैसे कि वे निश्चित नैतिक सत्य हों जो मनुष्य-जाति की चेतना में अनिवर्चनीय रूप से विद्यमान हों।¹ इस मत के विरुद्ध भी वही आपत्ति की जा सकती है जो बौद्धिक सत्य-विषयक अन्तःप्रज्ञावादी मत के विरुद्ध की गई है। यह साधारण बुद्धि के इस अधिक आधारभूत सिद्धान्त के विरुद्ध है कि विश्व को एक समझ में आ सकनेवाली व्यवस्था मानना चाहिए, जिसका विवरण निश्चित रूप से तर्कना के न्यायालय में दिया जा सकता है। यदि यह सिद्धान्त गलत है तो यह विश्वास करना कठिन है कि कोई दूसरा सिद्धान्त है जिसका सार्वभौम प्रामाण्य का दावा इससे अधिक मौलिक है।

नैतिक आचार के आधार के रूप में अन्तर्भावना का अपर्याप्त होना तब और भी स्पष्ट हो जाता है जब हम यह निर्धारित करने की चेष्टा करते हैं कि वह किन नियमों का निश्चित रूप से विधान करती है। अन्तर्भावना व्यवित-विशेष की न होकर चाहे जाति-या युग की ही क्यों न हमें अभिप्रेत हो, उसकी अन्तर्वस्तु विभिन्न कालों और देशों में अलग-अलग पाई जाती है; और एक ही काल और एक ही स्थान में उसके द्वारा विहित नियम बहुत ही अनिश्चित स्वरूप के होते हैं।² इसके अलावा, विचार करने से ज्ञात होता है कि ये भिन्नताएँ यादृच्छिक नहीं हैं बल्कि इनका स्पष्ट सम्बन्ध भिन्न-भिन्न स्थितियों में मानवीय कल्याण के लिए जिन कामों की उपयोगिता होती है उनसे होता है।

सिजविक ने *Methods of Ethics*³ में साधारण नीति (Common Sense Morality) की जो सर्वांगीण परीक्षा की है उससे यह बात अच्छी तरह से प्रकट हो जाती है। इससे प्रतीत होता है कि नैतिक संवित्ति को एक अन्धी शक्ति नहीं मानना चाहिए, जो हमें रास्ता दिखाने के लिए नियमों का विधान करती हो—ऐसे नियमों का जिनका विश्लेषण या औचित्य-समर्थन न किया जा सके। इसके विपरीत, जिन नियमों का यह विधान करती है उनका तर्कना द्वारा औचित्य-समर्थन किया जा सकता है और उनकी व्याख्या की जा सकती है। असल में, केवल इस तरह के औचित्य-समर्थन और व्याख्या से ही हम अन्तर्भावना के निर्णयों में जो चीज स्थायी और विश्वसनीय है उसे परिवर्तनशील और अविश्वसनीय चीज से अलग पहचान सकते हैं। लेकिन जब हम इस तरह अन्तर करते हैं और स्वयं अन्तर्भावना के ऊपर ही निर्णय देते हैं, तब स्पष्ट है कि किसी तरह अन्तर्भावना के पीछे भी अन्तर्भावना होनी चाहिए, एक ऐसी निर्णय देनेवाली शक्ति होनी चाहिए जो हृदय के अन्धे नियम से श्रेष्ठ है।

मानते हैं जिनके अनुसार हम नैतिक निर्णय देते हैं। 'अन्तर्भावना' शब्द के प्रयोग की इस दृष्टिकोण से पैदा होनेवाली भ्रान्ति को प्रो० म्यूरेड ने *Elements of Ethics*, पृ० 81-3 पर अच्छी तरह से स्पष्ट कर दिया है। पोर्टर (Porter) का *Elements of Moral Science*, पृ० 246 भी द्रष्टव्य है।

1. विशेष रूप से रीड (Reid) और तथाकथित स्कॉटी सम्प्रदाय (Scottish School) के अन्य लेखकों ने ऐसा कहा है। सिजविक का *History of Ethics*, पृ० 226-33 देखिए। मार्टिन्स का मत इसी मत की परिणति है। इसके विपरीत, जैनेट (Janet) का *Theory of Morals* अन्तःप्रज्ञात्मक नियमों की कुछ अधिक तर्कनापरक व्याख्या देता है।
2. देखिए लॉक का *Essay Concerning Human Understanding*, खण्ड 1, अध्याय 3, और स्पेन्सर का *Principles of Ethics*, खण्ड 2।
3. विशेष रूप से खण्ड 3, अध्याय 11 में, सिजविक ने इस सिलसिले में सूक्ष्म विचार करके जो निष्कर्ष प्राप्त किए उनका संक्षेप दिया हुआ है।

11. तर्कना का नियम (The Law of Reason)

लेकिन जो मत यह मानता है कि मानवीय चेतना के अन्दर नैतिक सत्य के बारे में कुछ सार्वभौम सिद्धान्त रहते हैं, वह इन सिद्धान्तों को अनिवर्चनीय मानने से अनिवार्यतः बंधा हुआ नहीं है। जिस प्रकार काष्ट ने माना था कि बौद्धिक सत्य के बारे में कुछ ऐसे सिद्धान्त होते हैं, जिन्हें उसने कैटेगरीज (categories) कहा था, जो सभी बुद्धिमान् प्राणियों की बौद्धिक प्रकृति से संबद्ध होते हैं, उसी प्रकार यह भी माना जा सकता है कि नैतिक सत्य के बारे में भी कुछ सार्वभौम सिद्धान्त होते हैं। जैसे हमारे बौद्धिक जीवन के सार्वभौम सिद्धान्त बुद्धि की प्रकृति मात्र से व्युत्पन्न किए जा सकते हैं, वैसे ही हमारे नैतिक जीवन के सिद्धान्त भी तार्किक निगमन से प्राप्त किए जा सकते हैं। हमारे नैतिक जीवन के ऐसे सिद्धान्त हो सकते हैं जिन पर सोच-विचार करने के बाद हमें वे उतने ही स्पष्ट लगेंगे जितना यह सिद्धान्त कि $2+2=4$, या कि प्रत्येक कार्य का एक कारण अवश्य होता है; और इसके बाद यह भी सम्भव है कि और आगे विचार करने पर उक्त सिद्धान्तों की तरह ही इन सिद्धान्तों के बारे में भी हमें पता चल जाए कि ये इतने स्पष्ट क्यों हैं। यदि ऐसी बात हो तो नैतिक चेतना की अन्तःप्रज्ञाएँ वास्तव में एक तरह की बौद्धिक अन्तर्दृष्टि की उपज होंगी। तब वे उस चीज की अभिव्यक्ति होंगी जिसे नैतिक तर्कना कहा जाएगा। यह अधिक गहराई में जानेवाले अन्तःप्रज्ञावादियों का मत है जिनमें क्लार्क (1675-1729) को एक नमूना मना जा सकता है,¹ क्योंकि इस अर्थ में तर्कना का नियम लगभग वही है जिसे ऊपर प्रकृति का नियम कहा गया है।

स्टोइकों और प्रकृति के नियम की बात करनेवाले अधिकतर अन्य लेखकों ने प्रकृति के नियम को तर्कना का नियम भी कहा है—प्रकृति को उन्होंने लगभग हमेशा ही किसी रूप में एक तर्कनापरक समष्टि माना है।² लेकिन जब नैतिक सिद्धान्तों को प्रकृति के किसी नियम पर आधारित करना असन्तोषजनक प्रतीत हो जाता है तब इस प्रकार के लेखक स्वभावतः इस बात पर अधिकाधिक जोर देने लगते हैं कि जिससे हमारा सम्बन्ध है वह वास्तव में तर्कना का नियम है। इस प्रकार नीतिशास्त्र को तर्कशास्त्र की तरह का माना जाने लगता है, ठीक वैसे ही जैसे नैतिक संवित्तिवादी उसे सौन्दर्यशास्त्र की तरह का मानते हैं।

क्लार्क के एक अनुयायी बोलास्टन ने यह प्रवृत्ति सबसे अधिक पराकाष्ठागत रूप में दिखाई देती है। “बोलास्टन के अनुसार नैतिक बुराई किसी सत्य का व्यावहारिक निषेध है, और नैतिक अच्छाई उसकी स्वीकृति है। चोरी करना बुरा है क्योंकि वह इस बात का निषेध करना है कि जो चीज चुराई गई है वह दूसरे की सम्पत्ति है। प्रत्येक अच्छा काम किसी सत्य की स्वीकृति होता है; प्रत्येक बुरा काम किसी

1. देखिए सिजविक का *History of Ethics*, पृ० 179-184। जैनेट का *Theory of Morals*, खण्ड 3, अध्याय 4 में प्रकट मत इससे कुछ मिलता-जुलता है। जैनेट कहता है कि लॉक और स्पेन्सर इत्यादि ने विभिन्न जातियों की नैतिक भावनाओं में जिन ऊपरी अनेकताओं की ओर ध्यान खींचा है, उनके बावजूद कुछ अव्यक्त सिद्धान्त ऐसे हैं जो सभी मनुष्यों में एक-से हैं और जिनके निर्णय को अन्तिम माना जा सकता है। यह मत इस मान्यता से असंगत नहीं लगता कि व्यक्ति-विरोधों और जाति-विरोधों को अपने नैतिक निर्णयों में निहित अन्तिम सिद्धान्तों का बोध बहुत ही अपूर्ण हो सकता है।

2. जब प्रकृति के नियम को इस प्रकार तर्कना के एक नियम के रूप में लिया जाता है तब उसे मानकीय समझा जाने लगता है।

सत्य का निषेध होता है।" ¹ स्टीफेन कहता है, "तीस वर्ष के गम्भीर चिन्तन-मनन से बोलास्टन को पक्का विश्वास हो गया कि कोई अपनी पत्नी का सिर बयों न तोड़े, इसका कारण यह है कि पत्नी का सिर तोड़ना इस बात से इन्कार करने का एक तरीका है कि वह उसकी पत्नी है। दूसरे शब्दों में, सारे पाप भूठ बोलना है।" ² यदि कोई आदमी दूसरे के शरीर को तलवार से चीर देता है तो यह उसे एक मनुष्य और एक भाई मानने से इन्कार करने का एक तीखा तरीका है, और बुराई उसके तीखेपन में नहीं बल्कि एक मचाई से इन्कार करने की भूल में है। "यह अपराध से भी बुरा है—घोर भूल है।"

इस सारी बात के पीछे जो कुतर्क है वह स्पष्ट ही है। बुरा काम असंगति-पूर्ण तो होता है, लेकिन उमकी असंगति किसी तथ्य से नहीं बल्कि एक आदर्श से—जैसे आदमी-आदमी के बीच रहने वाले सम्बन्ध में व्याप्त आदर्श से—होती है। ³

इस सिद्धान्त का एक कौशलपूर्ण और कल्पनायुक्त रूप काण्ट ने प्रस्तुत किया था, जिसने कहा कि बुरे काम अनिवार्यतः स्वसंगति से रहित होते हैं; या कम-से कम यह कि जिस सिद्धान्त को आधार बनाकर वे किए जाते हैं उसमें स्व-विसंगति होती है। काण्ट का यह मत इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसकी कुछ विस्तार से जाँच करना जरूरी है।

भाग 3 : काण्ट का सिद्धान्त

12. नैतिक तर्कना के बारे में काण्ट का मत

काण्ट (1724-1804) ने यह युक्ति दी कि चूंकि नैतिक आदेश निरपेक्ष है, इसलिए उसे व्यक्ति के संकल्प के बाहर रहने वाले किसी साध्य के विचार से व्युत्पन्न नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रत्येक बाह्य साध्य अनुभव पर आश्रित होता है और उससे केवल एक सापेक्ष या सोपाधिक आदेश ही प्राप्त हो सकता है। हमें केवल यही कहने का अधिकार है कि यदि हम उस साध्य को प्राप्त करना चाहते हैं तो उसकी प्राप्ति के लिए हमें एक विशेष तरीके से काम करना पड़ेगा। इसलिए काण्ट ने कहा कि कर्तव्य का निरपेक्ष आदेश किन्हीं बाह्य साध्यों से, जिनकी ओर संकल्प प्रवृत्त हो सकता है, सम्बन्ध नहीं रखता, बल्कि संकल्प को सही दिशा में लगाने मात्र से सम्बन्ध रखता है। "शुभ संकल्प के अलावा अन्य कुछ भी शुभ नहीं है;" और शुभ संकल्प स्वतः शुभ है, किसी बाह्य तथ्य के कारण नहीं। इसका नियम पूरी

1. Le Rossignol का Ethical Philosophy of Samuel Clarke, पृ० 87।
2. English Thought in the Eighteenth Century, जिल्द 1, पृ० 130।
3. यहाँ जो कुछ कहा गया है उसका सम्बन्ध विरोध रूप से क्लार्क और बोलास्टन के मतों से है। लोक नीतिशास्त्र को गणित की तरह का अधिक मानता है। इन दोनों को वह उपपादक विज्ञान (demonstrative science) समझता है जो शाब्दिक (nominal) परिभाषाओं से उत्पत्ति शुरू करते हैं और स्वसंगति के नियम के अनुसार आगे बढ़ते हैं। इसमें गणित और नीतिशास्त्र दोनों के स्वरूप के बारे में एक गलत धारणा छिपी हुई लगती है। रेखा-गणित मात्र शाब्दिक परिभाषाओं से शुरू नहीं होता, बल्कि देश (space) के प्रत्यय से शुरू होता है। इसी तरह, नीतिशास्त्र न्याय इत्यादि की यादृच्छिक परिभाषाओं से शुरू नहीं होता, बल्कि ठोस मानवीय आदर्श के प्रत्यय से शुरू होता है। लेकिन इस विषय की यहाँ पूरी खानबीन करना सम्भव नहीं है।

तरह से उसके अन्दर ही होना चाहिए। यदि उसके पीछे रहने वाला आदेश अनुभव के तथ्यों में से किसी पर आश्रित होता, जो कि स्वरूपतः अनिश्चित होते हैं, तो वह स्वयं भी अनिश्चित होता और निरपेक्ष नियम न बन पाता।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि नैतिक नियम का कोई विशेष विषय नहीं होगा। वह हमें कोई विशेष बात करने को या किसी विशेष बात से बचने को नहीं कह सकता, क्योंकि सब विशेष बातों के अन्दर एक अनुभव और अनिश्चितता का अंश रहता है, और नैतिक नियम का ऐसे अंश से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। अतः नैतिक नियम हमें यह नहीं बता सकता कि हमारे कर्मों का विषय या अन्तर्वस्तु क्या होनी चाहिए; वह केवल आकार (form) के बारे में ही हमें कुछ बता सकता है। लेकिन एक शुद्ध आकार, जिसका कोई विषय (matter) न हो, केवल नियम का सामान्य आकार ही हो सकता है। कहने का मतलब यह है कि नैतिक नियम हमें इसके अलावा कुछ नहीं बता सकता कि हमें इस तरह काम करना चाहिए जो नियम के अनुसार हो। और इसका अर्थ केवल यह है कि हमारे कामों में स्वसंगति होनी चाहिए—अर्थात् जिस सिद्धान्त के अनुसार हम काम करते हैं उसे ऐसा होना चाहिए जिसे हम आजीवन अपनाए रख सकें और दूसरों के जीवन पर भी लागू कर सकें। इस प्रकार काण्ट ने निरपेक्ष आदेश की अन्तर्वस्तु के रूप में यह सूत्र बनाया, “केवल उस सिद्धान्त के अनुसार चलो जिसे तुम एक सार्वभौम नियम बनाने का भी संकल्प कर सको।”¹

इस सूत्र का प्रयोग बताने के लिए काण्ट ने वचन-भंग का उदाहरण दिया है। वचन को भंग करना बुरा है, क्योंकि वचन भंग करना एक ऐसा काम है जिसे सार्वभौम नहीं बनाया जा सकता। यदि यह सार्वभौम नियम बन जाए कि प्रत्येक वचन भंग कर सकता है जब भी उसकी इच्छा हो, तो कोई भी वचन का भरोसा नहीं करेगा। असल में तब वचन देना ही बन्द हो जाएगा। और निश्चय ही यदि वचन देना बन्द हो जाएगा तो उनको भंग किया ही नहीं जा सकेगा। अतः प्रत्येक के लिए अपना वचन तोड़ना असम्भव हो जाएगा। और चूँकि यह प्रत्येक के लिए असम्भव है, इसलिए किसी भी व्यक्ति-विशेष के लिए इसे बुरा होना चाहिए। बुरे काम की बुराई उसे अपवाद बनाने में निहित है।

इसी तरह, यह आसानी से सिद्ध किया जा सकता है कि कोई असंगत स्थिति पैदा किए बिना हम आत्महत्या को,² या चोरी को, यहाँ तक कि दूसरों की विपत्तियों के प्रति उपेक्षा के भाव को भी सार्वभौम नहीं बना सकते। चूँकि हम वस्तुतः यह नहीं चाह सकते कि प्रत्येक इस तरह के कामों को करे, इसलिए हमें कतई यह अधिकार नहीं है कि हम स्वयं इनको करें। वास्तव में, नैतिक नियम यह है—केवल इस तरह काम करो जिस तरह उन्होंने सामान्य अवस्थाओं में तुम यह चाह सको कि हर अन्य आदमी भी काम करे।

13. काण्ट की आलोचना

(1) आकारवाद (Formalism)—यह स्पष्ट लगता है कि काण्ट द्वारा

1. Metaphysic of Morals, Section 2.

2. इस सिलसिले में काण्ट की बात को सन्तोषजनक रूप से सिद्ध करना एक सबसे अधिक मुश्किल काम है। काण्ट ने अपना तर्क चतुराई के साथ पेश किया है, लेकिन उससे उसकी बात में विश्वास पैदा नहीं होता।

निर्धारित नियम कई मामलों में आचरण का निरापद निषेधात्मक पथप्रदर्शक सिद्ध होता है। यदि हम यह नहीं चाह सकते कि तुल्य परिस्थितियों में सब आदमी वही करें जो हम कर रहे हैं तो हम निश्चय के साथ कह सकते हैं कि हम बुरा काम कर रहे हैं। लेकिन जब काण्ट के सूत्र से हम विधानात्मक मार्गदर्शन लेना चाहते हैं—जब उसके द्वारा हम यह जानने की कोशिश करते हैं कि हमें क्या करना चाहिए, न कि इतना मात्र कि हमें क्या नहीं करना चाहिए—तब ऐसा लगने लगता है कि यह एक आकारात्मक नियम¹ मात्र है, जिससे कोई निश्चित विषयवस्तु प्राप्त नहीं की जा सकती; तथा और अधिक विचार करने पर हमें मालूम होता है कि बिल्कुल सन्तोषजनक निषेधात्मक पथप्रदर्शन भी इससे हमें नहीं मिल सकता।

फिर भी, सबसे पहले हमें यह देखना चाहिए कि काण्ट ने अपने सिद्धान्त को ठीक किस अर्थ में लिया था। यह स्पष्ट है कि इसे दो बहुत ही भिन्न अर्थों में लिया जा सकता है। इसे आचरण के सामान्य प्रकारों से सम्बन्धित रूप में लिया जा सकता है, या स्थान, काल और परिस्थितियों की सब उपाधियों से युक्त विशेष कामों से सम्बन्धित रूप में। काण्ट ने इस सिद्धान्त को पहले रूप में लिया था²; लेकिन यह ध्यान रखना चाहिए कि दूसरे रूप में लेने की सम्भावना भी बनी रहती है।

इन दोनों के अन्तर को समझाने के लिए चोरी का उदाहरण दिया जा सकता है। पहले अर्थ के अनुसार चोरी को सर्वव्यपि निषिद्ध समझा जाना चाहिए, क्योंकि उसका सिद्धान्त सार्वभौम नहीं बनाया जा सकता। दूसरे अर्थ के अनुसार, चोरी का प्रलोभन होने के हर विशेष मामले में यह विचार करना जरूरी होगा कि क्या यह संकल्प किया जा सकता है कि हरेक व्यक्ति ठीक वैसी ही परिस्थितियों में चोरी करे। पहला अर्थ स्पष्टतः कर्तव्य के बारे में एक बहुत ही कठोर दृष्टिकोण अपनाने को कहेगा, जबकि दूसरा आसानी से एक बहुत ही ढीला दृष्टिकोण अपनाने को कहेगा।

अब अगर हम काण्ट की तरह पहले अर्थ को लेते हैं तो स्पष्टतः उसका सिद्धान्त एक विशुद्ध आकारात्मक सिद्धान्त लगेगा, जिससे आचरण की कोई विशेष वस्तु नहीं निकाली जा सकती। यदि हम उसे लागू करना चाहें तो कुछ बातें हमें पहले से मान लेनी पड़ेंगी।³ इस प्रकार, यह दिखाने के लिए कि चोरी से आत्म-

1. काण्ट की आलोचनाएँ मिल के Utilitarianism, अध्याय 1, पृ० 5, ब्रेडले के Ethical Studies, पृ० 142 इत्यादि, ड्यूई के Outlines of Ethics, पृ० 78-82, म्यूरहेड के Elements of Ethics, पृ० 137-40, ऐडमसन के Philosophy of Kant, पृ० 119-20 इत्यादि में मिलेंगी। इस सिलसिले में काण्ट के सिद्धान्त के पूरे विवरण के लिए केयर्ड का Critical Philosophy of Kant, खण्ड 2, अध्याय 2 देखिए। प्रो० अबॉट (Abbott) ने काण्ट के नैतिक सिद्धान्त-विषयक अपने अनुवाद-ग्रन्थ में पृ० xlix-iv में काण्ट के दृष्टिकोण का अंशतः समर्थन किया है, लेकिन वह यह दिखाने में सफल नहीं हुए कि उससे व्यवहार में सहायक परिणाम प्राप्त हो सकते हैं।
2. काण्ट ने सोचा था कि आदमी को न केवल यह संकल्प करना चाहिए कि उसके कर्म का सिद्धान्त सभी को अपनाना चाहिए, बल्कि यह भी कि वह प्रकृति का एक नियम बन जाए। काण्ट के यह दृष्टिकोण अपनाने की यही वजह थी। उसके इस मत के आधार की छानबीन हमें इस पुस्तिका की सीमाओं के बाहर ले जाएगी, ऐसी आशंका है।
3. काण्ट को अंशतः इसकी जानकारी थी, और बाद के इस विषय से सम्बन्धित अपने लेखों में उसने नैतिक आबन्ध के भावात्मक अंश को, अपनी पूर्णता और दूसरों का सुख, इन दो

व्याघात पैदा होता है, हमें सम्पत्ति का अस्तित्व पहले से मान लेना पड़ेगा। अन्य की सम्पत्ति को छीनना असंगतिपूर्ण तब होगा जब हम निजी सम्पत्ति की वैधता को स्वीकार करते हों; लेकिन यदि कोई उसे स्वीकार न करे तो उसके चोरी करने में कोई असंगति नहीं होगी।

अतः काण्ट के सिद्धान्त को लागू करने के लिए पहले यह जानना जरूरी है कि हमें किन बातों को पहले से मान लेने का अधिकार है। अन्यथा, शायद ऐसा कोई भी काम नहीं मिलेगा जिसे असंगतिपूर्ण सिद्ध न किया जा सके। उदाहरणार्थ, दूसरे का कष्ट दूर करना, समाज के नैतिक सुधार का प्रयत्न करना, इत्यादि हर काम को असंगतिपूर्ण सिद्ध किया जा सकता है; क्योंकि यदि हरेक इन कामों में लग जाए तो किसी का भी इनमें लगना अनावश्यक हो जाएगा। ये आवश्यक केवल इसलिए हैं कि इनकी प्रायः उपेक्षा कर दी जाती है। इनमें और चोरी या वचन-भंग के दृष्टान्त में एकमात्र अन्तर यह है कि पहले प्रकार के दृष्टान्तों में उस काम का समाप्त हो जाना ऐसा परिणाम पैदा करेगा जिसे वांछनीय कहा जा सकता है—जैसे कष्ट या अनैतिकता का निवारण; जबकि दूसरे प्रकार के दृष्टान्तों में इससे ऐसा परिणाम पैदा होगा जिसे अवांछनीय कहा जा सकता है—जैसे सम्पत्ति की समाप्ति या वचन देना बन्द होना।

लेकिन जब हम पूछते हैं कि एक परिणाम वांछनीय क्यों है और दूसरा अवांछनीय क्यों, तब काण्ट के दृष्टिकोण से कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता। काण्ट के सिद्धान्त के आधार पर हम केवल इतना कह सकते हैं कि आचरण के कुछ विशेष प्रकारों को सामान्यतः उचित मानते हुए हमें स्वयं अपने लिए किसी बात को अपवादस्वरूप नहीं बनाना चाहिए।

दूसरी ओर, यदि संगति-सिद्धान्त के दूसरे सम्भावित अर्थ को हम स्वीकार करें, तो उससे इतना अल्प मार्गदर्शन भी नहीं लिया जा सकेगा। कारण, यह कहना कि हमें सदैव इस तरह काम करना चाहिए जिस तरह हम चाहें कि ठीक उन्हीं परिस्थितियों में पड़े हुए प्रत्येक आदमी को करना चाहिए, यह मात्र कहने के बराबर है कि हमें वह करना चाहिए जो हम पसन्द करें। जब भी कोई आदमी अपनी क्रिया-विधि का अनुमोदन करता है तब तत्कार्येण वह चाहता है कि वैसे ही परिस्थिति वाले अन्य व्यक्ति को भी वैसे ही करना चाहिए। फलतः इस सिद्धान्त से आचरण का कोई भी नियम नहीं निकाला जा सकता। यह हमें वापस साधारण नीति में ले जाता है, अन्यत्र कहीं नहीं।¹

साध्यों के विचार से तथा विधिशास्त्र (Jurisprudence) के सामान्य सिद्धान्तों से निकालने का प्रयत्न किया। देखिए Abbott, पृ० 296-302। इस प्रकार कर्तव्य का भावात्मक पक्ष अधिकांशतः उपयोगितापरक बातों के विचार से प्राप्त होगा, जबकि नैतिक तर्कना हमें केवल स्वसंगत बने रहने की कहेगी। काण्ट का यह दृष्टिकोण उस दृष्टिकोण से बहुत मिलता-जुलता है जिसे आजकल सिजविक ने सामने रखा है। आगे अध्याय 4 देखिए। लेकिन इस बात पर तथा और भी अनेक बातों पर काण्ट ने अपने सिद्धान्त के विभिन्न पक्षों को अपने दिमाग के अलग-अलग खानों में रखा, और उन्हें एक साथ मिलाने की कोशिश वास्तव में कभी की ही नहीं। देखिए केयर्ड का Critical Philosophy of Kant, खण्ड 2, अध्याय 6 और 7।

1. अथवा उपयोगितावादी दृष्टिकोण में ले जाता है। पिछली टिप्पणी देखिए। यहाँ यह कहा जा सकता है कि काण्ट के सिद्धान्त की यह कठिनाई उसके दार्शनिक दृष्टिकोण के दैत से

इस प्रकार काण्ट के शुद्ध संकल्प के नितान्त आकारपरक और विशेष अन्तर्वस्तु से दून्य होने के कारण ही जैकोबी (Jacobi) ने उसे उचित रूप से "संकल्प जो किसी बात का संकल्प नहीं करता" कहा है।¹

14. काण्ट की आलोचना

(2) कठोरता (Stringency)—काण्ट के सिद्धान्त पर न केवल कोरा आकारिक होने का आक्षेप किया जा सकता है बल्कि इस दोष से ग्रस्त होने का भी कि इससे जो आचार-संहिता प्राप्त होती है वह उसकी अपेक्षा कहीं अधिक कठोर है जिसकी माँग उत्तम मनुष्य² का नैतिक बोध कर सकता है। इसे निश्चय ही घातक आलोचना नहीं माना जा सकता, क्योंकि हाँ सकता है कि वह नैतिक बोध दोषपूर्ण हो।³ फिर भी, सब मिलाकर, जिस नैतिक सिद्धान्त का उस बोध से विरोध होता हो उसके विपक्ष में ही उग विरोध को आपाततः लेना चाहिए; और अन्य आलोचनाएँ भी अगर उसके विपक्ष में हैं तो उसका खण्डन हो जाता है। दो अलग-अलग बातों में काण्ट का सिद्धान्त बहुत ही कठोर प्रतीत होता है।

(क) पहली बात यह है कि काण्ट के मतानुसार किसी भी आचरण को, जो भाव पर आधारित हो, सच्चे रूप में अच्छा नहीं माना जा सकता। आचरण उचित केवल वहीं तक हो सकता है जहाँ तक वह नैतिक तर्कना से प्रेरित होता है; और नैतिक तर्कना एक कोरी आकारिक बात है, जिसका मानवीय प्रकृति के भावों या आवेगों से कोई सम्बन्ध नहीं है। लेकिन वह आचरण, जिसकी लोग प्रायः प्रशंसा करते हैं, अधिकांश में तर्कना के सीधे प्रयोग के बजाय भाव से प्रेरित होता है।

काण्ट का दृष्टिकोण सर टी० ब्राउन की Religio Medici में की गई इस प्रसिद्ध घोषणा में भी व्यक्त होता है : "मैं अपने भाई की भूख मिटाने के लिए दान नहीं देता, बल्कि अपने ईश्वर की इच्छा और आदेश को पूरा करने के लिए देता हूँ।" इस दृष्टिकोण के विपरीत उस मानव-प्रेमी व्यक्ति का दृष्टिकोण है, जो उन लोगों के प्रेम-मात्र से प्रेरित होकर काम करता है जिनकी भलाई में वह रत रहता है; और साधारण-से-साधारण बुद्धि को भी यह बात एकदम स्पष्ट लगती है कि मानव-प्रेमी व्यक्ति सर टी० ब्राउन से कहीं ऊँचा है। निश्चय ही, यह कहना शायद ही विरोधाभासयुक्त लगे कि परोपकार के मामलों में परोपकारी व्यक्ति जितना अधिक शुद्ध प्रेम से प्रेरित होगा और जितना कम ध्यान उसका कर्तव्य करने में होगा उतना ही अधिक अच्छा उसका काम होगा।

बडं सवर्ण ने अपनी कविता Ode to Duty में इस बात को आकर्षक रूप में व्यक्त किया है :

उत्पन्न होती है।

1. देखिए केयर्ड का Critical Philosophy of Kant, जिल्द 2, पृ० 216, टिप्पणी।
2. अंग्रेज नीतिज्ञ बहुत शौक से 'साधारण आदमी' के मत की बात करते हैं। लेकिन यह 'साधारण आदमी' के चरित्र पर बहुत निर्भर करता है कि नैतिक प्रश्नों के बारे में उसके मत विचारणीय हैं या नहीं।
3. हम बाद में (अध्याय 9) देखेंगे कि ऐसे थोड़े ही नीतिशास्त्री हैं, जो मनुष्य-जाति के विकसित नैतिक बोध के विरुद्ध जाने के लिए तैयार हों; और विशेषतः काण्ट भी स्वयं इसके लिए तैयार नहीं था।

"There are who ask not if thine eye
Be on them; who, in love and truth,
Where no misgiving is, rely
Upon the genial sense of youth :
Glad hearts ! without reproach or blot ;
Who do thy work, and know it not."¹

कर्तव्य को तर्कना के एक आकारिक सिद्धान्त पर आधारित करते हुए कांट ऐसे दृष्टिकोण की सम्भावना को स्वीकार नहीं करता जैसा यह है। कवि शिलर, जो कांट के दर्शन का एक उत्साही विद्यार्थी था और जिसने अपने असन्तोष को एक सूक्ति के रूप में अभिव्यक्त किया था, इस कमी को बहुत पहले देख चुका था। उसने कल्पना की थी कि एक कांटवादी दार्शनिक के सामने एक नैतिक जिज्ञासु इस कठिनाई को लेकर उपस्थित हुआ :

"Willingly serve I my friends, but I do it, alas ! with affection.

Hence I am cursed with the doubt, virtue I have not attained."

(अर्थात्, अफ़सोस ! मैं अपने मित्रों की सेवा करता तो हूँ, लेकिन स्नेह के साथ। इसलिए मुझे सन्देह होता है कि मैंने पुण्य नहीं प्राप्त किया है।) और कांटवादी दार्शनिक से उसने यह उत्तर दिलवाया है—

"This is your only resource, you must stubbornly seek to abhor them
Then you can do with disgust that which the law may enjoin."

(अर्थात्, इसका उपाय केवल यह है कि तुम दृढ़ता के साथ उनसे घृणा करो। तब तुम नियम का पालन विरवित के साथ कर सकोगे।)

निश्चय ही यह कांट के मत का घोर अतिरंजित रूप है; क्योंकि कांट कभी भी घृणा की, या स्नेह के अभाव तक की माँग न करता।

शिलर के आक्षेप का आंशिक उत्तर कांट ने अपनी पुस्तक 'Religion

1. शिलर (Schiller) ने इसी बात को इससे भी जोरदार शब्दों में अपनी *Der Genius* शीर्षक कविता में प्रकट किया है, जिसकी पहली पंक्ति है, "Must I distrust my impulse?" और अन्तिम पंक्ति है, "What thou pleasest to do, is thy law." उसकी आलोचना 'Ueber Anmuth und Wurde' नामक ग्रन्थ में अधिक दार्शनिक ढंग से व्यक्त हुई है, जहाँ उसने अन्य बातों के साथ यह भी कहा है कि "मनुष्य न केवल सुख और कर्तव्य को परस्पर जोड़ सकता है, बल्कि ऐसा उसे करना चाहिए, उसे स्वयं के साथ अपनी तर्कना का आदेश मानना चाहिए।" निश्चय ही, इस सारी बात को आसानी से कांट जिस छोर पर था उसके विपरीत छोर तक ले जाया जा सकता है; और शायद कांट जिस छोर पर था वह उतना खतरनाक नहीं है जितना दूसरा छोर है। उदाहरणार्थ, अति लाज़्ज़प्यार करनेवाले पिता के काम को मात्र स्नेह की वृत्ति की दुहाई देकर उचित नहीं ठहराया जा सकता। हमें केवल इतना कहने का अधिकार है कि एक आदमी स्नेह से प्रेरित होकर जितनी अधिक कुशलता के साथ अपना कर्तव्य कर सकता है उससे कहीं कम नियम की चेतना से प्रेरित होकर करता है; और इसके अलावा यह भी कि कर्तव्य करने के श्रेष्ठतम प्रकार, जिनमें प्रेम मिश्रित रहता है, स्नेह के अभाव से मेल नहीं खाते और नियम के प्रति सम्मान-मात्र से प्रेरित होकर सन्तोषजनक रूप से नहीं किए जा सकते। देखिए, जैनेट का 'The ry of Morals, खण्ड 3, अध्याय 5; और ऊपर खण्ड 1, अध्याय 3, अनु० 5।

within the Bounds of Mere Reason'¹ में दिया था। वहाँ कांट ने माना है कि एक पूर्णतः पुण्यात्मा पुरुष पुण्य के कामों से प्रेम करेगा और उन्हें करने में सुख का अनुभव करेगा; लेकिन वह इसे कर्तव्य-बुद्धि से काम करने का फल मानता है। जो आदमी कर्तव्य की बुद्धि से काम करता रहता है वह धीरे-धीरे उससे सुख प्राप्त करना सीख जाता है। नैतिकता में सुख के स्थान के बारे में कांट के मत का उल्लेख अगले अध्याय में भी किया जाएगा। कांट ने सदैव इस बात पर जोर दिया कि कर्तव्य अभिनति (inclination) से नहीं किया जाना चाहिए; लेकिन उसने कभी इस बात से इन्कार नहीं किया कि उसे अभिनतिपूर्वक किया जा सकता है और कि अभिनति के साथ किए जाने पर वह और अच्छी तरह किया जा सकता है। वह संन्यासी बिल्कुल नहीं था। फिर भी यह सही है कि उसने केवल कर्तव्य-बुद्धि से किये गए कर्तव्य-पालन को ही नैतिक तर्कना का आदेश माना और भावना से प्रेरित होकर किये गए कर्तव्य-पालन को नैतिक तर्कना द्वारा आदिष्ट होने की सम्भावना स्वीकार नहीं की।

यह भी कह देना चाहिए कि कांट का अनुयायी होने के बावजूद फिस्ते (Fichte) ने कांट के इस सूत्र पर मुख्य रूप से बल दिया कि "भूल करने वाली अन्तर्भावना एक असम्भव कल्पना है," और "अन्तर्भावना का अनुसरण करो," इस आदेश को सर्वोच्च नैतिक सिद्धान्त माना। साथ ही उसने अन्तर्भावना को मात्र आकारिक आदेशों का विधान करने वाली नहीं माना, बल्कि तर्कनापरक विकास की दिशा में आगे बढ़ने की आज्ञा देनेवाली माना। इस प्रकार फिस्ते प्रत्ययवादी क्रम-विकास की विचारधारा का प्रतिनिधि था, जिसका उल्लेख आगे अध्याय 5 में किया गया है। इस वजह से जैनेट कहता है (Theory of Morals, पृ० 264) कि जैकोबी को आवश्यक बातों में फिस्ते को अपने से एकमत समझ लेना चाहिए था। जैकोबी ने भी हृदय या व्यक्तिगत नैतिक संवित्ति के अनुसार चलने की बात कही थी। लेकिन निश्चय ही फिस्ते का 'अन्तर्भावना' से मूलब पथ-प्रदर्शन करनेवाले तर्कनापरक और सार्वभौम तत्त्व से था जो कि हृदय या नैतिक संवित्ति से बहुत भिन्न चीज है।²

(ख) कांट का दृष्टिकोण इस बात में भी कठोर लगता है कि वह अपने नैतिक आदेशों में किसी अपवाद की अनुमति नहीं देता। लेकिन उत्तम से-उत्तम मनुष्य का नैतिक बोध भी यह कहता प्रतीत होता है कि ऐसा कोई आदेश नहीं है, चाहे वह कितना ही पवित्र क्यों न हो (बशर्ते वह प्रेम का आदेश न हो), जो कुछ परिस्थितियों में अपने दावे को ढीला न कर दे। जैकोबी ने इस कांटीय सिद्धान्त की कठोरता के विरुद्ध फिस्ते से बहुत जोरदार और रोष प्रकट करनेवाले शब्दों में शिकायत की थी।

वह कहता है, "हाँ, मैं वह नास्तिक, वह ईश्वरद्रोही हूँ जो किसी बात का संकल्प न करने वाले संकल्प के आदेश के विरुद्ध, मरणोन्मुख डेस्डमोना की तरह, झूठ बोलने के लिए तैयार हूँ; पाइलेडीज की तरह झूठ बोलने और धोखा देने के लिए तैयार हूँ, जब उसने ओरेस्टीज होने का बहाना किया था; टिमोलियन की तरह हत्या करने के लिए तैयार हूँ; इपेमिनोण्डस और जॉन डि विट की तरह कानून और शपथ तोड़ने के लिए तैयार हूँ; ओथो की तरह आत्महत्या करने के लिए और डेविड की

1. Metaphysical Elements of Ethics (Abbott का अंग्रेजी अनुवाद), पृ० 312-3 भी द्रष्टव्य है।

2. देखिए, एडमसन का Fichte, पृ० 193 इत्यादि; Schwegler का History of Philosophy, पृ० 273-4; Erdmann का History of Philosophy, जिल्द 2, पृ० 514-16.

तरह पवित्र वस्तु को भ्रष्ट करने के लिए तैयार हैं; विश्राम के दिन (रविवार) अनाज की बाल को केवल इसलिए मसलने के लिए तैयार हैं कि मैं भूखा हूँ, और इसलिए कि कानून इन्सान के लिए है न कि इन्सान कानून के लिए। मैं ऐसा ईश्वरद्रोही हूँ, और मैं उस दर्शन से घृणा करता हूँ जो मुझे इन वजहों से ईश्वरद्रोही कहता है, उससे भी और उसके ईश्वर से भी; क्योंकि मैं अपने अन्दर की पूरी निष्ठा से जानता हूँ कि तर्कना के निरपेक्ष विधान के इस तरह के ऊपरी उल्लंघन को क्षमा करने का विशेषाधिकार इन्सान का प्रकृतिसिद्ध महान् अधिकार है, उसके सम्मान और उसके दैवी स्वरूप की मुहर है।" अतः जैकोबी ने कहा कि मनुष्य के लिए 'नियम का अन्धानुसरण' जरूरी नहीं है। उसे शुद्ध तर्कना के निर्णय की अपील हृदय के आगे करने का अधिकार है, जो "ऐसे विचारों की एकमात्र शक्ति है जो खोखले नहीं हैं।" वह कहता है, "(कांट का) अनुभवनिरपेक्ष दर्शन मेरे वक्ष के अन्दर से इस हृदय को नहीं निकाल सकता और उसके स्थान पर अहंकार के शुद्ध आवेग को प्रतिष्ठित नहीं कर सकता। मैं वह नहीं हूँ जो केवल अभिमान में अपना सौभाग्य समझने के हेतु प्रेम की परतन्त्रता से मुक्त होने के लिए तैयार हो।"

जैकोबी का यह मत कहाँ तक उचित माना जा सकता है, यह बात आगे अधिक स्पष्ट हो जाएगी। वास्तव में, यह भी कांट के विपरीत मत की तरह ही एकांगी है।¹ फिर भी यह कांट के मत की इस अनुचित कठोरता की ओर ध्यान खींचता है कि नैतिक आदेशों में कोई अपवाद नहीं आने देना चाहिए। लेकिन निश्चय ही जैकोबी ने जो बातें कही हैं उन्हें अगर छोड़ भी दिया जाए, तो भी यह काफ़ी स्पष्ट है कि कांट का सिद्धान्त सारे अपवादों का निषेध करने में जो कठोरता बरतता है उससे वह लक्ष्य से बहुत आगे निकल जाता है, क्योंकि साधारण जीवन में बहुत-से काम केवल अपवादस्वरूप होने के कारण उचित माने जाते हैं। वीरतापूर्ण आत्म-बलिदान की अनेक घटनाएँ तब अनुचित हो जाएँगी जब प्रत्येक व्यक्ति ऐसा करने लगे। जब किसी आदमी का किसी महान् लक्ष्य के लिए अपना जीवन समर्पित कर देना उचित होता है तब उसका औचित्य प्रायः केवल यह मानने से होता है कि अन्य कोई ऐसा नहीं करेगा। अथवा, अविवाह की ही बात को लीजिए।² यदि प्रत्येक को विवाह न करने के लिए कहा जाए तो यह बात पृथ्वी पर मनुष्य-जाति के बने रहने के विरुद्ध होगी; और फलतः यदि कोई भावी सन्तति के किसी लाभ के लिए विवाह न करे तो कांट के दृष्टिकोण से यह असंगतिपूर्ण काम होगा। फिर भी यह स्पष्ट है कि हरेक का कर्तव्य विवाह करना नहीं है, बल्कि कुछ व्यक्तियों का तो विवाह न करना ही कर्तव्य होता है, और वह भी भावी सन्तति के हित की खातिर।

अतः लगता है कि कांट का सिद्धान्त इस व्याख्या के अनुसार बहुत ही कठोर है। लेकिन यदि दूसरी व्याख्या स्वीकार की जाए तो वह बहुत ढीला लगेगा, क्योंकि

1. यह ध्यान देने की बात है कि जब जैकोबी 'मरणोन्मुख डेस्टेमोना की तरह झूठ बोलने' के लिए तैयार होने की बात करता है तब उसका मतलब यह है कि इस तरह के झूठ बोलने में निहित सिद्धान्त को सार्वभौम बनाया जा सकता है। लेकिन यह सन्दिग्ध है कि वह उस विरोध तरीके से झूठ बोलने के लिए वास्तव में तैयार हुआ होता, क्योंकि वह झूठ बिलकुल व्यर्थ था।
2. देखिए सिजविक का *Methods of Ethics*, खण्ड 4, अध्याय 5, अनु० 3; तथा कांट के *Theory of Ethics* के अर्बोट-कृत अंग्रेजी अनुवाद के पृ० liii इत्यादि। विद्यार्थी को ध्यान रखना चाहिए कि यहाँ असंगति कहाँ है। असंगति सिद्धान्त के अन्दर ही है, उसके परिणाम मात्र में नहीं।

तब हर अपवाद, जिसे हम तुल्य परिस्थितियों में सार्वभौम बनाने के लिए तैयार हों, वैध होगा, और प्रत्येक काम, जिसे लोग करते हैं उचित ठहराया जा सकेगा,¹ उन कामों को छोड़कर जिन्हें वे सोच-समझकर यह जानते हुए करते हैं कि उन्हें किसी भी तार्किक आधार पर उचित नहीं कहा जा सकता।

15. कांट के सिद्धान्त का वास्तविक अर्थ

फिर भी इसमें हमें यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि कांट का सिद्धान्त बिल्कुल ही त्याज्य है।² एक तरह से यह प्रश्न किसी भी काम के औचित्य की एक पूरी कसौटी है कि उसे संगति के साथ किया जा सकता है या नहीं। इस दृष्टि से नैतिक कर्म हमारे बौद्धिक जीवन से पूरा साम्य रखता है। भूल को संगति के साथ नहीं अगनाया जा सकता, और न पाप को। लेकिन दोनों ही मामलों में समान रूप से कसौटी खाली आकारिक संगति नहीं है। हम किसी गलत विचार को पकड़कर उससे संगति के साथ तब तक चिपके रह सकते हैं जब तक हम आने को उसी तक सीमित रखते हैं। उसकी असंगति केवल तब प्रकट होती है जब हम उसे सम्पूर्ण विश्व की योजना में बिठाने की कोशिश करते हैं। गलत विचार या भूल की असंगति उस योजना से रहती है।

इसी तरह अपने नैतिक जीवन में भी हम कर्म के किसी गलत सिद्धान्त को अपनाकर संगति के साथ उस पर चलते रह सकते हैं और इच्छा कर सकते हैं कि हमारे भी उस सिद्धान्त पर चलते हुए काम करें, लेकिन तभी तक जब तक हम आने ध्यान को उसी विशेष कर्म और उसके तात्कालिक परिणामों तक ही सीमित रखते हैं। परन्तु ज्यों ही हम उससे बाहर दृष्टि डालते हैं और जीवन की सम्पूर्ण योजना³ के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ते हैं, त्यों ही यह स्पष्ट हो जाता है कि हम उसे सार्वभौम बनाने की इच्छा कदापि नहीं करेंगे। कारण यह नहीं है कि वह कर्म अपने से असंगति रखता है, बल्कि यह है कि वह आत्मा से, अर्थात् हमारे जीवन की समष्टि-बद्ध एकता से, असंगत है।⁴

1. जैसे, कोई आदमी व्यापार में बेईमानी कर सकता है और उसका यह कहकर समर्थन कर सकता है कि उसके पीछे यह सिद्धान्त है कि चतुर आदमी को लापरवाह आदमी से अधिक पैसा घँठने का अधिकार है। यदि उसका अपने चातुर्य पर पूरा भरोसा है तो वह इस सिद्धान्त को सार्वभौम बनाने के लिए तैयार होगा, और साथ ही वह इस सामान्य सिद्धान्त को मानने के लिए भी तैयार हो सकता है कि इस स्थिति को अपवादस्वरूप मानते हुए हमें दूसरों के अधिकारों का आदर करना चाहिए।
2. यह ध्यान देने की बात है कि ब्रेडले ने अपने Ethical Study, निबन्ध 4 में कांट की जो आलोचना की है वह कई बातों में अनुचित है। वास्तव में ब्रेडले ने स्वयं ही पृ० 142-3 की टिप्पणी में यह स्वीकार किया है।
3. जीवन की इस योजना का स्वरूप क्या मानना चाहिए, इस पर आगे विचार किया जाएगा। बाद में हम देखेंगे कि जीवन को प्रगतिशील या विकासशील मानना पड़ता है। इसलिए वह हमारे आगे एक ऐसी योजना के रूप में नहीं आ सकता जो पूरी होनेवाली हो। फलतः जिससे हमें संगति रखनी है वह प्रगति का विचार है—ऐसी प्रगति जिसकी, एक उपन्यासकार के शब्दों में, “हम पहले से आशा लगाये हुए हैं।”
4. यह ध्यान देने की बात है कि कांट कुछ-कुछ यहाँ दिये हुए दृष्टिकोण में पकूच चुका था। विशेष रूप से मानवता को उसने जो एक निरपेक्ष साध्य माना था उससे यह प्रकट होता है, और इससे भी अधिक उसके इस सारगर्भित विचार से कि सब तर्कनाशील सत्ताएँ एक साध्यों

लेकिन फिर हमें तुरन्त यह पूछना होगा कि यह हम कैसे जानें कि क्या बात इस एकता से संगति रखती है और क्या नहीं ? किसे हम सार्वभौम बनाने की इच्छा कर सकते हैं और किसे नहीं ? केवल आकारिक संगति का विचार करके इस सवाल का जवाब नहीं दिया जा सकता । हमें अपनी इच्छाओं के स्वरूप की छानबीन करनी होगी, अर्थात् हमें आकार के साथ-साथ विषय-वस्तु का भी खयाल रखना होगा । दूसरे शब्दों में, हमें पूछना होगा कि जिम आत्मा से हमें संगति रखनी है, उसका स्वरूप क्या है ?

के समाज (Kingdom of ends) की सदस्य हैं (Metaphysic of Morals, Sect. II, अर्बोट का अंग्रेजी अनुवाद) । लेकिन इस प्रकार अपने सिद्धान्त में उसने जो प्रगति की उसके पूरे अर्थ को स्वीकार करने में कांट के दर्शन में स्थायी रूप से रहनेवाला दैतवाद रुकावट बना रहा; और उसका सिद्धान्त फिर भी आकारपरक बना रहा । देखिए कैथर्ड का Critical Philosophy of Kant, जिल्द 2, पृ० 218-26 । कांट के नीतिशास्त्रीय सिद्धान्त की अर्वाचीन आलोचना के लिए सिम्मेल का Einleitung in die Moralwissenschaft, जिल्द 2, अध्याय 5 देखिए ।

मानक : सुख के रूप में

1. प्राक्कथन

हम देख चुके हैं कि निरपेक्ष आदेश का सिद्धान्त भंग हो जाता है, या कम-से-कम वह मुख्यतः निषेधात्मक है। वह हमें इससे थोड़ी-सी ही अधिक जानकारी देता है कि हमें अपने कर्मों को निजी दृष्टिकोण से ही नहीं बल्कि एक सार्वभौम आत्मा के दृष्टिकोण से जाँचना चाहिए, और कि हमें इस तरह से काम करना चाहिए जो इस उच्चतर आत्मा के विचार से संगति रखता हो। यह सब एक आकार मात्र¹

1. निश्चय ही आकार मात्र कहने से मेरा मतलब उसके व्यवहारिक महत्त्व से इनकार करने का नहीं है। रोजाना के जीवन में हम अपने को और दूसरों को अधिकतर ऐसे मानकों के द्वारा जाँचते हैं जो सर्वत्र लागू नहीं होते; और कांट का सूत्र इस बात को रोकने में उपयोगी है। शायद ब्रायस के American Commonwealth (अध्याय 75) के नीचे उद्धृत अंश से यह खतरा समझ में आ जाएगा।

उसने कहा है, “सब व्यवसायों में अपनी-अपनी विशिष्ट नियमावलियाँ बनाने की प्रवृत्ति होती है जो वृहत् समाज की नियमावली से कम बड़ी होती हैं। जैसे कोई व्यवसाय कुछ बातों को, जो स्वयं में हानिरहित हैं, इसलिए अनुचित मानता है कि वे उसकी स्वीकृत नियमावली के विपरीत हैं, दैसे ही वह कुछ अन्य बातों को, जो स्वयं में निन्दनीय हैं, उचित ठहराता है। वणिज्य-व्यवसाय में एजेंट कमीशन के मामले में अपने मालिकों के साथ अफसोसनाक चालें चलते हैं और उनके साथी व्यापारी अचम्भे में पड़ जाते हैं, जब अदालतें उन्हें अनुचित तरीकों से कमाये हुए लाभ को उगलने के लिए मजबूर कर देती हैं। इंगलिस्तान के दिश्वविद्यालयों में एम० ए० की उपाधि लेने वाले हर व्यक्ति को कुछ दिन पहले तक इंगलिस्तान के चर्च के उन्तालीस सिद्धान्तों के नीचे हस्ताक्षर करने पड़ते थे। हस्ताक्षर करने वाले सैकड़ों लोग उनमें विश्वास नहीं करते थे और मानते थे कि वे उनमें विश्वास नहीं करते। लेकिन ओक्सफोर्ड में किसी के दिल में भी, उनके धार्मिक मिथ्योक्ति होने के बावजूद, उनके प्रति बुरी भावना नहीं रही। प्रत्येक व्यवसाय आचार के स्वीकृत नियमों का उल्लंघन करता है, लेकिन उसे आम जनता से छिपाने की भरसक कोशिश करता है और अपने तथा अपनी परम्पराओं के बारे में इस तरह से बात करता है जैसे वे निर्दोष हों।”

“प्रत्येक व्यवसाय अपने लिए जो कुछ करता है वहीं अधिकतर व्यक्ति करते हैं। वे स्वयं को स्वयं से ही जाँचते हैं, अर्थात् अपनी परिस्थितियों और अपने ही पिछले कामों से जाँचते हैं, और इस प्रकार अपनी अन्तर्भावना के आन्तरिक न्यायालय में अपने अतिचारों के लिए जो नियमावली खड़ी कर देते हैं वह उस नियमावली की अपेक्षा मुलायम होती है जो वे दूसरों पर लागू करते हैं। हम सब जानते हैं कि जिस दोष को कोई आदमी बार-बार कर चुका होता है वह उसे उसकी अपेक्षा हलका लगता है जिससे वह बचा रहा और जिसे उसने दूसरों को करते देखा है। प्रायः वह दूसरों को भी अपनी बात मनवाना चाहता है। लोग

है, और अब हमें उस अन्तर्वस्तु को ढूँढ़ना है जो इस आकार को भर सके। संक्षेप में, हमें पूछना है कि आदर्श आत्मा का स्वरूप क्या है, और किन चीजों से बना है।

2. उच्च और निम्न जगत् (Higher & Lower Universes)

इसे नीतिशास्त्र का प्रायः आधारभूत अभ्युपगम कहा जा सकता है कि संकल्प के कुछ रूप अन्यों से ऊँचे या अच्छे होते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कुछ इच्छाएँ या कुछ इच्छा-जगत् अन्यों से ऊँचे या अच्छे होते हैं। इस प्रकार यह निर्णय करने की समस्या पैदा होती है कि क्यों एक इच्छा या इच्छा-जगत् को अन्यों से ऊँचा या अच्छा मानना चाहिए। इस समस्या के महत्त्व को बताने का सर्वोत्तम तरीका शायद यह होगा कि इसका एक सम्भव उत्तर बता दिया जाए।

यह स्पष्ट है कि कुछ जगत् अन्यों से अधिक व्यापक होते हैं। यदि कोई आदमी अपने सम्पूर्ण राष्ट्र को सुखी बनाने की दृष्टि से काम करता है तो उसका दृष्टिकोण स्पष्टतः उस दृष्टिकोण से अधिक व्यापक होगा जो वह केवल अपने सुख के लिए काम करने में अपनाएगा। पहले दृष्टिकोण में दूसरा भी शामिल है। इसी तरह, यदि कोई आदमी साल-भर अपने ही सुख के दृष्टिकोण से काम करता है तो उसका दृष्टिकोण उससे अधिक व्यापक होगा जो वह केवल वर्तमान घंटे में अपने सुख के लिए काम करने में अपनाएगा। जिस दृष्टिकोण से हम काम करते हैं वह जितना अधिक संकीर्ण होगा उतने ही अधिक निश्चित रूप से हम असंगति या आत्म-व्याघात करेंगे। जिस जगत् के अन्दर हम काम करते हैं वह यदि वर्तमान घंटे मात्र का है तो जब वर्तमान घंटा समाप्त हो जाएगा तब उसका प्राधान्य समाप्त हो जाएगा; और तब हम देखेंगे कि हम किसी भिन्न और शायद असंगत दृष्टिकोण से काम कर रहे हैं। इसके विपरीत, यदि जिस जगत् के अन्दर हम काम करते हैं वह बहुत विस्तृत और व्यापक है तो हम शायद अपने दृष्टिकोण को आजीवन संगत तरीके से बनाए रख सकेंगे और उसे दूसरों के कामों पर भी लागू कर सकेंगे। अतः अधिक व्यापक जगत् को कम व्यापक जगत् की अपेक्षा ऊँचा या अच्छा माना जा सकता है, क्योंकि वह हमें अपने कामों में एक अधिक संगत दृष्टिकोण अपनाए रखने में सहायक होता है।

इन बातों को सोचकर कुछ-कुछ हम समझ गए होंगे कि क्यों एक जगत् को दूसरे से ऊँचा या अच्छा मानना चाहिए। फिर भी, बात पूरी तरह से स्पष्ट नहीं हुई, क्योंकि कभी-कभी जब हम एक जगत् को दूसरे की अपेक्षा अधिक पसन्द करते हैं तब पहला दूसरे को अपने में शामिल नहीं करता और स्पष्टतः उससे अधिक व्यापक नहीं होता। ऐसे मामलों में अधिक पसन्द करने का कारण हम आगे कहीं बताएँगे। लेकिन फिलहाल यह अच्छा होगा कि हम इस पसन्दगी की एक उपयुक्त लगने वाली व्याख्या की ओर ध्यान दें, जिसे स्वीकार न करने का कारण बाद में बताया जाएगा। नीतिशास्त्र जैसे विषय में प्रायः ग़लत सिद्धान्त भी लगभग उतने ही ज्ञानवर्धक होते हैं जितने सही सिद्धान्त।

कहते हैं, 'यह उसका अपना ढंग है, यह रोजर के ही उपयुक्त है'। यही बात राष्ट्रों में भी होती है।"

इसमें शायद कुछ श्रिद्धान्वेषण की प्रवृत्ति हो; लेकिन हमारी बात को सिद्ध करने के लिए इसमें काफ़ी सच्चाई है। इसमें आये हुए कुछ उदाहरणों पर हम आगे किर्तव्यमीमांसा के प्रसंग में विचार करेंगे।

3. इच्छाओं की तृप्ति

जब कोई इच्छा वह साध्य प्राप्त कर लेती है जिसकी ओर वह उन्मुख होती है, तब वह तृप्त हो जाती है; और इस तृप्ति के साथ एक अनुकूल भाव पाया जाता है, जो सुख, आनन्द या प्रसन्नता का भाव होता है। इसके विपरीत, जब इच्छा का साध्य प्राप्त नहीं होता तब हमारे अन्दर एक प्रतिकूल भाव पैदा होता है, जो दुःख, कष्ट या अप्रसन्नता का भाव होता है। अब, यदि हम एक व्यापक जगत् या ऐसे जगत् के अन्दर काम करते हैं जिसमें आजीवन बराबर बार-बार पैदा होने वाली इच्छाएँ शामिल हों, तो हम इस प्रकार काम करते होंगे कि हमारी इच्छाओं की बहुत आवृत्ति के साथ तृप्ति होती रहेगी और इस प्रकार हम सुख के भाव का अनेक बार अनुभव करेंगे। इसके विपरीत, यदि हम एक संकीर्ण जगत् या ऐसे जगत् के अन्दर काम करते हैं जिसमें शामिल इच्छाओं की अधिक पुनरावृत्ति नहीं होती, तो हमारी तृप्तियों की संख्या कम और दुःखद भावों की आवृत्ति अधिक होगी। इसलिए यह कहना युक्तियुक्त लगता है कि चूँकि हम अपनी इच्छाओं की तृप्ति को अपना लक्ष्य बनाते हैं इसलिए सर्वोत्तम लक्ष्य वह है जो सुखों की अधिकतम संख्या और दुःखों की अल्पतम संख्या प्रदान करेगा।

इस विचार से हम ऊँचे और नीचे जगत्‌ओं की एक कसौटी प्राप्त कर सकते हैं। तदनुसार सर्वोच्च जगत्, जिसके अन्दर हम काम कर सकते हैं, वह होगा जो हमें सुखों की अधिकतम संख्या और दुःखों की अल्पतम संख्या प्रदान करेगा। वास्तव में, सर्वोच्च जगत् वह होगा जो आजीवन अधिकतम सुख प्राप्त करने के विचार से बना होगा; अथवा, यदि हम अपने साथ-साथ दूसरों का भी खयाल रखें तो, जो अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख के विचार से बना होगा। अब हम सुखवाद की चर्चा में पहुँच गए हैं।

4. सुखवाद के विविध प्रकार

सुखवाद उन सिद्धान्तों का सामान्य नाम है जो सुख या प्रसन्नता को जीवन का सर्वोच्च साध्य मानते हैं। इन सिद्धान्तों ने अनेक भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण किये हैं। कुछ लोगों ने यह माना है कि मनुष्य हमेशा सुख का अनुसरण करते ही हैं, अर्थात् सुख किसी-न-किसी रूप में इच्छा का लक्ष्य हमेशा ही होता है। लेकिन कुछ अन्य सुखवादियों ने केवल इतना ही माना है कि मनुष्यों को हमेशा सुख का ही अनुसरण करना चाहिए। पहले सिद्धान्त को प्रो० सिजविक ने मनोवैज्ञानिक सुखवाद कहा है, क्योंकि वह केवल यह कहता है कि सुख का अनुसरण एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। दूसरे सिद्धान्त को सिजविक ने नैतिक सुखवाद कहा है।

फिर, कुछ लोगों ने कहा है कि प्रत्येक मनुष्य अपने ही सुख का अनुसरण करता है या उसे अपने ही सुख का अनुसरण करना चाहिए; जबकि अन्यो का मत है कि प्रत्येक व्यक्ति सब मनुष्यों के, यहाँ तक कि सब अनुभूतिशील प्राणियों के, सुख का भी अनुसरण करता है, या उसे ऐसा करना चाहिए। सिजविक ने इनमें से पहले मत को स्वसुखवाद और दूसरे मत को सर्वसुखवाद कहा है। दूसरे को उपयोगितावाद भी कहा गया है; लेकिन यह बहुत ही अनुपयुक्त नाम है।¹

शुरू के अधिकतर नैतिक सुखवादी मनोवैज्ञानिक सुखवाद को भी मानते थे; लेकिन मनोवैज्ञानिक सुखवाद को अब लगभग सभी ने छोड़ दिया है। स्वसुखवाद भी अब आम तौर पर छोड़ दिया गया है। इसके मुख्य समर्थक पुराने ज़माने में साइरीनेइक

और एपिक्यूरस के अनुयायी थे।¹ लेकिन वेन्थन (1748-1842) और मिल (1806-1873) जैसे कुछ आधुनिक लेखकों ने स्वसुखवाद और सर्वसुखवाद में स्पष्ट भेद नहीं किया, और फलतः मुख्य रूप से केवल दूसरे का समर्थन करते हुए भी वे प्रायः पहले से चिपके जान पड़ते हैं।

विद्यार्थी को सुखवाद के इन विभिन्न रूपों का भेद सावधानी से समझ लेना चाहिए, अन्यथा वह बहुत चक्कर में पड़ जाएगा। मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर पहले ही खण्ड 1 में विचार किया जा चुका है। वह एक तथ्य मात्र का कथन है जबकि नैतिक सुखवाद एक मूल्यपरक सिद्धान्त है, अर्थात् इस बात का कारण बताता है कि क्यों एक प्रकार के कर्म को अन्य कर्मों से अधिक पसन्द किया जाना चाहिए।

5. नैतिक सुखवाद (Ethical Hedonism)

हम देख चुके हैं कि मनोवैज्ञानिक सुखवाद एक गलत सिद्धान्त है। लेकिन नैतिक सुखवाद पर उसके मान्य या अमान्य होने से कोई असर नहीं होता। बल्कि जैसा कि सिजविक² ने कहा है, नैतिक सुखवाद मनोवैज्ञानिक सुखवाद से, कम-से-कम उसके चरम रूप से, बिल्कुल भी मेल नहीं रखता। यदि हम हमेशा अपने ही अधिकतम सुख का अनुसरण करते हैं, तो ऐसा कहने में कोई तुक नहीं होगा कि हमें उसका अनुसरण करना चाहिए; और यह कहना तो बिल्कुल ही बेतुका होगा कि हमें दूसरों के सुख का अनुसरण करना चाहिए—हाँ, तब की बात अलग है जब यह मिश्र कर दिया जाए कि दूसरों का सुख हमारे अपने सुख से अभिन्न है। निश्चय ही, यदि मनोवैज्ञानिक सुखवाद का मतलब केवल यह समझा जाए कि हम सदैव किसी तरह के सुख का अनुसरण करते हैं, तो नैतिक सुखवाद का यह मतलब समझा जा सकता है कि हमें अपने अथवा दूसरों के अधिकतम सुख का अनुसरण करना चाहिए। लेकिन किसी भी हालत में इन दो सिद्धान्तों के बीच कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं है।³

1. इनके वर्णन के लिए सिजविक का *History of Ethics*, पृष्ठ 32-3 और 82-90 देखिए। जेलर-कृत *Socrates and the Socratic Schools* तथा *Stoics, Epicureans, and Sceptics* भी द्रष्टव्य हैं। प्रो० बालेस की छोटी-सी पुस्तक *Epicureanism* ('Chief Ancient Philosophies') सबसे मनोरंजक पुस्तक है जिसे हर विद्यार्थी को पढ़ लेना चाहिए। प्रो० वाटसन-कृत *Hedonistic Theories from Aristippus to Spencer* भी बहुत मनोरंजक है, और यद्यपि उसकी शैली कुछ लोकप्रिय-जैसी है, तथापि लगभग हमेशा ही उस पर विश्वास किया जा सकता है।

2. *Methods of Ethics*, खंड 1, अध्याय 4, अनु० 1।

3. इसलिए मैं इस बात से सहमत नहीं हूँ कि सुखवाद का मनोवैज्ञानिक रूप उसका तार्किक रूप भी है, जैसा कि किसी-किसी ने कहा है। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि नैतिक सुखवाद (विरोधतः उसका स्वार्थवादी रूप) करीब-करीब हमेशा ही मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर खड़ा किया गया है। यह अनिवार्यतः असंगत भी नहीं है; क्योंकि अधिकतर सुखवादियों (विरोधतः स्वसुखवादियों) ने इस बात से इन्कार किया है कि कोई निरपेक्ष 'चाहिए' है जिसकी बात को मनुष्य की स्वाभाविक अभिनतियाँ मानने के लिए बाध्य हों। उन्होंने नीतिशास्त्र को केवल हमारे कामों को रास्ता दिखाने के लिए नियम निर्धारित करने वाला माना है, ताकि हमारे स्वाभाविक आवेगों को अधिकतम सम्भव वृत्ति मिल सके। उन्होंने यह सोचा है कि पर्याप्त 'अनुशासनों' (sanctions) (देखिए खंड 2, अध्याय 8, पृष्ठ 247 इत्यादि) के प्रयोग से सम्पूर्ण समाज के अधिकतम सुख को व्यक्त के अधिकतम सुख

इन दोनों को प्रायः जो परस्पर उलझाया गया है वह 'इच्छा-योग्य'¹ (desirable) शब्द के दो अर्थों के कारण है। इस सम्बन्ध में मिल से एक उद्धरण देना ठीक रहेगा।

मिल कहता है, "किसी चीज के देखने-योग्य होने का एकमात्र प्रमाण यह दिया जा सकता है कि लोग वास्तव में उसे देखते हैं। किसी ध्वनि के सुनने-योग्य होने का एकमात्र प्रमाण यह है कि लोग उसे वास्तव में सुनते हैं।" इसी तरह, मैं समझता हूँ कि किसी चीज के इच्छा-योग्य होने का एकमात्र प्रमाण यह दिया जा सकता है कि लोग उसकी वास्तव में इच्छा करते हैं।"

यहाँ यह मान लिया गया है कि 'इच्छा-योग्य' शब्द का अर्थ 'देखने-योग्य' और 'सुनने-योग्य' के अर्थ से मिलता-जुलता है। लेकिन 'देखने-योग्य' का अर्थ है 'वह जिसे देखा जा सके' और 'सुनने-योग्य' का अर्थ है 'वह जिसे सुना जा सके' जबकि 'इच्छा-योग्य' का अर्थ प्रायः वह नहीं होता 'जिसकी इच्छा की जा सके'। जब हम किसी चीज को 'इच्छा-योग्य' कहते हैं तब हमारा मतलब प्रायः यह नहीं होता कि उसकी इच्छा की जा सकती है। ऐसी शायद ही कोई चीज हो जिसकी इच्छा न की जा सके। इसके बजाय किसी चीज को इच्छा-योग्य कहने का यह मतलब होता है कि उसकी इच्छा करना उचित है, अथवा, कि उसकी इच्छा करनी चाहिए। जब सुखवादी यह कहता है कि सुख ही एकमात्र इच्छा-योग्य वस्तु है तब उसका मतलब यह होता है कि केवल सुख की ही इच्छा करनी चाहिए। लेकिन 'इच्छा-योग्य' शब्द के आकार से अनेक लेखक इस भ्रम में पड़ गए लगते हैं कि उन्हें यह भी सिद्ध करना चाहिए कि सुख ही एकमात्र वह वस्तु है जिसकी इच्छा की जा सकती है।²

यह दूसरा मत मनोवैज्ञानिक सुखवाद है जो कि स्पष्टतः गलत लगता है। पहला नैतिक सुखवाद है जिसकी अभी हमें परीक्षा करनी है।

हम पहले ही कह चुके हैं कि नैतिक सुखवाद के दो रूप हैं—एक स्वायंपरक और दूसरा सर्वार्थपरक। इन पर विचार करने से पहले अच्छा होगा कि हम नैतिक सुखवाद के सामान्य अर्थ को ठीक-ठीक समझ लें :

का सम्पाती बनाया जा सकता है। बेन्थम ने खासतौर से इस बारे में स्पष्टोक्ति की है। उसने कुछ विरोधाभासयुक्त लगने वाली यह बात कही है कि 'चाहिए' शब्द को 'हटा देना चाहिए' (देखिए Principles of Morals and Legislation, अध्याय 1, अनु० 10)। लेकिन निश्चय ही यह मत इस स्वीकारोक्ति (जो कि अब आम तौर पर सब सुखवादी करते हैं) के विरुद्ध है कि अपनी अभिनतियों की दृष्टि कर्तव्य के विपरीत जा सकती है। यदि यह स्वीकारोक्ति ठीक है तो नैतिक सुखवाद मनोवैज्ञानिक सुखवाद के ऊपर खड़ा नहीं हो सकता। देखिए Gizycki का Introduction to the Study of Ethics, पृ० 70-8।

1. देखिए सिजविक का Methods of Ethics, खण्ड 3, अध्याय 13, अनु० 5।
2. यहाँ जो तर्कदोष है वह तर्कशास्त्र में 'व्युत्पत्तिसाम्य-दोष' (Fallacy of Figure of Speech) के नाम से प्रसिद्ध है। देखिए व्हेटली (Whately) का Logic पृ० 117-18, डेवीस (Davis) का Theory of Thought, पृ० 270, वेल्टन (Welton) का Manual of Logic, जिल्द २, पृ० 243, जेवोन्स (Jevons) (Elementary Lessons on Logic, पृ० 175) ने इस दोष को और साथ ही अन्य कई दोषों को बिलकुल गलत समझा है।

6. सुख का परिमाण

सुखवाद का यह अस्पष्ट कथन-मात्र नहीं है कि हमें सुख का अनुसरण करना चाहिए। वह निश्चय के साथ यह कहता है कि हमें अधिकतम सुख का अनुसरण करना चाहिए, अन्यथा हमें उससे आचरण में अच्छाई और बुराई की कोई कसौटी उपलब्ध नहीं होती। सुख बहुत ही परस्पर-विरोधी तरीकों से काम करते हुए प्राप्त किया जा सकता है। लेकिन जब यह कहा जाता है कि हमें अधिकतम सुख का अनुसरण करना है, तब प्रायः केवल एक ही मार्ग का अवलम्बन किया जा सकता है।

सुख के परिमाण को निर्धारित करने में प्रायः दो बातों का विचार करने के लिए कहा जाता है—तीव्रता (intensity) और अवधि (duration)।¹ कुछ सुख अन्यो से इसलिए अच्छे हैं कि वे अधिक समय तक टिकते हैं। दुःखों का भी विचार करना जरूरी है। दुःख सुख का विपरीत भाव मात्र है और फलतः उसे गणित की ऋणात्मक राशियों की तरह मानना चाहिए। यदि एक सुख को हम +क के रूप में व्यक्त करें, तो उसके अभावस्वरूप दुःख को हम —क से व्यक्त करेंगे; और हमें लक्ष्य इस बात को बनाना है कि सुखों का अधिकतम योग या दुःखों का अल्पतम योग प्राप्त हो, जिसमें सुखों को धन-राशि के रूप में और दुःखों को ऋण-राशि के रूप में गिना जाएगा।

इस प्रकार, यदि तीन सुख हों जिनका मूल्य क्रमशः 3, 4 और 5 हो; तो 5, 3 या 4 की तुलना में अधिक वांछनीय है; 3+4, 5 से; 3+5, 3+4 से; और 4+5, 3+5 से अधिक वांछनीय है। फिर यदि दुःखों का मूल्य क्रमशः —3, —4, —5 है; तो —3, —4 से अधिक वांछनीय है; और —4, —5 से अधिक। इसी प्रकार 5—3, 4—3 से अधिक वांछनीय है; और 3—4, 3—5 से अधिक; लेकिन 4—3 और 5—4 अथवा 3—3 और 4—4 के बीच किसी एक को अधिक पसन्द करने का कोई आधार नहीं है।

7. स्वसुखवाद (Egoistic Hedonism)

स्वसुखवाद वह सिद्धान्त है कि प्रत्येक को केवल अपने ही अधिकतम सुख का

1. बेन्थम के अनुसार सुखों का मूल्य आँकने में कुछ और विशेषताएँ भी हैं जिनका विचार करना चाहिए। वे हैं : निश्चितता, निकटता (propinquity), उत्पादकता (fecundity) (अन्य सुखों को पैदा करने की शक्ति) तथा शुद्धता (दुःख-राहित्य)। उसने यह भी कहा कि सुखों के विस्तार (extent) का भी ध्यान रखना चाहिए, अर्थात् इस बात का कि उनका उपभोग करनेवाले व्यक्तियों की संख्या कितनी है। देखिए उसका Principles of Morals and Legislation. उसने संक्षेप में अपने मत को निम्नलिखित अनगढ़ छन्द में रखा था :—

“Intense, long, certain, speedy, fruitful, pure,
Such marks in pleasures and in pains endure,
Such pleasures seek, if private be thy end;
If it be public, wide let them extend,
Such pains avoid, whichever be thy view;
If pains must come, let them extend to few.”

देखिए सिजविक की पुस्तक History of Ethics, पृ० 240-1, और ड्यूई की Outlines of Ethics, पृ० 36-7.

अनुसरण करना चाहिए। इस सिद्धान्त को विद्युद्ध रूप में माननेवाले केवल साइरीनेइक और एपिक्यूरस के अनुयायी ही थे। साइरीनेइक सम्प्रदाय के लोग केवल वर्तमान क्षण के सुख के अनुसरण के उपदेश तक ही अपने को सीमित रखते थे, अर्थात् सुख की अवधि का वे कोई विचार नहीं करते थे। एपिक्यूरस के अनुयायी सम्पूर्ण जीवन का सुख प्राप्त करने के प्रयत्न का उपदेश देते थे। आधुनिक काल में, शायद ईसाई धर्म के आत्म-त्याग के उपदेश के कारण, इस सिद्धान्त को किसी भी रूप में बहुत ही कम स्वीकार किया गया है। हॉब्ज¹ और गैसेण्डी, इन दो आधुनिक लेखकों ने निश्चित रूप से इस मत को अपनाया है; और इन्होंने इसे मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आधारित किया है। ऐसा लगता है कि स्पिनोज़ा ने भी एक तरह से इसे माना था;² लेकिन उसने इसे एक तत्त्वमीमंसीय सिद्धान्त के नीचे रखा, जिस पर विचार करना यहाँ सम्भव नहीं है।

स्वसुखवाद नैतिक चेतना को हमेशा घृणित लगा है। फिर भी इसे एक तर्क-संगत लगनेवाला रूप देना सम्भव है, और सिजविक-जैसे एक अत्याधुनिक लेखक तक ने इसे किसी भी पूर्ण नीतिशास्त्रीय सिद्धान्त के अन्दर एक अनिवार्य तत्त्व माना है। ऐसा प्रतीत होने का कारण काफ़ी स्पष्ट है। यह बात साफ़ है कि जिस साध्य को हमें अपना लक्ष्य बनाना है उसे एक ऐसा साध्य होना चाहिए जो हमें सन्तोष दे। जब हमसे पूछा जाता है कि हम किसी साध्य का अनुसरण क्यों करते हैं, तब एकमात्र तर्कसंगत उत्तर यह दिया जा सकता है कि वह हमारी प्रकृति की किसी माँग को पूरा करता है; और अन्त में सन्तोषजनक सिद्ध होनेवाला एकमात्र उत्तर यह दिया जा सकता है कि वह हमारी प्रकृति की सबसे आधारभूत माँग को पूरा करता है। यदि हम यह कहें कि हम साध्य का अनुसरण किसी बाहरी कारण से करते हैं, जैसे, इसलिए कि कोई ऊँची शक्ति हमें आदेश देती है, तो यह सवाल फिर भी पूछा जा सकता है कि हम उस बाहरी कारण से क्यों प्रभावित होते हैं। एकमात्र उत्तर, जिसके बाद किसी अन्य सवाल के लिए गुंजाइश नहीं रहती, यह है कि यह हमारी प्रकृति की सबसे बड़ी माँग है। अब, जब यह पूछा जाता है कि हमारी प्रकृति की सबसे बड़ी

1. हॉब्ज के सिद्धान्त के बारे में सिजविक की *History of Ethics*, पृ० 163-70 देखिए। लेकिन यह ध्यान रखना चाहिए कि हॉब्ज का स्वार्थवाद उसके सुखवाद से कहीं अधिक स्पष्ट है (इस बात को सिजविक ने पर्याप्त रूप से व्यक्त नहीं किया है)। यहाँ तक कहा जा सकता है कि हॉब्ज को पक्का सुखवादी मानना सन्देहास्पद है, हालाँकि लगता है कि उसे सुखवादी आखिरकार मानना ही पड़ेगा। देखिए क्रूम रॉबर्टसन (Croom Robertson) की पुस्तक *Hobbes*, पृ० 136। शायद हल्वेटियस (Helvetius) और मैण्डेविले (Mandeville) भी स्वसुखवादी माने जाएँगे। देखिए लेकी (Lecky) की *History of European Morals*, पृ० 6 इत्यादि। लेकिन मैण्डेविले की बात को शायद ही गम्भीरता के साथ लिया जाए। यह भी कह देना चाहिए कि इन लेखकों में से शायद ही किसी को शुद्ध या, कम-से-कम, संगत तरीके वाला स्वार्थवादी कहा जाएगा। हॉब्ज तक को अन्त में तर्कना के नियम को मानना पड़ा (हालाँकि यह नियम उसके अनुसार अत्यन्त गौण स्वरूप का है), जो हमें सामान्य हित का सम्मान करने को कहता है। क्रूम रॉबर्टसन का ग्रन्थ *Hobbes*, पृ० 142 देखिए।
2. प्रिंसिपल केयर्ड का *Spinoza*, अध्याय 12 और 13 देखिए। स्पिनोज़ा का सर्वोच्च साध्य सुख के बजाय परमानन्द (blessedness) था। आगे अनु० 10 (ग) और अध्याय 5, अनु० 17 देखिए।

माँग को कौनसी चीज पूरी करेगी, तब एक बहुत ही सहज उत्तर है 'सुख'।

लेकिन विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसा जवाब देने में हम उसी द्वयर्थकता के कारण गुमराह हो जाते हैं जो हमने मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर विचार करते हुए पाई थी। यह तो निस्सन्देह सही है कि जो कुछ भी हमारी प्रकृति की सबसे बड़ी माँग की पूर्ति करेगा वह अपने साथ सुख भी लाएगा, और उसे फलतः सुख कहा जा सकता है। लेकिन इस सुख में कोई बाह्यार्थ (objective content) होना चाहिए, और वह बाह्यार्थ स्वयं सुख नहीं है। जो वस्तु हमें सुख देती है वह किसी दूसरे का सुख हो सकती है या वह अपने देश का हित हो सकती है, या जिसे हम अपन कर्तव्य समझते हैं उसको पूरा करना हो सकती है। ये चीजें सुख हैं, अर्थात् वे ऐसी चीजें हैं जिनकी प्राप्ति हमें सुख देती है। लेकिन वे स्वयं सुख, अर्थात् अनुकूल भाव, नहीं हैं। अतः यहाँ भी यह कहना कि हमें सुखों का अनुसरण करना चाहिए, यह कहने के बराबर नहीं है कि हमें सुख का अनुसरण करना चाहिए।

लेकिन प्रो० सिजविक¹ ने सोचा था कि "जब हम बैठकर ठंडे दिल से विचार करते हैं तब हम देखते हैं कि सुख के अलावा कोई भी चीज ऐसी नहीं है जिसका अनुसरण करना युक्तियुक्त हो, अर्थात् जो स्वयं में इच्छा-योग्य हो।" आगे वे कहते हैं कि चूँकि सुख ही एकमात्र इच्छा-योग्य चीज है, इसलिए अधिकतम सुख को सबसे अधिक इच्छा-योग्य होना चाहिए। तदनुसार अधिक तीव्र सुख को कम तीव्र सुख से, और अधिक समय तक टिकनेवाले सुख को कम समय तक टिकनेवाले सुख से अधिक पसन्द किया जाना चाहिए। इसके अलावा सिजविक ने यह भी कहा है कि अपने सुखों का मूल्यांकन करते हुए हमें एक भूत या भविष्य के सुख का मूल्य उतना ही समझना चाहिए जितना एक वर्तमान सुख का। कारण यह है कि काल मात्रा का भेद² स्वयं हमारे सुखों के मूल्य में कोई अन्तर पैदा नहीं कर सकता।³ यह सब स्पष्टतः सही है, यदि यह मान लिया जाए कि सुख ही एकमात्र इच्छा-योग्य वस्तु है। लेकिन ऐसा मानने का कोई कारण नहीं दिखाई देता।⁴

8. सर्वसुखवाद (Universalistic Hedonism)

सर्वसुखवाद या उपयोगितावाद का यह सिद्धान्त है कि हमें सब मनुष्यों, अथवा सब अनुभूतिशील प्राणियों के सुख की अधिकतम सम्भव मात्रा को अपना लक्ष्य बनाना चाहिए। इस सिद्धान्त के प्रमुख समर्थक बेन्थम, जे० एस० मिल और हेनरी सिजविक हैं। बेन्थम ने इस सिद्धान्त का जो प्रमाण दिया है वह बहुत स्पष्ट नहीं है⁵ और मिल के दिये हुए प्रमाण में उसे पर्याप्त रूप से निरूपित माना जा सकता है। मिल की युक्ति उसके ग्रन्थ Utilitarianism के चौथे अध्याय में इस प्रकार दी गई है :

'सबका सुख क्यों इच्छा-योग्य है, इसके लिए कोई कारण नहीं दिया जा सकता, अलावा इसके कि प्रत्येक व्यक्ति, जहाँ तक वह सुख को प्राप्तव्य मानता है, अपने ही सुख की इच्छा करता है। लेकिन चूँकि यह एक तथ्य है, इसलिए सुख को शुभ मानने का जितना प्रमाण दिया जा सकता है, न केवल वह हमें मिल जाता है

1. Methods of Ethics, खण्ड 3, अध्याय 14, अनु० 5।

2. इस बात को छोड़कर कि आम तौर पर समय बीतने के साथ सुख की प्राप्ति अनिश्चित हो जाती है। इस बात के लिए निश्चय ही गुंजाइश रखनी होगी।

3. Methods of Ethics, खण्ड 3, अध्याय 13, अनु० 3।

4. देखिए अनु० 5, और आगे अनु० 10।

5. देखिए सिजविक की History of Ethics, पृ० 240-45।

बल्कि जितने प्रमाण की जरूरत है वह भी मिल जाता है। और वह प्रमाण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति का सुख उसके लिए शुभ है और इसलिए सबका सुख सब व्यक्तियों के समूह के लिए शुभ है।" इसके बाद मिल यह युक्ति देता है कि सुख एकमात्र शुभ है, क्योंकि, जैसा हम पहले ही बता चुके हैं, किसी चीज की इच्छा करना और उसे सुख-कर पाना एक ही बात को कहने के दो भिन्न तरीके मात्र हैं।

इन युक्तियों में जितने अधिक दोष हैं उन्हें इस छोटी-सी जगह में बता देना मुश्किल काम है। दूसरी युक्ति में 'सुख' शब्द की द्वयर्थकता के कारण जो गड़बड़ी आ गई है उसे हम पहले ही देख चुके हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि 'इच्छा-योग्य' शब्द का सही अर्थ में प्रयोग न करने से इस तर्क के प्रथम भाग में दोष आ गया है। अब केवल उस दोष को देखना शेष है जो इस तर्क में है कि "सबका सुख सब व्यक्तियों के समूह के लिए शुभ है।"

इसमें जो दोष है वह तर्कशास्त्र में 'संग्रह-दोष' (fallacy of composition) के नाम से प्रसिद्ध है। मिल के तर्क को दूसरी तरह से इस प्रकार रखा जा सकता है : क्योंकि मेरा सुख मेरे लिए शुभ है, तुम्हारा तुम्हारे लिए, उसका उसके लिए इत्यादि; इसलिए मेरा सुख + तुम्हारा सुख + उसका सुख मैं + तुम + वह के लिए शुभ है। यहाँ यह भुला दिया जाता है कि न सुखों का योग किया जा सकता है और न व्यक्तियों का। यह तर्क कुछ ऐसा ही है जैसे यह कि चूँकि सी सिपाहियों में से प्रत्येक छः फुट लम्बा है, इसलिए उनकी पूरी कम्पनी छः सौ फुट लम्बी है। यह तब होता जब सिपाही एक के ऊपर एक खड़े होते। और इसी तरह, मिल का तर्क तब सही होता जब सब मनुष्यों की आत्माओं को मिलाकर एक कर दिया जाता। लेकिन स्थिति जैसी है उसे देखते हुए, 'सब मनुष्यों का समूह' कोई मनुष्य नहीं है, और फलतः उसके लिए कुछ भी शुभ नहीं कहा जा सकता। शुभ किसी व्यक्ति के लिए ही शुभ होगा।¹

9. सर्वसुखवाद के समर्थन में सिजविक का तर्क

सर्वसुखवाद के पक्ष में सिजविक ने जो तर्क दिया है वह शायद अब तक के तर्कों में सबसे अधिक विशद और विश्वास पैदा करनेवाला है। अन्तर्भावना के बारे में उसका सिद्धान्त कुछ सीमा तक बटलर के सिद्धान्त की पुनरावृत्ति है; लेकिन कुछ मौलिक बातों में वह उससे कहीं अधिक स्पष्ट और निश्चित है, और यह स्पष्टता अधिकांश में कांट के मत को आंशिक रूप में अपनाने के कारण आई है।

बटलर की तरह सिजविक भी अपने सिद्धान्त को अन्तर्भावना के आदेश पर आधारित करता है, और अन्तर्भावना का व्यावहारिक तर्कना से ऐक्य स्थापित करने में वह कांट से एकमत है। सिजविक के अनुसार, नैतिकता की मौलिक आवश्यकता यह है कि हमें तर्कना का दृष्टिकोण अपनाना चाहिए और उसके आदेशों का पालना करना चाहिए। इससे न्याय की धारणा प्राप्त होती है जिसकी दो मुख्य आवश्यकताएँ हैं। हमें अपने प्रति न्याय करना चाहिए; और सिजविक इसका यह मतलब लगाता है कि हमें अपने जीवन के सारे क्षणों के प्रति निष्पक्ष होना चाहिए; और अपने ही लिए सुखों का चुनाव करने में हमें भविष्य का वजन वर्तमान के बराबर मानना चाहिए। इसी तरह दूसरों के सुखों का वजन भी हमें अपने सुखों के बराबर समझना चाहिए।²

1. देखिए ब्रेडले की पुस्तक *Ethical Studies*, पृ० 101।

2. *Methods of Ethics*, खण्ड 3, अध्याय 13, अनु० 3।

शायद यह सोचा जाएगा कि इस तरह सिजविक ने स्वसुखवाद का खण्डन कर दिया और सर्वसुखवाद को एकमात्र युक्तियुक्त सुखवादी सिद्धान्त सिद्ध कर दिया। लेकिन किसी कारण¹ से, जिसे समझना आसान नहीं है, वह ऐसा नहीं मानता। समझने की कोशिश करने के बाद कारण यह लगता है कि मूलतः अपना सुख ही हमारे लिए शुभ है; और केवल गौण रूप में ही हमें यह पता चलता है कि दूसरों के सुख को भी अपने सुख के बराबर का ही मानना चाहिए। अब जिस बात की जानकारी हमें गौण रूप में ही होती है वह मूल सत्य को नहीं हटा सकती। इसलिए फिर भी हम अपने ही सुख को सर्वोच्च शुभ मानने के लिए बाध्य रहते हैं। इस कारण से सिजविक को कहना पड़ा कि तर्कना की अन्तिम सिफारिशों में कुछ व्याघात या द्वैत-भाव है। हम अपने ही अधिकतम सुख का अनुसरण करने के लिए बाध्य हैं, और इसके बावजूद हमें अनुभूतिशील प्राणियों के पूरे समूह के अधिकतम सुख का भी अनुसरण करना है।

सम्भव है इन दो साध्यों में संपात न हो सके, बल्कि शायद नहीं ही होगा। इस प्रकार तर्कना के दो भिन्न आदेशों के बीच विरोध पैदा हो जाता है। इस विरोध को सिजविक ने व्यावहारिक तर्कना का द्वैत² कहा है। लेकिन, यदि इस बात में कोई बल है तो, लगता है कि हम इसे और आगे बढ़ाकर यह कह सकते हैं कि इसी तरह का विरोध किसी एक क्षण के अपने अधिकतम सुख का अनुसरण करने और अपने जीवन-भर के अधिकतम सुख का अनुसरण करने के बीच भी दिखाई देगा। किसी एक क्षण का अपना सुख ही मूलतः वांछनीय प्रतीत होता है। किसी भी दिये हुए क्षण में वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति ही वांछनीय लगती है। फलतः सिजविक के सिद्धान्त के अनुसार हम कह सकते हैं कि हम किसी दिए हुए क्षण के अपने अधिकतम सुख का अनुसरण करने के लिए उससे कम बाध्य नहीं हैं जितना अपने सम्पूर्ण जीवन के अधिकतम सुख का अनुसरण करने के लिए बाध्य हैं। इस प्रकार सुखवाद के दो के बजाय तीन प्रकार होंगे—एक साइरीनेइक मत, दूसरा एपिक्यूरसीय मत, और तीसरा वेन्यमीय मत। लेकिन यह विचार करने से शायद कोई लाभ नहीं है कि सुखवाद का कौनसा प्रकार सबसे अधिक युक्तिसंगत है, क्योंकि सभी एक गलत-फ्रहमी पर आधारित लगते हैं।

सर्वसुखवाद के बारे में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। पहली यह है कि इसे उपयोगितावाद कहा जाता था, क्योंकि इसे जो उपयोगी है उसके अनुसरण पर जोर देनेवाला माना जाता था। लेकिन अब यह समझ लिया गया है कि सुख किसी भी अन्य सम्भव साध्य से अधिक उपयोगी नहीं है; और फलतः वैज्ञानिक दृष्टिकोण से लिखी हुई किताबों और लेखों में अब यह नाम प्रयुक्त नहीं होता, हालाँकि 'Universalistic Hedonism' नाम से छोटा होने के कारण 'Utilitarianism' नाम का इस मत के लिए प्रयोग अंग्रेजी की किताबों में प्रायः अब भी चल रहा है। दूसरी बात यह है कि सर्वसुखवाद का साध्य 'अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख' की प्राप्ति

1. इस बारे में मूर की पुस्तक *Principia Ethica*, पृ० 99 देखिए।

2. इस विषय पर सिजविक का मत *Methods of Ethics* के अन्तिम अध्याय में दिया हुआ है। Gizycki, जो काफ़ी बड़ी सीमा तक सिजविक का अनुयायी है, इस बारे में उसके विचार से सहमत नहीं है। *Methods of Ethics* के चौथे संस्करण की उसने जो आलोचना की है वह *International Journal of Ethics*, अक्टू० 1890 में छपी है। मूर की *Principia Ethica*, विशेष रूप से पृ० 100 और आगे देखना बहुत लाभदायक रहेगा।

कहा जाता था। इसका मतलब¹ यह समझा जाता था कि यदि हमें कम लोगों के अधिक सुख और अधिक लोगों के कम सुख के बीच चुनाव करना पड़े, तो सुख की समग्र मात्रा के कम होने के बावजूद भी हमें दूसरे विकल्प को चुनना चाहिए। लेकिन अब यह मान लिया गया है कि यदि सुख को एकमात्र शुभ समझना है तो हमें अधिकतम सुख का ही चुनाव करना पड़ेगा, भले ही वह बहुसंख्यक लोगों में बँटे हुए होने के बजाय एक ही व्यक्ति में केन्द्रित हो। तदनुसार अब इस नारे को भी छोड़ दिया गया है।²

10. सुखवाद की सामान्य आलोचना

(क) सुख और मूल्य—अब हम उस सामान्य आधार को देखते हैं, जिस पर नीतिशास्त्र का सुखवादी सिद्धान्त खड़ा है। वह इच्छा के विषय में सम्बन्धित एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त पर या एक मूल्यविषयक सिद्धान्त पर आधारित हो सकता है। शायद पहले आधार का विवेचन पर्याप्त रूप से हो चुका है; लेकिन दूसरे आधार के बारे में कुछ बातें कह देना अभी जरूरी है।

आम दृष्टिकोण यह है कि यद्यपि हमारी इच्छाएँ प्रायः सुख से भिन्न किसी अन्य वस्तु की ओर प्रवृत्त हो सकती हैं, तथापि जब हम शान्ति के साथ विचार करना शुरू करते हैं तब हम देखते हैं कि एकमात्र सुख के कारण ही हमारे अनुभव की वस्तुओं का हमारे लिए मूल्य होता है। चेतना की कोई भी अवस्था हमारे लिए ठीक अपनी सुखदता के अनुपात में मूल्यवान् होती है। फलतः यद्यपि कभी-कभी इच्छा का आवेग दो सम्भव वस्तुओं में से जो कम सुखद है उसकी ओर उन्मुख हो सकता है, और इसलिए यद्यपि हम यह नहीं कह सकते कि हमारी इच्छाएँ सदैव केवल सुख का हिसाब लगाकर ही वस्तुओं की ओर प्रवृत्त होती हैं, तथापि जब हम शान्ति के साथ विचार करते हैं और शुद्ध स्वार्थ की दृष्टि से देखते हैं तब चेतना की दो अवस्थाओं में से एक को अधिक पसन्द करने का एकमात्र तर्कसंगत आधार हमें एक का दूसरी से अधिक सुखद होना ही दिखाई देता है।

अतः, यद्यपि यह कहना सही नहीं है कि हम सदैव चेतना की सम्भव अवस्थाओं में से सबसे सुखद अवस्था को ही प्राप्त करने के उद्देश्य से काम करते हैं, तथापि हमें सबसे अधिक सुखद अवस्था को ही प्राप्त करना चाहिए (अर्थात् यही तर्कसंगत है), बशर्ते ऐसा करना किसी अन्य व्यक्ति के सुख में बाधक न हो; और सामान्य रूप से हमें इस तरह से काम करना चाहिए कि चेतना की सभी वर्तमान और भावी अवस्थाओं के सुखों का योग यथासम्भव अधिक-से-अधिक हो।

अब मैं इस बात को सही समझता हूँ कि सुख को औचित्य के साथ मूल्य का

1. यदि इसका कोई निश्चित मतलब था तो। ऐसा लगता है कि प्रायः यह नारा बतौर किसी निश्चित मतलब के लगाया जाता था। Edgeworth के *Mathematical Psychics*, पृ० 117 इत्यादि में इस बात की रोचक ढंग से चर्चा की गई है।
2. यह ध्यान देने की बात है कि बेन्थम ने भी बाद में 'अधिकतम लोगों का' शब्दों का प्रयोग छोड़ दिया था। Burton के *Introduction to Bentham's Works*, पृ० 18 और 19 की टिप्पणी में इसके कारण बताये गए हैं लेकिन वे बहुत स्पष्ट नहीं हैं।

बोध¹ कहा जा सकता है। एफ० एच० ब्रैडले² ने कहा था कि सुख अनिवार्यतः 'सिद्धता (realizedness) की अनुभूति' है। इसका अपवाद बताते हुए कहा जा सकता है कि पशुओं की अनुभूतियों या मनुष्यों के उन सुखों पर, जो पशुचित अधिक हैं, यह शायद ही लागू हो। लेकिन जो भी हो, हम कह सकते हैं कि सुख की अनुभूति उन वस्तुओं के साथ रहती है जिनका अनुभवकर्ता की चेतना के लिए कुछ मूल्य होता है।³

मैं समझता हूँ कि यह याद रखने का कुछ महत्त्व है कि सुख की अनुभूति का नहीं बल्कि वस्तुओं का मूल्य होता है। सुख की अनुभूति मूल्य की सूचक होती है, न कि स्वयं मूल्य। लेकिन इस बात का विवेचन हम यहाँ नहीं करेंगे। यह ध्यान रखना काफ़ी है कि इस दृष्टिकोण से यह कहना कम-से-कम सच-सा लगता है कि यद्यपि सुख इच्छा का प्रत्यक्ष विषय नहीं है, और यद्यपि स्वयं में सुख का हमारे लिए कोई मूल्य नहीं है, तथापि इसे मूल्य का सूचक माना जा सकता है, ठीक वैसे ही जैसे थर्मामीटर के अंश स्वयं ताप न होते हुए भी ताप के सूचक होते हैं, अथवा वैसे ही जैसे नोट स्वतः बहुत कम मूल्य का होते हुए भी जिन्सों के मूल्य बताने का काम कर सकता है।

यह मत सच-सा लगता है। लेकिन स्पष्टतः यह इस मान्यता पर आधारित है कि सुख सब-के-सब एक ही तरह के होते हैं, ठीक वैसे ही जैसे चीजों के मूल्य बताने की मुद्रा की शक्ति इस मान्यता पर आधारित है कि मुद्राओं में कोई एकरूपता है। यदि सुख की अनुभूति से मूल्य का जो बोध होता है उसे अपनी चेतना में प्रस्तुत विभिन्न वस्तुओं से हम तर्कसंगत रूप से जितना मूल्य जोड़ते हैं उसका सूचक मानें, तो इसका मतलब यह होगा कि मूल्यों को हम सदैव एक ही मानक से आँकते हैं, अथवा यों कहिए कि वे सदैव एक ही अदालत के सामने पेश किए जाते हैं। अथवा (ब्रैडले के शब्दों में) यदि सुख आत्म-सिद्धता की अनुभूति है, तो सुख को अपनी आत्म-सिद्धता की मात्रा के रूप में लेने में हम मान लेते हैं कि जो आत्मा सिद्ध होती है वह सदैव एक ही होती है। लेकिन क्या वास्तव में ऐसा है? इस बात पर आगे विचार करने से पहले मिल ने इसे जिस रूप में रखा था उस पर ध्यान देना ठीक रहेगा।

1. ड्यूई की पुस्तक *Psychology*, पृ० 16 देखिए। मेरे कहने का मतलब यह है कि सुख को मूल्य कहने के बजाय उसे मूल्य का बोध कहना अधिक सही है। लेकिन उसे मूल्य का बोध कहने में भी एक तरह की प्रत्याशा शामिल है। विषय-सुख में, यह कहना मुश्किल है कि हमें मूल्य की कोई चेतना होती है। फिर भी, सुख और मूल्य के सम्बन्ध का आम विषय इतना उलझा हुआ है कि यहाँ उस पर विचार करना सम्भव नहीं है।
2. *Ethical Studies*, पृ० 261। बाद में ब्रैडले ने इस मत को छोड़ दिया था। इसमें जो सत्य का अंश है वह इस बात से मालूम पड़ता है कि चेतना की अन्तर्बस्तु का एकता के उस रूप से, जिसके अन्तर्गत वह पड़ती है, कुछ सामंजस्य होने पर ही सुख होता है। लेकिन एकता का यह रूप अनिवार्यतः अत्मा की और उसकी सिद्धि की निश्चित चेतना हो, ऐसी बात नहीं है।
3. हमें यहाँ यह निश्चय नहीं करना है कि यह मूल्य किस बात में निहित है। जैसा कि अनेक मनोवैज्ञानिकों ने माना है, यह सामान्य जीवन-शक्ति की या विरोध जीवन-क्रियाओं की किसी तरह वृद्धि होने में निहित हो सकता है। सुख और दुःख के सामान्य स्वरूप के बारे में, और हमारे चेतन जीवन में उनका जो स्थान है उसके बारे में विद्यार्थी को प्रो० स्ट्रुट की *Analytic Psychology*, अध्याय 12 या स्ट्रुट की ही *Manual of Psychology*, पृ० 234-40 देखना चाहिए।

(ख) सुखों का गुण—हम संक्षेप में कह सकते हैं कि सुखवादी सिद्धान्त इस मान्यता को लेकर चलता है कि सारे सुखों की परिमाण की दृष्टि से परस्पर तुलना की जा सकती है—कि दो सुखों या सुखों के दो योगों के बारे में सदैव यह निर्धारित करना सम्भव होता है कि कौन परिमाण में अधिक है और कौन कम है। इस सिलसिले में जे० ए० मिल ने एक गम्भीर कठिनाई पैदा कर दी। मिल ने इस तथ्य की ओर ध्यान खींचा कि सुखों में न केवल परिमाण-भेद होता है, बल्कि गुण-भेद भी होता है—कि कुछ सुख अन्यो से श्रेष्ठ होते हैं, इसलिए नहीं कि उनका परिमाण अधिक है बल्कि इसलिए कि वे गुण में श्रेष्ठ हैं।

यदि ऐसी बात हो तो स्पष्ट है कि सुखवादी सिद्धान्त व्याज्य है, क्योंकि तब यह कहना सही नहीं रह जाता कि सुख ही एकमात्र इच्छा-योग्य वस्तु है। इस मन के अनुसार, एक सुख दूसरे से अधिक वांछनीय है, इस कारण नहीं कि वह सुख है बल्कि इस कारण कि उसके अन्दर कोई अच्छाई है जो उसकी सुखदता मात्र से भिन्न है। इसके अलावा, यदि हम गुण-भेद को स्वीकार करते हैं तो हमारे लिए सुखों और सुखों के योगों को वांछनीयता के किनी निश्चित क्रम में रखना असम्भव हो जाता है। गुणों की परिमाणों से तब तक तुलना नहीं की जा सकती जब तक किसी उपाय से उन्हें परिमाणों के रूप में न रख दिया जाए—और यह, मिल की मान्यता के अनुसार, नहीं हो सकता।

अतः यह विचार करना आवश्यक हो जाता है कि सुखों में क्या सचमुच गुणात्मक अन्तर होते हैं। ऐसा करने के लिए हमें एक पिछले अध्याय में जिन बातों पर हमने विचार किया था उनमें से कुछ का फिर उल्लेख करना होगा।

(ग) सुखों के प्रकार—खण्ड 1 के शुरू में हमने आवेगों और इच्छाओं में अन्तर किया था, और यह भी बताया था कि इच्छाएँ अनेक विविध जगत्तों से सम्बन्ध रख सकती हैं। अब, जैसे विभिन्न प्रकार की इच्छाओं में अन्तर होता है, ठीक वैसे ही उनकी वस्तुओं की प्राप्ति के साथ जो सन्तोष की अनुभूतियाँ होती हैं उनके बीच भी अन्तर होता है।

जब कोई आवेग शान्त हो जाता है तब जो सन्तोष की अनुभूति होती है वह सरल और तात्कालिक होती है। शायद इस प्रकार की अनुभूति को ही सुख के नाम से पुकारना सबसे अधिक उचित है। दूसरी ओर, इच्छा की पूर्ति के साथ जो अनुभूति होती है वह बौद्धिक या विचारात्मक अधिक होती है, और शायद उसे प्रसन्नता (happiness) कहना चाहिए। मानवीय इच्छा में किसी साध्य की थोड़ी-बहुत अपरोक्ष चेतना शामिल रहती है, और उसकी पूर्ति के साथ होनेवाली अनुभूति में भी प्राप्त साध्य की थोड़ी-बहुत अपरोक्ष चेतना शामिल रहती है। जब इच्छा की पूर्ति होती है तब जिस जगत् के अन्दर हम निवास करते होते हैं उसके स्वरूप के अनुसार इन अनुभूतियों में बहुत विविधता होती है। स्वार्थ (self-interest) के जगत् से सम्बन्ध रखनेवाली सन्तोष की अनुभूतियाँ उनसे बहुत भिन्न होती हैं जिनका सम्बन्ध कर्तव्य के जगत् से होता है; जिनका पाशविक सुखोपभोग के जगत् से सम्बन्ध होता है वे अनुभूतियाँ उनसे बहुत भिन्न होती हैं जिनका काव्यात्मक या धार्मिक संवेग के जगत् से सम्बन्ध होता है। कार्लोइल (Sartor Resartus, खण्ड 2, अध्याय 9) ने यह सुझाव दिया था कि इस प्रकार के उच्चतर जगत्तों से सम्बन्धित अनुभूति को प्रसन्नता के

1. Utilitarianism, अध्याय 2। वास्तव में मिल ने इस बात को एक कठिनाई के रूप में नहीं बल्कि कठिनाई से बचने के एक तरीके के रूप में पेश किया था। लेकिन स्पष्टतः सुख-कलन (Hedonistic calculus) की दृष्टि से यह एक कठिनाई है।

वजाय परमानन्द (blessedness)¹ कहना चाहिए। शायद 'हर्ष' (joy) शब्द का प्रयोग इन दोनों से कम आपत्तिजनक है।

जो भी हो, विभिन्न जगत्‌ों के प्रसंग में हम विभिन्न शब्दों का प्रयोग करें या न करें, यह स्पष्ट है कि उनसे सम्बन्धित अनुभूतियाँ बहुत भिन्न स्वरूप की होती हैं। वास्तव में, इन दृष्टान्तों में से प्रत्येक में एक बहुत ही भिन्न आत्मा की सिद्धि होती है; और फलतः आत्म-सिद्धता की अनुभूति भिन्न होती है। अथवा, इस बात को यदि पहले प्रयुक्त अन्य शब्दों में रखा जाए तो हम कहेंगे कि प्रत्येक दृष्टान्त में मूल्य का बोध एक भिन्न निर्णायक द्वारा किया गया मूल्य का बोध होता है। ऐसा लगता है जैसे कभी हम सोने में मूल्य लगाते हों, कभी चाँदी में, और कभी ताम्र में। निस्सन्देह यह सम्भव है कि हमें इन सबका एक समान हर (denominator) मिल जाए; लेकिन स्वयं सुख की अनुभूति के रूप में इस समान हर का मिलना सम्भव नहीं लगता।

फिर भी, यहाँ एक कठिनाई सामने आ सकती है। यह सोचा जा सकता है कि इन विभिन्न दृष्टान्तों में जो चीज़ भिन्न है वह स्वयं अनुभूति नहीं है, बल्कि केवल वह वस्तु है जिस पर अनुभूति आश्रित होती है। इसी बात पर अब हमें विचार करना है।

(घ) सुख अपनी वस्तु से अभियोज्य होता है—यह याद रखना चाहिए कि सुख ऐसी चीज़ नहीं है जो अकेली रहती हो, जिस वस्तु में सुख का अनुभव होता है उससे स्वतन्त्र अस्तित्व रखती हो, अथवा वह वस्तु जिस चेतना के सामने प्रस्तुत होती है उसकी एकता से पृथक् रहती हो। सुख चेतना की एक पूरी अवस्था में एक तत्त्व के रूप में रहता है और उस अवस्था के अन्य तत्त्वों के पूरी तरह सापेक्ष होता है। अन्य तत्त्वों को जिसका बाह्य पक्ष कहा जा सकता है सुख उसका आन्तरिक पक्ष है, चेतना की वस्तु और उसके साथ रहनेवाली सुख या दुःख की अनुभूति के बीच हम प्रायः जो तीव्र भेद करते हैं वह अधिकांश में इस कारण से कि हमारी चेतना के सामने जो वस्तु आती है उसके स्वरूप का हमें पर्याप्त बोध नहीं होता।

उदाहरण के लिए, उस सुख को लीजिए जिसका किसी संगीत को सुनने से अनुभव होता है। यहाँ सुख का सुनने हुए संगीत से भिन्न होना काफ़ी स्पष्ट है। लेकिन यह याद रखना चाहिए कि जो संगीत हम सुनते हैं वह हमारी चेतना के आगे प्रस्तुत पूरी चीज़ नहीं है। संगीत को सुनने के साथ वे तरह-तरह के विचार भी रहते हैं जिनकी याद संगीत सुनने से हो आती है। साथ ही वे अन्य विचार भी होते हैं जो संगीत शुरू होने से पहले हमारे मन में आ रहे थे। हमारी चेतना के सामने जो वस्तु है वह असंख्य विचारों और प्रतिमाओं की एक जटिल संहति है। सुख की अनुभूति यह जटिल समष्टि नहीं है; लेकिन यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह कोई ऐसी चीज़ है जिसे इस समष्टि से अलग किया जा सके। सुख जिसका आन्तरिक पक्ष है, यह समष्टि उसीका बाह्य पक्ष है। यदि यह समष्टि मौजूद हो तो हम सुख का अनुभव किए बिना नहीं रह सकते। यदि यह समष्टि बदल जाए, तो हमारी सुख की अनुभूति भी

1. स्पिनोज़ा ने भी इस अर्थ में beatitude शब्द का प्रयोग किया है। स्पिनोज़ा के अनुसार इस प्रकार की अनुभूति 'ईश्वर के बौद्धिक प्रेम' में, अर्थात् विश्व को एक आध्यात्मिक तत्त्व की सिद्धि के रूप में देखने में होती है। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि स्पिनोज़ा के कहने के अनुसार, beatitude को सदगुण का पुरस्कार नहीं बल्कि स्वयं सदगुण समझना चाहिए। मैं समझता हूँ कि कार्लाइल का मतलब भी यही था; और आवश्यक बात यही है। Janet की पुस्तक Theory of Morals, खण्ड 1, अध्याय 9 भी द्रष्टव्य है।

बदल जाएगी। संगीत सुनने में हमारी चेतना की सम्पूर्ण अन्तर्वस्तु, उपन्यास पढ़ते या नाटक देखते समय की सम्पूर्ण अन्तर्वस्तु से, भिन्न होती है; सुख की अनुभूति भी भिन्न होती है।

अनुभूति और उससे सम्बन्धित वस्तु एक वक्र के दो पाश्वर्कों की तरह हैं। उन्हें एक-दूसरे से अलग पहचाना जा सकता है; फिर भी वे अवियोज्य होते हैं और एक के बदलने पर दूसरा अनिवार्यतः बदल जाता है।

ग्रीन ने इस आपत्ति को जिस रूप में रखा था उसका सिजविक ने यह जवाब दिया था (Methods of Ethics, खण्ड 2, अध्याय 2, अनु० 2, टिप्पणी)।—“कभी-कभी यह कहा जाता है कि ‘अनुभूति के रूप में सुख की कल्पना उसके हेतुओं से (जो अनुभूति नहीं है) पृथक् रूप में नहीं की जा सकती।’ यह बात ‘कल्पना’ शब्द के एक अर्थ में सही है; लेकिन ऐसे किसी अर्थ में नहीं जो हमें सुख को सोच-समझकर किए जानेवाले कर्म के एक साध्य के रूप में लेने से रोक सके। एक पुरानी उपमा के अनुसार, यह बात इस कथन से कि कोण की उसकी भुजाओं के बिना ‘कल्पना’ नहीं की जा सकती, न अधिक सही है और न कम। निश्चय ही, हम कोण का विचार उसकी भुजाओं के विचार के बिना नहीं कर सकते; लेकिन यह हमें पूरे निश्चय के साथ किसी कोण के आकार को भुजाओं की तुलना किए बिना किसी अन्य कोण से कम या अधिक मानने से नहीं रोक सकता। इसी तरह हम ‘उन हेतुओं के बिना जो स्वयं अनुभूतियाँ नहीं हैं’ किसी सुख की धारणा नहीं बना सकते; लेकिन इससे किन्हीं दी हुई परिस्थितियों में अनुभूत सुख की किसी अन्य सुख से, जिसकी परिस्थितियाँ चाहे जितनी भिन्न हों, तुलना करने में, तथा उसे उसके बराबर या नाबराबर बताने में कोई बाधा नहीं पड़ती; और आचरण के विभिन्न विकल्पों में से किसी एक का चुनाव करने में ‘सुख के परिमाण’ को अपने मानक के रूप में ग्रहण करने के लिए इससे अधिक हमें किसी बात की जरूरत नहीं है।”

लेकिन ऐसा मालूम पड़ता है कि यह उत्तर आलोचना के स्वरूप को ठीक-ठीक न समझते हुए दिया गया है। कोण के आकार में भुजाओं की लम्बाई से कोई अन्तर नहीं आता, जबकि ग्रीन का तर्क यह है कि जिस तरह के सुख का हम अनुभव करते हैं उसमें वस्तुओं की विशेषता के कारण दुनिया-भर का अन्तर आ जाता है।

(ङ) क्या सुखों का योग सम्भव है?—यदि जो मत यहाँ अपनाया गया है वह ठीक है तो सुखों का कलन सम्भव नहीं है, अर्थात् सुखों के मूल्यों को परिमाण की दृष्टि से नहीं निश्चित किया जा सकता, क्योंकि जो चीज़ एक जाति की न हों उनकी परिमाणात्मक तुलना नहीं की जा सकती।

लेकिन, निश्चय ही, इस बात को यदि छोड़ दें तो भी इस सुखवादी धारणा में कि हमें सुखों के अधिकतम योग को अपना लक्ष्य बनाना चाहिए, कुछ भ्रांति प्रतीत होती है। यदि सुख ही वह चीज़ है जो इच्छा-योग्य है, तो स्पष्ट है कि सुखों का कोई योग इच्छा-योग्य नहीं हो सकता; क्योंकि सुखों का योग सुख नहीं है। हम शायद यह सोचें कि सुखों का योग सुख है, ठीक वैसे ही जैसे संख्याओं का योग संख्या होता है। लेकिन स्पष्टतः बात ऐसी नहीं है। जिस तरह मनुष्यों का योग मनुष्य नहीं है उसी तरह सुखों का योग सुख नहीं है। मनुष्यों की तरह सुखों को भी एक-दूसरे से नहीं जोड़ा जा सकता। फलतः, यदि सुख ही एकमात्र इच्छा-योग्य वस्तु है, तो सुखों के एक योग का इच्छा-योग्य होना किसी भी तरह सम्भव नहीं है। यदि सुखवादी मत अपनाता है तो हमें सदैव अधिकतम सुख की कामना करनी चाहिए, अर्थात् हमें सुख की उस तीव्रतम अनुभूति को अपना लक्ष्य बनाना चाहिए जिसे किसी की चेतना में

पैदा करना सम्भव है।¹ यही सर्वोच्च लक्ष्य होगा। अनेक लोगों की चेतना में अनुभूत होनेवाले छोटे-छोटे सुखों के योग को इससे अधिक पसन्द नहीं किया जा सकता, क्योंकि सुखों का एक योग सुख बिल्कुल भी नहीं है।

ऐसा क्यों नहीं किया जा सकता? इसका कारण यह लगता है कि हम सदैव आदमी के लिए जिस चीज को वांछनीय समझते हैं वह सुख की अनुभूति नहीं बल्कि प्रसन्नता की एक अविच्छिन्न अवस्था है। लेकिन प्रसन्नता की अविच्छिन्न अवस्था सुख की एक अनुभूति-मात्र नहीं है। उसमें एक अनुभूति से भिन्न अन्तर्वस्तु होती है। अब यदि इस अन्तर्वस्तु को ही हम वांछनीय वस्तु मानते हैं तो हम सुख की अनुभूति को एकमात्र वांछनीय वस्तु नहीं कहेंगे, अर्थात् हमें सुखवाद को छोड़ देना होगा।

(च) आकारशून्य विषयवस्तु (Mater Without Form) — हम सुखवाद के दोषों को संक्षेप में बताते हुए कह सकते हैं कि जो कमी हमने कांट के सिद्धान्त में पाई थी उसकी उलटी कमी हम सुखवाद में पाते हैं। कांट के आत्म-संगति के सिद्धान्त ने हमें विषयवस्तु-शून्य आकार दिया, जो कि खाली तर्कना का आकार था और इच्छाओं की सारी विशेष विषयवस्तु उससे अलग कर दी गई थी। इसके विपरीत सुखवाद हमें आकार-शून्य विषयवस्तु देता है। वह सारी इच्छाओं को ज्यों-की-त्यों ले लता है और सभी की तृप्ति को समान अधिकार देता है, अर्थात् कि उनकी तृप्ति से मिलनेवाली सुखद अनुभूति समान रूप से तीव्र हो और समान अवधि तक बनी रहे।

यह मत इस तथ्य की अवहेलना करता है कि वास्तव में हम जिसकी तृप्ति चाहते हैं वे हमारी इच्छाएँ नहीं बल्कि स्वयं हम हैं; और हमारी तृप्ति का मूल्य उस आत्मा के स्वरूप पर निर्भर होता है जिसे तृप्त किया जाता है, अर्थात् वह उस जगत् पर निर्भर होता है जिसके अन्दर तृप्ति की उपलब्धि होती है। वह पाशविक सुख मात्र हो सकता है; वह मानवोचित प्रसन्नता हो सकती है; वह साधु के जैसा आनन्द हो सकता है। इस प्रकार सोचना अपनी इच्छाओं को उनके आकार की दृष्टि से, जिस जगत् में उनका स्थान है उसकी दृष्टि से, देखना है। सुखवाद इस आकार की उपेक्षा करता है। वह हमारी इच्छाओं और उनकी तृप्ति को मात्र कच्चे माल के परिणामों के रूप में देखता है। वह हमारी आवश्यकताओं को अनेक मुखों के रूप में देखता है जिन्हें भरना है, और उनकी पूर्ति से जो तृप्ति मिलेगी उसके सुखों को उन मुखों के अन्दर प्रविष्ट किए जानेवाले मिश्री के टुकड़ों के रूप में देखता है। वह आकार से शून्य एक विषयवस्तु मात्र है।

11. सुखवाद के बारे में कुछ अर्वाचीन मत

सब मिलाकर यह कहा जा सकता है कि सुखवाद का एक कट्टर नीतिशास्त्रीय

1. ठीक वैसे ही जैसे यदि हमारा उद्देश्य अधिकतम सुख के बजाय सबसे बड़ा मनुष्य पैदा करना होता तो फाल्स्टाफ (Falstaff) को उसके भेदे साथियों के समूह से अधिक पसन्द किया जाता। निस्सन्देह, हम एक पुराने मजाक के अनुसार, यह हिसाब लगा सकते हैं कि नौ दर्जी बराबर एक आदमी होता है; लेकिन यह केवल इस मान्यता के आधार पर कि हमारा प्रयोजन हाइ-मांस के आदमी से नहीं है बल्कि आदमी के कुछ कार्यों की पूर्ति से है। यह कहा जा सकता है कि आदमियों की एक संख्या के अन्दर एक आदमी की अपेक्षा अधिक मांस, रक्त और हड्डी होती है। लेकिन यह मांस, रक्त और हड्डी को मापना है, न कि आदमियों को। इसी तरह यह सम्भव है कि सुखद अनुभवों की एक संख्या में किसी चीज की मात्रा एक अनुभव की अपेक्षा अधिक हो। लेकिन उस संख्या की अधिक सुख नहीं कहा जा सकता।

सिद्धान्त के रूप में अस्तित्व अब नहीं रहा। लेकिन अब भी सुख को जीवन में इतना प्रमुख स्थान देने की कोशिशें की जाती हैं जितना प्रत्ययवादी लेखक देने के लिए तैयार नहीं हैं। इस दृष्टि से डॉ० मैकटागर्ट (McTaggart)¹ के लेख ध्यान देने योग्य हैं; और डीन रैशडल (Dean Rashdall)² स्वयं सुखवादी तो नहीं था लेकिन उसने मैकटागर्ट के तर्कों का समर्थन किया था और खास तौर से यह दिखाने की कोशिश की थी कि सुख-कलन उतना असम्भव नहीं है जितना माना गया है।

निश्चय ही, यह काफ़ी साफ़ है कि उस सुख का एक परिमाणात्मक पहलू होता है। हम सुखद अनुभवों को गिन सकते हैं; हम कुछ सुखों को अन्यो से तीव्र कह सकते हैं; और यह मान सकते हैं कि कुछ सुखों में अन्यो की अपेक्षा अधिक लोग भाग ले सकते हैं। लेकिन यह तथ्य फिर भी बना रहता है कि इन बातों से हमें, जीवन में कौन लक्ष्य अनुसरण के सबसे अधिक योग्य हैं, यह निर्धारित करने में बहुत अधिक मदद नहीं मिलती। यह आवश्यक बात फिर भी बनी रहती है कि सुख हमेशा कोई मूल्य रखने वाली किसी अनुभूत वस्तु का परिणाम होता है; और यह कि अन्त में जिस साध्य का अनुसरण किया जाता है वह सुख नहीं बल्कि वही मूल्य है।

उदाहरण के लिए, सौन्दर्य ऐसे मूल्यों में से एक लगता है। "सुन्दर चीज सदैव हर्षित करनेवाली होती है।" लेकिन जो हमें हर्षित करती है वह सुन्दरता है, न कि उससे प्राप्त होनेवाले अल्पस्थायी सुख। वे 'सदैव' नहीं रहते। जो सुख बीत चुका है वह सुख नहीं रहा, चाहे जितनी देर तक उसकी वस्तु बनी रहे। उसकी स्मृति दुःखद तक हो सकती है। 'सबसे बड़ा दुःख सुखद बातों की याद करना है।' दूसरी ओर, ओथेलो की तरह, उन कठिनाइयों और खतरों की याद करने से प्रायः सन्तोष मिलता है जिनमें से हम गुजर चुके हैं। डॉगबेरी अभिमान के साथ कहता है कि 'वह हानियाँ सह चुका है,' स्थायी सुख तक के बारे में सोचना हमेशा सन्तोष देनेवाला नहीं होता। एक प्रसिद्ध कथा के अनुसार एक आदमी था जिसे स्वर्ग के आनन्द की याद दिलाई गई थी और जिसने कहा था कि वह ऐसी उदास करनेवाली बात के बारे में क्यों सोचे। वह उदास करनेवाली इसलिए है कि सुख के बारे में सोचना सुखद नहीं होता; सुखद यदि होता है तो केवल वहीं तक जहाँ तक हम सुख देनेवाले मूल्यों को प्राप्त कर लेते हैं।

आनन्द की कुछ उन्मादिनी अवस्थाएँ होती हैं, जैसे वे जो अफ़्रीम के सेवन से पैदा होती हैं, जिनमें ठोस तत्त्व बहुत अल्प होता है, हालाँकि मैं समझता हूँ कि इन में कल्पना प्रायः उपयुक्त वस्तुओं को सामने प्रस्तुत कर देती है। लेकिन किसी भी हालत में कोई भी गम्भीर नीतिज्ञ ऐसी अवस्थाओं को बहुत वांछनीय साध्य नहीं मानेगा। इसके विपरीत सुन्दर संगीत प्रायः वास्तविक मूल्य से युक्त माना जाएगा; लेकिन उसमें जो चीज़ आनन्ददायक होगी वह संगीत होगा, न कि उसके द्वारा उत्पन्न अस्थायी अनुभूतियाँ। इसमें सन्देह नहीं कि वह संगीत हमारी स्मृति में बना रह सकता है; और इसी तरह अन्य आनन्ददायक वस्तुएँ भी।³ लेकिन ऐसा लगता है कि इस तरह की अल्पस्थायी वस्तुओं का आनन्द किसी सीमा तक उनके दुर्लभ होने पर निर्भर करता है।

1. Studies in Hegelian Cosmology, अध्याय 1 विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

2. Theory of Good and Evil, खंड 2, अध्याय 1।

3. Music, when soft voices die,
Vibrates in the memory;
Odours, when sweet violets sicken,
Live within the sense they quicken.

लेकिन यह स्वीकार करना होगा कि इस विषय की चर्चा अनेक सूक्ष्म समस्याओं को खड़ी कर देती है।¹ जिस आवश्यक बात को बराबर ध्यान में रखना महत्वपूर्ण लगता है, वह यह है कि सुख मूल्यवान् वस्तुओं की उपलब्धि से उत्पन्न होता है और उनसे पृथक् किए जाने पर लुप्त हो जाता है। इन वस्तुओं को सुख (बहुवचन में) कहा जा सकता है, लेकिन वे सुख (एकवचन) नहीं हैं।

12. प्रसन्नता की असुखवादी व्याख्या

जैसा कि हम कुछ-कुछ पहले ही देख चुके हैं, यह ध्यान रखना ठीक होगा कि प्रसन्नता को सुखों का योग मानना आवश्यक नहीं है। प्राचीन काल के एपिक्यूरसवादी तक प्रसन्नता को सुख के भाव के बजाय दुःख के अभाव के रूप में देखते थे; और मैं समझता हूँ कि थोड़े ही लोग इस बात से इन्कार करेंगे कि (प्रतिकूल भाव से भिन्न) पीड़ा के शारीरिक संवेदन से बचना एक ऐसा साध्य है जिसे जहाँ तक सम्भव हो वहाँ तक लक्ष्य बनाना चाहिए।² उसके परिमाण को कहाँ तक आँका जा सकता है, यह कुछ सन्दिग्ध बात है। लेकिन प्रसन्नता को अनुभव की एक ऐसी प्रचुरता के अर्थ में लेना भी सम्भव है जिसमें कुछ पीड़ाप्रद तत्त्व आवश्यक अंश के रूप में मौजूद हों। ब्राउनिंग की इन पंक्तियों में कुछ ऐसी ही बात अभिप्रेत लगती है।

“We have not drunk deep, laughed free,
Starved, feasted, despaired — been happy!”

(यदि हमने खूब नहीं पिया, खुलकर हम नहीं हँसे, भूखे नहीं मरे, दावतें नहीं उड़ाई, निराश नहीं हुए, तो हम प्रसन्न नहीं रहे।)

शायद कुछ इसी तरह की बात डब्ल्यू० एस० लैंडर (W. S. Landor) के इस कथन में अभिप्रेत लगती है कि उसने ‘अपने दोनों हाथों को जीवन की आग में तपाया है।’ मैथ्यू आर्नाल्ड ने एपिक्यूरसवादी कवि ल्यूक्रेटियस (Lucretius) का संकेत पकड़ते हुए गेटे में जिस तरह की प्रसन्नता का आरोप किया था वह भी ध्यान देने योग्य है—

“He was happy, if to know
Causes of things and far below
His feet to see the lurid flow
Of terror and insane distress
And headlong fate, be happiness.”

(यदि वस्तुओं के कारणों को न जानना और अपने पाँवों के बहुत नीचे आतंक, पागल करने वाली विपत्ति और दुर्भाग्य का भयानक ताण्डव देखना ही प्रसन्नता है तो वह सचमुच प्रसन्न था।)

हाल के लेखकों में डीन रैशडल ने सुखवाद का कुछ समर्थक होते हुए भी

1. देखिए रैशडल की Theory of good and Evil जिल्द 2, पृ० 18। मैं समझता हूँ कि उसने जिस अविच्छिन्न सुख की ओर संकेत किया है उसका वास्तविक मूल्य वहीं तक है जहाँ तक उसे स्थायी समझा जाता है, न कि चलायमान क्षणों की एक शृङ्खला। लेकिन उसके तर्कों पर सावधानी से विचार करने की जरूरत है, और इसलिए तो और भी ज्यादा कि वह शुद्ध सुखवाद का कट्टर समर्थक नहीं था।
2. प्रो० लेयर्ड (Laird) ने अपनी रोचक पुस्तक Study in Moral Theory में इस बात पर बहुत जोर दिया है। लेकिन मैं सोचता हूँ कि वे पीड़ा के संवेदन और प्रतिकूल भाव के बीच पर्याप्त रूप से भेद नहीं कर पाए।

प्रसन्नता और सुख में अन्तर करने की कोशिश की। प्रसन्नता सुखद तो होती है लेकिन उसमें जीवन को सुखद या दुःखद क्षणों की एक शृंखला के रूप में देखने के बजाय सम्पूर्ण रूप में देखने का दृष्टिकोण होता है। लेकिन जब हम जीवन को सम्पूर्ण रूप में देखते हैं तब यह सवाल अधिकांशतः अनुपयुक्त हो जाता है कि उसमें कितना सुख या दुःख शामिल है। अरस्तू ने कहा है कि "किसी आदमी को तब तक प्रसन्न नहीं कहना चाहिए जब तक वह मर नहीं जाता," क्योंकि केवल तभी हम उसके पूरे जीवन पर दृष्टिपात कर सकते हैं। लेकिन जब इस तरह से हम किसी आदमी के पूरे जीवन पर दृष्टिपात करते हैं तब उसके सुखद या दुःखद क्षणों का शायद अधिक महत्त्व नहीं होता। उनके बजाय हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि कहाँ तक वह किसी महत्त्वपूर्ण उद्देश्य को प्राप्त करने में सफल रहा।

इस सिलसिले में नेल्सन की मृत्यु के बारे में साँउदी (Southey) के कथन का उल्लेख किया जा सकता है—यदि नेल्सन को (स्वर्ग) ले जाने के लिए अग्निमय रथ और घोड़े भी प्रदान कर दिए जाते तो शायद ही उसके गौरव में कोई अन्तर पड़ता।" नेल्सन की मृत्यु बहुत ही यन्त्रणा में हुई थी; लेकिन वह अपना कर्तव्य पूरा कर चुका था और एक ऐसे काम को करने में सफल हो चुका था जिसे परम महत्त्व का माना गया था। ऐसी परिस्थितियों में, अरस्तू¹ के मत के अनुसार, उसे प्रसन्न कहा जा सकता है। जैसा कि बोसांके ने Science and philosophy ('Hedonism among Idealists' नामक निबन्ध में), पृ० 205 पर लिखा है, "परस्पर विरुद्ध आवेगों और रुचियों में एकता लाते हुए एक बड़े भारी उद्यम का संचालन करना शायद दुनिया में पूर्णतम सन्तोष है; लेकिन जो आदमी इस काम में लगा हुआ है उसे प्रायः अधिक सुख तब मिलेगा जब वह अपने बगीचे को सुधारता होगा।" यह स्पष्टतः सुखवादी विचार नहीं है। यह जीवन में किसी उद्देश्य की प्राप्ति पर जोर देनेवाला दृष्टिकोण है जो सुख की अधिकता पर जोर देनेवाले दृष्टिकोण से बहुत भिन्न है और साथ ही केवल नियम के पालन पर जोर देनेवाले दृष्टिकोण से भी भिन्न है। इस असुखवादी दृष्टिकोण के अनुसार प्रसन्न जीवन वह नहीं है जिसमें सुख की बहुत अधिकता है, बल्कि वह है जिसे देखने से हर्ष होता है। यह आवश्यक नहीं लगता कि स्वयं वह व्यक्ति, जिसका वह जीवन है, उसे देखने से हर्षित हो। हो सकता है कि वह स्वयं इतना अधिक श्रमरत हो कि उस जीवन से सन्तोष का अनुभव करने का उसे समय ही न मिले।

स्पिनोज़ा और कार्लाइल के 'परमानन्द' (blessedness) का प्रयोग इसी असुखवादी अर्थ में हुआ है। आगे हमें इसी मत पर विचार करना है जो एक सन्तोष-जनक ढंग के जीवन को नैतिक लक्ष्य बनाता है।

13. प्रसन्नता के प्रकार

प्रसन्नता के अर्थ के बारे में और अधिक विचार करने से हमें यह विश्वास हो जाता है कि यह शब्द बहुत ही अस्पष्ट अर्थवाला है। जैसा कि हम देख चुके हैं, जे० एस० मिल तक को यह मानना पड़ा कि सुखों में गुण-भेद होते हैं; और जब यह बात स्वीकार कर ली जाती है तब यह समझ में नहीं आता कि 'अधिकतम सुख' को कैसे वह चीज माना जाए जिसे हमें लक्ष्य बनाना है।

1. अरस्तू के द्वारा प्रयुक्त शब्द eudaimonia का अर्थ प्रायः प्रसन्नता किया गया है। लेकिन केवल यहाँ बताए हुए अर्थ में ही उसे प्रसन्नता कहना उचित है। वह सुखवादियों की प्रसन्नता नहीं है, हालाँकि सुख उसमें एक तत्व के रूप में रहता है।

फिर भी और अधिक विचार करने से यह प्रकट होता है कि सुख के अनुभवों में जो अन्तर होते हैं वे कभी-कभी गुणात्मक अन्तरों के बजाय प्रकार के अन्तर होते हैं। सुख से मुख्यतः जिस चीज का मतलब समझा जाता है वह वैसे प्रारम्भिक इन्द्रिया-नुभवों का साधारण भावात्मक अंश लगता है जैसे अधिकतर पशुओं की चेतना में मौजूद माने जाते हैं। सम्पूर्ण जीवन की सन्तोषजनक अवस्था का बोध, जो कि प्रसन्नता का उचित अर्थ लगता है, शायद मनुष्यों को ही हो सकता है, और इसे केवल सुखों का योग नहीं माना जा सकता। किसी सामाजिक समूह के अन्दर अस्तित्व की सन्तोषजनक अवस्था का बोध शायद 'हर्ष' (joy) शब्द से सबसे अच्छी तरह व्यक्त होता है। हर्ष को भी समूह के अन्दर के व्यक्तियों की प्रसन्नताओं का योग शायद ही कहा जा सकेगा। यह हमारे यह सोचने पर निर्भर करता है कि समूह एक अति-व्यक्तिक प्रकार की संश्लिष्ट एकता है। परमानन्द (blessedness) का मतलब शायद वह सन्तोष होगा जिसका सम्पूर्ण सत्ता के चिन्तन से अनुभव होता है, जिसे किसी-किसी ने 'विश्व-संवेग' (cosmic emotion) कहा है।

यह कहा जा सकता है कि सन्तोष के इन सब विभिन्न प्रकारों में एक भावांश मौजूद रहता है; लेकिन वे एक-दूसरे से इतने अधिक भिन्न हैं कि उन्हें एक ही चीज के गुण समझना भ्रामक है। मूल्यांकन के विभिन्न प्रकार हैं; और उनके ऊपर उचित रूप से विचार केवल मूल्य के सामान्य प्रकरण में ही किया सकता है। अगले अध्याय के बाद वाले अध्याय में मूल्य का प्रकरण है।

14. आदर्श उपयोगितावाद (Ideal Utilitarianism)

डीन रैशडल के बृहद् ग्रन्थ The Theory of Good and Evil में एक उपयोगितावादी सिद्धान्त को प्रस्तुत करने की कोशिश की गई है, जो इस मत पर आश्रित नहीं है कि सुख या प्रसन्नता को नैतिक साध्य मानना चाहिए। रैशडल ने फिर भी अपने सिद्धान्त को 'उपयोगितावाद' कहा है, क्योंकि उसके अनुसार नैतिक अच्छाई को एक ऐसे साध्य का साधन मानना चाहिए जो स्वयं उससे बड़ा है—ऐसे साध्य का जिसमें अन्य स्वतः मूल्यों (intrinsic values) के साथ-साथ सुख और प्रसन्नता भी शामिल है। इस कुछ अधिक जटिल सिद्धान्त की और चर्चा बाद में की जाएगी। इसे उपयोगितावाद कहने का औचित्य सन्देह है, क्योंकि इसके अनुसार नैतिक अच्छाई जीवन के सर्वोच्च साध्य का एक भाग है, न कि अपने से भिन्न किसी साध्य का एक साधन-मात्र। यह सिद्धान्त अरस्तू के इस मत से मिलता-जुलता है कि नैतिक जीवन का अनुसरण उसके 'सौन्दर्य' की खातिर किया जाना चाहिए। यह सिद्धान्त साध्य को एक स्वतःमूल्य (intrinsic value) के रूप में देखता है जिसका उल्लेख आगे किसी अध्याय में होगा।

15. नैतिक साध्य के बारे में कांट का मिश्रित सिद्धान्त

प्रसन्नता को साध्य माननेवाले मत के सिलसिले में यहाँ उस मिश्रित सिद्धान्त का उल्लेख कर देना अच्छा रहेगा जिसे कांट ने प्रस्तुत किया था। यद्यपि कांट नीतिशास्त्र में अपने निरपेक्ष आदेश के सिद्धान्त के लिए सर्वाधिक प्रसिद्ध है, जिसकी चर्चा पिछले अध्याय में की गई थी, तथापि उसने नैतिक नियम के साथ-साथ एक नैतिक साध्य भी स्वीकार किया था; और यह साध्य उस साध्य से, जिस पर हमने इस अध्याय में विचार किया है और उससे भी, जिस पर हम अगले अध्याय में विचार करेंगे, घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। कांट का विचार था कि नैतिक जीवन में जिस

साध्य को लक्ष्य बनाया जाता है उसमें दो बातें हैं—स्वयं अपनी पूर्णता और दूसरों की प्रसन्नता। हमें अपने लिए जिस चीज को पाने की कोशिश करना उचित है वह है शुभ संकल्प का विकास, जिसका अर्थ पिछले अध्याय में बताया जा चुका है। दूसरी ओर, दूसरों के लिए जिस बात की कोशिश करना हमारे लिए उचित है वह है प्रसन्नता, जिसका अर्थ ठीक-ठीक ज्ञात नहीं है।

इस मत के समर्थन में निस्सन्देह कुछ कहा जा सकता है। यह स्पष्ट है कि हम किसी सीधे तरीके से दूसरों के अन्दर नैतिक अभिवृत्ति पैदा नहीं कर सकते, खास तौर से तब जब हम कांट की तरह अविवाहित हों, न कि पेशेवर उपदेशक या नैतिक शिक्षक; और फलतः इसे हममें से अधिकतर लोगों के लिए सर्वोच्च साध्य नहीं माना जा सकता, हालाँकि यह एक गौण साध्य बन सकता है। दूसरी ओर, स्वयं अपनी प्रसन्नता को सर्वोच्च लक्ष्य बनाना एक तरह की स्वार्थपरता होगा, जिसका निरपेक्ष आदेश से समझौता कराना शायद ही सम्भव होगा। यदि मैं कांट की बात को ठीक-ठीक समझा हूँ तो कहूँगा कि उसका मतलब स्वयं अपनी प्रसन्नता को तुच्छ समझना नहीं था। यदि वह इसे तुच्छ समझता तो इस मत से इसका मेल न बैठता कि जिस साध्य को दूसरों को अपना लक्ष्य बनाना है उसमें हमारी प्रसन्नता भी एक भाग के रूप में शामिल है। स्वयं कांट का जीवन सरल होते हुए भी घोर यति का जीवन नहीं था। कांट का यह मतलब भी प्रतीत नहीं होता कि हमें दूसरों के अन्दर नैतिक संकल्प को पैदा करने में कोई रुचि नहीं लेनी चाहिए। यह स्वयं उसके ही उस काम से संगत न हुआ होता जो उसने एक शिक्षक के नाते किया। उसका आशय यह लगता है कि हम शुभ संकल्प बिलकुल पूरे अर्थ में केवल अपने ही अन्दर पैदा कर सकते हैं, जबकि दूसरों के अन्दर कुछ परोक्ष तरीके से ही हम उसे पैदा कर सकते हैं। दूसरी ओर, इस बात का फल घातक होगा कि हम स्वयं अपनी प्रसन्नता की वृद्धि के लिए प्रयत्न करें और दूसरे सब लोगों की प्रसन्नता की वृद्धि को उसी तरह लक्ष्य न बनाएँ।

इस द्वैध साध्य को स्वीकार करने का इस प्रकार कुछ आधार स्पष्ट दिखाई पड़ता है, खास तौर से यदि प्रसन्नता को शुद्ध सुखवादी अर्थ में ग्रहण किया जाए। लेकिन इस बात को मानना मूर्खिक है कि दूसरों का सच्चा हित स्वयं हमारे सच्चे हित से भिन्न है। इस तरह के अन्तर पर जोर देने से लगेगा कि जैसे दूसरे लोग जिम्मेदार इन्सान न होकर कुछ लैचे किस्म के जानवर हैं। यदि हमें मनुष्य के कामों का वास्तव में कोई साध्य मानना है तो उसे सबके लिए साध्य होना चाहिए।¹

कांट के मत को ब्रेडले (Ethical Studies, निबन्ध 4) ने 'कर्तव्य के खातिर कर्तव्य' करने का मत ठीक ही कहा है। इसके विपरीत, उपयोगितावाद (निबन्ध 3) को ब्रेडले ने 'सुख के खातिर सुख'² का मत कहा है। इसी तरह प्रो० ड्यूई ने (Outlines of Ethics, पृ० 78) कांट के मत को केवल 'आकारपरक नीति' देने वाला बताया है, और कहा है कि वह अच्छाई को स्वयं संकल्प के अन्दर ढूँढ़ने की कोशिश करता है और इस बात की परवाह नहीं करता कि संकल्प द्वारा किस साध्य को प्राप्त करना है। मुझे लगता है कि इसमें कुछ अत्युक्ति है। कांट का विचार यह था

1. इस विषय पर कांट के मत पर और अधिक विचार केयर्ड के ग्रन्थ Critical Philosophy of Kant, जिल्द 2, पृ० 381-404 में किया गया है।
2. यह ध्यान देने की बात है कि ब्रेडले ने 'कर्तव्य के खातिर कर्तव्य' के सिद्धान्त का जो वर्णन किया है वह कांट के सिद्धान्त का न तो यथार्थ कथन है और न उस सिद्धान्त का यथार्थ कथन करना उसका अभिप्राय ही था।

कि हमें तर्कना के नियम के प्रति शुद्ध सम्मान का भाव रखते हुए अपना कर्तव्य करना चाहिए, न कि सुख मिलने की प्रत्याशा से; लेकिन जहाँ तक मुझे जानकारी है, उसने कहीं भी यह नहीं कहा कि सुख के न होने में कोई अच्छाई है। इसके विपरीत, यद्यपि उसने प्रसन्नता को वह प्रत्यक्ष साध्य नहीं माना जिसे सदाचारी व्यक्ति को अपना लक्ष्य बनाना है, तथापि उसका विश्वास था कि सर्वोच्च मानवीय शुभ का पूरा स्वरूप बताने में सदाचार के साथ प्रसन्नता का भी समावेश करना होगा—भले ही उसे सदाचार से गौण स्थान दिया जाए। निश्चय ही, उसका विचार यह तक था कि यदि हमें यह मानने का आधार न मिले कि सदाचार और प्रसन्नता—ये दो तत्त्व अन्त में परस्पर संयुक्त हो जाएंगे, तो नैतिकता की नींव ही ढह जाएगी। इस प्रकार उसका कथन है—

“जो परम शुभ या निःश्रेयस (summum bonum) हमारे लिए व्यवहार्य है, अर्थात् जो हमारे संकल्प के लिए साध्य है, उसमें सदाचार और प्रसन्नता दोनों को अनिवार्यतः संयुक्त माना जाता है, जिससे शुद्ध व्यावहारिक तर्कना एक की कल्पना दूसरे को छोड़कर नहीं कर सकती। यह संयोग हर अन्य संयोग की तरह या तो विश्लेषणात्मक होगा या संश्लेषणात्मक। यह दिखाया जा चुका है कि वह विश्लेषणात्मक नहीं हो सकता (अर्थात् प्रसन्नता प्रत्यक्षतः सदाचार में शामिल नहीं है और न सदाचार प्रसन्नता में शामिल है)। इसलिए उसे संश्लेषणात्मक होना चाहिए; और विशेष रूप से उसे कारण और कार्य के सम्बन्ध-रूप में मानना चाहिए, क्योंकि वह एक व्यावहारिक शुभ से सम्बन्धित है, अर्थात् वह कर्म के द्वारा सम्भव है। फलतः या तो प्रसन्नता की इच्छा को सदाचार का अभिप्रेरक होना चाहिए,¹ या सदाचार को प्रसन्नता का निमित्त-कारण होना चाहिए।”

“पहली बात बिल्कुल असम्भव है, क्योंकि (जैसा कि विश्लेषण-खण्ड में दिखाया जा चुका है) जो सूत्र व्यक्तिगत प्रसन्नता की इच्छा को संकल्प का निर्धारक बनाते हैं वे नीतिसम्मत कतई नहीं हैं, और सदाचार को उनकी बुनियाद पर नहीं रखा जा सकता। और दूसरी बात भी असम्भव है, क्योंकि दुनिया में संकल्प के प्रभाव से कारणों और कार्यों के बीच जो व्यावहारिक सम्बन्ध होता है वह संकल्प की नैतिक प्रवृत्तियों पर निर्भर नहीं होता, बल्कि प्रकृति के नियमों की जानकारी और अपने उद्देश्यों की सिद्धि के लिए उनका उपयोग करने की शारीरिक शक्ति पर निर्भर होता है। फलतः नैतिक नियमों का अधिक-से-अधिक सूक्ष्म अध्ययन-करने के बाद भी हम दुनिया में प्रसन्नता और सदाचार के बीच किसी ऐसे आवश्यक सम्बन्ध की आशा नहीं कर सकते जो निःश्रेयस के लिए पर्याप्त हो। अब चूँकि इस निःश्रेयस की वृद्धि, जिसकी धारणा में यह सम्बन्ध शामिल है, अनुभवनिरपेक्ष रूप में हमारे संकल्प का अनिवार्य विषय है और नैतिक नियम से अवियोज्य रूप से जुड़ी हुई है, इसलिए पहले के असम्भव होने से दूसरे का गलत होना सिद्ध होता है। तब यदि व्यावहारिक नियमों से सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति सम्भव नहीं है तो नैतिक नियम भी, जो हमें उसकी वृद्धि के लिए कहता है, व्यर्थ के काल्पनिक साध्यों के पीछे फिरता है, और फलतः उसे गलत होना चाहिए।”

इस प्रकार कांट का मत यह था कि सदाचारी व्यक्ति का सर्वोच्च लक्ष्य केवल तर्कना के इस नियम का अनुसरण करना है, जो उसके अनुसार आकारिक संगति का नियम है। उसे प्रसन्नता की प्राप्ति के लिए सदाचार का अनुसरण नहीं

1. इसका कांट निषेध करता है; और केवल इसी अर्थ में उसे संन्यासी कहना उचित है, अर्थात् यह कहना कि वह आत्म-त्याग का पक्षपाती है।

करना है, बल्कि केवल कर्तव्य समझते हुए उसका अनुसरण करना है। आगे कांट सोचता है कि यद्यपि सदाचारी व्यक्ति प्रसन्नता को अपना लक्ष्य नहीं बनाता, तथापि मनुष्य के पूर्ण श्रेय¹ में प्रसन्नता और सदाचार दोनों शामिल हैं। और स्पष्टतः उसका विचार यह भी है कि यदि हमारे यह विश्वास करने का कोई आधार न मिले कि ये दो तत्त्व अन्त में संयुक्त हो जाते हैं, तो नैतिकता की बुनियाद ही नष्ट हो जाएगी, क्योंकि नैतिकता तर्कना की एक माँग है और निःश्रेयस की प्राप्ति की सम्भावना भी तर्कना की एक माँग है। यदि यह सम्भावना न हो और फलतः तर्कना की दूसरी माँग एक असम्भव कल्पना हो जाए, तो पहली माँग भी उसी तरह अमान्य हो जाएगी।² कांट इस कठिनाई को ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करके हल करता है, जो कि 'निःश्रेयस को सम्भव बनाने वाली अनिवार्य शक्ति है।' ³

इससे पता चलेगा कि कांट ने वास्तव में अपने नैतिक कठोरतावाद को किसी भी तरह मानवीय प्रसन्नता का विरोधी नहीं माना। निश्चय ही यह सन्दिग्ध है कि किसी भी गम्भीर नीतिज्ञ ने कभी नैतिकता और प्रसन्नता को परस्पर विरोधी माना हो। बेन्थम ने अवश्य ही (कम-से-कम ड्यूमौण्ट⁴ के अनुसार) अपने उपयोगितावादी सिद्धान्त को उसके विपरीत बताया है जिसे उसने 'यत्तित्ववादी सिद्धान्त' कहा है; और इसके बारे में कहा है, "जो इसे मानते हैं वे सुखों से बहुत भयभीत हैं। उनके अनुसार कोई भी चीज, जो इन्द्रियों को तुष्ट करती है, धृणित है, और इन्द्रियों को तुष्ट करना अपराध है। वे नैतिकता को अपरिग्रह पर और साधुता को आत्म-त्याग पर आधारित करते हैं। संक्षेप में, वे उपयोगिता के समर्थकों के उल्टे हैं; वे हर ऐसी बात का अनुमोदन करते हैं जो आनन्द को घटाती है, और वे हर ऐसी बात को बुरी मानते हैं जो आनन्द को बढ़ाती है।" लेकिन यह कथन स्पष्टतः कांट⁵ के ऊपर लागू नहीं होगा, और शायद कुछ अतिवादी सैनिकों⁶ को छोड़कर किसी भी नीतिज्ञ पर लागू नहीं होगा। जहाँ से उपर्युक्त उद्धरण लिया गया है वहाँ स्वयं बेन्थम ने भी जॉन्सेन-वादियों (Jansenists) और कुछ अन्य धर्मशास्त्रियों के अलावा किसी भी दार्शनिक

1. पूर्ण श्रेय (bonum consummatum) परम श्रेय (supremum bonum) से भिन्न है। परम श्रेय सदाचार है; पूर्ण श्रेय सदाचार और प्रसन्नता है। देखिए Critique of Practical Reason, भाग 1, खण्ड 2, अध्याय 2 (अबाट-कृत अंग्रेजी अनुवाद, पृ० 206)। इस बारे में कांट के मत के विवरण के लिए केंयर्ड की Critical Philosophy of Kant, खण्ड 2, अध्याय 5 (जिल्द 2, पृ० 289-314) देखिए।
2. इस बारे में कांट के मत की बटलर के मत से धनिष्ठ समानता ध्यान देने योग्य है। देखिए सिजविक की History of Ethics, पृ० 195-7। लेकिन कांट ने इस कठिनाई को बटलर की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्टता और बारीकी के साथ प्रस्तुत किया है। इसी तरह कांट ने जिस हल का सुझाव दिया है उसमें भी कहीं अधिक दार्शनिक गहराई है।
3. Critique of Pure Reason, भाग 1, खण्ड 2, अध्याय 2, अनुच्छेद 5 (अबाट-कृत अंग्रेजी अनुवाद, पृ० 221)।
4. Theory of Legislation, अध्याय 2, Principles of Morals and Legislation, अध्याय 2 भी द्रष्टव्य है।
5. Methodology of Pure Practical Reason (अबाट-कृत अंग्रेजी अनुवाद, पृ० 254) में अवश्य ही एक जगह कांट कहता है कि सदाचार "इतने के योग्य केवल इसलिए है कि उसके लिए इतना ही त्याग करना पड़ता है।" लेकिन सन्दर्भ से प्रकट होता है कि उसका मतलब केवल यह है कि त्याग अभिप्रेरक की शुद्धता को साफ-साफ दिखा देता है।
6. देखिए सिजविक की History of Ethics, पृ० 33-5।

लेखक का उल्लेख नहीं किया है। स्टोइकों¹ (जिनसे कांट की बहुत समानता² है) तक ने प्रसन्नता के त्याग को स्वतः शुभ नहीं माना। इसके विपरीत, जैसा कि स्वयं कांट ने कहा है³, स्टोइक और एपिक्यूरस के अनुयायी, दोनों ही सदाचार का प्रसन्नता से अभेद करने में एकमत थे। केवल फर्क यह था कि एपिक्यूरस के अनुयायी प्रसन्नता के अनुसरण को सदाचार मानते थे, जबकि इसके विपरीत, स्टोइक सदाचार के अनुसरण को प्रसन्नता मानते थे।⁴

फिर भी, कांट ने सोचा था कि स्वयं अपनी पूर्णता की ओर अग्रसर होना और दूसरों की प्रसन्नता में वृद्धि करना नैतिक साध्य माना जा सकता है। इस प्रकार का अन्तर करने का स्पष्टतः काफ़ी औचित्य है। यदि नैतिक पूर्णता संकल्प को सही दिशा में लगाने में है, तो स्पष्ट है कि केवल अपने ही संकल्प के ऊपर हमारा सीधा नियन्त्रण हो सकता है। इसके विपरीत स्वयं अपनी प्रसन्नता के लिए—विशेषतः कल्याण के असुखवादी अर्थ में—प्रयत्न करना इतनी सीधी बात है कि इस पर जोर देने की कोई खास जरूरत नहीं मालूम पड़ती। इस प्रकार इन दो साध्यों का अन्तर किसी सीमा तक उचित सिद्ध किया जा सकता है।

लेकिन इसका पूरी तरह से वैध माना जाना सन्दिग्ध है। कम-से-कम माता-पिता, शिक्षक, उपदेशक, राजमर्मज्ञ और कवि तथा नाटककार तक दूसरों की नैतिक पूर्णता और साथ ही उनकी प्रसन्नता से सम्बन्धित लगते हैं, और यह सही भी है। शेक्सपियर ने अपने एक नाटक के उपसंहार में यह दावा किया था कि उसका उद्देश्य केवल दूसरों को 'प्रसन्न करना' था, हालाँकि उसके 'मैकबेथ' और 'किंगलियर' को लिखने के पीछे केवल प्रसन्नता की वृद्धि करने का उद्देश्य सन्देहास्पद लगता है। जो भी हो, हाल के कुछ नाटककारों ने नैतिक साध्य को कुछ अधिक स्पष्ट अभिव्यक्ति दी है। और ऐसे अनेक प्रसिद्ध लेखक भी हैं जिनका लक्ष्य इससे भी अधिक स्पष्ट रूप से पैगम्बरों के लक्ष्य जैसा है। साधारण जीवन तक में नैतिक आलोचना बहुत बड़ा और निश्चय ही बहुत उचित काम करती हुई प्रतीत होती है। दूसरी ओर, यदि हमारी प्रसन्नता अधिकांश में अपने उचित कार्यों को सफलता के साथ पूरा करने में निहित है—और निश्चित रूप से बात ऐसी है ही—तो ऐसा प्रतीत होगा कि हरेक आदमी इस उद्देश्य की पूर्ति के सिलसिले में दूसरों से कम और स्वयं अपने-आपसे अधिक प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित है।

अतः उक्त दो साध्यों के बीच सापेक्ष अन्तर-मात्र है, उससे अधिक शायद नहीं। फिर भी, एक सीमित अर्थ में यह कहना सही लगता है कि हमारा सबसे सीधा सम्बन्ध हमारे अपने ही संकल्पों के शुभत्व से है, और यह कि दूसरों के प्रति हमारा मुख्य कर्तव्य उनकी प्रसन्नता को बढ़ाने में मदद करना, अथवा कम-से-कम ऐसे काम से बचना है जो उन्हें हानि पहुँचाए या उन्हें अनावश्यक दुःख दे। इसलिए सब मिलाकर, कांट को नैतिक आचार का सबसे निरापद पथ-प्रदर्शक माना जा सकता है, बशर्ते कि उसके

1. स्टोइकों का विवरण सिजविक ने *History of Ethics*, पृ० 70-85 में दिया है।
2. देखिए केयर्ड की *Critical Philosophy of Kant*, जिल्द 2, पृ० 222-3 इत्यदि।
3. *Critique of Practical Reason*, भाग 1, खण्ड 2, अध्याय 2 (अष्टाट-कृत अंग्रेजी अनुवाद, पृ० 208)।
4. अथवा कम-से-कम यह कि किसी प्रकार की प्रसन्नता सदाचार के अनुसरण का अवियोज्य आकस्मिक फल है। देखिए सिजविक का *History of Ethics*, पृ० 83-4।
5. निश्चय ही स्वयं कांट ने भी नीतिशास्त्र के ऊपर अपने वृहद् ग्रन्थ लिखने में केवल पाठकों को प्रसन्न करना अपना लक्ष्य नहीं बनाया था।

सिद्धान्त को हम कुछ उदारता के साथ समझें। लेकिन उसने जो पूर्णता की बात कही वह इतनी महत्वपूर्ण है कि उस पर और अधिक विचार करने की जरूरत है। यह शायद ठीक नहीं होगा कि उसको मात्र संकल्प को सही दिशा में लगाने के अर्थ में लिया जाए।¹

1. इस विषय पर कांट के मत की और अधिक आलोचना केयर्ड की पुस्तक *Critical Philosophy of Kant*, जिल्द 2, खण्ड 2 में मिलेगी।

मानक : पूर्णता के रूप में

1. क्रम-विकास का नीति में अनुप्रयोग

यह विचार कि जिस साध्य को हमें अपना लक्ष्य बनाना है वह, अथवा ऐसे साध्यों में से एक, आत्मा की सिद्धि या चरित्र का विकास है, हमें तुरन्त इस विचार में पहुँचा देता है कि नैतिक जीवन विकास की एक प्रक्रिया है। यद्यपि यह विचार गत युगों से नैतिक जीवन में प्रायः लागू किया गया है, तथापि इसे प्रधानता मुख्य रूप से अर्वाचीन काल में प्राप्त हुई है। विकास—जिसे कि 'क्रम-विकास' अधिक कहा जाता है—का सम्पूर्ण प्रत्यय करीब-करीब इसी शताब्दी की खोज कहा जा सकता है। दर्शन के क्षेत्र में इसे प्रधानता सबसे पहले हीगेल (1770-1831) और कॉम्टे (Comte) (1798-1857) ने दी। उपजातियों (species) के उद्भव में इसे लामार्क, डार्विन और अन्योंने लागू किया। और इनके भी बाद हर्बर्ट स्पेन्सर तथा और भी उत्तरवर्ती लेखकों ने सामाजिक संस्थाओं, शासन के प्रकारों इत्यादि में, यहाँ तक कि सौर और अन्य तारा-परिवारों में भी इसको लागू किया।

इन अनुप्रयोगों से यहाँ हमारा सम्बन्ध नहीं है।¹ हमारा सम्बन्ध केवल क्रम-विकास के प्रत्यय के नीति में अनुप्रयोग से है, और इस अनुप्रयोग में भी हमारा सम्बन्ध केवल एक ही पक्ष से है। इस समय इस तथ्य से हमारा सम्बन्ध नहीं है कि व्यक्तियों और जातियों का नैतिक जीवन वर्षों या युगों के दौरान उत्तरोत्तर विकास के क्रम में से गुजरता है। यह नैतिक इतिहास का एक तथ्य है। यहाँ हमारा सम्बन्ध केवल उस बात की भीमांसा से है, जो नैतिकता के स्वरूप के लिए आवश्यक है। अतः जब हम यह कहते हैं कि क्रम-विकास का प्रत्यय नैतिक जीवन में लागू हो सकता है, तब हमारा मतलब यह है कि नैतिक जीवन अपने तात्त्विक रूप में विकास की एक प्रक्रिया है। आशा है कि इस बात का अर्थ आगे समझ में आ जाएगा।

2. जीवन का विकास

हमारा मतलब यह है कि मनुष्य के नैतिक जीवन में एक साध्य या आदर्श होता है, जिसे वह प्राप्त कर सकता है या जिस तक पहुँचने में वह असफल रह सकता है; लेकिन उसका जीवन तभी सार्थक है जब वह इस साध्य या आदर्श का अनुसरण करता रहे और क्रमशः उसे प्राप्त करे।

पशु-जीवन के रूपों का हवाला देकर इस बात को समझाया जा सकता है। पशुओं में कुछ ऐसे हैं जिन्हें हम स्वभावतः जीवन के पैमाने में अन्यों से ऊँचा मानते हैं। हम उन्हें ऊँचा किसी मानक से जाँचकर कहते हैं (जो कुछ अस्पष्ट भी हो सकता है), जो कि हमारे मन में रहता है, चाहे वह अपने पर्यावरण से समनुकूलन का मानक

1. हाल के वर्षों में इस तरह का एक सबसे अधिक प्रसिद्ध अनुप्रयोग प्रो० अलेक्जेंडर के बृहद् ग्रन्थ Space, Time and Deity में पाया जाता है।

हो, जैसा कि हर्बर्ट स्पेन्सर ने माना था, चाहे मनुष्य के अधिक निकट होने का मानक हो, चाहे कोई और ।

अब, यदि हमारा यह मानना सही हो कि पशु-जीवन की विभिन्न जातियों में एक अनवरत विकास जारी है, तो इस विकास का मुख्य अर्थ जीवन के ऐसे रूपों की क्रमिक उत्पत्ति होगा जो मानक या आदर्श प्ररूप के उत्तरोत्तर अधिक निकट पहुँचते जाएँगे । इसी तरह, नीतिशास्त्र का क्रम-विकासपरक सिद्धान्त यह है कि चरित्र का एक मानक, आदर्श या प्ररूप होता है, और यह कि नैतिक जीवन की सार्थकता इस प्ररूप के क्रमशः अधिकाधिक निकट पहुँचने में निहित है ।

3. विकास के उच्च और निम्न दृष्टिकोण

हर विकास में एक प्रारम्भ होता है, एक प्रक्रम (process) होता है और एक अन्त होता है । विकासशील प्राणी एक स्तर से शुरू करता है और आगे एक ऊँचे स्तर की ओर बढ़ता है । आम तौर पर हमारे सामने जो होता है वह न प्रारम्भ होता है और न अन्त, बल्कि प्रक्रम होता है । पशु-जीवन के बहुत नीचे के रूप प्रायः हमारे देखने में नहीं आते, और सबसे निम्न रूपों का स्वरूप बिल्कुल अज्ञात है । हम यह भी नहीं जानते कि पशु-जीवन के रूपों के भावी विकास की क्या सम्भावनाएँ हैं । प्रारम्भ-बिन्दु और गन्तव्य स्थान दोनों ही हमसे छिपे हुए हैं, और हम केवल दौड़ को देख रहे हैं । नैतिक जीवन में भी यही बात है । नैतिक चेतना के सबसे शुरू के रूप अज्ञान के अन्धकार में छिपे हुए हैं; और, दूसरी ओर, पूर्ण विकास को प्राप्त नैतिक जीवन की स्पष्ट धारणा हम मुश्किल से ही बना पाएँगे । हम उसे केवल उसके विकास के प्रक्रम में ही जान पाते हैं । इसके बावजूद, इस प्रक्रम को हम उसके प्रारम्भ या उसके अन्त के द्वारा ही समझ सकते हैं, अन्यथा नहीं ।

इस प्रकार, यदि हम विकास के सिद्धान्त को अपनाते हैं, तो नैतिक जीवन को समझने के दो तरीके सम्भव हैं । हम उसकी या तो उसके प्रारम्भ के द्वारा व्याख्या कर सकते हैं या उसके अन्त के द्वारा । शायद पहला तरीका अधिक स्वाभाविक है, क्योंकि किसी चीज़ की व्याख्या का सबसे अधिक आम तरीका उसका कारण बताना होता है, अर्थात् यह बताना कि वह उत्पन्न कैसे हुई । लेकिन और अधिक विचार करने से प्रतीत होता है कि यह तरीका वास्तव में निष्कृष्ट और कम सन्तोषप्रद है । अब हम संक्षेप में इन दो तरीकों के स्वरूप और गुणों को बताएँगे ।

4. आदिपरक व्याख्या (Explanation by Beginning)

नैतिक जीवन की व्याख्या करने के लिए पहले सबसे अधिक स्वाभाविक यह लगता है कि उसके मूल को-पीछे जंगली जातियों की आवश्यकताओं में, या निम्न श्रेणी के पशुओं के संघर्षों तक में ढूँढ़ा जाए । इसी तरह हम ऐसे साधारण प्राकृतिक तथ्यों की व्याख्या करते हैं जैसे पृथ्वी की परतों का निर्माण, और जातियों का विकास तथा ह्रास । हम पीछे आदि की ओर जाते हैं अथवा आदि के यथाशक्ति निकट जाते हैं, और अपने अध्ययन की वस्तु के पूरे विकास के दौरान सक्रिय रहनेवाले कारणों को खोजते हैं । हम यह नहीं पूछते कि उसका अन्तिम रूप क्या होगा । यह पूछना आम तौर पर उसकी वास्तविक अवस्था पर यदि रोशनी डाल भी पाएगा तो बहुत थोड़ी । क्या नैतिक आचार के विकास का अध्ययन भी इसी तरह से न किया जाए ?

जवाब साफ़ प्रतीत होता है । जैसा कि हम पहले ही संकेत कर चुके हैं, नीति-शास्त्र का दृष्टिकोण प्राकृतिक विज्ञानों के दृष्टिकोण से बिल्कुल भिन्न है । उसका

सम्बन्ध मूल कारणों की छानबीन करने और इतिहास खोजने से नहीं है, बल्कि आदर्शों के निर्धारण से और उन तरीकों पर विचार करने से है जिनसे ये आदर्श आचरण को प्रभावित करते हैं। आदर्श आदि के बजाय अन्त में होता है। प्राकृतिक तथ्यों के अभ्ययन में हमारा मुख्य सम्बन्ध उससे होता है जो है, और इस बात से गौण सम्बन्ध होता है कि वह जो है वह कैसे हो पाया है। इसके विपरीत, नीतिशास्त्र में जो है उसे जानने का अपेक्षाकृत कम महत्त्व है।¹

“मनुष्य अंशतः है और पूर्णतः होने की आशा करता है।” वह जो कुछ होने की आशा करता है वही उसके विकास की दिशा को निर्धारित करता है। लेकिन इसका अर्थ तब शायद अधिक स्पष्ट हो जाएगा जब हम थोड़ा-सा ध्यान उन लेखकों में से सबसे शुरूवालों में से एक के सिद्धान्त पर दें, जिन्होंने नैतिक जीवन का मूल ढूँढ़ने की कोशिश करके उसकी व्याख्या की है।

5. नीतिशास्त्र के बारे में हर्बर्ट स्पेन्सर का मत

हर्बर्ट स्पेन्सर ने इस बारे में अपना सिद्धान्त पहले-पहल अपने ग्रन्थ *Data of Ethics* में प्रस्तुत किया था, जो बाद में उसके बृहत् ग्रन्थ *The Principles of Ethics* का पहला भाग बन गया। यहाँ उस ग्रन्थ में वर्णित विषयों का पूरा वर्णन करना बिल्कुल असम्भव है। फिर भी नीचे जो लिखा जा रहा है वह उसकी प्रवृत्ति का सूचक माना जा सकता है।²

स्पेन्सर इस सवाल से शुरू करता है कि हम आचरण से क्या समझते हैं और आचरण को भला या बुरा कहने का क्या मतलब होता है। इस सवाल का जवाब ढूँढ़ने के लिए वह निम्न श्रेणी के प्राणियों के जीवन पर विचार करता है। सभी प्राणियों में आचरण का होना कहा जा सकता है और सभी में वह अच्छा या बुरा हो सकता है। स्पेन्सर के अनुसार, जीवन के निम्नतम रूपों को देखने से जीवन का सार-तत्त्व “आन्तरिक सम्बन्धों के बाह्य सम्बन्धों से लगातार समंजन करते जाने में”, अर्थात् जीव का अपने पर्यावरण से अपना समनुकूलन करने का अनवरत प्रयत्न करते जाने में, निहित है। आचरण या तो इस समनुकूलन को बढ़ाता है या इसमें बाधा डालता है। जहाँ तक वह उसे बढ़ाता है वहाँ तक वह अच्छा है; और जहाँ तक वह उसमें बाधा डालता है वहाँ तक वह बुरा है। अच्छा आचरण सुख पैदा करता है, क्योंकि वह जीव का अपने आस-पास की चीजों से सामंजस्य स्थापित करता है। बुरा आचरण दुःख पैदा करता है। लगभग सारा ही आचरण अंशतः अच्छा और अंशतः बुरा होता है। पूर्णतः अच्छा आचरण वह होगा जो दुःख से बिल्कुल शून्य, सुख-मात्र को पैदा करेगा। लेकिन आचरण तब अपेक्षाकृत अच्छा होता है जब सब मिलाकर वह दुःख की अपेक्षा सुख अधिक मात्रा में पैदा करता है, अर्थात् जब सब मिलाकर वह जीव का पर्यावरण से अधिक अच्छा समंजन करता है। सर्वोच्च नैतिक साध्य विकास के प्रक्रम की सहायता करना है, और आन्तरिक सम्बन्धों के बाह्य सम्बन्धों से समंजन का उत्तरोत्तर अधिक पूर्ण होना ही विकास है।

1. यहाँ ‘जो है’ का प्रयोग विशुद्ध प्राकृतिक विज्ञान के अर्थ में हुआ है, जिस अर्थ में हम कहते हैं कि शेर है लेकिन यद्य नहीं है। निश्चय ही, गम्भीर अर्थ में नीतिशास्त्र का सम्बन्ध जो है, अर्थात् मनुष्य का जो मौलिक स्वरूप है, उससे है। ऊपर इस रुख का अध्याय 2, अनु० 3 देखिए।
2. देखिए सिजविक की *History of Ethics*, पृ० 254-7।

6. स्पेन्सर के मत की आलोचना

हाल में क्रम-विकास की जो नई धारणाएँ प्रस्तुत की गई हैं उन्हें देखते हुए तो यह सिद्धान्त अब पुराना लगता है; फिर भी ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इसका अब भी महत्त्व है। यह नैतिक जीवन के अध्ययन का सामान्य जीवन के अध्ययन से समन्वय स्थापित करने में सहायक है; और यह बात आधुनिक वैज्ञानिक विचारधारा के पूरे विकास से सामंजस्य रखती है, क्योंकि यह हमारे अन्दर यह विश्वास पैदा करती है कि हमारे ज्ञान की विभिन्न वस्तुओं के बीच कोई आत्यन्तिक भेद नहीं है, और यह कि शायद हम इन वस्तुओं में से किसी एक को बिना उसे शेष सब वस्तुओं से सम्बन्धित किए कभी भी पूरी तरह से नहीं समझ सकेंगे।

फिर भी थोड़ा-सा विचार करने से लगता है कि स्पेन्सर के मत में एक तरह का पूर्वापर-क्रम-दोष (hysteron proteron) है। हम पूछ सकते हैं कि जीवन के विकास को पर्यावरण से समंजन करने की अनवरत प्रक्रिया कहने का क्या मतलब है? हम आसानी से देख सकते हैं कि एक अर्थ में ऐसी प्रक्रिया अपने-आप ही लगातार चल रही है। हमारे ज्ञान में जो प्रगति हो रही है उसका मतलब यह है कि हम अपने विचारों का प्रकृति की बाह्य वास्तविकताओं से लगातार उत्तरोत्तर अधिक समंजन करते जा रहे हैं। इसी तरह कलाओं में जो प्रगति हो रही है उसका मतलब यह है कि हम धीरे-धीरे अपने रहन-सहन का उन आवश्यकताओं से समंजन करना सीखते जा रहे हैं जो बाह्य जगत् की परिस्थितियाँ हमारे लिए पैदा करती हैं। नैतिक आचार में भी ऐसी ही बात दिखाई देती है। यदि हम यह दावा कर सकते हैं कि हमारे शिष्टाचार और नियम हमारे पूर्वजों के शिष्टाचारों और नियमों से अधिक शुद्ध हैं, यदि अपने कर्तव्यों के बारे में हमारे विचार अधिक विस्तृत हैं, और यदि हम उन्हें पूरा करने में अधिक अन्तर्भावनानिष्ठ हैं, तो इसका मतलब यह है कि हम अपने जीवन के ढंगों का आवश्यकताओं से अधिकाधिक समंजन कर रहे हैं।

लेकिन इस समंजन का ठीक-ठीक क्या मतलब है? क्या इसका मतलब यह नहीं है कि हम अपने सामने कोई साध्य रखते हैं और उनकी प्राप्ति के लिए सचेष्ट रहते हैं? जब हम कहते हैं कि दो चीजें परस्पर समंजित नहीं हैं, तब हमारा मतलब यह होता है कि उनका परस्पर जो सम्बन्ध होना चाहिए और जो इस समय उनके बीच में नहीं है उसकी कुछ जानकारी हमें है। एक अर्थ में हर चीज हर दूसरी चीज से समंजित है। मृत्यु भी एक समंजन है। किसी प्राणी को समंजन के अभाव की चेतना केवल इसलिए होती है कि उसके कुछ निश्चित लक्ष्य होते हैं। वैज्ञानिक देखता है कि उसके विचार प्रकृति के तथ्यों से पूरी तरह समंजित नहीं हैं, और वह ज्ञानार्जन में इसलिए लगा रहता है कि वह अपने विचारों का तथ्यों से अधिक पूर्णता के साथ समंजन कर सके; लेकिन एक पत्थर अपने पर्यावरण से पहले ही समंजित होता है और उसे इसके लिए प्रयत्न करने की कोई आवश्यकता नहीं होती।¹ वैज्ञानिक को समंजन के अभाव का बोध केवल इसलिए होता है कि वह किसी अप्राप्त साध्य की बात जानता है—दूसरे शब्दों में, इसलिए कि वह एक आदर्श को अपने साथ लिये रहता है और दुनिया को उसके अनुरूप नहीं पाता।

अगर यह बात है, तो स्पेन्सर के कथन में अवश्य ही परिवर्तन कर देना उचित होगा। तब हमें यह नहीं कहना चाहिए कि जीवों की कमी, जो उनके

1. देखिए प्रो० अलेक्जेंडर का ग्रन्थ Moral Order and Progress, पृ० 271-2।

जीवन के विकास से धीरे-धीरे दूर होती जा रही है, उनके अपने पर्यावरण से समंजित न होने में है; बल्कि यह कहना चाहिए कि कमी, कम-से-कम आत्म-चेतनायुक्त जीवों में, उनके पर्यावरण के उनसे समंजित न होने में है। कारण यह है कि जिस मानक की तुलना में कमी दिखाई देती है वह पर्यावरण में नहीं बल्कि स्वयं उन्हीं के अन्दर है। यदि कोई आदमी, दुनिया जिस तरह से चल रही है उससे सन्तुष्ट हो जाए, तो वह काफ़ी जल्दी अपने पर्यावरण से समंजन स्थापित कर लेगा। समंजन की प्रक्रिया मुश्किल केवल इसलिए है कि वह अपने ही साध्यों के अनुसरण पर डटा रहना चाहता है। वह अपने पर्यावरण का अपने से समंजन करना चाहता है; अथवा वह अपने को और अपने इर्द-गिर्द की चीजों, दोनों को जीवन के अपने आदर्श से समंजित करना चाहता है। निम्न श्रेणी के प्राणियों तक के बारे में यह कहना कि वे अपने पर्यावरण का अपने से समंजन करते हैं, प्रायः उतना ही सही होगा जितना यह कहना कि वे अपने पर्यावरण से अपना समंजन करते हैं।

जो भी हो, समंजन तब तक निरर्थक मालूम होता है जब तक समंजन के किसी आदर्श रूप की कल्पना हमारे अन्दर न हो, जब तक कोई ऐसा साध्य न हो जिसे हम जानकर या अनजाने प्राप्त करना चाहते हों। लेकिन, यदि ऐसा है तो निश्चय ही हमें इस साध्य के विचार से ही शुरू करना चाहिए, न कि समंजन की प्रक्रिया के विचार-मात्र से, जिसमें साध्य छिपा हुआ है। यद्यपि स्वाभाविक यह लगता है कि हम अपनी व्याख्या को आदि से शुरू करें और प्रक्रम में से होते हुए अन्त में पहुँच जाएँ, तथापि यहाँ अन्त से ही शुरू करना अच्छा है, क्योंकि अन्त ही प्रक्रम को निर्धारित करता है।¹

7. अन्य क्रम-विकासवादियों के मत

हर्बर्ट स्पेन्सर का मत क्रम-विकासवादी सम्प्रदाय के अधिकतर अन्य लेखकों के मतों से इस बात में भिन्न है कि वह आचरण के अन्तिम और परम साध्य को बहुत स्पष्टता के साथ स्वीकार करता है। यद्यपि वह अपनी व्याख्या को नीचे से, आदि से, जीवन के सरलतम रूपों से, शुरू करता है, तथापि वह एक परम साध्य की धारणा में जा पहुँचता है। इस प्रकार वह नीतिशास्त्र का साध्यवादी दृष्टिकोण से विवेचन करने की आवश्यकता पर जोर देता है (Data of Ethics, पृ० 304-5); और अपनी अन्तिम साध्य की धारणा को वास्तव में इतना आगे ले जाता है कि एक निरपेक्ष नीति (absolute morality) तक की कल्पना कर डालता है, जो वर्तमान जगत् से बिल्कुल भी सम्बन्ध नहीं रखती, बल्कि ऐसे जगत् से सम्बन्ध रखती है जिसमें पर्यावरण से समंजन पूरी तरह से स्थापित हो चुका है।²

अन्य क्रम-विकासवादियों में से अधिकतर निरपेक्ष नीति को अस्वीकार करते हैं³ और ऐसे निरपेक्ष साध्य की बात भी नहीं करते जिसकी दिशा में हमारी प्रगति का होना कहा जाए। इस प्रकार सर लेज़ली स्टीफेन स्वास्थ्य या कुशलता (health or

1. स्पेन्सर के मत के अधिक विस्तृत विवेचन के लिए सोर्ले (Sorley) की पुस्तक *Ethics of Naturalism*, पृ० 203-20 देखिए। अलेक्जेंडर की *Moral Order and Progress*, पृ० 266-77, म्यूरेड की *Elements of Ethics*, पृ० 144-62, और ड्यूई की *Outlines of Ethics*, पृ० 67-8, 142-46 भी द्रष्टव्य हैं।
2. देखिए *History of Ethics*, पृ० 256 में सिजविक का इस विषय का वर्णन।
3. उदाहरणार्थ, देखिए स्टीफेन की *Science of Ethics*, पृ० 430, तथा अलेक्जेंडर की *Moral Order and Progress*, पृ० 270।

efficiency) के विचार मात्र से सन्तुष्ट लगते हैं। “नैतिक नियम सामाजिक कल्याण की शर्त का कथन होता है।”¹ सदाचार का मतलब है सामाजिक सन्तुलन को बनाए रखने की कुशलता।² यह सिद्धान्त किसी ऐसे अन्तिम साध्य की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं समझता जिसकी ओर समाज प्रगति कर रहा हो, बल्कि समाज जिस रूप में है उसी रूप में उसको स्वीकार कर लेता है तथा उसके परिरक्षण और सन्तुलन को वह साध्य मानता है जिसे हमें लक्ष्य बनाना चाहिए।³

प्रो० अलेक्जेंडर का मत भी सार-रूप में यही है। वे कहते हैं⁴ “किसी काम को या किसी व्यक्ति को आचरण के एक मानक या एक कसौटी से आँका जाता है जिसे नैतिक आदर्श कहा गया है। यह नैतिक आदर्श आचरण का एक समंजित रूप है जो विरोधी अभिनतियों (inclinations) पर आधारित होता है और उनके बीच सन्तुलन स्थापित करता है। एक सन्तुलित समष्टि के अन्दर का यह समंजन ही अच्छाई है, अन्य कुछ नहीं।”

नैतिशास्त्र का यह सिद्धान्त पशु-जीवन के विकास के बारे में डार्विन द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्त से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। डार्विन के मतानुसार पशु-जातियों का विकास ‘अस्तित्व के लिए संघर्ष’ करने से होता है, जिसमें ‘योग्यतम’ ही जीवित रह पाते हैं। इस प्रक्रिया को सामान्यतः ‘प्राकृतिक चुनाव’ की प्रक्रिया कहा जाता है।

इसी तरह सर लेज़ली स्टीफेन और प्रो० अलेक्जेंडर का मत है कि नैतिक जीवन में भी प्राकृतिक चुनाव की प्रक्रिया होती है जिससे सबसे अधिक कुशल या सबसे अधिक सन्तुलित प्रकार का आचरण स्थिर रहता है। इस मत और डार्विन के मत के बीच जो सम्बन्ध है उसे प्रो० अलेक्जेंडर ने अपने लेख ‘Natural Selection in Morals’ में अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है⁵; और चूँकि यह मुझे नैतिकता की नीचे से व्याख्या करने के प्रयास का अंग्रेज़ी में⁶ उपलब्ध सबसे अच्छा संक्षिप्त वर्णन लगता है, इसलिए यहाँ इसकी मोटी रूपरेखा और सारांश को बताना उचित होगा।

1. Science of Ethics, पृ० 450।

2. वही, पृ० 79-81 इत्यादि।

3. सिजर्विक के ग्रन्थ History of Ethics, पृ० 257 में स्टीफेन के सिद्धान्त का जो कथन हुआ है उससे तुलना कीजिए। निस्सन्देह, ऐसे मत के अनुसार समाज की वर्तमान अवस्था को केवल आंशिक रूप में ही सन्तुलित माना जाता है; और जिस साध्य को लक्ष्य बनाना है उसे पूर्ण सन्तुलन की अवस्था कहा जा सकता है। लेकिन जिन लेखकों का उल्लेख किया गया है वे निश्चयात्मक रूप से यह बताने की कोशिश नहीं करते कि ऐसे सन्तुलन में क्या बातें शामिल रहेंगी।

4. Moral Order and Progress, पृ० 399।

5. International Journal of Ethics, Vol. II, No. 4 (जुलाई 1882) पृ० 409-39। प्रो० अलेक्जेंडर के ग्रन्थ Moral Order and Progress, खंड 3, अध्याय 4 में भी इसी बात की चर्चा की गई है।

6. नैतिकता की बहुत मिलते-जुलते रूप में नीचे से व्याख्या करने के प्रयास का इससे भी अधिक पराकाष्ठागत उदाहरण प्रो० जार्ज सिम्मेल (George Simmel) के जर्मन ग्रन्थ Einleitung in die Moralphilosophie में मिलेगा।

8. नीतिशास्त्र में प्राकृतिक चुनाव

अलेक्जेंडर कहता है¹, "प्राकृतिक चुनाव उस प्रक्रिया का नाम है जिससे अपने-अपने लाक्षणिक ढाँचोंवाली विभिन्न जातियाँ आधिपत्य के लिए परस्पर संघर्ष करती हैं और उनमें से एक विजय प्राप्त करके अपेक्षाकृत स्थायी बन जाती है।" पशुओं में संघर्ष मुख्यतः विभिन्न व्यष्टियों (individuals) या व्यष्टि-समूहों के बीच चलता है, जिनमें से कुछ नष्ट हो जाते हैं और जो 'अधिक योग्य' है वह जीवित रहता है। नीति में हबहू ऐसा नहीं होता। "मानवीय व्यवहार में प्राकृतिक चुनाव की लड़ाई दुर्बल या बेमेल व्यक्तियों के खिलाफ नहीं लड़ी जाती, बल्कि उनके आदर्शों या जीवन-प्रणालियों के विरुद्ध लड़ी जाती है। वह ऐसी जीवन-प्रणाली को छोड़कर, जो सामाजिक कल्याण से संगति रखती है, किसी अन्य प्रणाली को चलने नहीं देती²। पशुओं की दुनिया में तो यह होता है कि कुछ व्यष्टि या व्यष्टि-समूह जन्म से ही कुछ विशेष प्राकृतिक शक्तियों से युक्त रहते हैं। ये शक्तियाँ उन्हें अन्य व्यष्टियों या व्यष्टि-समूहों से जीवित रहने के अधिक योग्य बना देती हैं, और फलतः वे जीवित रहते हैं तथा अपनी शक्तियों या विशेषताओं को अपनी सन्तान को विरासत में दे देते हैं। उनके जिन प्रतिद्वन्द्वियों को ये शक्तियाँ उपलब्ध नहीं होतीं वे नष्ट हो जाते हैं। लेकिन नीति में लड़ाई पशुओं के बीच नहीं बल्कि आत्माओं के बीच होती है।³ यहाँ बात कुछ इस प्रकार होती है—

"एक व्यक्ति (या व्यक्ति समूह) ऐसा पैदा होता है जिसके भाव थोड़ा-बहुत विचार करने के बाद बदलकर उसे आचरण की एक नई प्रणाली की ओर उन्मुख करते हैं। वह निर्दयता या अशिष्टता को नापसन्द करता है, अथवा स्त्रियों को कम स्वतन्त्रता होने की शिकायत करता है, या मादक द्रव्यों के प्रयोग को मिली हुई पूरी छूट का विरोध करता है। हो सकता है कि वह इस विरोध में अकेला खड़ा हो। या बहुत थोड़े दोस्त उसके साथ हों। उसके प्रस्ताव का लोग मजाक उड़ा सकते हैं, उसका तिरस्कार कर सकते हैं, या उससे घृणा कर सकते हैं; और यदि वह एक महान् सुधारक है, तो वह कठिनाइयाँ और बदनामी झेल सकता है, और रुष्ट समुदाय के हाथों से मृत्यु का भी आलिंगन कर सकता है। धीरे-धीरे उसके विचार अधिकाधिक फैलेंगे; लोग देखेंगे कि उनके अपने विचार भी कुछ इसी तरह के हैं; वे उसके विचारों के कायल हो जाएँगे; उनका पिछला शत्रु-भाव समाप्त हो जाएगा और उसके द्वारा प्रचारित नई आचरण-प्रणाली से, नई राजनीतिक संस्था से, अनुराग करने लगेंगे। नए विचार दिन-प्रतिदिन नया बल प्राप्त करते हैं और अन्त में अधिकतर लोगों के, यहाँ तक कि लगभग सभी के, दिमाग में घर कर जाते हैं।"⁴

"प्राकृतिक जगत् में तो पशु-जातियाँ अपनी ही जाति की वृद्धि करके और विरोधी जातियों का संहार करके संख्या से बलवान् और चिरस्थायी बन जाती हैं; लेकिन यहाँ इनकी जगह वास्तव में समझाना-बुझाना (persuasion) और सिखाना काम करता है, जिसमें संहार का लेश भी नहीं होता।" "समझाना-बुझाना विरोधियों के संहार की जगह पर होता है," क्योंकि "आत्मा की आत्मा के ऊपर विजय समझाने-बुझाने से होती है।"⁵

1. Moral Order and Progress, खंड 3, अध्याय 4, पृ० 431।

2. वही, पृ० 428।

3. वही, पृ० 420।

4. वही, पृ० 414।

5. वही, पृ० 420।

इस प्रकार, पशु-जातियों की उत्पत्ति की तरह नैतिक आदर्शों की उत्पत्ति की व्याख्या भी प्राकृतिक चुनाव जैसी प्रक्रिया से करनी होती है।

9. साध्यवाद (Teleology) की आवश्यकता

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि ये सब बातें बहुत सुझावपूर्ण और ज्ञानवर्धक हैं; लेकिन यदि इसे नैतिक आदर्श की पूरी व्याख्या मानने को कहा जाए तो यह एक बड़ी भूल होगी। यह नैतिक जीवन के विकास का प्राकृतिक इतिहास-मात्र है। पशु-जीवन का वर्णन करने में प्राकृतिक इतिहास-मात्र से हमारा सन्तुष्ट हो जाना अच्छा हो सकता है। वहाँ हम इससे अधिक नहीं जानना चाहते कि जिन जातियों का अस्तित्व इस समय है और भूतकाल में रह चुका है, उनकी प्रकृति क्या है और किन कारणों से वे अब तक जीवित हैं या नष्ट हो गई हैं। हम इस बात में अधिक रुचि नहीं लेते कि आदमी को भेड़िए का विनाश करने का क्या अधिकार है, या मैमथ (Mammoth) जाति के लोप का, या वनमानुष के जीवित रहने का औचित्य हम कैसे सिद्ध करें। हमारी पशुओं की विभिन्न जातियों के आपेक्षिक मूल्य में कोई विशेष रुचि नहीं है। लेकिन नीतिशास्त्र का सम्बन्ध ठीक मूल्य के ही सवाल से है। हम यह जानना चाहते हैं कि एक प्रकार के आचरण को दूसरे प्रकार के आचरण से अधिक पसन्द करने का क्या आधार है; और इस समस्या का हल यह कहना नहीं है कि जिसे हम अधिक पसन्द करते हैं वह कम पसन्द किए जानेवाले को निकाल बाहर करने में सफल हो गया है।

इस बात को वास्तव में स्वयं अलेक्जेंडर ने भी अंशतः माना है। उसका कथन है, “जीवन की कोई नई योजना इस वजह से अच्छी नहीं होती कि वह सफल होती है; उसकी सफलता तो वह मुद्दा है जो इतिहास का घटना-क्रम उसके ऊपर लगा देता है, जो उसके अच्छी होने की सूचक है।”¹ लेकिन यह स्वीकारोचित बहुत कम मूल्य रखती है; क्योंकि जब यह पूछा जाता है कि फिर वह कौन-सी चीज है जो जीवन की किसी नई योजना को अच्छी बनाती है, वह सामान्य विशेषता क्या है जो आदर्शों को नैतिक रूप से मूल्यवान् बनाती है, तब वह केवल यह जवाब दे पाता है कि “वह सामान्य विशेषता जीवन की उस योजना का जीवन की परिस्थितियों से समनुकूलित होना है; यह कि उसके अधीन समाज अपने पर्यावरण के प्रति संघर्ष से रहित प्रतिक्रिया करता है, अथवा,—जैसा कहना कि मैं अधिक पसन्द करूँगा,—यह कि समाज जिन परिस्थितियों में अपने को पाता है उनमें वह इस आदर्श के अनुसार इस प्रकार रह सकता है कि उसका कोई भी अंग शेष का अतिक्रमण नहीं करेगा, कि समाज अपने से सन्तुलन रखेगा।”²

लेकिन हम यह क्यों चाहें कि समाज का अपने से सन्तुलन रहे? वह कौन-सी चीज है जो सन्तुलन की अवस्था को हमारे लिए मूल्यवान् बनाती है? यह ऐसा सवाल है जिसे पूछने के लिए हम मजबूर हैं। और यह ऐसा सवाल है जैसा हर्बर्ट स्पेन्सर के मत और उससे मिलते-जुलते मतों के सिलसिले में बार-बार उठता है। ये लेखक नीतिशास्त्र के सवालों का जवाब देने के बजाय प्राकृतिक विज्ञान के सवालों

1. वही, पृ० 418। मैं समझता हूँ कि प्रो० अलेक्जेंडर कभी-कभी इस बात को भूल जाते हैं। इस प्रकार, *Moral Order and Progress*, पृ० 307 पर वे लिखते हैं—“बुराई केवल वह है जो अच्छाई के साथ संघर्ष करते हुए हार खा गई है और अस्वीकृत की जा चुकी है।”
2. वही, पृ० 419। *Mind*, Vol. I, No. 1 (जन० 1892) में प्रकाशित अलेक्जेंडर का लेख ‘The Idea of Value’ (विशेषतः पृ० 44-8) भी दृश्य है।

का जवाब देते हैं। जो कुछ वे कहते हैं उससे नैतिक जीवन का विकास जिस तरीके से हुआ है उस पर तो काफ़ी रोशनी पड़ती है, लेकिन इस सवाल का जवाब नहीं मिलता कि हम उस जीवन का चुनाव क्यों करें? उदाहरण के लिए हम पूछ सकते हैं कि हम समाज के सन्तुलन को सुधारने के बजाय उसे बिगाड़ने का प्रयत्न क्यों न करें? इसका जवाब केवल यह दिखाकर ही किया जा सकता है कि सन्तुलन की अवस्था एक अच्छी बात है।

जिस बात का हम यहाँ आग्रह कर रहे हैं उसे प्रो० सोर्ले (Sorley)¹ ने भली भाँति व्यक्त किया है। उनका कहना है, “एक आदमी बिल्कुल उचित रूप से यह पूछ सकता है कि प्रकृति में जिन नियमों को काम करते देखा जाता है उन्हें वह आचरण के सूत्रों के रूप में क्यों अपनाए? इस तरह से साध्य मनुष्य के प्राकृतिक कार्य से नहीं निकाला जा सकता। वह तो केवल एक ढंग है जिससे दुनिया की घटनाएँ घटती हैं। और इसलिए हमें इस बात का हेतु बताना होगा कि कोई कर्ता उसे अपने साध्य के रूप में क्यों स्वीकार करे। उसके लिए ‘विश्व के क्रम-विकास का एक आत्म-चेतनायुक्त साधन’ बनना स्वीकार करने का शायद कोई आधार पर्याप्त न हो। शुद्ध क्रम-विकासवादी दृष्टिकोण से इस कठिनाई को हल करने का कोई निश्चित प्रयत्न नहीं किया गया है। वास्तव में उसमें उससे अधिक गहराई नहीं है जितनी डॉ० जॉनसन के उस जवाब में है जो उन्होंने बॉसवेल (Boswell) के काम करने का हेतु बताने के लिए आग्रहपूर्वक पूछे जाने पर हँसते-हँसते यह कहकर दिया था कि ‘जनाब, काम ही जीवन की व्यवस्था को चला रहा है।’”

इस तरह के जवाब के विरुद्ध हम यह प्रश्न कर सकते हैं—जीवन की व्यवस्था को चलते रहने से हमें क्या लाभ है? और इसी तरह यह भी पूछा जा सकता है कि स्पेन्सर ने विकास के जिस प्रवाह को खोज निकाला है उसके विरुद्ध हम क्यों न काम करें? यहाँ भी इस सवाल का जवाब यह दिखाकर ही दिया जा सकता है कि विकास का प्रवाह किसी ऐसी चीज़ की दिशा में बढ़ रहा है जिसे हम शुभ मानते हैं, जो हमारी नैतिक प्रकृति के लिए एक आदर्श का काम कर सकता है। यदि यह दिखाया जा सके तो हम उस आदर्श से शुरू कर सकते हैं। तब वह आदर्श विकास-प्रक्रिया की व्याख्या करनेवाला हो जाएगा, और प्रक्रिया आदर्श की व्याख्या करनेवाली नहीं रहेगी। हम विकास की प्रक्रिया में से गुजरते हैं, क्योंकि हम उस आदर्श को पाना चाहते हैं। इस प्रकार आदि को नहीं बल्कि अन्त को व्याख्या करनेवाले तत्त्व के रूप में लिया जाता है।²

10. अन्तपरक व्याख्या (Explanation by End)

पशु-जीवन के विकास के सम्बन्ध में भी यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि साध्यवाद का प्रवेश वहाँ निषिद्ध होना चाहिए। अवश्य ही स्पेन्सर का क्रम-विकास के बारे में जो मत है उसमें भी एक तरह का साध्यवाद है। वह पशुओं

1. Ethics of Naturalism, भाग 2, अध्याय 9, पृ० 270-1। सिजविक की पुस्तक Methods of Ethics, पृ० 83 और म्यूरहेड की Elements of Ethics, पृ० 149-56 भी देखिए।
2. प्रो० हक्सले के प्रसिद्ध Romanes Lecture (Evolution and Ethics) में जो तर्क प्रस्तुत किया गया है उसमें मुख्य बात यही लगती है। लेकिन प्रो० हक्सले इस बात को प्रकृति की प्रक्रिया और नैतिक जीवन के क्रियाकलाप के बीच एक अवास्तविक विरोध दिखाकर अस्पष्ट कर देते हैं। प्रो० लायड मार्गन की पुस्तक Habit and Instinct, पृ० 271 और 335, तथा प्रिंगल-पैट्रिक्सन की Man's Place in the Cosmos, I भी देखिए।

के सम्पूर्ण जीवन को पूर्ण समंजन की दिशा में अनवरत रूप से किए जानेवाले संघर्ष के रूप में देखता है। यही वह आदर्श है जो क्रम-विकास के सम्पूर्ण प्रक्रम की व्याख्या करता है। और यह सम्भव है कि यदि क्रम-विकास को और अधिक गहराई से देखा जाए तो इस प्रक्रम में और भी गहरा उद्देश्य नजर आने लगेगा। कम-से-कम इमर्सन का ऐसा ही विचार था—

“Striving to be man, the worm
Mounts through all the spires of form.”

(मनुष्य बनने के प्रयत्न में कीड़ा क्रमशः समस्त अधिकाधिक उन्नत आकृतियों ग्रहण करता है।) यही अरस्तू और हेगल का भी विचार था।¹

लेकिन पशु-जीवन और सामान्य प्राकृतिक जीवन के बारे में हम चाहे जो सोचें, इस बात में कोई सन्देह नहीं हो सकता कि नीतिशास्त्र में तो हमें साध्यवादी व्याख्या को लागू करना ही होगा। निश्चय ही, जैसा कि हम देख चुके हैं, हर्बर्ट स्पेन्सर ने स्वयं ही यह बात स्पष्ट रूप से कही है। लेकिन यदि यह बात है तो नैतिक जीवन की पीछे से व्याख्या करने की कोशिश अधिक फ़ायदेमन्द नहीं हो सकती। इसके बजाय हमें जो हमारे आगे है उससे, हम जिस आदर्श या साध्य को अपनी दृष्टि में रखते हैं उससे, इसकी व्याख्या करनी चाहिए।² इसका तरीका समझाने के लिए संक्षेप में उन सबसे प्रसिद्ध विचारकों के कार्य का उल्लेख कर देना अच्छा रहेगा जिन्होंने हाल में इस तरह की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है।

11. उद्गामी क्रम-विकास (Emergent Evolution)

पिछले कुछ वर्षों से क्रम-विकास की जैव प्रक्रिया को इतने अधिक निश्चित रूप से अग्रलक्षी (forward-looking) माना जाने लगा है जितना स्पेन्सर और पहले के अधिकतर अन्य क्रम-विकासवादियों ने नहीं माना था। साध्यवादी व्याख्या के विपक्ष में अधिक निश्चित रूप से मुख्यतः चार्ल्स डार्विन (Charles Darwin) था, जिसने क्रम-विकास में एक निर्णायक तत्त्व के रूप में प्रायः एकान्त रूप से ‘प्राकृतिक चुनाव’ पर ही जोर दिया था। और ऐसे मामलों में, जैसा प्रायः होता है, उसके एक-दम बाद के अनुयायियों ने उसके मत का इतनी अधिक कटुता के साथ प्रचार किया जितना स्वयं उसने भी नहीं किया था। अब इस प्रवृत्ति के खिलाफ़ प्रतिक्रिया पैदा होने के कुछ संकेत मिल रहे हैं। प्रो० बर्गसां (Bergson) ने ‘सर्जनात्मक क्रम-विकास’ (creative evolution) की धारणा का बहुत प्रचार किया है; और उसके भी बाद, प्रो० अलेक्जेंडर, प्रो० लॉयड मॉर्गन तथा कुछ अन्यो ने आजकल ‘उद्गामी क्रम-विकास’ (emergent evolution) के नाम से प्रसिद्ध एक कुछ अधिक परीक्षात्मक धारणा को प्रस्तुत किया, जिसके दृष्टिकोण को भी पश्चलक्षी (backward-looking) के बजाय अग्रलक्षी कहा जा सकता है।

निश्चय ही, इन जीवविज्ञानीय सिद्धान्तों पर विस्तार से विचार करना नीति-शास्त्र की एक प्रारम्भिक पुस्तक के दायरे से बहुत बाहर होगा, और खास तौर से

1. पशु-जीवन के विकास की, और खास तौर से चेतनापूर्वक विकास करने की साध्यवादी व्याख्या करने के जो प्रयत्न हाल में किये गए हैं उनमें सबसे उल्लेखनीय वह है जो एल० टी० हाबहाउस (L. T. Hobhouse) ने *Mind in Evolution* में किया है। Dühring का ग्रन्थ *Cursus der Philosophie*, II, iii देखना भी लाभप्रद सिद्ध होगा।
2. जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, क्रम-विकास के ऊपर वैज्ञानिक दृष्टि से लिखनेवाले इस बात को उत्तरोत्तर अधिक मानते जा रहे हैं।

इसलिए कि इन्हें अभी भी परीक्षात्मक तरीके से प्रस्तुत किया जा रहा है। यह भी निश्चित है कि इनके सही होने या न होने का नीतिशास्त्रीय सिद्धान्त पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ेगा। पौधों और पशुओं में क्रम-विकास की प्रक्रिया का ठीक ठीक स्वरूप चाहे जो हो, इस बात से शायद ही निषेध किया जा सकेगा कि कम-से-कम मनुष्य 'आगे और पीछे' देखते हैं तथा 'जो प्राप्त नहीं है उसकी उत्कट अभिलाषा रखते हैं'; और यह कि उनके जीवन के कार्यकलाप उनकी अग्रलक्षी अभिवृत्ति से बिल्कुल वैसे ही निर्धारित होते हैं जैसे उनकी पश्चलक्षी अभिवृत्ति से।

इस बात की स्वीकृति का उन लोगों पर भी बहुत असर हुआ है जो प्रसन्नता को वह साध्य मानते हैं जिसे हमें अपना लक्ष्य बनाना चाहिए। मुख्य रूप से प्रो० हॉबहाउस के प्रभाव से हाल में यह कहना एक आम बात हो गया है कि अपने 'आवेगों' के अन्दर 'सामंजस्य' पैदा करके हमें 'सर्जनात्मक अर्थ' में प्रसन्नता प्राप्त करनी है। इस मत के अनुसार, जिस प्रसन्नता को पाने की हम चेष्टा करते हैं वह अपनी तात्कालिक सक्रिय प्रवृत्तियों को तुष्ट करने के बजाय स्वयं अपने में एक आन्तरिक परिवर्तन लाने से प्राप्त होगी। इस प्रकार प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए हमें अपने अन्दर एक तरह की पूर्णता लानी होगी, भले ही उसे अब भी अन्तिम साध्य कहना पड़े।

लेकिन, सब मिलाकर, आधुनिक नीतिशास्त्रीय चिन्तन पर जिन धारणाओं का प्रभाव अधिक गहरा दिखाई देता है वे दार्शनिक धारणाएँ हैं जिनका कम या अधिक सीधा सम्बन्ध महान् जर्मन दार्शनिक हेगेल के रचनात्मक दर्शन से है। यहाँ भी इस जैसी पुस्तिका में अधिक विस्तार में जाने की गुंजाइश नहीं है। फिर भी हेगेल के प्रमुख विचारों की थोड़े में मोटी रूपरेखा बता देना जरूरी है, और इस बात को भी बता देना कि किन प्रमुख तरीकों से उनका अंग्रेजी विचारधारा पर प्रभाव पड़ा है।

12. हेगेल का नीतिशास्त्र के बारे में मत

हेगेल के उन सामान्य मतों की, जो नीतिशास्त्र से सम्बन्धित हैं, जानकारी अंग्रेजी जाननेवाले पाठकों के लिए अब एडवर्ड केयर्ड, विलियम बालेस, टी० एच० ग्रीन, एफ० एच० ब्रैडले, बी० बोसान्के, जे० एलिस मैकटागर्ट और अन्य विद्वानों के लेखों से उपलब्ध हो गई है।

हेगेल का दर्शन सब मिलाकर कुछ जटिल और दुर्बोध है; और उसकी आवश्यक बातों को यहाँ केवल बहुत संक्षेप में ही बताया जा सकता है। उसका आम दृष्टिकोण प्रत्ययवादी (idealistic) था। उसकी धारणा यह थी कि विश्व एक आध्यात्मिक क्रम-विकास है, जिसकी चरम परिणति मनुष्य-जीवन के रूप में होती है; और मनुष्य जिस साध्य को अपना लक्ष्य बनाता है वह है अपने आध्यात्मिक स्वरूप की पूर्ण सिद्धि। हमें मानवीय इतिहास को आत्म-चेतना के बिल्कुल असली और पूर्ण-तम रूप की सिद्धि की ऊर्ध्ववर्ती दिशा में चलने की क्रमिक प्रक्रिया के रूप में समझना चाहिए।

इस प्रकार नीतिशास्त्र के बारे में हेगेल का जो सामान्य दृष्टिकोण प्रकट होता है उससे अंग्रेजी जाननेवाले विद्यार्थी अनुवादों, टीकाओं और विशेष रूप से उन अंग्रेज दार्शनिकों के लेखों और ग्रन्थों से बखूबी परिचित हो गए हैं, जो थोड़े-बहुत निश्चित रूप से हेगेल के अनुयायी थे, जिनमें टी० एच० ग्रीन और एफ० एच० ब्रैडले विशेषतः उल्लेखनीय हैं। ब्रैडले का ग्रन्थ Ethical Studies पहला ग्रन्थ था, जिसमें हेगेल का मत अंग्रेजी जाननेवालों के सामने निश्चित रूप से प्रस्तुत किया गया था; और अभी

भी कई बातों में इस ग्रन्थ को सबसे स्पष्ट और अधिक विद्वत्तापूर्ण माना जाता है। यह 1876 में प्रकाशित हुआ था और एक लम्बे अर्से तक इसका छपना बन्द रहा। लेकिन अब इसका दूसरा संस्करण निकल गया है। ग्रीन के *Prolegomena to Ethics* को आंशिक रूप में ही हेगेलीय माना जा सकता है; लेकिन इसमें कांट के दृष्टिकोण से आत्म-सिद्धि (self-realisation) के जिस दृष्टिकोण में पहुँचने का प्रयत्न किया गया है वह कम-से-कम सार-रूप में हेगेल के मत के अनुसार ही है।

मैं आशा करता हूँ कि आत्म-सिद्धि का सामान्य अर्थ इस पुस्तिका के पाठकों को स्पष्ट हो गया होगा। निश्चय ही, इसका अर्थ व्यक्तिगत स्वार्थपरता नहीं है, बल्कि उस चीज की प्राप्ति है जिसे मैं अब तक बराबर एक ऐसे व्यापक दृष्टिकोण की प्राप्ति की बात के रूप में समझाने की कोशिश करता आया हूँ जिससे सबका हित तत्त्वतः हरेक के हित से अलग नहीं रहता। इस दृष्टिकोण से हरेक व्यक्ति का उस व्यवस्थित समाज में एक विशेष स्थान और एक विशेष कार्य होता है, जो कम या अधिक पूर्ण चेतना के साथ एक पूर्ण मानवता की प्राप्ति के लक्ष्य की ओर अग्रसर है; और हरेक व्यक्ति के लिए महत्त्व इस बात का है कि वह उस व्यवस्थित समाज के अन्दर अपना उपयुक्त 'स्थान' (station) खोजे तथा उस स्थान के उपयुक्त जो कर्तव्य हैं उनका पालन करे।

निश्चय ही, यह सुझाव नहीं दिया गया है कि ऐसा करना हमेशा आसान होता है। लेकिन मुख्य बात यह है कि हमें अपने को ऐसे व्यक्तियों के रूप में नहीं सोचना चाहिए, जो प्रत्येक अपने अलग हित का ही अनुसरण कर रहा हो, बल्कि ऐसे व्यवस्थित समाज के सदस्यों के रूप में सोचना चाहिए जो कम या अधिक स्पष्ट दृष्टि से मानवीय अस्तित्व के सबसे अधिक पूर्ण रूप की सिद्धि के लिए प्रयत्नशील है। यह कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य यह जानने की कोशिश करना है कि वह उस नैतिक व्यवस्था के हित में क्या काम कर सकता है जिसका वह एक घटक है, और साथ ही यह भी है कि वह जिस व्यवस्था का स्वरूपतः अंग है उसकी प्रगति के लिए अपना अंशदान करे, चाहे उसका दत्तांश कितना ही कम क्यों न हो। उसकी सच्ची 'प्रसन्नता' इसी में है, न कि निजी सुख के उपभोग में।

इस प्रकार जिस प्रसन्नता की धारणा बनाई गई है उसका अर्थ साथ ही नियम का पालन भी है। लेकिन जिस नियम का पालन करना कर्तव्य है वह राज्य का बाहरी नियम नहीं है, और न उस तरह का एक शुद्ध आन्तरिक नियम ही है जिस तरह का वह है जिसे कांट ने 'निरपेक्ष नियम' के रूप में रखा था। यह वह नियम है जिसे समाज की विकासशील चेतना मानवीय प्रकृति के द्वारा प्राप्त की जा सकने वाली उच्चतम पूर्णता को प्राप्त करने के प्रयत्न में धीरे-धीरे एक रूप देती है।

यह स्पष्ट है कि इस तरह का मत कठिनाइयों से मुक्त नहीं है। इसमें मानवीय इतिहास के क्रम में काम करनेवाली क्रम-विकासात्मक शक्तियों में इतनी अधिक मात्रा में आस्था छिपी है जिसका औचित्य सिद्ध करना हमेशा आसान नहीं है। इसमें सन्देह करना आवश्यक नहीं है कि "युग-युगान्तर से एक प्रगतिशील उद्देश्य चला आ रहा है"; लेकिन इतना स्पष्ट है कि यह उद्देश्य हमेशा बिल्कुल सीधी दिशा में नहीं चलता। इसे सीधी दिशा में स्थिर रखने के लिए महापुरुषों या महान् शासकों के जान-बूझकर प्रयत्न करते रहने की आवश्यकता है—उनके प्रयत्न की जिन्हें कार्लाइल ने 'नायक' (heroes) कहा है; और इसका मतलब यह है कि जिस साध्य को हम लक्ष्य बनाते हैं उसे चिन्तन-मनन से निश्चित करने की जरूरत है, न कि परम्परा के अनुसार मानने की। अतः अन्त में हमें व्यक्ति की विचारशील चेतना का ही फिर सहारा लेना पड़ता है। इस बात को ब्रेडले की अपेक्षा टी० एच० ग्रीन ने अधिक

स्पष्टता के साथ स्वीकार किया है; और फलतः कम-से-कम कुछ बातों में वह अधिक विश्वसनीय पथप्रदर्शक है।¹

इससे सम्बन्धित कुछ बातें आगे बताई जाएँगी। फिर भी, वहाँ बताई गई शर्तों के साथ हम मानव-जाति की सामाजिक चेतना के विकास के माध्यम से आत्म-सिद्धि की धारणा को कम-से-कम नैतिक साध्य का एक लगभग सही कथन मान सकते हैं। यह हमें एक नियम और प्रसन्नता की एक धारणा, दोनों ही प्रदान करती है। इसके अनुसार प्रसन्नता (यूडिमोनिया) एक व्यवस्थित समुदाय के अन्दर अपना उपयुक्त कार्य पूरा करने में निहित है। लेकिन इसमें बहुत-सी बातें अनिश्चित रह जाती हैं जिन्हें निश्चित करने की जरूरत होती है, और नैतिक कठिनाई सामने आने पर व्यक्ति को तत्काल यह कोई रास्ता नहीं दिखा पाती, क्योंकि समुदाय कुव्यवस्थित हो सकते हैं और समुदाय तथा व्यक्ति दोनों ही अनुचित काम कर सकते हैं।

फिर भी, यहाँ कुछ अधिक निश्चित रूप से यह बता देना अच्छा रहेगा कि हेगेल की कृतियों की व्याख्या से और खास तौर से ग्रीन और ब्रेडले के ग्रन्थों से किस प्रकार आत्म-सिद्धि की धारणा अंग्रेजी जाननेवाले पाठकों को सुलभ हुई।

13. हेगेलीय मत का आधुनिक नीतिशास्त्र पर प्रभाव

इंगलैण्ड में नीतिशास्त्रीय विचारधारा में हाल में जो नई बातें आई हैं वे अधिकांशतः प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से हेगेलीय दर्शन के प्रभाव से आई हैं। अपने कांट विषयक महान् ग्रन्थ में एडवर्ड केयड ने यह दिखाने की चेष्टा की कि कांट के दृष्टिकोण से हेगेल के दृष्टिकोण में कैसे पहुँचना है। *Prolegomena to Ethics* में ग्रीन का भी उद्देश्य यही दिखाना था, लेकिन उसका अधिक स्पष्ट उद्देश्य नीतिशास्त्र के बारे में एक व्यवस्थित दृष्टिकोण का विकास करना था; और शायद हेगेल के दृष्टिकोण से अत्यधिक मिलते-जुलते दृष्टिकोण तक ले जाने में उसका प्रभाव किसी भी अन्य लेखक के प्रभाव से अधिक है। फिर भी, हेगेल के सामान्य दृष्टिकोण को सबसे पहले अंग्रेजी जाननेवाले पाठकों तक पहुँचानेवाला एफ० एच० ब्रेडले था जिसने अपने ग्रन्थ *Ethical Studies* के माध्यम से यह काम किया। उसने अधिकांशतः अन्य सिद्धान्तों की आलोचना की, और सीधा रचनात्मक विचार अपेक्षाकृत कम प्रस्तुत किया। अपने ग्रन्थ *Studies in Hegelian Cosmology* में और कुछ अन्य लेखों और ग्रन्थों में मैकटागर्ट ने हेगेल के नीतिशास्त्र-विषयक सिद्धान्त के अनेक पहलुओं का आलोचनात्मक विवरण दिया, जिसका रैशडल के ग्रन्थ *Theory of Good and Evil* पर अत्यधिक प्रभाव दिखाई देता है।

कई ग्रन्थों में बोसान्के के ऊपर हेगेल के सिद्धान्तों का बहुत व्यापक प्रभाव पड़ा, लेकिन अपने बाद के ग्रन्थ में उसने खास जोर मूल्य की धारणा पर दिया; और फलतः उसे आत्म-सिद्धि की धारणा से उस धारणा में, जिसका इस पुस्तिका के अगले अध्याय में विवरण दिया गया है, संक्रमण करनेवाला कहना सबसे अच्छा है। परन्तु यह संक्रमण अपेक्षाकृत आसान है। सर्वोच्च आत्मा की सिद्धि का मतलब है जीवन में परम मूल्यों की सिद्धि। लेकिन 'आत्म-सिद्धि' शब्द के प्रयोग से नैतिक साध्य के बारे में एक अवांछनीय रूप से व्यक्तिवादी (individualistic) धारणा पैदा हो सकती है, हालाँकि यह कहना बिल्कुल अन्यायपूर्ण होगा कि हेगेल को या उसके प्रमुख अनुयायियों को इस तरह का अर्थ अभिप्रेत था। जो भी हो, यह अनेक पाठकों को कुछ अस्पष्ट

1. फिर भी यह याद रखना चाहिए कि उसके महान् ग्रन्थ का नाम *Prolegomena* (भूमिका) है। इसमें अधिकांशतः तत्त्वमीमांसीय चर्चाएँ हैं।

लग सकता है। ऐडमसन ने कहा था कि " 'आत्म-सिद्धि' मुझे हमेशा समस्या के समाधान के बजाय समस्या लगी है" (Development of Modern Philosophy, II, पृ० 109)। केयर्ड ने 'आत्म-त्याग द्वारा आत्म-सिद्धि' की बात कहकर इसे कुछ अधिक निश्चित बनाने की चेष्टा की; लेकिन इससे यह जिज्ञासा पैदा होती है कि जिस आत्मा की सिद्धि करनी है वह क्या है और जिस आत्मा का त्याग करना है वह क्या है ?

इसका एक आंशिक उत्तर उच्च और निम्न 'जगतों' की धारणा में पहले ही सुझाया जा चुका है। सिद्धि करनी है व्यापक आत्मा की, और त्याग करना है संकीर्ण आत्मा का। लेकिन 'व्यापक' शब्द इतना अधिक परिणाममूचक लगता है कि इस उद्देश्य के लिए पूरी तरह से सन्तोषप्रद नहीं मालूम पड़ता। दूसरी ओर, यदि हम कहें कि जिस आत्मा की सिद्धि करनी है वह परम मूल्यों से युक्त आत्मा है, तो हम मूल्यों को अपनी कसौटी बना रहे हैं; और मैं समझता हूँ कि यह कहना सही है कि आधुनिक नीतिशास्त्रीय विचारधारा इस धारणा में अन्तिम कसौटी पाने की दिशा में अधिकाधिक अग्रसर हो रही है। यह बात केवल उन लोगों पर ही लागू नहीं होती जो बोसान्के की तरह हेगेल का अनुसरण करते हुए इसमें पहुँचे हैं, बल्कि उन पर भी ठीक उतनी ही लागू होती है जो लगभग विपरीत दिशा में चलते-चलते इसमें पहुँचे हैं, जिनमें डॉ० जी० ई० मूर शायद सबसे अधिक उल्लेखनीय हैं। यह एक ऐसा दृष्टिकोण है जिसमें प्रत्ययवादी और वास्तववादी दोनों ही बाध्य होकर पहुँचे हैं। नीत्शे (Nietzsche) के दर्शन में यही धारणा 'अतिमानव' (Superman) की सिद्धि की धारणा का रूप ले लेती है; और उसके मत से इस धारणा में 'मूल्यों का मूल्यान्तरण' (transvaluation of values) शामिल है।

मेरी समझ से यह कहा जा सकता है कि जीवन के सर्वोच्च रूप की धारणा तक स्पेन्सर की तरह जीव-विज्ञान के रास्ते से, ग्रीन की तरह तत्त्वमीमांसा के रास्ते से, नीत्शे की तरह परिकल्पना से, डॉ० मूर की तरह शुभ की शुद्ध अन्तःप्रज्ञा के रास्ते से, अथवा, अन्त में, बोसान्के की तरह मूल्य की व्याख्या के सरल रास्ते से पहुँचा जा सकता है। लेकिन मूल्य की धारणा को इन सारे सिद्धान्तों में प्रधान कहा जा सकता है; और इस बात का विशद विचार हम अगले अध्याय के लिए छोड़ देते हैं। फ़िलहाल ग्रीन की विचार-प्रणाली पर ध्यान देने से शायद आत्म-सिद्धि की सामान्य धारणा कुछ और स्पष्ट हो सकेगी।

14. नीतिशास्त्र के बारे में ग्रीन का मत

ग्रीन का सिद्धान्त उसके Prolegomena to Ethics नामक महान् ग्रन्थ में दिया हुआ है, जो पिछली शताब्दी में इंग्लैण्ड में लिखे गए सबसे अधिक उल्लेखनीय ग्रन्थों में से एक है।¹ ग्रीन ने यह बताया कि मानवीय प्रकृति में सारभूत चीज़ है उसके अन्दर रहनेवाला तर्कनात्मक या आध्यात्मिक तत्त्व। मनुष्य के अन्दर क्षुधाएँ होती हैं, जैसे जानवरों के अन्दर होती हैं, और जानवरों की ही तरह उसके अन्दर संवेदन और मानसिक प्रतिमाएँ भी होती हैं; लेकिन ये और हर अन्य चीज़ जो मानवीय प्रकृति के अन्दर रहती है, इस तथ्य के कारण भिन्न हो जाती हैं कि मनुष्य के अन्दर तर्कना है। उसकी क्षुधाएँ कोरी क्षुधाएँ नहीं हैं; उसके संवेदन कोरे संवेदन नहीं हैं। उसकी क्षुधाओं में हमेशा थोड़े-बहुत स्पष्ट रूप से एक साध्य की चेतना

1. सिजविक ने History of Ethics, पृ० 259-60 में ग्रीन के सिद्धान्त का जितना वर्णन किया है वह बहुत ही अपर्याप्त है।

विद्यमान रहती है—अर्थात् वे क्षुधाएँ-मात्र न रहकर इच्छाएँ बन जाती हैं।¹ उसके संवेदनों में हमेशा थोड़े-बहुत स्पष्ट रूप से ज्ञान का तत्त्व विद्यमान रहता है—अर्थात् वे संवेदन-मात्र न होकर प्रत्यक्ष होते हैं। इसका कारण यह तथ्य है कि मनुष्य तर्कनाशील, आत्मचेतनायुक्त और आत्मावाला है। यही मनुष्य की प्रकृति में असली बात है।

निस्सन्देह ग्रीन ने कहा है कि पशुओं में भी, यहाँ तक कि जड़ प्रकृति में भी, हमें एक तर्कनात्मक तत्त्व की उपस्थिति माननी होगी—ठीक वैसे ही जैसे स्पेन्सर कहता है कि पशुओं में भी समंजन का नियम विद्यमान है। लेकिन प्रकृति में इस तत्त्व की विद्यमानता अव्यक्त रहती है। हमें यह मानना पड़ेगा कि यह वहाँ विद्यमान है, लेकिन वहाँ यह छिपा हुआ या अपूर्ण रूप से व्यक्त रहता है। मनुष्य में वह व्यक्त है, अथवा कम-से-कम वह व्यक्त होता जा रहा है। और नैतिक जीवन की सार्थकता इस बात में है कि इस तत्त्व को अधिकाधिक व्यक्त करने की निरन्तर चेष्टा की जाए—मनुष्य की तर्कनाशील, आत्मचेतन और आध्यात्मिक प्रकृति को उतरोत्तर अधिक पूर्ण रूप से अभिव्यक्ति दी जाए।

ग्रीन मानता है कि इस सवाल का जवाब आसान नहीं है कि ऐसा करने का ठीक-ठीक क्या तरीका है, क्योंकि हमारी तर्कनाशील प्रकृति अभी पूरी तरह से विकसित नहीं हो पाई है। नैतिक जीवन की उसके साध्य के द्वारा व्याख्या करने की जरूरत है; लेकिन हम इस साध्य तक नहीं पहुँचे हैं, इसलिए हम उसकी पूरी व्याख्या नहीं दे सकते। फिर भी, हम एक बड़ी सीमा तक देख सकते हैं कि अब तक किस तरीके से हमारी तर्कनाशील प्रकृति विकसित हुई है, और इसे और अधिक विकसित करने के लिए हमें किस दिशा में प्रयत्न करना चाहिए।

यह ग्रीन के दृष्टिकोण का एक संक्षिप्त कथन है; और यह निश्चय ही हमें उस सवाल का जवाब देता लगता है जो हमने शुरू में ही पूछा था—यह सवाल कि अपने इच्छा-जगत् में यह निश्चित कैसे किया जाए कि कौन ऊँचा है और कौन नीचा। ग्रीन का जवाब है—सबसे ऊँचा जगत् वह है जो सबसे अधिक पूरी तरह

1. मुझे ऐसा लगता है कि ग्रीन ने पशुओं की क्षुधाओं के मानवीय चेतना में रूपान्तरित होने की बात को कुछ बढ़ाकर बताया है। लेकिन सम्भव है कि स्वयं मैंने ही ऊपर (खण्ड, अध्याय 1, अनु० 3) इसके विपरीत अत्युक्ति की हो। जो भी हो, यहाँ मुख्य बात यह है कि मनुष्य का सार-तत्त्व उसकी तर्कनात्मक प्रकृति में निहित है, किसी ऐसी बात में नहीं जो उसमें भी हो और एक मात्र पशु में भी (यदि कोई चीज ऐसी हो जिसे मात्र पशु कहा जा सके)।

पशु-जीवन के उच्चतर रूपों में पाई जानेवाली चेतना में ठीक क्या चीज रहती है, यह कहना मुश्किल है। यह कहना सरासर अनुचित लगता है कि उनको प्रत्यक्ष नहीं होता। यह कहना तो और भी मुश्किल है कि वे प्रत्यक्ष-प्रतिमाओं से शून्य होते हैं। अन्यथा, बिल अपने मालिक की चरनी को कैसे पहचानता है? पक्षी अपना बोंसला कैसे बनाता है? ऐसे मामलों में पशु न केवल सामने रखी हुई चीज को देखता है बल्कि आगे क्या होगा उसकी पहले से कल्पना भी कर लेता है। और असल में डार्विन के केंचुए तक के लिए इस बात की जरूरत लगती है (Vegetable Mould, अध्याय 2)। लेकिन यह सब हमारे मौजूदा विषय के क्षेत्र से बाहर की बात है। इस सिलसिले में लॉयड मार्गन की पुस्तक *Animal Life and Intelligence* (विरोधतः अध्याय 9), बुन्ड की *Human and Animal Psychology*, पृ० 350-66, और स्ट्राउट की *Manual of Psychology*, पृ० 274-8 देखिए।

से तर्कनापरक है। लेकिन इसके अर्थ पर हमें उस दृष्टिकोण से, जिसे विकसित करने की हम पहले कोशिश कर चुके हैं, इसे सम्बन्धित करते हुए कुछ और विस्तार से विचार करना चाहिए।

15. सच्ची आत्मा

हम देख चुके हैं कि मनुष्य का निवास अनेक जगत्‌ओं के अन्दर हो सकता है। इनमें से कुछ ऐसे होते हैं जिनमें वह एक समय में केवल कुछ ही क्षणों तक रहता है; कुछ ऐसे होते हैं जिनमें मनुष्य अम्यस्त रूप से निवास करते हैं। उनमें से कुछ जगत्‌ओं के अन्दर स्थायी सन्तोष नहीं मिल सकता। पाशविक सुखोपभोग का जगत् इसी तरह का है। उसके सुखों से क्षुधाएं जल्दी ही ऊब जाती हैं। अन्यो में हमें कुछ अधिक स्थायी आश्रय मिलता है। जैसा कि हम देख चुके हैं, जिस जगत् के अन्दर मनुष्य अम्यस्त रूप से रहता है वही उसका चरित्र या आत्मा होता है। यदि एकाएक उठनेवाले किसी आवेग या किसी अप्रत्याशित प्रलोभन के कारण अकस्मात् वह किसी दूसरे जगत् में पहुँच जाता है, तो तब वह जो कुछ कर डालता है उसके लिए वह शायद ही अपने को जिम्मेदार समझे। वह कहता है कि जब उसने वह काम किया तब वह अपने-आप में नहीं था; वह अपने अम्यस्त जगत् में नहीं था।

लेकिन कोई भी सीमित जगत् ऐसा नहीं है जिसके अन्दर हम स्थायी सन्तोष प्राप्त कर सकें। ज्यों-ज्यों हम बड़े होते जाते हैं त्यों-त्यों हमारे ऊपर आदतों की परतें चढ़ती जाती हैं और हम आश्वस्त होकर उस जगत् के अन्दर बने रहते हैं जिसके हम आदी हो चुके हैं। लेकिन, यदि वह जगत् हमारे आदर्श के अनुसार नहीं है तो कभी-कभी हमें हृदयक्रोश (pricks of conscience) भी हो आता है—अर्थात् कभी-कभी हमें एक उच्चतर जगत् का खयाल हो आता है जिसके अन्दर हमें रहना चाहिए।¹

ऐसे अवसरों पर हमें यह महसूस होने लगता है कि अपने साधारण जीवन तक में हम अपने आप में नहीं होते। हमारे अम्यस्त जगत् में स्थायित्व का अभाव होता है, ठीक वैसा ही जैसा उन जगत्‌ओं में होता है जिनमें हम कभी-कभी संवेग और आवेग के कारण पहुँच जाते हैं। जैसे हमें उनमें सन्तोष का अनुभव नहीं होता और उनसे हम यथाशक्ति जल्दी दूर भागने की कोशिश करते हैं तथा कहते हैं कि जब हम उनमें थे तब अपने आप में नहीं थे, वैसे ही कभी-कभी हमें यह चेतना हो जाती है कि जिस जीवन के हम आदी हैं उसमें भी कोई बात असन्तोषजनक है, और यदि आदत का बन्धन न होता तो हम इससे भी दूर भाग जाते और कहते कि उसमें भी हम अपने आप में नहीं हैं। तब वह जगत् कौन-सा है जिसमें हमें शाश्वत सन्तोष का अनुभव होगा? सच्ची आत्मा क्या है?

सच्ची आत्मा शायद वह है जिसे तर्कनाशील आत्मा कहना सबसे अच्छा होगा। यह वह जगत् है जिसमें हम गहरी प्रज्ञा और अन्तर्दृष्टि के क्षणों में पहुँच

1. ब्राउनिंग की Bishop Blougram's Apology की ये पंक्तियाँ देखिए—

“Just when we are safest, there's a sunset-touch,

A fancy from a flower-bell, some one's death,

A chorus-ending from Euripides—

And that's enough for fifty hopes and fears,

As old and new at once as nature's self,

To rap and knock and enter in our soul.”

जाते हैं। इस जगत् के अन्दर की बातों को पूरी तरह से बताना, जैसा ग्रीन ने कहा है, (Prolegomena to Ethics, अनु० 288, पृ० 310) असम्भव होगा। तर्कनापरक अन्तर्दृष्टि के जगत् की अन्तर्वस्तु उतनी ही विस्तृत है जितनी वास्तविक तथ्य के जगत् की। उस जगत् में पूरी तरह रहने का मतलब होगा उस जगत् को, जिसमें हम रहते हैं, और उससे अपने सम्बन्धों को पूरी तरह से समझ लेना और तदनुसार निरन्तर कर्म करते रहना। ऐसा करने की हम आशा नहीं कर सकते। हम केवल इतना कर सकते हैं कि उसे अधिकाधिक समझने की कोशिश करें और उसे अधिकाधिक समझने में दूसरों की मदद करें, तथा इससे संगति रखनेवाले तरीके से कर्म करने की अधिकाधिक कोशिश करें। इस तरह जीवन बिताना ही वास्तव में अपने आप में रहना है।¹

16. आत्मसंगति का सही अर्थ

इस दृष्टिकोण से हम कांट के इस सिद्धान्त के सही अर्थ को और अच्छी तरह समझ सकते हैं कि नीति का सर्वोच्च नियम आत्मसंगति बनाये रखना है। जैसा कि हमने कहा था, इस नियम से हमें विषयवस्तु से शून्य आकार-मात्र मिलता है। लेकिन यदि इस नियम का अर्थ हम यह लें कि हमें न केवल आत्म-संगति बनाए रखनी है बल्कि आत्मा से, अर्थात् सच्ची आत्मा से, भी संगति बनाए रखनी है, तो ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि तब इस नियम में एक विषयवस्तु का समावेश हो जाता है, हालाँकि इस विषयवस्तु को खोज निकालना आसान बिलकुल नहीं है।

हम कह सकते हैं कि कांट की भूल यह रही कि उसने 'तर्कना' को बिलकुल प्रत्याहुत (abstract) अर्थ में ग्रहण किया था। उसने इसे हमारी इच्छाओं की विशेष अन्तर्वस्तुओं का विरोधी माना; जबकि वास्तव में तर्कना सम्पूर्ण विश्व से, जिसकी यह व्याख्या करती है, सम्बन्ध रखती है। तर्कनापरक अन्तर्दृष्टि का जगत् वह जगत् है जिसमें सारा विश्व, जिसमें हमारी सब इच्छाएँ शामिल हैं, अपने सच्चे सम्बन्धों के सहित प्रकट होता है। अतः तर्कना का दृष्टिकोण अपनाना अपनी सब इच्छाओं का त्याग करते हुए मात्र आकारिक आत्मसंगति के दृष्टिकोण को अपनाना नहीं है; बल्कि इसका मतलब यह है कि हम अपनी सब इच्छाओं को परस्पर सही सम्बन्धों में रखें। तर्कनापरक अन्तर्दृष्टि का जगत् वह जगत् है जिसमें उन सबका समावेश हो सकता है और जिसमें वे सब अपनी सही जगहों पर रहती हैं।

गन्दगी की यह परिभाषा दी गई है कि 'वह शलत जगह पर पड़ी हुई चीज' है। इसी तरह, नैतिक बुराई को इच्छा का शलत जगह पर होना मात्र कहा जा सकता है। आशा है कि इसका मतलब आगे अधिक स्पष्ट हो जाएगा।

17. प्रसन्नता का सही अर्थ

जैसे अब हम आत्म-संगति के निरपेक्ष आदेश का अर्थ समझने में पहले से अधिक समर्थ हो गए हैं, वैसे ही प्रसन्नता के सिद्धान्त का सही मतलब भी अब और अच्छी तरह हमारी समझ में आ जाना चाहिए। प्रसन्नता की धारणा का जो अर्थ हमने पहले लगाया था उसमें शलती इस बात में रही कि हमने उसे हर पैदा होने वाली

1. आत्म-सिद्धि की धारणा की कुछ आलोचनाएँ प्रो० ए० ई० टेलर के International Journal of Ethics, Vol. VI, No. 3 में छपे एक महत्वपूर्ण निबन्ध में और उनके एक हाल में प्रकाशित ग्रन्थ The Problem of Conduct में मिलेंगी। टेलर ने ग्रीन के मत के विरुद्ध जो आक्षेप किए हैं उनमें कुछ जोर है; लेकिन मैंने उनकी दिखाई हुई भूलों से बचने की कोशिश की है।

इच्छा की, या इच्छाओं के यथासम्भव अधिकतम योग की, तृप्ति के रूप में लिया था। अब हम देखते हैं कि हमारा साध्य इच्छा को व्यवस्थित करना है।

प्रसन्नता का सही अर्थ अल्पस्थायी सुख नहीं है, बल्कि वह इस बात के बोध में निहित है कि इच्छा की अन्तर्वस्तु में व्यवस्था आ गई है। यह अनुभूति का वह रूप है जो हमारे जीवन के विभिन्न तत्त्वों में एक आदर्श एकता के अन्दर परस्पर सामंजस्य-पूर्ण समंजन हो जाने का फल है। इसलिए, प्रसन्नता को इस अर्थ में वह साध्य तो नहीं कहना चाहिए जिसे हम अपना लक्ष्य बनाते हैं, लेकिन वह हमारे साध्य की प्राप्ति में एक अवियोज्य और आवश्यक तत्त्व अवश्य है।¹

1. जैसा कि स्पिनोज़ा ने कहा है, इसी अर्थ में, “प्रसन्नता (beatitude) सद्गुण का पुरस्कार नहीं बल्कि स्वयं सद्गुण है”—अर्थात् सही दृष्टिकोण की प्राप्ति में यह एक आवश्यक बात है।

मानक : मूल्य के रूप में

1. मुख्य सिद्धान्तों का सारांश

अब तक जो कुछ कहा गया उससे इतना स्पष्ट मालूम होता है कि जिन तीन प्रमुख दृष्टिकोणों के विभेद की चर्चा की गई वे सब हमारे लिए विचारणीय हैं। 'नैतिक आदर्श' तो कानून-सा लगता ही है; विशेषकर कांट (Kant) की इस धारणा में तो स्पष्टतः बहुत बल है कि नैतिक आदर्श एक शुद्ध निरपेक्ष आदेश (Categorical imperative) है जो तर्कबुद्धि द्वारा हमारे ऊपर लागू किया जाता है। नैतिक आदर्श की इस धारणा को आसानी से टाला नहीं जा सकता। फिर 'प्रसन्नता' ही हमें जीवन का नैतिक उद्देश्य जान पड़ती है; और सिजविक (Sidgwick) जैसे लेखक ने सतर्कता-पूर्वक जिस सन्तुलित रूप में प्रसन्नता की व्याख्या की है (जिसमें कांट की धारणा का महत्त्व भली-भाँति स्वीकार किया गया है) उस रूप में वह अत्यन्त तर्कसंगत मालूम होती है। इधर यह कथन भी सत्य प्रतीत होता है कि वैयक्तिक और सामाजिक जीवन की महत्तम 'पूर्णता' ही हमारा लक्ष्य है। फिर भी इन सभी वक्तव्यों में से किसी एक को भी पूर्णतः सन्तोषप्रद मानने में अनेक कठिनाइयाँ हैं।

क्या तर्कसंगत है और क्या नहीं, इस सम्बन्ध में निश्चयात्मक निर्देश की कमी के कारण शुद्ध तर्कबुद्धि-नियम (Law of Reason) की धारणा अपने-आपमें अपूर्ण रह जाती है, भंग हो जाती है। दूसरी ओर प्रसन्नता की धारणा अपने-आपमें हमें कोई नैतिक सिद्धान्त नहीं दे पाती, क्योंकि उसका कोई सावर्देशिक दृष्टिकोण ही नहीं है। सिजविक ने दोनों पक्षों को मिलाने का जो प्रयत्न किया उससे किसी ऐसे दृष्टिकोण की उपलब्धि नहीं हुई जो स्वतः संगत हो। पूर्णता की धारणा में अधिक सम्भावनाएँ हैं; किन्तु यदि उसे केवल जीवन की पूर्णता के रूप में सोचा जाए, तो उसका कोई निश्चित नैतिक प्रभाव नहीं पड़ता। और यदि अधिक निश्चित रूप से उसे नैतिक पूर्णता मानकर उस पर विचार किया जाता है तो ऐसा लगता है कि हम एक घरे में चक्कर काटने लगते हैं। इन त्रुटियों को तभी दूर किया जा सकता है जब हम अधिक निश्चित रूप से यह निर्धारित करें कि जिस पूर्णता को हम अपना लक्ष्य मानते हैं उसका अर्थ क्या है। कुछ हद तक पिछले अध्याय में इसका संकेत किया गया है; किन्तु जो मत वहाँ व्यक्त किया गया है उसे और अधिक परिशुद्ध रूप में स्पष्ट करने का प्रयत्न अब किया जाना चाहिए।

इस प्रयत्न में काफ़ी कठिनाइयाँ सामने आती हैं। ऐसी समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं जो शुद्ध रूप से तत्त्वमीमांसापरक चाहे न भी हों, पर कम-से-कम तत्त्व-मीमांसा का छोर छूनेवाली अवश्य हैं। इस विवेचन में हमें विवश होकर खुद अपने से पूछना पड़ता है कि आखिर हम 'शुभ' या 'श्रेयस' (The Good) से क्या अर्थ ग्रहण करते हैं। यह वही प्रश्न है जिसे सुकरात और प्लेटो ने पूछा तो था, पर जिसका अन्तिम उत्तर कभी नहीं दिया जा सका। हम भी यह आशा नहीं कर सकते

कि इस प्रश्न का पूरा उत्तर यहाँ दे देंगे; पर यह आशा तो कर ही सकते हैं कि उत्तर देने में जो कठिनाइयाँ हैं उनकी ओर संकेत कर सकेंगे और यह बता सकेंगे कि उनका हल किस दिशा में मिल सकता है। अपना विवेचन प्रारम्भ करते हुए हम इस प्रश्न को दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कह सकते हैं कि मूल्य का अन्तिम अर्थ क्या है। पहले इसी रूप में इस प्रश्न की कुछ छानबीन करना लाभप्रद हो सकता है।

2. मूल्य की अवधारणा

सर्वाधिक प्रचलित अर्थ में मूल्य को एक आर्थिक अवधारणा माना जाता है। जब हम रोटी के मूल्य की या एक दिन की मजदूरी के मूल्य की बात करते हैं तब सामान्यतः हमारा अर्थ या तो यह होता है कि किस हद तक किसी मानवीय आवश्यकता की पूर्ति उससे होती है, या फिर उस सापेक्ष प्राक्कलन (उदाहरण के लिए, मुद्रा के रूप में) से आशय होता है जो कुछ लोग उस पर आरोपित करते हैं। दूसरा अर्थ, अधिकांश में, पहले पर निर्भर करता है; और सामान्य रूप से यह एक सत्य बात है कि पहले अर्थ में मूल्यवान मानी जानेवाली चीज को किसी लक्ष्य के साधन-रूप में ही मूल्यवान माना जाता है। रोटी का मूल्य जिन्दगी कायम रखने या भूख की पीड़ा शान्त करने के साधन-रूप में या भोजन की सुखद अनुभूति देनेवाले साधन के रूप में ही है। तो इस प्रकार रोटी का मूल्य वास्तव में इस बात पर निर्भर है कि हम जिन्दगी को या सुख को या पीड़ा के अभाव को मूल्यवान मानते हैं। ऐसे मूल्य को कभी-कभी 'साधन-मूल्य' (Instrumental Value) कहते हैं और 'स्वतः मूल्य' (Intrinsic Value) से इसका विभेद मानते हैं। हमारे सामने यहाँ प्रश्न यह है—ऐसी कौनसी चीजें हैं, यदि हों तो, जिनके लिए शुद्ध अर्थों में यह कहा जा सकता है कि उनका स्वतः मूल्य है?

जब कांट ने यह कहा था कि शुभ संकल्प (Good Will) के अलावा और कुछ भी निरुपाधिक रूप से शुभ नहीं है, तब वह इस बात की पुष्टि कर रहे थे कि शुभ-संकल्प का स्वतः मूल्य है; और अन्य किसी भी चीज के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि उसका निरुपाधिक रूप से कोई स्वतः मूल्य है। उदाहरण के लिए, उनका कहना था कि प्रसन्नता स्वतः मूल्यवान तभी है जब उसकी पात्रता हो; और उसकी पात्रता तभी होगी जब उसके साथ-साथ शुभ संकल्प भी हो। इस प्रकार उनके मत से शुभ संकल्प का स्वतः मूल्य है; और वह ऐसी प्रत्येक चीज का एक तत्त्व भी है जिसका स्वतः मूल्य हो। कुछ अन्य लोगों का मत रहा है कि सौन्दर्य का स्वतः मूल्य है; कुछ लोग इसी प्रकार का दावा प्रज्ञान (wisdom), प्रेम, सत्य, स्वाधीनता, व्यवस्था, जीवन और शायद कुछ और चीजों के लिए भी करेंगे।

हमारे विवेचन का सम्बन्ध इस समय इन मतों से नहीं है। ध्यान देने की महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जब यह दावा किया जाता है कि इनमें से कोई भी चीज स्वतः मूल्यवाली है, तो उसका तात्पर्य यह होता है कि सावधानीपूर्वक उस चीज पर विचार करने पर हम उसे किसी अन्य लक्ष्य के साधन-मात्र के रूप में नहीं बल्कि स्वयं अपने-आपमें ही मूल्यवान पाते हैं। फिर भी, इस सम्बन्ध में दो और बातें विचारणीय हैं जिन्हें ध्यान में रखना जरूरी है।

(1) यह तो स्पष्ट ही है कि जब हम किसी चीज को मूल्यवान मानते हैं तो उसकी प्राप्ति हमें सुखद होती है। इस बात का अर्थ यह भी लगाया जा सकता है कि मूल्यवान मानी जानेवाली प्रत्येक वस्तु सुख के साधन के रूप में ही मूल्यवान मानी

जाती है। पर, जैसा पहले कहा जा चुका है, यह तर्क सदोष जान पड़ता है। यदि हम ज्ञान को मूल्यवान मानते हैं, तो ज्ञान की प्राप्ति सुखद होती है; पर यह तथ्य फिर भी सच ही रहता है कि मूल्यवान हम ज्ञान को ही मानते हैं। सुखदायिता तो मूल्यन का लक्षण या संगी या उसका व्यक्तिनिष्ठ पहलू है। यदि हम सुख को मूल्यवान मानते हों तो भी, उसकी प्राप्ति की सुखदायिता को उस सुख से भिन्न मानना ही होगा जिसे हम मूलतः मूल्यवान मानते हैं।

(2) जब हम यह समझते हैं कि किसी चीज का स्वतः मूल्य है, तब हमारा मतलब केवल यह नहीं होता कि किसी को उससे सुख प्राप्त होता है। यदि चूहे के साथ खेलने में बिल्ली को सुख मिलता हो, तो इससे हमें यह कहने का हक नहीं मिल जाएगा कि चूहे के साथ खेलने का अपना स्वतः मूल्य है। स्वतः मूल्य वह है, जो एक तर्कनापरक व्यक्ति द्वारा शान्तिपूर्वक विचार किये जाने पर स्वतः मूल्य प्रतीत हो। इस प्रकार स्वतः मूल्य उसे कहा जा सकता है जो एक तर्कनापरक चुनाव का निश्चिन्त लक्ष्य हो।

इस विवेचना से शुभ या श्रेयस् का अर्थ और अधिक स्पष्ट रूप से समझने में हमें सहायता मिलेगी।

3. श्रेयस् या शुभ का अर्थ

हाल ही में यह बात बड़े जोरदार ढंग से कही गई है—विशेषकर डॉक्टर जी० ई० मूर द्वारा अपनी पुस्तक Principia Ethica में—कि श्रेयस् या शुभ शब्द जिन अर्थों में नीतिशास्त्र के लिए महत्वपूर्ण है उन अर्थों में उसकी परिभाषा नहीं दी जा सकती। जिस अर्थ में परिभाषा की व्याख्या आकारी तर्कशास्त्र (formal logic) में की जाती है उस अर्थ में बेशक यह बात सच है। उस अर्थ में तो ऐसी किसी भी चीज की परिभाषा नहीं दी जा सकती जिसे एक उच्च जाति के वर्ग का न माना जा सके। और यह बिल्कुल साफ़ बात है कि ऐसी कोई उच्च जाति नहीं है जिसे शुभ या श्रेयस् का स्वामित्व प्राप्त हो। फिर श्रेयस् के अंगों का विश्लेषण करके उसकी परिभाषा देना भी सम्भव नहीं जान पड़ता; क्योंकि ऐसा नहीं लगता कि श्रेयस् के कोई अंग भी हों। इसीलिए इसकी तुलना सीधे-सीधे ज्ञानानुभव में आनेवाली वस्तुओं—जैसे कोई रंग-विशेष या गन्ध-विशेष—से की गई है जिसे चुपचाप अन्तिम मान लेना होता है। फिर भी, एक अर्थ में रंग की भी परिभाषा देना सम्भव है, भले ही गन्ध की परिभाषा न दी जा सके। जिस किसी भी चीज का किसी क्रम-विन्यास में अपना एक स्थान है उसकी परिभाषा उस स्थान के सन्दर्भ में दी जा सकती है। हरे रंग की परिभाषा देते हुए उसे वर्णक्रम की व्यवस्था में पीले और नीले के बीच का रंग कहा जा सकता है। 'पाँच' की परिभाषा हो सकती है—चार के बाद आनेवाली गणसंख्या (Cardinal number)। इस अर्थ में एक व्यक्ति की भी परिभाषा सम्भव है। सुकरात की परिभाषा दी जा सकती है : प्लेटो का प्रधान दार्शनिक पूर्ववर्ती—और इस दृष्टिकोण से सुकरात की अन्य विशेषताओं को आकस्मिक या गौण माना जाएगा।

अब बहुत-कुछ इसी प्रकार मूल्य की धारणा से सम्बन्धित करके श्रेयस् या शुभ की परिभाषा देना भी सम्भव जान पड़ता है; क्योंकि मूल्यों की एक क्रम-व्यवस्था है। एक वस्तु दूसरी की अपेक्षा अधिक मूल्यवान होती है; और मूल्यों का अस्ति-मूल्य (positive value) तथा नास्ति-मूल्य (negative value) भी माना जा सकता है। अब यह कथन सत्य ही जान पड़ता है कि सामान्यतः हम जिसे शुभ या श्रेयस् कहते

हैं वह ऐसी कोई भी वस्तु है जिसका अस्ति-मूल्य हो; इसके विपरीत जिस वस्तु का नास्ति-मूल्य है उसे हम अशुभ कहते हैं। यह बात भी सत्य प्रतीत होती है कि शुभ और अशुभ शब्दों का प्रयोग या तो साधन के सन्दर्भ में किया जा सकता है या उसके सम्बन्ध में जिसका अपना स्वतः मूल्य है। हर्वर्ट स्पेन्सर ने छतरी से शुरू करके ऐसी चीजों की एक लम्बी तालिका दी है जो साधने के अर्थ में शुभ कही गई हैं। पर हमारे लिए यहाँ महत्त्वपूर्ण उसकी धारणा है जो स्वतः शुभ हो।

वास्तव में हमारे लिए विचारणीय प्रश्न यहाँ केवल यह नहीं है कि शुभ क्या है, बल्कि यह कि परम शुभ या परम श्रेयस् क्या है, जिसके प्रति तर्कनापरक व्यक्तियों के कार्य-कलाप प्रेरित हों। ऊपर अभी जिस दृष्टिकोण का संकेत किया गया, उसके अनुसार परम शुभ वह होगा जिसमें उच्चतम अस्ति-मूल्य हो; अथवा, चूँकि यहाँ हम मानवीय कार्य-कलाप के सम्बन्ध में विचार कर रहे हैं, इसलिए हमें यह कहना चाहिए कि जिसमें वह उच्चतम अस्ति-मूल्य हो जिसे मनुष्य प्राप्त कर सकता हो। हमें यह निर्धारित करने का प्रयत्न करना चाहिए कि परम शुभ की इस धारणा से मेल खाने वाली विषयवस्तु का कोई निश्चित विवरण भी दिया जा सकता है या नहीं। सभी मानते हैं कि यह कोई सरल कार्य नहीं है; और नीचे जो विवरण दिया जा रहा है उसे प्रयोगमात्र ही मानना चाहिए।

4. प्रकृतिवादी भ्रान्ति

मेरे विचार से इस बात में कोई सन्देह नहीं हो सकता कि नीतिशास्त्र के अध्ययन में 'प्रकृतिवादी भ्रान्ति' पर इतना जोर देकर। 'प्रकृतिवादी भ्रान्ति' से उनका आशय है उस प्रवृत्ति से जो शुभ या श्रेयस् के अर्थ की व्याख्या कार्य के सन्दर्भ में या अस्तित्व के ऐसे विशिष्ट प्रकारों के सन्दर्भ में करना चाहती है जो न्यूनाधिक रूप में शुभ तो होते हैं, पर जिनसे हमें यह जानने में सहायता नहीं मिलती कि वास्तव में 'शुभ' का अर्थ क्या है। इस कथन में वह उसी सीख को दुहराते हैं जिसकी शिक्षा बहुत पहले सर्वव्यापी (Universal) की अवधारणा पर जोर देते हुए सुकरात ने दी थी।

शायद आज भी इस पर जोर देना आवश्यक है; यद्यपि मैं समझता हूँ कि जिस हद तक लोग इस भ्रान्ति के शिकार हुए हैं उसके सम्बन्ध में डॉक्टर मूर ने कुछ अत्युक्ति की है। दरअसल मैं निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि इस भूल पर जोर देते-देते वह इससे उलटी भूल नहीं कर बैठे, अर्थात् यह सोचने की भूल कि हम 'शुभ' शब्द का अर्थ उन विशिष्ट वस्तुओं के सन्दर्भ के बिना भी समझ सकते हैं जिनके सम्बन्ध में इस शब्द का प्रयोग सही अर्थों में किया जा सकता है। यह तो ऐसा ही है जैसे कोई यह कहे कि 'सौन्दर्य' का अर्थ समझने का प्रयत्न करते समय हमें फूलों या पक्षियों या चित्रों या संगीत या तारों-जड़े आकाश या उदात्त कर्मों आदि का नाम नहीं लेना चाहिए। निस्सन्देह यदि इनमें से किसी एक ही चीज का नाम एकान्त रूप से लिया जाएगा तो हमें इस शब्द का एकांगी अर्थ ही ज्ञात हो सकेगा; किन्तु यदि हम इनमें से किसी एक का भी नाम न लें तब तो शब्द के अर्थ की कोई निश्चित धारणा बना पाना ही कठिन हो जाएगा।

'शुभ' शब्द के सम्बन्ध में तो यह और भी अधिक सच है; क्योंकि इस शब्द के अर्थ में एक ऐसी मन्दगति है जो 'सौन्दर्य' शब्द में नहीं है। 'सौन्दर्य' की परिभाषा देना कठिन है। वास्तव में इसकी परिभाषा शायद दी ही नहीं जा सकती; पर

कम-से-कम इतनी बात तो सच ही मालूम होती है कि इस शब्द का प्रयोग प्रायः सर्वदा एक ही अर्थ में किया जाता है; और जब किसी चीज को सुन्दर कहा जाता है तब प्रायः हमेशा हम अच्छी तरह समझ जाते हैं कि ऐसा कहने का अर्थ क्या है—तब भी जब किसी अथाह गर्त या तूफान को सुन्दर कहा जाता है। पर 'शुभ' के सम्बन्ध में यह बात सच नहीं है। जब हम कहते हैं कि कोई चीज शुभ है तब हमारा अर्थ यह हो सकता है कि वह किसी विशेष उद्देश्य के लिए शुभ है, या हमारा अर्थ यह हो सकता है कि वह स्वतः अपने-आप में शुभ है। ऐसा लगता है कि डॉक्टर मूर इस विभेद पर पर्याप्त रूप से ध्यान नहीं दे पाए थे। 'शुभ' शब्द का पहला अर्थ—जिसमें 'शुभ' को एक साधन माना गया है—मेरे विचार से दोनों में से अधिक प्रचलित अर्थ है। खान-पान, मौसम, जहाज आदि के सम्बन्ध में हम 'शुभ' या 'अच्छा' का प्रयोग प्रायः अधिक करते हैं और संगीत या मनुष्य के सम्बन्ध में कम। और जब हम अच्छे मनुष्यों की बात करते भी हैं तब ऐसा नहीं होता कि हमारा अर्थ हमेशा स्पष्ट ही हो। 'मर्चेण्ट ऑफ़ बेनिस' में जब शॉप्लोक कहता है—"एण्टोनियो एक अच्छा आदमी है," तब वह इसकी व्याख्या यह करता है कि एण्टोनियो उसके किसी विशिष्ट उद्देश्य के लिए सन्तोषप्रद है; और विश्वविद्यालय की शब्दावली में प्रायः 'अच्छा आदमी' का अर्थ होता है केवल ऐसा आदमी जो किसी विषय-विशेष में दक्ष हो।

'शुभ' शब्द का प्रयोग जब किसी लक्ष्य के साधन-मात्र के लिए न करके किसी लक्ष्य के ही अर्थ में किया जाता है तब भी उसमें कुछ सन्दिग्धता रहती ही है। इसका प्रयोग निश्चित रूप से या तो एक नैतिक अर्थ में किया जा सकता है या अधिक सामान्य अर्थ में। शुभ या अच्छा काव्य किसी अन्य वस्तु का साधन भले न हो, फिर भी सामान्यतः जब उसे ऐसा साधन समझा जाता है तभी उसे निश्चित रूप से नैतिक दृष्टि से अच्छा कहा जा सकता है। 'ओड टु दि नाईटिंगेल' (Ode to the Nightingale) कविता का स्पष्टतः कोई नैतिक उद्देश्य नहीं कहा जा सकता, फिर भी वह निर्विवाद रूप से अच्छी कविता है।

5. शुभ और नैतिक शुभ

इस प्रकार यह तो स्पष्ट लगता ही है कि 'शुभ' शब्द को दो पृथक् अर्थों में समझा जाता है : एक अर्थ है वह वस्तु जिसका कुछ स्वतः अथवा साधन-मूल्य (Intrinsic or Instrumental Value) हो, और दूसरा अर्थ है वह वस्तु जिसका कोई नैतिक मूल्य या महत्त्व हो।¹ नीतिशास्त्र के अध्ययन में हमारा सम्बन्ध मुख्य रूप से दूसरे अर्थ से है; और इस अर्थ में इसकी परिभाषा देना नितान्त असम्भव नहीं जान पड़ता।

मेरे विचार से 'शुभ' की परिभाषा 'परोपकारी कार्य-कलाप' की जा सकती है; यानी परोपकार-परायणता शुभत्व का एक रूप है, जिसकी खास विशेषता यह है कि वह शुभत्व के अन्य रूपों को जन्म देने या उनको बढ़ावा देने के लिए प्रेरित होता है। एक शुभ व्यक्ति या अच्छा मनुष्य वह है जो अपने साधन-शक्ति-भर समस्त वास्तविक मूल्यों को बढ़ावा देने का सक्रिय प्रयत्न करता है, वे मूल्य चाहे स्वतः मूल्य हों

1. प्रोफ़ेसर एच० जे० पैटन (H. J. Paton) ने अपनी पुस्तक 'दि गुडविल' (The Good Will) के दूसरे अध्याय में इस तथ्य का अचछा प्रतिपादन किया है। प्रोफ़ेसर म्यूरहेड (Muirhead) की पुस्तक 'एलिमेण्ट्स ऑफ़ एथिक्स' (Elements of Ethics), पृ० 277-9 भी देखिए।

और चाहे साधन-मूल्य। मैं समझता हूँ डीन रशडल (Dean Rashdall) ने अपने दृष्टिकोण को इसी अर्थ में उपयोगितावादी कहा था—संकीर्ण अर्थ में नहीं, जिसके अनुसार उपयोगितावादी का अर्थ होता है ऐसा व्यक्ति जो जीवन के केवल एक मूल्य—सुख—को ही बढ़ाने में लगा रहता है, बल्कि व्यापक अर्थ में जिसके अनुसार उपयोगितावादी का अर्थ है ऐसा व्यक्ति जो जीवन के समस्त मूल्यों की अभिवृद्धि को अपना लक्ष्य मानता है।¹ किन्तु सभी मूल्यों की अभिवृद्धि में नैतिक शुभत्व की भी अभिवृद्धि शामिल है। इस प्रकार नैतिक शुभत्व अपने-आपमें एक लक्ष्य भी माना जाता है और साधन भी। इसीलिए इसे केवल उपयोगी नहीं माना जाता; और, जैसा मैं पहले भी कह चुका हूँ, इसी कारण इस प्रकार के दृष्टिकोण के लिए उपयोगितावादी शब्द का प्रयोग शायद ही उपयुक्त कहा जा सके।

यह बात तो सम्भवतः सच है कि मूल्यांकन में भावना का भी स्थान है। इस सम्बन्ध में वार्ड (Ward) के दृष्टिकोण² की चर्चा पहले कर चुका हूँ।³ किन्तु यह कहना कि भावना का मूल्यांकन किया जाता है, सच नहीं जान पड़ता। मैं समझता हूँ कि मूल्यांकन में व्यक्तिनिष्ठ तत्त्व को डॉ० मूर (Dr. Moore) ने पर्याप्त स्थान नहीं दिया। अपनी पुस्तक 'निकोमाचीन एथिक्स' (Nicomachean Ethics) के प्रारम्भ में अरस्तू ने कहा है कि 'शुभ' की परिभाषा भली-भाँति की जा चुकी है : शुभ वह है जो सभी चीजों का लक्ष्य है। इस बात पर सन्देह किया जा सकता है कि 'सभी चीजों' का कोई एक लक्ष्य है भी या नहीं। पर लगता है कि इतना तो कहा ही जा सकता है कि 'शुभ' वह है जो सभी तर्कनाशील प्राणियों का लक्ष्य है। डॉक्टर मूर यह सिद्ध करना चाहते हैं कि जो शुभ है वह शुभ है, चाहे कोई उसका वरण करे—उसे अपना लक्ष्य बनाए, या न बनाए। वह सौन्दर्य का उदाहरण लेते हैं और कहते हैं कि जो सुन्दर है वह, किसी के द्वारा वरण न किए जाने पर भी, शुभ है।

वह कहते हैं—“एक परम सुन्दर संसार की कल्पना करिए—इतना सुन्दर संसार जिसकी कल्पना करने की शक्ति आपमें हो। इस धरती पर आप जिस-जिसकी सर्वाधिक प्रशंसा करते हों, उन सबको वहाँ एकत्र कर दीजिए—पर्वतमालाएँ, नदियाँ, सागर, पेड़, सन्ध्या-ऊषा, तारे और चाँद। अत्यन्त सुन्दर अनुपात में इन सबके समन्वय की कल्पना करिए, ताकि इनमें से कोई भी एक-दूसरे के विरोध में अशोभन न लगे, बल्कि प्रत्येक सबके समन्वित रूप के सौन्दर्य को और अधिक सुन्दर बनाए। और फिर एक परम कुरूप संसार की कल्पना कीजिए—इतना कुरूप, जितना आप सोच सकते हों। उसे गन्दे कूड़े का ढेर मानिए, जिसमें ऐसी हर चीज मौजूद हो जो किसी भी कारण से, अत्यधिक घृणा पैदा करने वाली हो, जिसमें अच्छाई एक भी न हो।...केवल एक ही कल्पना करने का अधिकार हमें नहीं है, वह यह कि इन दोनों में से किसी भी संसार में कभी भी कोई मनुष्य रहा है या कभी रह सकता है, एक के सौन्दर्य का आनन्द ले सकता है या दूसरे की कुरूपता से घृणा कर सकता है। फिर भी, मनुष्य के चिन्तन की परिधि से इन्हें बाहर मानते हुए भी, क्या यह सोचना अयुक्तिक होगा कि कुरूप संसार की अपेक्षा सुन्दर संसार का अस्तित्व होना अच्छा है? किसी भी स्थिति में क्या यह अच्छा नहीं होगा कि कुरूप संसार की अपेक्षा सुन्दर

1. प्रथम खण्ड, पहला अध्याय, पृ० 3।

2. Psychological Principles, पृ० 386-7।

3. प्रथम खण्ड, पहला अध्याय, पृ० 3।

संसार उत्पन्न करने के लिए हम जो भी कर सकते हों, करें ? मैं तो यही सोचता हूँ कि निश्चित रूप से यही अच्छा होगा ।”

मुझे भी ऐसा ही सोचना चाहिए । किन्तु यह तो निश्चित है कि जब डॉक्टर मूर यह कहते हैं कि ये दोनों संसार ‘मनुष्य के चिन्तन की परिधि से बाहर’ हैं, तब ‘मनुष्य’ शब्द से उनका आशय है उनके अलावा अन्य मनुष्यों से; क्योंकि कम-से-कम वह खुद तो सुन्दर और कुरूप संसार का चिन्तन कर ही सके हैं, और तर्कनाशील व्यक्ति होने के कारण उन्होंने सुन्दर संसार का वरण भी कर लिया है । जो सुन्दर है या अन्य किसी प्रकार जो शुभ है, उसके मूल्य का निर्धारण करते समय इस तथ्य को वरा देना मुझे सम्भव नहीं लगता कि सुन्दर या शुभ वही है जिसका वरण कोई तर्कनाशील व्यक्ति करे । कम-से-कम इस विषय में मैं प्रोफेसर हाबहाउस (Prof. Hobhouse) के साथ एकमत हूँ, जब वह यह सन्देह व्यक्त करते हैं कि ‘वस्तुओं का सौन्दर्य चिन्तनशील मन के साथ उनके सम्बन्ध से मुक्त उनकी कोई विशेषता है’ या नहीं । हैमलेट के इस कथन पर हमें विश्वास करने की जरूरत नहीं है कि ‘दुनिया में कोई भी चाँज अच्छी या बुरी नहीं है, केवल सोचने से ही वह अच्छी-बुरी बन जाती है;’ पर हम यह सन्देह कर सकते हैं कि यदि ऐसे प्राणी न होते जो सोचते हैं, अनुभव करते हैं और काम करते हैं, तो किसी एक चीज़ को दूसरी से अच्छी कहने का कोई अर्थ भी होता या नहीं । डॉ० मूर भी यह स्वीकार करते-से जान पड़ते हैं कि किसी चीज़ को दूसरी चीज़ों से अच्छी कहने का अर्थ ही यह है कि वह वरण करने योग्य है । यह बात तो मुझे निश्चित रूप से बहुत ही सन्देहपूर्ण जान पड़ती है कि मूल्यांकन में इस व्यक्तिनिष्ठ कसौटी को बिल्कुल ही छोड़ा भी जा सकता है या नहीं । मैं यह स्वीकार करता हूँ कि यदि सौन्दर्य-बोध कर सकने वाला एक भी प्राणी न हो तब भी सौन्दर्य अच्छा ही रहेगा; पर उसे अच्छा कहते समय खुद ‘हम’ उस सौन्दर्य का बोध कर रहे हैं और उसे वरण करने योग्य मान रहे हैं ।

यह बात तो और भी अधिक स्वतः स्पष्ट मालूम होती है कि यह तर्क ‘सत्य’ (Truth) और ‘नैतिक शुभत्व’ (Moral Goodness) पर उसी प्रकार लागू होता है जैसे ‘सौन्दर्य’ पर । ‘सौन्दर्य’ को उदाहरण मानकर डॉ० मूर ने निस्सन्देह अपने तर्क का सबसे सबल पक्ष ग्रहण किया था ।²

6. परम शुभ (The Highest Good)

जब हम यह पूछते हैं कि परम शुभ क्या है, तब हम यह जानना चाहते हैं कि वह क्या है जो एक तर्कनाशील व्यक्ति को पूर्ण सन्तोष दे सकता है । पर हो सकता है कि अन्त में हमें किसी ऐसी वस्तु को पाकर ही इस खोज में सन्तुष्ट होना पड़े जो

1. ‘दि रेशनल गुड’ (The Rational Good), पृ० 115 ।
2. मूल्य को नैतिक मानक की आधारशिला मानने वाले सामान्य विषय पर अंग्रेजी में काफ़ी व्यापक साहित्य उपलब्ध है । प्रोफेसर डब्ल्यू० एम० अर्बन (W. M. Urban) लिखित ‘वैल्युएशन : इट्स नेचर ऑन लॉज’ (Valuation : its Nature on Laws) मूल्य के सम्बन्ध में लिखी गई सर्वश्रेष्ठ पुस्तकों में से एक है; पर बोसॉंके (Bosanquet) की अनेक रचनाओं, प्रोफेसर सोर्ले (Prof. Sorley) द्वारा ‘मारल वैल्यूज एण्ड दि आइडिया ऑफ़ गाड (Moral Values and the Idea of God) ग्रिपय पर दिये गए व्याख्यान प्रोफेसर लायर्ड (Prof. Laird) की पुस्तक ‘स्टडी इन मारल थ्योरी (Study in Moral Theory) तथा अन्य अनेक रचनाओं का अध्ययन बहुत लाभदायक होगा ।

इतनी मूल्यवान न हो, पर जिसके लिए प्रयत्नशील होना अधिक सम्भव हो; फिर भी अच्छा यही होगा कि हमारी खोज उसी को समझने के प्रयत्न से प्रारम्भ हो जो परमपूर्ण है। यह तो स्पष्ट है कि मनुष्य जैसे प्राणी को पूर्ण सन्तोष दे पाना बहुत कठिन काम है। इस सम्बन्ध में 'सार्टर रिसार्टस' (Sartor Resartus) में लिखी कार्लाइल (Carlyle) की उक्ति प्रायः उद्धृत की जाती है। यह उक्ति है : "आधुनिक यूरोप के सभी वित्त-मन्त्री, गद्दी बनाने वाले और हलवाई एक मिश्रित-पूँजी-कम्पनी बनाकर क्या एक जूता-पालिश करने वाले को सुखी बनाने का दायित्व ले सकते हैं ? एक या दो घण्टों से अधिक समय तक वे इस उद्देश्य को पूरा नहीं कर पाएँगे; क्योंकि जूता पालिश करने वाले के पेट के अलावा, और उससे बिल्कुल भिन्न, उसकी एक आत्मा भी है; और विचार करने पर आपको मालूम होगा कि सर्वकालिक सन्तोष और पूर्ण सन्तुष्टि के लिए वह जो चाहेगा वह न इससे कम होगा और न ज्यादा कि विधाता की सम्पूर्ण सृष्टि अकेले उसकी तुष्टि के लिए हो ताकि वह अनन्त आनन्द का उपभोग कर सके, मन में उठते ही हर इच्छा की पूर्ति कर सके। अमृतासव (Hochheimer)¹ के महासागरों की या नारद के-से गले की चर्चा उससे न चलाओ; उस शाश्वत जूता पालिश करने वाले के लिए इनका कोई मूल्य नहीं है। अमृतासव का महासागर भरते ही वह शिकायत शुरू करेगा कि उसका इससे और अच्छा उपयोग किया जा सकता था। उसे आधी सृष्टि का मालिक बना दीजिए, सर्वशक्तिमान बना दीजिए, वह फिर भी शेष आधी सृष्टि के मालिक से झगड़ना शुरू कर देगा और शिकायत करेगा कि दुनिया का सबसे ज्यादा मुसीबतज्जदा आदमी वही है।"

पर सच तो यह है कि सम्पूर्ण सृष्टि का प्रभुत्व भी कार्लाइल के जूता पालिश करने वाले को तब तक सन्तोष नहीं दे पाएगा जब तक यह न सिद्ध कर दिया जाए कि वह सृष्टि एक परम मूल्यवान सम्पत्ति है। यदि नहीं है तो वह फिर भी उसमें सुधार करना चाहेगा। इसलिए मैं तो परम शुभ की परिभाषा यह करना चाहूँगा कि वह एक पूर्णतः व्यवस्थित जगत् है जिसकी अवधारणा और जिसका वरण पूर्णतः व्यवस्थित जगत् के ही रूप में किया गया हो। अपने असली जगत् को इस प्रकार का पूर्णतः व्यवस्थित जगत् मानने का कोई कारण या आधार है या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर देना तत्त्वमीमांसा (Metaphysics) का काम है। हो सकता है कि समस्या का हल हमसे भी कुछ उतना ही दूर हो जितना दूर वह प्लेटो के लिए था। यदि प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में दिया जाए तो इतना तो स्पष्ट ही है कि जिस जगत् के अस्तित्व का वास्तविक ज्ञान हमें कभी भी—किसी भी क्षण प्राप्त हो पाया है उसे तो पूर्णतः व्यवस्थित जगत् नहीं माना जा सकता। यही सोचा जा सकता है कि वह एक ऐसा जगत् है जो धीरे-धीरे विकास करते-करते प्राप्त किया जा सकता है। और यदि ऐसा सोचना ठीक है तो प्रत्येक तर्कनाशील व्यक्ति का यह कर्तव्य हो जाता है कि जब, जिस क्षण, जितना सम्भव हो उतना प्रयत्न वह इस परम मूल्यवान लक्ष्य की सिद्धि के लिए निरन्तर करे।

और यदि पूर्ण श्रेय या पूर्ण शुभ के इस आदर्श को व्यवहार में पूरा ला पाना असम्भव हो तब भी, यह तो स्पष्ट ही है कि एक तर्कनाशील व्यक्ति को यथा-सम्भव इस आदर्श की सिद्धि का प्रयत्न करना ही चाहिए; ताकि, शुद्ध नैतिक दृष्टि से, यह प्रश्न सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण न बन जाए कि यह आदर्श प्राप्त किया जा सकता है या नहीं। फलतः अब आगे हमें यह विचार करना है कि जो शुद्ध नैतिक दृष्टि से

शुभ है, उसकी खोज करते समय परम शुभ की इस धारणा का क्या-कैसा प्रभाव पड़ता है।

7. पूर्ण शुभ और नैतिक शुभ

शुभ या श्रेयस् की अवधारणा के नैतिक पक्षों को स्पष्ट करने के लिए यह आवश्यक जान पड़ता है कि शुभ, शुभ का चयन या वरण (The Choice of the Good) और शुभ की सिद्धि या प्राप्ति के लिए प्रयत्न—इन तीनों के बीच का भेद समझा जाए। इन तीनों को एक-दूसरे से विलकुल अलग कर सकता तो शायद सम्भव नहीं है। 'चयन' या वरण के तथ्य की स्वीकार किए बिना, एक पूर्णतः सन्तोषप्रद जगत् की कल्पना भी सन्देहास्पद ही लगती है। और 'प्रयत्न' के अभाव में ऐसे जगत् के अस्तित्व की बात भी सन्देह का ही विषय है। फिर भी एक पूर्ण आदर्श जगत् की सामान्य अवधारणा को इन तथ्यों से अलग करवा सम्भव है कि ऐसे विश्व का चयन करना होता है और उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना होता है; और इस विभेद को स्पष्ट कर लेना हमारे तत्कालीन उद्देश्य के लिए आवश्यक जान पड़ता है। यदि चयन और प्रयत्न के बिना ही एक पूर्ण आदर्श विश्व के अस्तित्व की कल्पना की जा सकती तो, स्पष्टतः, नैतिकता के लिए कोई स्थान न रह जाता, या यदि रहता भी तो जो कुछ होता उसकी मौन स्वीकृति देने भर को। विश्वदेवतावादी दर्शनों में—जो विशेषरूप से पूर्व की चिन्तनधारा में सामान्यतः पाए जाते हैं—शुकाव इसी सिद्धान्त की ओर है; और नैतिक प्रयत्न को अत्यधिक महत्त्व देने वाले लेखक भी कभी-कभी ऐसा कुछ लिख देते हैं जिससे यह ध्वनि निकलती है कि जो कुछ है उसकी स्वीकृति को ही वे सबसे महान् कर्तव्य मानते हैं। उदाहरण के लिए कवि ब्राउनिंग (Brown-ing) की निम्नलिखित पंक्तियों का ऐसा ही अर्थ लगाया जा सकता है—

“प्रभु की पावन सृष्टि, सर्व सौन्दर्य-मय !

यह प्रतीति ही प्रेम, प्रेम कर्तव्य है !”

पर जैसा संसार सामान्यतः हमारी दृष्टि में नित्य आता है, उसमें तो जितना सौन्दर्य है उतनी ही कुरूपता भी है; और नैतिक प्रयत्न का अर्थ ही साधारणतः यही जान पड़ता है कि कुरूपता को दूर किया जाए और सौन्दर्य की वृद्धि की जाए। हो सकता है कि पूर्ण अर्थ में किसी भी वस्तु को तब तक वास्तव में सुन्दर न कहा जा सके जब तक उसका चयन न किया गया हो; यह भी हो सकता है कि कुरूपता को दूर करने का प्रयत्न पूर्ण सौन्दर्य का ही एक पक्ष हो। पर इन जटिल प्रश्नों का निपटारा करने के बजाय अभी यहाँ हम इतना ही कहना चाहते हैं कि हमारे सामान्य अनुभव के अनुसार मनुष्य-जीवन जैसा है उसमें पूर्ण सौन्दर्य की उपलब्धि नहीं होती और यह कि जिसे हम मनुष्य का नैतिक जीवन कहते हैं वह वास्तव में सौन्दर्य का 'वरण या चयन' तथा सौन्दर्य की सिद्धि का 'प्रयत्न' है। पूर्ण शुभ वही है जो पूर्ण सुन्दर है; उसका चयन और उसकी प्राप्ति का प्रयत्न नैतिक शुभ है; और यह चयन और प्रयत्न उसकी प्राप्ति के लिए आवश्यक तत्त्व है।

जब कांट यह कहते हैं कि केवल शुभ संकल्प या शुभ इच्छा (good will) ही निरुपाधिक रूप से शुभ है तब वह इसी चयन और प्रयत्न की बात करते हैं; और यह कहना सत्य प्रतीत होता है कि यही दो चीजें ऐसी हैं जो नैतिक दृष्टि से शुभ हैं। पर इनके शुभत्व में उस लक्ष्य का शुभत्व भी निश्चित रूप से सन्निहित है जिसकी सिद्धि ही इनका उद्देश्य है। इस लक्ष्य की सर्वोत्तम विशेषता शायद यह है कि वह पूर्ण

सुन्दर है।¹ उदासीन वृत्ति के लेखक तो अपना मत यही व्यक्त करेंगे कि चयन और प्रयत्न स्वयं ही पूर्ण शुभ हैं। यह कहना तो ठीक हो सकता है कि चयन पूर्ण शुभ का एक आवश्यक पक्ष है और प्रयत्न उसका एक आवश्यक अंग है; पर फिर भी यह स्पष्ट है कि केवल चयन और प्रयत्न को ही पूर्ण शुभ नहीं माना जा सकता। इसलिए नैतिक शुभ और पूर्ण शुभ का अन्तर स्पष्ट रखना ही होगा, चाहे यह बिल्कुल सही ही क्यों न हो कि इनमें से एक का दूसरे में व्याप्त होना आवश्यक है।

8. शुभ और उचित

जैसा हम पहले ही देख चुके हैं, शुभत्व और औचित्य (Goodness and Rightness) के बीच का अन्तर भी काफ़ी महत्वपूर्ण है। सामान्य भाषा में उचित कार्य की परिभाषा यह की जा सकती है कि वह ऐसा कार्य है जो शुभ परिणाम लाने का प्रयत्न करता है। इसका निर्णय करते समय हम कार्य का चयन करने वाले व्यक्ति की अभिवृत्ति के बजाय प्रधानतः इष्ट परिणाम की बात सोचते हैं; यद्यपि उसे एक कर्म कहने में यह अर्थ भी निहित है कि कोई उस कार्य को करने के लिए चुनता है। अब चूँकि शुभ की विषयवस्तु का हमारा ज्ञान अपूर्ण ही है इसलिए हम कभी भी पूर्ण निश्चय के साथ यह नहीं कह सकते कि किन कार्यों से शुभ की सिद्धि सर्वाधिक रूप में हो सकती है। इसलिए जब हम कुछ कार्यों को उचित कहते हैं तो उसका अर्थ यही समझना चाहिए कि उन कार्यों से उतने शुभ की सिद्धि होने की आशा है जितने का हमें ज्ञान है। पर यह कहना भी अस्पष्ट ही है, कि 'हमें ज्ञान है'। इस ज्ञान का अर्थ यह हो सकता है कि जितना ज्ञान कर्म करने वाले को है वह, या जितना ज्ञान कार्य किए जाने के समय अन्य लोगों को है वह, या कि जितना ज्ञान अन्य लोगों को कार्य किए जाने से पहले या उसके बाद हो। नैतिक दृष्टि से जो अन्तर सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, वह है—कार्य करने वाले के ज्ञान और कार्य किये जाने के समय अन्य लोगों के ज्ञान के बीच का अन्तर। कुछ अन्य अन्तर भी हैं जो थोड़ा-बहुत महत्वपूर्ण हैं।

9. व्यक्तिनिष्ठ औचित्य और वस्तुनिष्ठ औचित्य (Subjective and Objective Rightness)

सामान्यतः उस काम को व्यक्तिनिष्ठ दृष्टि से उचित समझा जाता है जो करने वाले व्यक्ति को उचित जान पड़े; जबकि वस्तुनिष्ठ दृष्टि से उचित वह है जो सचमुच शुभ की सिद्धि की ओर प्रवृत्त हो। पर इन दोनों के निर्धारण के मार्ग में काफ़ी कठिनाइयाँ हैं। कार्य करने वाला व्यक्ति प्रायः बहुत बड़ी दुविधा में रहता है कि कौन-सा कार्य सबसे अच्छा होगा; और खुद उसके लिए भी यह कह सकना कठिन हो सकता है कि अन्ततः वह जो कुछ करना निश्चित करता है वह स्वयं उसे ही सर्वोत्तम कार्य लगता है या नहीं। और यह निर्णय करना तो और भी कठिन है कि जो कार्य किया जा रहा है वह सम्पूर्ण विश्व की दृष्टि से सर्वोत्तम है या नहीं।

और फिर, कुछ और भी कठिनाइयाँ हैं जो अधिक परिकल्पनामूलक हैं। यह दावा किया जा सकता है : कि (१) जो व्यक्तिनिष्ठ रूप से उचित है वह हमेशा

1. आन्तरिक शुभ के अन्तर्विषय के सम्बन्ध में यदि कुछ रोचक विवेचन देखना हो तो मूर (Moore) की पुस्तक *Principia Ethica* का छठा अध्याय देखिए।

वस्तुनिष्ठ रूप से भी उचित है, (२) सभी कार्य व्यक्तिनिष्ठ रूप से उचित होते हैं, और (३) सभी कार्य वस्तुनिष्ठ रूप से उचित होते हैं। इन सभी मतों पर विचार करने से इस विभेद का महत्त्व और इसका व्यावहारिक मूल्य स्पष्ट रूप से समझने में सहायता मिलेगी।

10. क्या व्यक्तिनिष्ठ उचित सर्वदा वस्तुनिष्ठ उचित होता है ?

इस मत को सर्वाधिक निश्चित रूप से मानने वाले लेखक हैं श्री ग्रीन (Green)। उनका कहना है कि किसी कार्य के परिणाम में होने वाले शुभ या अशुभ के ठीक अनुरूप ही उस कार्य के प्रेरक कारण को शुभ या अशुभ कहा जा सकता है। उनके इस कथन की व्याख्या से इस मत का समर्थन किया जा सकता है। निस्सन्देह इस कथन की इस प्रकार व्याख्या करना सम्भव है कि न केवल इस मत को सच मान लिया जाए बल्कि ग्रीन के कथन को इस मत की पुनरुक्ति ही मान लिया जाए। यह कहा जा सकता है कि किसी कार्य के प्रेरक हेतु का अर्थ है वे परिणाम जो उस कार्य का लक्ष्य हों; और इन्हीं परिणामों को उस कार्य के फल मानना ठीक हो सकता है।

पर शब्दों का इस प्रकार का प्रयोग तो निश्चय ही विरोधाभास से भरा हुआ है। यदि किसी व्यक्ति को किसी चीते के हमले के कारण अपने मित्र का जीवन खतरे में दिखाई दे और उस चीते को गोली मारते समय धोखे से उसके मित्र की मृत्यु हो जाए, तो बेशक यह दावा किया जा सकता है कि उसके कार्य का परिणाम चीते की ही मृत्यु मानना चाहिए और यह कि उसके मित्र की मृत्यु का कारण परिस्थिति का विपर्यय है। पर फिर भी, यह तो सच है ही कि उसका कार्य—गोली चलाना—उस परिस्थिति का एक अंग है, और बहुत ही महत्वपूर्ण अंग है जिसके कारण यह परिणाम निकला; और यही बात किसी भी कार्य के सम्बन्ध में कही जा सकती है। किसी भी अन्य अर्थ में ग्रीन की मान्यता को प्रतिष्ठित कर सकना कठिन होगा, यद्यपि उनके तर्कों द्वारा काफ़ी हद तक यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्तिनिष्ठ उचित और वस्तुनिष्ठ उचित के बीच परस्पर इतना विरोध नहीं है जितना प्रायः सोचा जाता है।

किन्तु फिर भी, सामान्य बुद्धि तो कांट के मत का ही समर्थन करेगी कि अच्छी-से-अच्छी इच्छा के उद्देश्य भी कभी-कभी 'प्रकृति के विरोध' के कारण असफल हो जाते हैं। और यह भी स्पष्ट बात है कि यह असफलता कर्त्ता के ज्ञान और उसकी अन्तर्दृष्टि की विविध त्रुटियों के कारण हो सकती है; और इस प्रकार विविध दृष्टियों से जिस कार्य को कर्त्ता अपने ज्ञान के अनुसार उचित समझता है, वह और अधिक गहरी वस्तुनिष्ठ दृष्टि से अनुचित भी सिद्ध हो सकता है। अब प्रश्न यह है कि यह बात प्रत्येक कार्य पर लागू हो सकती है या नहीं ?

11. क्या सभी कार्य व्यक्तिनिष्ठ दृष्टि से उचित होते हैं ?

सुकरात का तर्क था कि "कोई भी व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक शुभ से वंचित नहीं होता।" इसी बात को कभी-कभी इस प्रकार भी कहा जाता है कि "कोई भी व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक दुष्ट नहीं होता।"

एक अर्थ में यह बात सही भी है। जब मिल्टन का पात्र शैतान कहता है, "बुराई, तू ही मेरी अच्छाई बन," या जब शेक्सपियर का रिचार्ड तृतीय कहता है, "मैं अपने को दुष्ट सिद्ध करने के लिए कृतसंकल्प हूँ," तो हमें यह सन्देह हो सकता है कि प्रकृति द्वारा पैदा किये गए किसी व्यक्ति ने कभी इस प्रकार अपने सम्बन्ध में ऐसे शब्द

कहे भी होंगे या नहीं। कुछ भी हो, इस बात पर तो जोर दिया ही जाना चाहिए कि इस प्रकार की बात कहते हुए वे लोग जिस चीज़ का चयन कर रहे थे वह उनके दृष्टिकोण से किसी-न-किसी प्रकार अच्छी ही लगी होगी। पर ध्यान देने योग्य महत्वपूर्ण बात यह है कि ऐसे मामलों में इस चयन का अर्थ यह नहीं लगाया जा सकता कि जो कुछ इन लोगों ने किया वह उन्हें 'उचित' भी जान पड़ता था। किसी बात या काम को उचित समझने का अर्थ यह है कि उस पर हम केवल अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण से ही न विचार करें बल्कि ऐसे दृष्टिकोण से विचार करें जो सार्वभौम होने का कम-से-कम प्रयत्न तो करता ही हो। किसी भी चीज़ को हम व्यक्तिनिष्ठ दृष्टि से भी तब तक उचित नहीं कहेंगे जब तक इस प्रकार के सार्वभौम दृष्टिकोण को अपनाने का वास्तविक प्रयास नहीं किया जाता। ऐसा लगता है कि जो व्यक्ति इस प्रकार का प्रयत्न नहीं करता उसे कम-से-कम इस अर्थ में 'स्वेच्छया दुष्ट' कहा जाना उचित है कि उसे इस बात की कोई परवाह ही नहीं है कि वह दुष्ट है या नहीं।

तो इस प्रकार व्यक्तिनिष्ठ उचित और वस्तुनिष्ठ उचित के बीच विभेद करने का अर्थ यह नहीं है कि यदि हमारा दृष्टिकोण शुद्ध व्यक्तिगत दृष्टिकोण हो तो हम उचित हो सकते हैं, बल्कि इस विभेद का अर्थ यह है कि अपने-आप एक पूर्ण रूप से सार्वभौम और वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण को अपनाने में हमें कभी-कभी ही सफलता मिलती है, या शायद कभी नहीं मिलती।

12. क्या सभी कार्य वस्तुनिष्ठ दृष्टि से उचित होते हैं ?

इस संसार के सम्बन्ध में एक पूर्णतः आशावादी दृष्टिकोण अपनाना यदि तर्क-संगत हो तो यह मानना ही होगा कि सभी चीज़ें 'परिणामतः शुभ' हैं; और तब यह भी कहा जा सकता है कि सभी कार्य, इस मत के अनुसार, वस्तुनिष्ठ दृष्टि से उचित हैं। पर, साफ़ जाहिर है कि नैतिक प्राणिमों के नाते, हम इस मत को अंगीकार नहीं कर सकते। हमारे विचार से वस्तुनिष्ठ उचित का अर्थ यही लिया जाना चाहिए कि हमारे मानवीय ज्ञान की कसौटी पर जो शुभ है उसकी ओर ले जानेवाली हर बात उचित है। इसीलिए यह कहा जा सकता है, जैसा कि हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) ने कहा है कि शायद ही कभी हम इस सम्बन्ध में निश्चित हो सकें कि कोई कार्य वस्तुनिष्ठ दृष्टि से उचित है ही; क्योंकि हमेशा इस बात की सम्भावना है कि उस कार्य के कुछ ऐसे परिणाम सामने आएँ जो शुभ न हों। किन्तु नैतिक दृष्टिकोण से वस्तुनिष्ठ उचित की यह व्याख्या सबसे अच्छी जान पड़ती है कि तत्कालीन उपलब्ध मानवीय ज्ञान की कसौटी के अनुसार जिसका परिणाम अशुभ की अपेक्षा शुभ अधिक हो वह वस्तुनिष्ठ दृष्टि से उचित है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि नैतिक उद्देश्यों के लिए व्यक्तिनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ औचित्य का यह अन्तर कोई चरम अन्तिम भेद नहीं कहा जा सकता; यह तो उन शुभाशुभ कोटियों के अन्तर की ओर संकेत-भर करता है जिनके आधार पर हमारे कार्यों के परिणाम परखे जा सकते हैं। फिर भी यह काफ़ी महत्वपूर्ण अन्तर है।

13. शुभ और अशुभ से परे

ऊपर जिनका उल्लेख किया गया, अंशतः इसी प्रकार की कठिनाइयों के कारण कुछ दार्शनिक लेखकों ने यह तर्क रखा है कि नैतिक निर्णयों की मान्यता केवल सापेक्ष है, और परम-सत्य की दृष्टि से उन्हें यथार्थतः स्वीकार नहीं किया जा सकता।

इस बात को ही कभी-कभी इस प्रकार भी कहा जाता है कि परम सत्ता (ultimate reality) सम्बन्धी दृष्टिकोण तो 'शुभाशुभ से परे' का दृष्टिकोण है। यह अभिव्यक्ति नीत्शे¹ (Nietzsche) की दी हुई है; पर भिन्न रूपों में यही दृष्टिकोण स्पिनोजा² (Spinoza), हर्वर्ट स्पेन्सर³ तथा आधुनिक लेखकों में से डॉक्टर ब्रैडले⁴ (Dr. Bradley) और डॉक्टर बोसांके⁵ (Dr. Bosanquet) की रचनाओं में पाया जाता है।

इस प्रकार की पाठ्य-पुस्तक में, जैसी कि यह है, इन लेखकों के मतों का पर्याप्त विवेचन नहीं किया जा सकता, किन्तु यहाँ इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इस प्रकार के मत की व्याख्या विभिन्न ढंगों से की जा सकती है। एक अर्थ में तो यह स्वीकार ही करना पड़ेगा कि जब तक 'शुभ' के स्वरूप और उसकी प्राप्ति की बातों के सम्बन्ध में हमारी अन्तर्दृष्टि अपूर्ण रहती है, तब तक नैतिक निर्णयों में केवल सापेक्ष सत्य ही रहेगा। जो कार्य किसी एक समय, और समाज की किसी एक स्थिति में, साधारणतः उचित माने जाते हैं वही किसी दूसरे समय और दूसरी स्थिति में, सामान्यतः अनुचित माने जा सकते हैं। और ऐसा लगता है कि मनुष्य के ज्ञान में और उसकी परिस्थितियों में जब तक प्रगति होती रहेगी, अथवा जब तक केवल परिवर्तन ही होता रहेगा, तब तक यही स्थिति रहेगी। पर यह तथ्य हमें इस मान्यता की पुष्टि करने से नहीं रोकता कि मनुष्य के लिए हमेशा अपने ज्ञान के अनुसार सर्वोत्तम कार्य करना ही उचित है। इस तथ्य का अर्थ यह है कि व्यक्ति को हमेशा उस बात के लिए तैयार रहना चाहिए जिसे नीत्शे मूल्यों का मूल्यांतरण (Transvaluation of Values) कहते हैं। शुद्ध नैतिक दृष्टिकोण से यही एक ध्यान देने योग्य महत्त्वपूर्ण बात है।

यह प्रश्न तो नीतिशास्त्र की अपेक्षा तत्त्वमीमांसा (Metaphysics) के क्षेत्र का है कि शुभतर की प्राप्ति का प्रयत्न विश्व-जीवन का एक अनिवार्य और स्थायी तत्त्व है या नहीं। यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि शुभ और अशुभ के अन्तर को पदार्थों के तात्त्विक स्वरूप का अन्तर न मानने का कोई वास्तविक आधार नहीं दिखाई देता; यह भी कहना आवश्यक है कि, इसके विपरीत, मानव-जीवन की महत्ता का प्रधान अंश इसी बात पर निर्भर है कि मनुष्य शुभ का चयन करे और उसकी सिद्धि का प्रयत्न करे। और यदि यही वास्तविक स्थिति है तब तो

1. इनकी पुस्तक *Jenseits von Gut und Bose* विशेष रूप से देखिए। यह ध्यान देने की बात है कि जर्मन शब्द Gut और Bose अंग्रेजी के Good और Evil के समानार्थी नहीं हैं। सम्भवतः इनके लिए मैत्री-भाव (Friendliness) और विरोधभाव (Antagonism) अधिक उपयुक्त होंगे। नीत्शे के सम्बन्ध में अंग्रेजी में सबसे अच्छी पुस्तक, मेरे विचार से, डब्ल्यू० एम० साल्टर की है।
2. इनकी पुस्तक *Ethics* के दूसरे भाग का परिशिष्ट देखिए।
3. इनका तर्क यह है कि नैतिक निर्णय परम तत्त्व पर लागू नहीं किए जा सकते, कि मानव-जीवन से नैतिक आबन्ध की भावना लुप्त हो जाएगी, और यह कि जीवन आज जैसा है उसमें किसी भी कार्य को उचित कह सकना कठिन है। अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि एक कार्य दूसरे से कम अनुचित है। देखिए *Principles of Ethics*, भाग 1, अध्याय 15, अनु० 99-100; अध्याय 7, अनु० 46।
4. इनका तर्क है कि नैतिक दृष्टिकोण में केवल 'सत्य की एक कोटि' है। देखिए *Appearance and Reality*, अध्याय 25।
5. विशेष रूप से *The Principle of Individuality and Value*, पृ० 310 देखिए।

हम 'शुभाशुभ से परे' नहीं जा सकते। भले ही इस सम्बन्ध में कि शुभ क्या है और उसकी प्राप्ति के सर्वोत्तम साधन क्या हैं, हमारे विचारों में परिवर्तन और विकास होता रहे।¹

14. अन्तर्विवेक का स्थान

हमारे लिए किसी क्षण क्या शुभ और उचित है, इसका निर्णय करने में जो कठिनाइयाँ हमारे सामने आती हैं उनसे हमें यह समझने में सहायता मिलती है कि अन्तर्भावना की अवधारणा पर बटलर (Butler) और कांट ने भिन्न तरीकों से जो जोर दिया था वह कितना उचित था। हमें एक ऐसे साधन की आवश्यकता है जिससे जीवन की जटिलताओं के बीच हम, बटलर के शब्दों में, 'न्यायाधीश के ढंग से' यह निर्णय कर सकें कि किसी भी समय हमारे लिए उचित मार्ग क्या है।

सम्भाव्य शुभ का क्षेत्र इतना व्यापक है कि हममें से अधिकांश लोग उसकी पूरी अवधारणा ही नहीं कर सकते; पर कुछ विश्वासपूर्वक यह निश्चित कर सकना हमारे लिए अपेक्षाकृत रूप में आसान है कि किसी समय-विशेष में कौनसी कार्य-सरणि हमारे लिए उचित है। श्री एफ० एच० ब्रैडले (F. H. Bradley) ने अपनी पुस्तक *My Station and its Duties* में जिस धारणा पर इतना जोर दिया है उससे हमें इसके निर्धारण में सहायता मिल सकती है। हम यह आशा नहीं कर सकते कि व्यापक अर्थों में शुभ की अभिवृद्धि के लिए व्यक्तिगत रूप से हम बहुत-कुछ कर सकते हैं; यह तय करने में भी हमसे भूल हो सकती है कि किसी विशेष अवसर पर हमारे लिए सर्वोत्तम कार्य क्या है; पर साधारणतः यह समझ पाना इतना कठिन नहीं है कि हमारा अगला कदम क्या होना चाहिए।

कार्डिनल न्यूमैन (Cardinal Newman) के शब्दों में, हमें यह कहना पड़ सकता है कि "एक ही कदम मेरे लिए काफ़ी है।" सम्भवतः अन्तर्भावना की व्याख्या हम इस प्रकार कर सकते हैं कि, तुरन्त उठाए जानेवाला हमारा अगला कदम क्या हो—इसका बोध ही हमारी अन्तर्भावना है। अपने ज्ञान की सीमा के भीतर अपने लिए आचरण की उचित दिशा का स्पष्ट बोध ही अन्तर्भावना है। जिस समाज में हम हैं उसमें अपनी स्थिति का विचार भी निश्चित रूप से इस दिशा-बोध में हमारी सहायता करता है; और इस विषय पर आगे चलकर अधिक विवेचन किया जाएगा।

15. सामान्य निष्कर्ष

इस अध्याय में जो कुछ कहा गया उसका सारांश संक्षेप में नीचे लिखे इन वक्तव्यों में दिया जा सकता है—

यह कि 'शुभ' अथवा 'सुन्दर' की प्राप्ति एक ऐसी आदर्श व्यवस्था की अवधारणा में हो सकती है जिसका पूर्ण ज्ञान हमें नहीं है, किन्तु हम आशा कर सकते हैं कि जैसे-जैसे मानवीय अन्तर्दृष्टि का विकास होता जाएगा वैसे-वैसे उस व्यवस्था का हमारा ज्ञान और अधिक स्पष्ट होता जाएगा; यह कि जहाँ तक हमारा ज्ञान हो उसके अनुसार शुभ के चयन में और उसे अधिक पूर्णता के साथ जानने तथा प्राप्त करने के प्रयत्न में ही नैतिक शुभत्व (moral goodness) है; यह कि ऐसा नैतिक शुभत्व सम्भवतः पूर्ण शुभ (complete good) का एक तत्त्व है; यह कि ऐसे कार्य को वस्तुनिष्ठ दृष्टि से उचित कहा जा सकता है जो शुभ की ओर अधिक पूर्ण प्राप्ति

1. 'शुभाशुभ से परे' की सामान्य अवधारणा के सम्बन्ध में प्रो० ए० ई० टेलर (A. E. Taylor), की पुस्तक *Problem of Conduct* का आठवाँ अध्याय देखिए।

की दिशा में हमें आगे बढ़ानेवाला हो; और यह कि ऐसे कार्य को व्यक्तिनिष्ठ दृष्टि से उचित कहा जा सकता है जो कर्त्ता की तात्कालिक सर्वोत्तम विवेक-क्षमता के अनुसार उसे उचित जान पड़े।¹

16. प्रयोज्य नीतिशास्त्र की ओर संक्रमण (Transition to Applied Ethics)

सरसरी तौर पर हम यह देख चुके हैं कि नैतिक आदर्श का स्वरूप क्या है, और किस प्रकार इस आदर्श की विभिन्न अपूर्ण धारणाएँ उस धारणा में स्थान पा जाती हैं जो सत्य प्रतीत होती हैं। संक्षेप में, कम-से-कम कुछ हद तक, हमने यह भी देखा कि नैतिक इतिकर्तव्य (Ethical ought) का सच्चा महत्त्व क्या है। अब हम समझते हैं कि यदि इसे एक 'अलंघनीय आज्ञा' माना भी जाए तो कम-से-कम इसे एक ऐसा आदेश नहीं मानना चाहिए जो बाहर से हमारे ऊपर लागू किया गया हो; और शुरू में ऐसा ही समझ बैठना स्वाभाविक है। नैतिक इतिकर्तव्य को तो अपने भीतर की सत्यात्मा की आवाज मानना चाहिए जो अपूर्ण-विकसित अहम् पर अपना निर्णय दिया करती है। इस दृष्टि से सीधी-सीधी इस भावना को अन्तर्भावना माना जा सकता है कि 'हम केवल हमीं नहीं हैं'; और कर्तव्य की आवाज वह है जो कहती है 'स्वयं अपने प्रति सच्चे बनो।' दूसरे शब्दों में, यह एक ऐसे आदर्श लक्ष्य की स्वीकृति है जिसका वस्तुनिष्ठ स्वतः मूल्य है और इसलिए, जो अन्ततः हमारे लिए शुभ है।

किन्तु इस प्रकार के वस्तव्य तब तक सारहीन और अर्थहीन मालूम होंगे ही, जब तक जीवन के कठोर यथार्थ के साथ उनका कोई सम्बन्ध न स्थापित किया जा सके। इसलिए हमारा काम अब यह है कि जो सामान्य सिद्धान्त अभी निर्धारित किया गया है उसके अनुसार यथार्थ नैतिक जीवन की व्याख्या करने का उपाय सोचें। पर इस प्रकार की पुस्तक में यह विवेचन केवल मोटे तौर पर और सरसरी निगाह से ही किया जा सकता है। फिर भी केवल इतना ही संकेत, कि किस प्रकार यह विवेचन अधिक व्यापक रूप से किया जा सकता है, सहायक और सुझाव देनेवाला सिद्ध होगा। पर इस संकेत को स्पष्ट करने से पहले यह विचार करना आवश्यक है कि नैतिक सिद्धान्त किस अर्थ में व्यावहारिक जीवन के ऊपर ठीक-ठीक लागू किए जा सकते हैं।

1. व्यक्तिनिष्ठ औचित्य और वस्तुनिष्ठ औचित्य के विवेचन के लिए देखिए, सिजविक की पुस्तक *Methods of Ethics*, तीसरा खण्ड, पहला अध्याय, अनु० 3, ग्रीन, स्पेन्सर और मार्टिन्स का नीतिशास्त्र, चौथा भाष्य; बी० रसेल की पुस्तक *Philosophical Essays*, पृ० 16-30; जी० ई० मूर की *Ethics*, पाँचवाँ अध्याय; और *International Journal of Ethics* के खण्ड 24, पृ० 293 पर द्रुपा सी० डी० ब्राड (C. D. Broad) का लेख।

मानक-सम्बन्धी सिद्धान्तों का सारांश

1. मौलिक अन्तर

नीतिशास्त्र के विद्यार्थी यह देखकर कुछ निरुत्साहित हो सकते हैं कि नीति-शास्त्र के मूलभूत आधार के विषय में ही इतने विरोधी दृष्टिकोण रहे हैं और आज भी हैं। नैतिक मानक के स्वरूप और स्रोत के सम्बन्ध में विभिन्न मतों का होना इस दृष्टि से निश्चय ही खेदजनक है कि इन विभिन्न विषम मतों के कारण नीति-शास्त्र का आप्तत्व शिथिल हो जाता है। यदि विगुल से ही सन्दिग्ध स्वर निकलें तो सैनिक युद्ध के लिए सन्नद्ध कैसे होंगे? फिर भी नीतिशास्त्र के अध्ययन का सार-तत्त्व यही है कि उससे हमारे सामने नैतिक-निर्णय के स्पष्ट और सुनिश्चित सिद्धान्त प्रकट हों। इसलिए अध्ययन की इस स्थिति में यह सिद्ध करना उचित ही होगा कि नैतिक मानक के सम्बन्ध में जो विभिन्न मत व्यक्त किये गए हैं वे यथार्थ में एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं; या, कम-से-कम, यह कि उनमें परस्पर जो भी विरोध है वे अपरिहार्य नहीं हैं, जैसा कि शुरू में जान पड़ता है।

सबसे अच्छा यह होगा कि पिछले अध्याय में जिस दृष्टिकोण को हम आधार-भूत सिद्धान्त मान चुके हैं उसी से अपना विवेचन प्रारम्भ करें और जरा निश्चित रूप से यह स्पष्ट करने का प्रयत्न करें कि जिन मतों के साथ उसका विरोध दिखाई देता है उनके साथ उसकी संगति कहाँ तक बैठती है। मामूली विभेदों को छोड़ दें तो ऐसा लगेगा कि प्रधान मौलिक धारणाएँ निम्नलिखित हैं—

- (१) निरपेक्ष-नियम-सम्बन्धी सामान्य धारणा, जिसकी सर्वोत्तम अभिव्यक्ति कांट की निरपेक्ष आदेश सम्बन्धी अवधारणा में हुई है;
- (२) प्रसन्नता को परम उद्देश्य मानने वाला मत;
- (३) पूर्णता अथवा आत्मसिद्धि की धारणा; और
- (४) परम शुभ या वस्तुनिष्ठ मूल्य की धारणा।

2. निरपेक्ष नियम-सम्बन्धी धारणा

हम यह देख चुके हैं कि एक सर्वोच्च नैतिक नियम को सबसे अधिक सुनिश्चित रूप में कांट ने निरपेक्ष आदेश सम्बन्धी अपनी धारणा में व्यक्त किया है। उसमें हमें यह नहीं बताया गया कि कौनसा कार्य-विशेष हमें करना है, बल्कि एक सामान्य नैतिक अभिवृत्ति को ही उसमें स्पष्ट किया गया है। हम जो काम कर रहे हैं वह उचित है या नहीं?—इस प्रश्न का कम-से-कम एक आंशिक उत्तर तब मिल सकता है जब हम यह कह सकें कि जो काम हम कर रहे हैं उसे हम सर्वव्यापी बना सकते हैं, अर्थात् हम जिन परिस्थितियों में हैं उन्हीं या वैसी ही परिस्थितियों में किसी भी अन्य व्यक्ति के लिए हम उस काम को उचित मान सकते हैं। बेशक इस मामले में किसी स्वीकृत कर्तव्य-संहिता का सहारा लिया जा सकता है, जैसे अपने देश के

कानूनों का; पर ऐसी संहिताएँ अपूर्ण होती हैं और उनमें संशोधन हो सकते हैं। यह बात भी याद रखनी चाहिए कि हमारी अपनी परिस्थिति भी किसी अर्थ में सबसे अलग, अद्वितीय हो सकती है। यह कल्पना कर लेना ज़रा कठिन है कि किसी अन्य व्यक्ति को भी ठीक उसी समस्या का सामना करना पड़ सकता है जो हमारे सामने है। इसलिए, यद्यपि इस धारणा में एक सामान्य सिद्धान्त हमें मिल जाता है, फिर भी कोई निश्चित व्यौरेवार पथ-प्रदर्शन नहीं मिलता।

जैसा कि हम देख चुके हैं, खुद काण्ट ने यह पथ-प्रदर्शन इस उक्ति द्वारा करना चाहा है कि हमारा लक्ष्य अपनी पूर्णता और दूसरों की प्रसन्नता होना चाहिए। पर इसमें सन्देह है कि इस प्रकार का कोई स्पष्ट विभेद किया भी जा सकता है या नहीं। उचित तो यह मालूम होता है कि दूसरों की प्रसन्नता के साथ-साथ उनकी पूर्णता की सिद्धि का भी प्रयत्न किया जाए। और यह उचित ही मालूम होता है कि दूसरों के कल्याण के साथ-साथ हमें अपने कल्याण की भी कुछ चिन्ता करनी चाहिए। इस प्रकार दो सामान्य लक्ष्य हमारे सामने स्पष्ट होते हैं—कल्याण और पूर्णता।

3. कल्याण को साध्य माननेवाला विचार

कल्याण की धारणा एक जटिल धारणा है। यह तय करना बहुत ही कठिन है कि हमारा अपना या औरों का वास्तविक कल्याण क्या और किसमें है। ऐसा लगता है कि अधिकांश लोगों को तो कल्याण प्रधान रूप से इस बात में दिखाई देता है कि उनका स्वास्थ्य सन्तोषजनक रहे, बाहरी बाधाओं से वे सुरक्षित रहें, जिसके योग्य हों वह रोजी उन्हें मिल जाए, ऐसे मित्र हों जिनके साथ वे सहयोग कर सकें तथा इसी प्रकार की अन्य सुविधाजनक परिस्थितियाँ हों। स्वयं अपने लिए और दूसरों के लिए इन सबको पा लेने का प्रयत्न करना उचित ही है। पर साधारणतः यह स्पष्ट है कि कुछ सीमित हदों तक ही इन साध्यों को प्राप्त किया जा सकता है, और इस सम्बन्ध में कोई ऐसे सामान्य नियम निर्धारित कर सकना असम्भव-सा है कि इन साध्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न किस हद तक किया जाना चाहिए। इनकी सिद्धि का प्रयत्न सहयोग के साथ ही किया जा सकता है; और सहयोग का अर्थ है सामाजिक संस्थाओं का अस्तित्व—उनका सहयोग। इसलिए इस क्षेत्र में हमारे कर्तव्यों को किसी एक सरल सूत्र में नहीं निरूपित किया जा सकता।

4. पूर्णता को साध्य माननेवाला विचार

यदि शुभ इच्छा एक आवश्यक अभिवृत्ति है जिसे अपनाना चाहिए, तो यह स्पष्ट है कि यह अभिवृत्ति अपने भीतर और दूसरों के भीतर भी उत्पन्न की जानी चाहिए। यह अभिवृत्ति अपने-आप नहीं उत्पन्न होती, इसके लिए शिक्षा ज़रूरी है। खुद अपने भीतर और दूसरों के भीतर जो कुछ सर्वोत्तम है, उसकी पूर्ण प्राप्ति को ही अपना लक्ष्य बनाना होता है। स्पष्ट है कि यह एक बड़ा ही जटिल साध्य है। पर यह भी स्पष्ट है कि निरपेक्ष आदेश के लिए इसकी तथा कल्याण की बाह्य परिस्थितियों के विकास की आवश्यकता है।

5. शुभ की सामान्य धारणा

इस प्रकार हमने देखा कि नैतिक उद्देश्य काफ़ी जटिल उद्देश्य है; और सबसे अच्छा रास्ता यही मालूम होता है कि मूल्य या शुभ की सामान्य धारणा के रूप में

उसका निष्कर्ष निकाल लिया जाए। पर फिर भी यह सोचा जा सकता है कि यह धारणा भी इतनी व्यापक और अस्पष्ट है कि नैतिक जीवन में इससे किसी प्रकार का पथ-प्रदर्शन नहीं हो सकता। अनेक चीजें हैं जो किसी-न-किसी अंश में शुभ हैं और उनकी अच्छाई की मात्रा तय कर पाना इतना कठिन है कि उनके सम्बन्ध में व्यक्ति का कर्तव्य आसानी से स्पष्ट नहीं हो पाता। किसी भी व्यक्ति-विशेष के कर्तव्य के सम्बन्ध में कम-से-कम यह शर्त लगानी पड़ती है कि अच्छाईयों के महत्त्व के क्रम का यथासम्भव ध्यान रखते हुए उसे उन अच्छाईयों को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए जिन्हें, अपनी शक्तियों और परिस्थितियों के अनुसार, वह प्राप्त कर सके।

पर इस प्रकार का उपदेश इतना जटिल है कि किसी भी व्यक्ति को इससे कोई वास्तविक मार्गदर्शन नहीं मिल सकता। इसलिए इसकी व्याख्या करते हुए कहना पड़ता है कि प्रत्येक व्यक्ति एक समय और स्थान-विशेष में जन्म लेता है, उसकी कुछ विशिष्ट शक्तियाँ और परिस्थितियाँ उसके साथ होती हैं, और इन्हीं सबके सन्दर्भ में उस शुभ का निश्चय होता है जिसकी अभिवृद्धि वह कर सकता है। इसी तथ्य पर विशेष रूप से जोर देते हुए ब्रैडले ने कहा था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने विशिष्ट स्थान का और उस स्थान के कर्तव्यों का ध्यान रखना पड़ता है।

एक और कठिनाई, जो कभी-कभी इस दृष्टिकोण के विरोध में पेश की जाती है, यह है कि हमारी शक्ति के भीतर जो सर्वोच्च शुभ हो उसी को हमें अपना लक्ष्य बनाना चाहिए। यह कहा जा सकता है कि कभी-कभी हम ऐसी चीजें करने के लिए भी विवश हो जाते हैं जो हमें शुभ नहीं जान पड़तीं। उदाहरण के लिए यदि हमने विवाह या किसी प्रकार की सार्वजनिक सेवा का कोई करार किया तो उस करार की शर्तें पूरी करना हमारा नैतिक कर्तव्य हो जाता है, भले ही उस शुभ के प्रति हमारे मन में सन्देह उत्पन्न हो चुका हो जिसके लिए हमने करार किया था।¹

विवाह का उदाहरण शायद सबसे अच्छा है। प्रायः विवाह-सम्बन्ध ऐसे जीवन की उपलब्धि के लिए किया जाता है जिसे शुभ समझा जाता है। यह आशा की जाती है कि विवाह से पति-पत्नी दोनों ही के कल्याण और पूर्णता का विकास होगा; कि इस सम्बन्ध से सन्तान उत्पन्न होगी जो देश की, और शायद संसार की, सेवा करेगी; और यह कि अन्य अनेक रूपों में इससे शुभ की अभिवृद्धि होगी। पर हो सकता है कि इन सोची गई अच्छाईयों में से एक की भी सिद्धि न हो। तब उस स्थिति में विवाह-सम्बन्ध की शर्तों को पूरा करने का दायित्व दोनों पक्षों पर क्यों रहे? सामान्यतः यह माना जाता है कि पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए मामलों में सम्बन्ध-विच्छेद हो सकता है; पर कम-से-कम यह तो उचित माना ही जाता है कि अपवाद-स्वरूप परिस्थितियों में ही, और अनेक शर्तों के साथ, विच्छेद वैध माना जाए। यह समझना कठिन नहीं है कि ऐसा क्यों है। यद्यपि किसी विशिष्ट मामले में यह सच हो सकता है कि विवाह-सम्बन्ध की शर्तों के कठोर पालन के बजाय सम्बन्ध-विच्छेद से महत्तर शुभ की उपलब्धि हो सकती है, फिर भी सामान्य रूप में यह एक बहुत बुरी बात होगी कि इस प्रकार के सम्बन्ध या करार शोकिया स्थापित किए जाएँ और आसानी से तोड़ दिए जाएँ। करार की शर्तों के कठोर पालन से सिद्ध होनेवाला शुभ इतना महान् है कि, पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए एकाध मामलों को छोड़कर, यही उचित है कि उनकी शर्तों का पालन सच्चाई के साथ किया ही जाए।

1. अरस्तू-समाज (Aristotelian Society) के प्रकाशन (Mind, Matter and Purpose) पृ० 62-90 में इस विषय का रोचक विवेचन किया गया है।

और यह बात, कुछ अंशों में, अन्य अधिकांश आबन्धों या बायदों पर लागू होती है। अपने किये हुए बायदों को पूरा करना ही उचित है; क्योंकि किसी विशेष मामले में भले ही बायदा पूरा करने से उस शुभ की सिद्धि न हो जिसके लिए बायदा किया गया था पर, सार्वजनिक दृष्टि से, बायदों की पूर्ति का भरोसा उठ जाना और भी अधिक बुरी बात होगी। बायदा करने से ही इन्कार कर देना भी उस बुराई को दूर नहीं कर सकेगा, क्योंकि अपने भावी कार्यों के प्रति अनिश्चय की भावना तो, पूरे समाज की दृष्टि से, और भी बड़ी बुराई होगी। विश्वसनीयता सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सामाजिक अच्छाइयों में से एक है।

इस विवेचन से हमें यह समझने में मदद मिलती है कि मूल्य को नैतिक आबन्ध (Moral obligation) का परम आधार मानकर विचार करने पर भी हमें निरपेक्ष आदेश की तथा उन गुणों के अर्जन की आवश्यकता है जिनसे व्यक्तिगत पूर्णता प्राप्त होती है। सच तो यह है कि कांट के सिद्धान्त के तात्त्विक विचार बहुत स्वस्थ हैं, भले ही उन विचारों में से कुछ के किसी एक पक्ष पर उन्होंने अधिक जोर दे दिया हो। वास्तव में नैतिक जीवन-सम्बन्धी सभी प्रमुख विचारों की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि वे एक-दूसरे से असंगत न हों; और इस बात को स्वीकार करना आवश्यक है। नैतिक समस्याओं पर विचार करनेवाला कोई भी गम्भीर विचारक बिल्कुल गलत नहीं है। यदि एक गुट कांट को अपना पथ-प्रदर्शक माने, दूसरा जे० एस० मिल को, तीसरा टी० एच० ग्रीन को और चौथा जी० ई० मूर को, और प्रत्येक गुट अपने-अपने नेता की व्याख्या सावधानीपूर्वक करे तो इसमें सन्देह है कि शुद्ध नैतिक समस्याओं पर उनमें आपस में कभी कोई तात्त्विक मतभेद हो।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि जिन लेखकों का मैंने उल्लेख किया है उन सबका दृष्टिकोण सर्वदेशीय था। जो लोग किसी एक राष्ट्र या और भी छोटे किसी गुट के प्रति अपने कर्तव्यों को ही सर्वोपरि मानते हैं—जैसा कि प्लेटो और अरस्तू के सम्बन्ध में कहा जा सकता है—उनके विचारों की संगति उन नैतिक धारणाओं के साथ मिलाना अधिक कठिन होगा जो अधिकांश प्रमुख आधुनिक नैतिक दार्शनिकों ने व्यक्त की हैं। पर, दूसरी ओर, प्लेटो और अरस्तू ने शुभ या श्रेयस् की मौलिक अवधारणा पर प्रायः प्रत्येक आधुनिक लेखक की अपेक्षा अधिक सुसंगत रूप से जोर दिया है। हाँ, यह शायद सच है कि जो चीजें शुभ हैं उनका पर्याप्त व्यापक बोध उन्हें नहीं था।

आशा है कि इस विवेचन से अब विद्यार्थियों को कभी-कभी हो जानेवाला यह भ्रम दूर हो जाएगा कि नीतिशास्त्र एक ऐसा विषय है जिस पर वास्तव में कोई मतैक्य है ही नहीं। यह इतना महत्त्वपूर्ण विषय है कि इसमें जो भी मतभेद हानिकारक सिद्ध होने वाला हो उसकी ओर अधिक ध्यान आकर्षित करना लेखकों के लिए कुछ स्वाभाविक-सा है; और ऐसा करने में कभी-कभी वे मुख्य प्रश्न पीछे पड़ जाते हैं जिनके सम्बन्ध में नीतिशास्त्र पर व्यवस्थित विचार करने वाले सभी प्रधान लेखकों में तात्त्विक मतैक्य है।

ऊपर जो कहा गया उसका बेशक यह अर्थ नहीं है कि विभिन्न नैतिक सिद्धान्तों के बीच जो महत्त्वपूर्ण अन्तर हैं उनको, या व्यावहारिक आचरण पर इन सिद्धान्तों के प्रभाव के सम्बन्ध में विभिन्न मतों के अन्तर को, एकदम अस्वीकार कर दिया जाए। पर इन अन्तरों की अत्युक्ति भी बहुत आसान है। कम-से-कम इतना याद रखना अच्छा होगा कि शुद्ध सैद्धान्तिक मतभेदों का यह अर्थ नहीं है कि व्यावहारिक आचरण में जो उचित या अनुचित है उसके सम्बन्ध में भी कोई बहुत बड़ा

मतभेद है। सिद्धान्त हवा में नहीं बनाए जाते, उनका आधार ठोस जीवन होता है। एकाध गैर-जिम्मेदार लेखकों (जैसे नीत्शे) को छोड़कर जो भी विचारक यह देखता है कि उसके अपने निष्कर्षों से उन विचारों में बहुत अधिक हेर-फेर हो रहा है जो इतिहास की लम्बी अवधि में अधिकांश अन्तर्भावनाशील विचारकों ने प्रतिपादित किए हैं, वह निश्चय ही अपने विचारों को संशोधित करता है। दूसरी ओर यह भी मानना पड़ता है कि संसार के सर्वाधिक सावधान और अन्तर्भावनाशील व्यक्तियों ने अपने आचरण में विशिष्ट दार्शनिक लेखकों के सिद्धान्तों से इतना अधिक मार्ग-दर्शन प्राप्त किया है जितना साधारणतः लोग महसूस नहीं करते। इन दार्शनिक लेखकों के सिद्धान्त परोक्ष रूप में उपदेशकों और जनप्रिय व्याख्याताओं के माध्यम से जनता तक पहुँचते हैं।

सम्भवतः अरस्तू का प्रभाव इस प्रकार सबसे अधिक व्यापक रहा है, और जीवन के सामान्य आचरण में सर्वाधिक अन्तर्भावनाशील व्यक्तियों के कार्यों और विचारों के प्रति अरस्तू विप्रेष रूप से सजग रहनेवाले व्यक्ति थे। आधुनिक समय में सम्भवतः कांट और वेथम का उल्लेख ऐसे लेखकों के रूप में विशेषकर किया जा सकता है जिनका व्यावहारिक प्रभाव, प्रत्यक्ष वा परोक्ष रूप में, सामान्यतः पूरे संसार पर बहुत व्यापक रहा है। इस प्रकार कुल मिलाकर, सिद्धान्त और व्यवहार का विकास साथ-साथ होता चला है, और किसी भी पक्ष में यदि कोई गम्भीर भूल होती है तो शीघ्र ही उसका सुधार हो जाता है। इसलिए विभिन्न मतों में जो बाहरी मत-भेद दिखाई देते हैं—और जो तेजी के साथ महत्त्वहीन होते जान पड़ते हैं—उनके कारण निरस्तसाहित होने की कोई आवश्यकता नहीं है।

6. नीतिशास्त्र और सामाजिक दर्शन

पिछले कुछ वर्षों में अधिकाधिक निश्चित रूप से यह अनुभव किया गया है कि मानव-समाज की सामान्य संरचना को ध्यान में रखे बिना नैतिक जीवन का उप-युक्त अध्ययन नहीं किया जा सकता। सम्भव है कि निकट भविष्य में नीतिशास्त्र एक स्वतन्त्र विषय रह ही न जाए और स्पष्ट रूप से उसे सामाजिक दर्शन का एक अंग मान लिया जाए। वास्तव में यूनान में नीतिशास्त्र का अध्ययन इसी रूप में प्रारम्भ हुआ था। नीतिशास्त्र पर लिखा गया पहला महान् ग्रन्थ था प्लेटो का 'रिपब्लिक'; और आज भी अनेक अर्थों में वह सर्वाधिक प्रेरणादायक और ज्ञानवर्धक है। प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने ही इस विषय को दो पृथक् भागों—नीतिशास्त्र और राजनीति—में बांट दिया; और निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि यह विभाजन सभी दृष्टियों से लाभप्रद रहा। मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धों पर स्पष्ट रूप से ध्यान दिए बिना मानव-जाति के नैतिक जीवन का अध्ययन कुछ व्यर्थ ही-सा है। मानव-जाति के नैतिक जीवन के अध्ययन तथा सामाजिक जीवन के सामान्य अध्ययन के बीच विभेद की कृत्रिम दीवार को तोड़ने में आधुनिक युग में हेगेल और कांट ने विभिन्न तरीकों से मदद की है। पर यह वास्तव में कभी भी सम्भव नहीं हो सका कि कोई अपना ध्यान शुद्ध नैतिक पक्ष तक ही सीमित रख सके।

मानव-जाति के सामाजिक जीवन की ओर ध्यान देते ही हमें तुरन्त यह मालूम होता है कि उसके कई पक्ष हैं जो अलग किए जा सकते हैं। एक सामान्य तथ्य, जिस पर सभी-कुछ निर्भर करता है, यह है कि प्रत्येक मनुष्य किसी-न-किसी सहयोगी गुट का सदस्य है, जिसके ऊपर उसके अपने हित और आबन्ध निर्भर रहते हैं। अपने व्यवहार में अपेक्षाकृत रूप से व्यक्तिवादी होते हुए भी अरस्तू ने इस अतर्क्य सत्य पर जोर

दिया है कि पूर्ण रूप से एकाकी व्यक्ति या तो कोई पशु होगा या कोई देवता। पर मनुष्य के सामाजिक सम्बन्ध भी परिवर्तनशील हैं। कोई मनुष्य राबिन्सन क्रूसो जैसा भी हो सकता है, जिसका अपने संगी-साथियों से, स्मृतियों और परम्पराओं के अलावा, कोई सीधा सम्पर्क ही न रह गया हो; एक सभ्य समाज में भी वह लगभग एक अकेला एकाकी व्यक्ति हो सकता है। पर एक तपस्वी भी साधारणतः यह अनुभव करता है कि अपने साथियों के प्रति उसके कुछ कर्तव्य हैं, भले ही वह यह सोचे कि उन कर्तव्यों की सर्वोत्तम पूर्ति वह एकाकी चिन्तन द्वारा कर सकता है। पर किसी भी प्रकार की सामाजिक एकता के प्रति अपने सम्बन्धों का ज्ञान अविकांशतः लोगों को कुछ और अधिक स्पष्ट सम्पर्कों द्वारा ही हो पाता है।

नीतिशास्त्र पर लिखनेवाले आधुनिक अंग्रेजी लेखकों में से एफ० एच० ब्रैडले ही थे (जो प्रधानतः हेगेल के अनुयायी थे) जिन्होंने अपनी पुस्तक Ethical Studies में (जो सन् १८७६ में पहले-पहल प्रकाशित हुई थी, इस बात पर जोर दिया था कि व्यक्ति का नैतिक जीवन इस बात पर निर्भर करता है कि किसी सामाजिक गुट में उसका अपना कोई विशेष 'स्थान' हो और उस स्थान के विशिष्ट 'कर्तव्यों' की पूर्ति में ही उसे अपने जीवन की सार्थकता दिखाई दे। ऐसा करने में उसे निरन्तर अपने संगी-साथियों के 'ईथॉस' अर्थात् उन आबन्धों द्वारा पथ-प्रदर्शन मिलता है जो उस गुट के प्रत्येक व्यक्ति पर लागू माने जाते हैं। गुट छोटा भी हो सकता है और बड़ा भी। व्यक्ति के आबन्ध एक परिवार की देख-भाल तक ही सीमित हो सकते हैं; या फिर किसी छोटे कबीले या गाँव के समाज तक सीमित हो सकते हैं। पर आधुनिक यूरोप में, और काफ़ी हद तक संसार के अन्य भागों में भी, राष्ट्र ही वह घटक या इकाई है जिसके द्वारा उसके नागरिकों के हितों और आबन्धों का कमोबेश प्रत्यक्ष रूप से संचालन होता है। शायद यह कहना सच होगा कि अब धीरे-धीरे यह स्थिति समाप्त होती जा रही है और अधिकाधिक स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया जा रहा है कि हमारे चरम आबन्ध या परम कर्तव्य (Ultimate obligations) सम्पूर्ण मानव-जाति के प्रति हैं।

जब हम एक बड़े और जटिल समाज के जीवन पर—या अपेक्षाकृत एक छोटे समाज के ही जीवन पर—विचार करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इस जीवन के तीन पहलू हैं जो एक-दूसरे से पृथक् समझे जा सकते हैं। एक आर्थिक पहलू है। भौतिक साधनों से जीवन कायम रखना होता है। हमें भोजन, पान और आवास चाहिए; अधिकांश देशों में अच्छी-खासी पोशाक जरूरी समझी जाती है; उष्ण कटि-बन्धीय देशों को छोड़कर शेष समाजों में सन्तोषजनक ढंग से जीवन-यापन के लिए गर्मी प्राप्त करने के, और एक स्थान से दूसरे स्थान तक जल्दी पहुँच सकने के, साधन भी आवश्यक समझे जाते हैं। इस प्रकार जीवन का एक पक्ष वह है जिसे 'आर्थिक पक्ष' कहना सबसे अधिक उपयुक्त है। इस आर्थिक पक्ष का नियन्त्रण किसी मान्य सत्ताधिकारी द्वारा होना चाहिए, और इस प्रकार जीवन का एक राजनैतिक पक्ष सामने आता है। पर इस सबसे ऊपर और इस सबसे परे बौद्धिक, सौन्दर्यपरक, नैतिक और धार्मिक विकास की आवश्यकताएँ हैं।

इस प्रकार साधारणतः यह स्वीकार किया जा चुका है कि मानव-जीवन के तीन स्पष्टतः पृथक् पहलू हैं—आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक या आध्यात्मिक। जिन विभिन्न पद्धतियों से जीवन के ये विभिन्न पक्ष स्पष्ट होते हैं, उन पर विचार करना सामाजिक दर्शन का काम है। जिस प्रकार इन पक्षों का विकास हुआ है उसका ऐतिहासिक विवेचन समाजशास्त्र का विषय है, और राजनैतिक, औद्योगिक तथा सांस्कृतिक इतिहास को इस शास्त्र की विशिष्ट शाखाएँ माना जा सकता है। विशिष्ट

व्यक्तियों और गुटों पर इस प्रकार जो आबन्ध या दायित्व लागू होते हैं उनकी दृष्टि से इस विषय का अध्ययन नीतिशास्त्र का अपना विशिष्ट क्षेत्र है।

पर इस सारे विवेचन का यह अर्थ लगाना भूल होगी कि व्यक्ति उस सामाजिक व्यवस्था को, जिसमें उसका जीवन व्यतीत हो रहा हो, निष्क्रिय रूप से स्वीकार कर लेनेवाला मात्र है। सामाजिक व्यवस्था सहयोग-मूलक होती है और उसमें रहनेवाले व्यक्ति अनेक प्रकार की भूमिकाएँ अदा करते हैं। समाज का अस्तित्व ही इसलिए है कि मूल्यों की उपलब्धि हो; और यह आवश्यक है कि जिन व्यक्तियों द्वारा गुटों का निर्माण होता है वे इन मूल्यों को स्पष्ट रूप से समझें, पहचानें। गुटों का अस्तित्व प्रधान रूप से जीवन कायम रखने के लिए है; पर, जैसा अरस्तू ने कहा था, गुटों का चरम साध्य (Ultimate end) जीवन कायम रखना नहीं है बल्कि सर्वोत्तम जीवन की उपलब्धि है। इसका अर्थ, जैसा हम पहले देख चुके हैं, यह दृष्टि कि गुटों का अस्तित्व शुभ की सिद्धि के लिए है, अर्थात् उसकी सिद्धि के लिए जो स्वतः मूल्यवान है या जो स्वतः मूल्यवान चीजों को उत्पन्न करनेवाला या उनकी रक्षा करनेवाला है। और इसलिए, इसका विचार करने से पहले कि कोई गुट-विशेष इन मूल्यों की उपलब्धि में कितना सहायक है, यह उचित है कि मूल्यों के अर्थ का ही विवेचन कर लिया जाए।

हम जिस सामाजिक व्यवस्था में रहते हैं उसे निष्क्रिय रूप से केवल स्वीकार-भर नहीं कर लेते। उसकी आलोचना करने का भी अधिकार हमें है। यह व्यवस्था एक क्रमिक विकास है; और यह विकास अनजाने अचेतन रूप से नहीं होता, जैसे किसी पेड़ का विकास होता है। यह विकास आलोचना द्वारा, और कुछ हद तक संघर्ष द्वारा होता है; और इसके लिए निरन्तर सतर्कता की आवश्यकता होती है। इस विषय पर हम आगे चलकर और जोर देंगे। मुझे लगता है कि इस तथ्य को वे लोग दृष्टि से कुछ ओझल कर देते हैं जो, ब्रँडले की तरह, लोगों के 'ईयाँस' या आबन्ध पर अत्यधिक एकांगी जोर देते हैं। उस आबन्ध की आलोचना करने का भी अधिकार हमें है। आलोचना ही के द्वारा उसका विकास और अधिक अच्छे रूप में होता है। इस तथ्य की चर्चा कुछ और निश्चित रूप में हम आगे चलकर करेंगे।

यहाँ, मेरे विचार से, इतना कहा जा सकता है कि यद्यपि नैतिक मानक के सम्बन्ध में इतना विवाद रहा है, फिर भी बड़ी सरलता से हम यह कह सकते हैं कि मैत्री-भाव तथा प्रत्येक वास्तविक मूल्यवान चीज की अभिवृद्धि में सहायता देने की तत्परता ही शुभत्व का सार है। पर यह कहना तो आसान है, करना उतना आसान नहीं है। अनेक व्यक्ति और अनेक वस्तुएँ हैं जो मूल्यवान हैं। हममें से अधिकांश तो केवल थोड़ा-सा योगदान-भर कर सकते हैं।

अध्याय 8

नैतिक मानक का आप्तत्व

1. आप्तत्व-सम्बन्धी सामान्य समस्या

नैतिक मानक के स्वरूप पर विचार करते समय प्रसंगवश उसके आप्तत्व के स्वरूप की भी चर्चा हमने की है। अब इस विषय पर कुछ और प्रकाश डालना आवश्यक जान पड़ता है। चूंकि नैतिक मानक के प्रति मनुष्य की पूर्ण निष्ठा की माँग की जाती है, इसलिए यह स्पष्ट है कि उसके आप्तत्व को भी निरपेक्ष और अतर्क्य मानना चाहिए। फलतः नैतिक मानक-सम्बन्धी कुछ मतों की आलोचना को हम इस आधार पर पहले ही उचित मान चुके हैं कि उन मतों में निहित सिद्धान्तों के पालन के लिए कोई प्रेरक कारण उनमें नहीं स्पष्ट किये गए।

उदाहरण के लिए यह कमी उस मत में पाई जाती है जो ईश्वरीय नियम को नैतिक आबन्ध (Moral obligation) का आधार बताता है; क्योंकि किसी परम-सत्ता की शक्ति को स्वेच्छापूर्वक आज्ञापालन का समुचित आधार नहीं माना जा सकता। केवल विकास-क्रम को माननेवाले मत में भी यही कमी एक दूसरे रूप में पाई जाती है; क्योंकि नैतिक जीवन का सार ही यही है कि आवश्यकता होने पर वह स्वाभाविक प्रवृत्तियों का विरोध करता है। तो इस प्रकार की आपत्तियाँ हमें विवश करती हैं कि नैतिक सिद्धान्तों के आप्तत्व के स्वरूप का कुछ और अधिक निश्चयात्मक शब्दों में विवेचन करें।

2. आप्तत्व के विभिन्न भेद

इस पर विचार करते समय उस विभेद की चर्चा फिर से कर लेना सुविधाजनक होगा जो हमने पहले ही 'अस्ति', 'अवश्य' और 'इतिकर्तव्य' के बीच किया है।

इनमें से प्रत्येक में एक प्रकार का आप्तत्व है। 'अस्ति' में प्रायः बाध्य करने-वाली शक्ति होती है। 'तथ्य' हठीले होते हैं। 'कार्लाइल (Carlyle) विशेष रूप से इस बात पर जोर देते थे कि वास्तविकताओं का विरोध करना अर्थहीन है। निरन्तर सार के बल चलते रहने का प्रशिक्षण लेने का प्रयत्न मनुष्यों के लिए व्यर्थ है; और अन्य अनेक कार्य, जो ऊपर से इतने निरर्थक नहीं जान पड़ते वे भी, इसी प्रकार असम्भव हो सकते हैं। यदि कोई व्यक्ति निरन्तर स्वास्थ्य की सामान्य शर्तों के विरुद्ध आचरण करता है तो उसका यह पाप उसके सर चढ़कर बोलेगा। ऐसे पाप को वास्तविक परिस्थितियों को अस्वीकार करने की चूक कह सकते हैं। पर ऐसे उदाहरणों में भी साधारण 'अस्ति' के बजाय 'अवश्य' को ही बाध्य करनेवाली शक्ति मानना अधिक उपयुक्त होगा। कार्य करने या न करने में हम किसी स्वाभाविक प्रवृत्ति का ऐसा पालन-मात्र नहीं करते, जैसे कि पत्थर धरती पर गिरता है या जैसे कोई पशु अपनी सहजवृत्ति का अनुगमन करता है। बल्कि, इसके विपरीत, जब हम कोई कार्य करते हैं या नहीं करते, तो यह करना या न करना उन अनचाहे परिणामों के सम्बन्ध में अपनी दूरन्देशी के कारण

होता है जो अन्यथा उत्पन्न हो सकते हैं। हम यह स्वीकार करते हैं कि कोई भी कार्य या तो हमें 'अवश्य' करना चाहिए या 'अवश्य' ही न करना चाहिए। अपने-आपको हम किसी के द्वारा केवल प्रेरित ही नहीं महसूस करते।

कुछ परम्परागत आदतों, जैसे फ्रैशन के नियमों, स्थानीय रिवाजों, व्यावहारिक शिष्टाचार आदि, में हमें मानवीय कार्य-कलापों में साधारण 'अस्ति' की सक्रियता का अच्छा उदाहरण मिल सकता है। ऐसे मामलों में 'सही बात' वही है जो संगठित बहुमत करता-कहता है। कुछ लोग रिवाजों का पालन वैसे ही करते हैं जैसे भेड़ आगे-वाली भेड़ के पीछे चलती है। वे कोई काम महज इसलिए करते हैं कि वह किया जाता है। पर ऐसे मामलों में भी सम्भवतः हमेशा कार्य के किसी-न-किसी आधार की एक न्यूनाधिक स्पष्ट चेतना रहती है। हो सकता है कोई काम जनमत के भय के कारण या इस विश्वास के कारण किया जाता हो कि सनकीपन बांछनीय नहीं है। पहली स्थिति में 'अवश्य' और दूसरी स्थिति में 'इतिकर्तव्य' निहित है।

तो इस प्रकार के मामलों पर सावधानीपूर्वक विचार करने से निष्कर्ष यह मालूम होता है कि उन सभी कार्यों में, जो स्पष्टतः मानवीय हैं (पाशव आवेगों अथवा सहजप्रवृत्ति से जो विपरीत हैं), बाध्य करनेवाली शक्ति इन्हीं दोनों ('अवश्य' और 'इतिकर्तव्य') में से कोई एक होती है।

अब 'अवश्य' और 'इतिकर्तव्य' को मानवीय कार्यों की दो महान् प्रेरक शक्तियाँ मानते हुए यह कुछ सुविधाजनक होगा कि 'आप्तत्व' शब्द का प्रयोग, कम-से-कम उसके नैतिक अर्थों में, हम 'इतिकर्तव्य' तक ही सीमित कर लें। इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग मुख्य रूप से पादरी बटलर (Bishop Butler) द्वारा किया गया है, जिन्होंने नीति-साहित्य में इसे एक स्पष्ट अर्थ देने का काम सबसे अधिक किया है।¹

पर हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि 'आप्तत्व' शब्द का प्रयोग 'अस्ति' और 'अवश्य' के साथ भी उसी प्रकार किया जाता है जैसे 'इतिकर्तव्य' के साथ। कभी-कभी 'आप्तत्व' का अर्थ किसी विषय पर व्यक्त किये गए बहुमतवाले विचारों से भी होता है; यद्यपि ऐसे मामलों में भी यह विश्वास निहित रहता है कि जिन लोगों के विचारों को आप्त माना जा रहा है उनमें कुछ ऐसी विशेषता जरूर है कि उनकी बात सुनी-मानी जाए, कि इस बात के कारण हैं कि क्यों उनके विचारों को सबसे ज्यादा सही मानना या उनके सर्वाधिक सही होने की सम्भावना स्वीकार करना ही इतिकर्तव्य है और यह कि यदि उनके विचारों में कहीं मतभेद हो तो उनको परखा-गिना जाए। फिर कानून और राजनीति में किसी कार्य के 'आप्तत्व' का अर्थ सीधे-सीधे वह शक्ति अथवा वह दण्ड होता है जो उस कार्य के साथ-साथ लगा रहता है। पर कानूनी और राजनैतिक शक्तियों को भी तब तक आप्त नहीं माना जाता जब तक थोड़ा-बहुत यह विश्वास न हो कि कुल मिलाकर वे न्याय और सत्ता-बल दोनों का प्रतिनिधित्व करती हैं। कम-से-कम शुद्ध नैतिक मामलों में हम ऐसे किसी आप्तत्व को स्वीकार नहीं कर सकते जो केवल शक्ति-परक हो। और इस तथ्य को जितना ही ज्यादा पूरी तौर से हम स्वीकार करते हैं, नैतिक मानक के बन्धनकारी प्रभाव का वास्तविक स्वरूप निश्चित किया जाना उतना ही ज्यादा जरूरी हो जाता है।

3. नैतिक आप्तत्व सम्बन्धी विभिन्न मत

नैतिक मानक-सम्बन्धी प्रमुख सिद्धान्तों की चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं

1. Butler के दूसरे उद्देश (Second Sermon) को इस विषय का सर्वोत्तम विवेचन कहा जा सकता है।

और उस प्रसंग में यह भी देख चुके हैं कि प्रत्येक सिद्धान्त में किस प्रकार के आप्तत्व का दावा किया गया है। अब इस विषय पर विभिन्न मतों का विवेचन और अधिक निश्चित ढंग से करना आवश्यक है।

मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि नैतिक मानक का आप्तत्व या तो बाहरी नियम का आप्तत्व है, या आन्तरिक नियम का, अथवा वह साध्य की धारणा में निहित आप्तत्व है। पहले प्रकार का आप्तत्व उन मतों के अनुसार है जो ईश्वरीय नियम की बात करते हैं, प्रकृति-नियम की या किसी राजनैतिक या सामाजिक शक्ति के नियम की बात करते हैं। दूसरे प्रकार का आप्तत्व अन्तर्भावना या तर्कबुद्धि के नियम में दिखाई देता है। तीसरे प्रकार का आप्तत्व उन विभिन्न मतों में दिखाई देता है जो किसी प्रकार की प्रसन्नता या पूर्णता या मूल्य को कार्यों का साध्य निर्धारित करते हैं।

किन्तु आप्तत्व का स्वरूप प्रायः मानक के स्वरूप के अनुरूप नहीं होता। यह कहा जा सकता है कि औचित्य की कसौटी एक प्रकार की होती है और किसी उचित कार्य के लिए बाध्य करनेवाली शक्ति की कसौटी दूसरे प्रकार की होती है। इस प्रकार पैली (Paley) कार्य का साध्य मानते थे प्रसन्नता को, और उसके प्रयत्न का परम आप्तत्व मानते थे ईश्वर की इच्छा को। और उपयोगितावादी सामान्यतः चरम साध्य को उन अनुशास्तियों (sanctions) से भिन्न मानते हैं जो उनकी मिद्धि के प्रयत्न के लिए हमें बाध्य करती हैं। इसी प्रकार के विभेद अन्य कुछ शाखाओं में भी पाए जाते हैं, भले ही वे कुछ कम मात्रा में हों, जैसे शैफ्ट्सबरी (Shaftesbury) समाज के कल्याण को साध्य मानते हैं और 'नैतिक भावना' को आप्तत्व के रूप में स्वीकार करते हैं। इसलिए आप्तत्व-सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्तों की कुछ और सूक्ष्म विवेचना आवश्यक जान पड़ती है।

4. कानून का आप्तत्व

नैतिक सिद्धान्तों का आप्तत्व किसी बाह्य विधान या कानून में माननेवाले मत के विकास-क्रम की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। इस मत का समर्थन नैतिक सिद्धान्त कम और प्रचलित विश्वास बहुत अधिक करता है। इसका प्रारम्भ रीति-रिवाजों के आबन्धों से हुआ और राज्य-कानूनों की स्थिति को पार करता हुआ देवी धर्मदेश के स्तर तक इसका विकास हुआ है। पर आज शायद ऐसा कोई नैतिक सिद्धान्त मान्य नहीं है जो नैतिक आप्तत्व की स्थिति किसी प्रकार के भी बाहरी शक्ति-स्रोत में स्वीकार करे। हाँ, नैतिक आबन्ध का एक कानूनी आधार निर्धारित करने के प्रयत्न कई बार आधुनिक नीति-शास्त्रियों—विशेषकर अंग्रेज नीति-शास्त्रियों—ने किए हैं। यह प्रवृत्ति इधर हाल में उपयोगितावादियों की विशेषता बन गई है जिन्होंने नैतिकता की अनुशास्तियों को बहुत महत्त्व दिया है। ये अनुशास्तियाँ बाहरी शक्तियाँ हैं, चाहे वे अपने प्रारम्भिक रूप में हों—जैसी पैली ने कल्पना की थी, और चाहे अधिक विकसित रूप में हों—जैसी बेन्थम और मिल ने उनकी व्याख्या की थी। इनका आप्तत्व निनैतिक (non-moral) कोटि का है, जिसे हमने 'अवश्य' कहा है। यहाँ इन पर थोड़ा विचार कर लेना उचित होगा।

5. नैतिकता की अनुशास्तियाँ

नीतिशास्त्र में 'अनुशास्ति' शब्द का प्रयोग इस विषय के अत्यधिक विधि-

परक विवेचन के परिणामस्वरूप हुआ है।¹ शब्द 'अनुशास्ति' का अर्थ है 'अनुसमर्थन'² (ratification)। इसीलिए इसका प्रयोग उसके लिए किया जाता है जो किसी राज्य के कानूनों का अनुसमर्थन करता है या उन्हें शक्तिवान् बनाता है, अर्थात् वह दण्ड जो उन कानूनों का उल्लंघन करने पर दिया जाता है। अब इस शब्द का अर्थ-व्यापक बना दिया गया है, विशेषकर उपयोगितावादियों द्वारा। जिससे कर्तव्य-सम्बन्धी नियमों को शक्ति मिलती है उसके लिए भी—अर्थात् अपने आवन्धों को पूरा करने के लिए प्रेरित करने वाले प्रेरक हेतुओं (motives) के लिए भी—अब इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। उपयोगितावादी लेखकों के अनुसार केवल दो ही प्रेरक हेतु हैं—क्लेश का भय और सुख की आशा। क्लेश और सुख के विविध रूप हो सकते हैं। कर्तव्य का उल्लंघन करने पर प्रायः शारीरिक क्लेश होता है। सामाजिक भर्त्सना का क्लेश, और संगी-साधियों की प्रशंसा का सुख होता है। नरक की यातनाओं और स्वर्ग के सुखों ने भी मानव-इतिहास के एक युग में उचित आचरण के प्रेरक हेतुओं का काम किया है।

यदि लेखक का नीतिशास्त्र-सम्बन्धी दृष्टिकोण स्वीकार किया जाए तो इस सबका कोई भी नीतिशास्त्रीय महत्त्व नहीं है। शुभ आचरण का उचित प्रेरक हेतु तो यह है कि मानव-जीवन का चरम साध्य प्राप्त किया जाए³; और यह चरम साध्य क्या है, यह हम देख चुके हैं। हम अन्य प्रकार से भी उचित कार्य करने के लिए प्रेरित हो सकते हैं; पर यह एक ऐसा तथ्य है जो मनोवैज्ञानिक, इतिहासकार या समाजशास्त्री के अध्ययन का विषय हो सकता है। शुद्ध नीतिशास्त्री को इसमें कोई रुचि नहीं। न्यायशास्त्र, शिक्षा-शास्त्र⁴ और व्यावहारिक राजनीति को भी इस तथ्य में रुचि हो सकती है। किन्तु, चूंकि नीतिशास्त्र-सम्बन्धी उपयोगितावादी सिद्धान्त में इन बाह्य प्रेरक हेतुओं को प्रमुख स्थान दिया गया है, इसलिए इस विषय पर कुछ और विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

यदि सर्वसुखवादी सिद्धान्त (Universalistic Hedonism) स्वीकार कर लिया जाए और यदि इसका आधार मनोवैज्ञानिक सुखवाद मान लिया जाए, तो उन प्रेरक हेतुओं पर विचार करना आवश्यक हो जाता है जिनके कारण व्यक्ति सार्वजनिक सुख के लिए प्रयत्न करता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार व्यक्ति की प्राथमिक इच्छा

1. देखिए Sidgwick की पुस्तक 'History of Ethics', पृ० 8-10।
2. उदाहरण के लिए 'व्यावहारिक अनुशास्ति' को ही लें। इसके लातीनी मूल शब्द 'सैन्क्टिओ' (sanctio) का अर्थ है 'आवन्धन किया' या 'वह जिससे किसी को आवद्ध किया जाए।' देखिए Bentham की पुस्तक Principles of Morals and Legislation, अध्याय तीसरा, दूसरे अनु० की टिप्पणी।
3. इस बात का दोहराना अनावश्यक है कि इस प्रेरक हेतु का सचेतन रूप से विद्यमान होना जरूरी नहीं है। देखिए इस पुस्तक का अध्याय 5, अनु० 6। किसी भी शुभ कार्य का प्रेरक-हेतु हमेशा केवल यह होता है कि किसी शुभ-विशेष की सिद्धि हो। पर किसी भी शुभ-कार्य में हमारी रुचि के औचित्य की चरम कसौटी यह है कि वह शुभ कार्य, सार्वजनिक शुभ का एक अंश हो; और इसी कसौटी के अनुसार हमें किसी भी शुभ कार्य में अपनी रुचि को संशोधित करना पड़ता है।
4. शुभ इच्छा करने और शुभ आचरण की आदत डालने में अनुरास्तिर्यो सहायक हो सकती हैं; यद्यपि इस रूप में इनका प्रयोग धीरे-धीरे कम करते हुए अन्ततः समाप्त कर दिया जाना चाहिए। देखिए इस पुस्तक का खण्ड 3, अध्याय 3, अनु० 11। शिवा-सिद्धान्त के सम्बन्ध में यह बात महत्त्वपूर्ण है।

स्वयं अपने लिए परम सुख प्राप्त करने की होती है। सार्वजनिक सुख की सिद्धि के लिए उसे तभी प्रेरित किया जा सकता है जब उसे इस बात का विश्वास दिला दिया जाए कि जिस आचरण से 'अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख' की सिद्धि होती है उसी से स्वयं उसके अपने परम सुख की भी सिद्धि होती है।

अनुशास्तियों के द्वारा ही यह विश्वास दिलाया जा सकता है। वेन्थम के शब्दों में¹, मानवीय कार्यों का अन्तिम कारण सार्वजनिक सुख है, पर सक्षम कारण तो प्रत्येक व्यक्ति के लिए स्वयं अपने सुख या क्लेश की सम्भावना है। 'जिन व्यक्तियों से समाज बनता है उनकी प्रसन्नता, अर्थात् उनका सुख और उनकी सुरक्षा² ही वह साध्य—और एकमात्र साध्य—है जिसका ध्यान कानून बनानेवालों को रखना चाहिए। यही एकमात्र मानक है, जिसके अनुसार अपना आचरण ढालने के लिए विधिकर्ता द्वारा अपनी शक्ति-भर प्रत्येक व्यक्ति को विवश किया जाना चाहिए। पर, करना चाहे यह हो या और कुछ, दूसरा और कोई उपाय नहीं है—क्लेश या सुख के अलावा—जिससे व्यक्ति को कुछ भी करने के लिए विवश किया जाए।' इसलिए वेन्थम क्लेश और सुख के उन अनेक भेदों की तालिका बनाते हैं जिनका उपयोग प्रेरक हेतुओं के रूप में करके व्यक्तियों को ऐसे आचरण अपनाने के लिए प्रेरित किया जा सके जो सार्वजनिक सुख की दृष्टि से वांछनीय हों। और इन्हीं विविध प्रकार के क्लेशों और सुखों को वे अनुशास्तियाँ कहते हैं।

वेन्थम ने अनुशास्तियों के चार वर्ग बताये हैं।³ वे वर्ग हैं—शारीरिक, राज-नैतिक, नैतिक और धार्मिक। यदि सुख या क्लेश स्वभावतः प्राकृतिक रूप से मिले और किसी व्यक्ति की इच्छा से वह हमारे कार्यों से सम्बद्ध न हो, तो ऐसे प्रेरक हेतु को शारीरिक अनुशास्ति कहते हैं। उदाहरणस्वरूप अधिक शराब पीने के बाद होने-वाले क्लेशों को ले सकते हैं। इसके विपरीत यदि प्रभुसत्तासम्पन्न शासक या सरकार की इच्छा से किये गए कार्य से सम्बन्धित क्लेश या सुख हो तो उसे राजनैतिक अनुशास्ति कहते हैं, जैसे साधारणतः न्यायालयों द्वारा दिया जानेवाला दण्ड। यदि क्लेश या सुख किन्हीं ऐसे व्यक्तियों की इच्छा से किये गए कार्य द्वारा मिले जो सत्ताधिकारी न हों, तो उसे नैतिक अनुशास्ति (या लोकानुशास्ति) कहते हैं, जैसे किसी व्यक्ति को वहिष्कृत करना या जाति-बिरादरी से बाहर निकाल देना। और अन्त में यदि क्लेश या सुख किसी अतिप्राकृतिक शक्ति (supernatural power) की इच्छा से होनेवाले कार्य द्वारा मिले तो उसे धार्मिक अनुशास्ति कहते हैं, जैसे स्वर्ग या नर्क अथवा, दैवी इच्छा के प्रतिनिधि रूप में रोमन कैथोलिक चर्च द्वारा दिये जाने वाले दण्ड। स्वयं वेन्थम द्वारा दिये गए उदाहरणों को ही लें⁴—

1. देखिए Principles of Morals and Legislation, अध्याय तीसरा।
2. बेशक वेन्थम का यह मतलब नहीं है कि सुख के साथ-साथ सुरक्षा को एक पृथक् स्वतन्त्र साध्य माना जाए। सुरक्षा का उल्लेख तो उन्होंने सुखों के निश्चित योग-क्षेम और उनकी वृद्धि की अनिवार्य शर्त के रूप में किया है। देखिए उनकी पुस्तक Principles of Civil Code का दूसरा भाग, सातवाँ अध्याय। उपयोगिता के अधीन जितने भी सिद्धान्त हैं उन सबमें वह सुरक्षा के सिद्धान्त को अधिक महत्त्व देते थे।
3. देखिए Principles of Morals and Legislation, अध्याय तीसरा, Principles of Legislation, अध्याय सातवाँ और Sidgwick की History of Ethics, पृ० 240-45।
4. Principles of Morals and Legislation, अध्याय तीसरा, अनु० नववाँ।

“किसी व्यक्ति का सामान या उसका शरीर आग में जल जाता है। यदि किसी दुर्घटना के कारण ऐसा हुआ तो यह एक आपदा थी¹; यदि स्वयं उस व्यक्ति की गलती से ऐसा हुआ हो (उदाहरण के लिए, बत्ती या चिराग न बुझाने के कारण) तो उसे शारीरिक अनुशास्ति कहा जा सकता है; यदि किसी राजनैतिक न्यायाधीश द्वारा दिये गए दण्ड के कारण ऐसा हुआ हो तो वह राजनैतिक अनुशास्ति हुई, जिसे सामान्यतः दण्ड कहा जाता है; यदि उस व्यक्ति के नैतिक चरित्र के प्रति रोष या घृणा के कारण पड़ोसियों द्वारा सहायता न दिए जाने से ऐसा हुआ हो, तो यह नैतिक अनुशास्ति का दण्ड हुआ; और यदि उस व्यक्ति के किसी पाप के कारण ईश्वरीय कोप से, या ऐसे कोप के भय से उत्पन्न मानसिक असन्तुलन से ऐसा हुआ हो, तो यह धार्मिक अनुशास्ति का दण्ड हुआ।

जे० एस० मिल (J. S. Mill) ने सभी अनुशास्तियों को स्वीकार कर लिया था, पर इन सबको वे ‘बाह्य अनुशास्तियाँ’ मानते थे। वे यह भी कहते थे कि इनके अलावा हमें अन्तर्भावना की ‘आन्तरिक’ अनुशास्ति—अर्थात् नैतिक भावना के क्लेश और सुख²—को भी स्वीकार करना चाहिए। अन्य सभी अनुशास्तियाँ अधिकांशतः ‘शारीरिक’ हैं। स्वयं बेन्थम ही कहते हैं³ : “इन चारों अनुशास्तियों में से शारीरिक अनुशास्ति तो राजनैतिक और नैतिक अनुशास्तियों का आधारमात्र है, और जहाँ तक धार्मिक अनुशास्ति का सम्बन्ध आधुनिक जीवन से है, उसका भी आधार शारीरिक अनुशास्ति ही है। शारीरिक अनुशास्ति शेष तीनों ही अनुशास्तियों में शामिल है। इन तीनों से स्वतन्त्र रूप में भी शारीरिक अनुशास्ति (अर्थात् इससे सम्बन्धित क्लेश या सुख) काम करती है; पर इन तीनों में से एक भी शारीरिक अनुशास्ति से अलग स्वतन्त्र रूप में काम नहीं कर सकती। संक्षेप में, प्रकृति की शक्तियाँ अपने-आप काम करती हैं; किन्तु न तो न्यायाधीश, न सामान्य लोग⁴ और न ईश्वर ही इस मामले में प्रकृति की शक्तियों को छोड़कर स्वतन्त्र रूप से काम कर सकते हैं।”

दूसरी ओर मिल जिसे ‘आन्तरिक अनुशास्ति’ कहते हैं वह शारीरिक स्थितियों पर आधारित नहीं है; बल्कि वह शुद्ध मनोवैज्ञानिक या व्यक्तिनिष्ठ अनुशास्ति है, यद्यपि इसका विकास वेशक उस बाह्य पर्यावरण से प्रभावित होता है जिसमें हमारा जीवन बीतता है।⁵

1. इस मामले में तो अनुशास्ति है ही नहीं; क्योंकि यह किसी प्रकार के आचरण का परिणाम नहीं माना जा सकता, और इसीलिए किसी प्रकार के आचरण से बचने की भी प्रेरणा नहीं देता।
2. Utilitarianism, अध्याय तीसरा, पृ० 41।
3. Principles of Morals and Legislation, अध्याय तीसरा, अनु० ग्यारहवाँ।
4. यह कहा जा सकता है कि नैतिक अनुशास्ति तो कभी-कभी केवल राय जाहिर करने तक ही सीमित रहती है। इस अनुशास्ति का सबसे सबल रूप है विरोधी जनमत का भय। पर मैं समझता हूँ इस सम्बन्ध में भी बेन्थम यही कहेंगे कि विरोधी मत की अभिव्यक्ति भी ‘प्रकृति की शक्तियों के माध्यम’ से ही होती है, जैसे स्वर या प्रकाश के कंपन से।
5. सिजविक ने (अपनी पुस्तक History of Ethics के पृ० 242 पर दी गई टिप्पणी में) लिखा है कि अपने एक पत्र में बेन्थम ने नैतिक भावनाओं को ‘सहानुभूतिमूलक और विद्वेध-मूलक अनुशास्तियाँ’ कहा है। इस प्रकार उन्होंने मिल का तर्क पहले ही स्वीकार कर लिया था, पर उनकी प्रकाशित रचनाओं में इसको नहीं स्वीकार किया गया। इसका कारण शायद यह है कि सहानुभूतिमूलक और विद्वेधमूलक भावनाओं से उन्हें अत्यधिक घृणा थी। देखिए Principles of Morals and Legislation, अध्याय दूसरा, अनु० ग्यारहवाँ,

यद्यपि मिल ने इस अनुशास्ति को 'आन्तरिक' कहा है, फिर भी एक अर्थ में यह भी उतनी ही बाह्य है जितनी कि अन्य अनुशास्तियाँ हैं। सभी को आन्तरिक भी कहा जा सकता है, क्योंकि सभी में वास्तविक या सम्भाव्य क्लेश की व्यक्तिपरक अनुभूति होती है। दूसरी ओर सभी बाह्य भी हैं, क्योंकि इस क्लेश का सम्बन्ध किसी ऐसे कानून से है जो हमारे अपने जीवन का विधान नहीं है। और यदि अन्तर्भावना को निश्चित रूप से हम अपनी प्रकृति का विधान मान लें तो फिर वह एक अनुशास्ति-मात्र नहीं रह जाती, बल्कि एक वास्तविक नैतिक सत्ता बन जाती है। पादरी बटलर ने इसी रूप में उसकी अवधारणा की है।¹

6. अन्तर्भावना का आप्तत्व

मिल के मत से अन्तर्भावना की शक्ति केवल इस बात में है कि वह कितनी बाधा बन सकती है, कितने डंक मार सकती है। दूसरी ओर अन्तःप्रज्ञावादी (Intuitionists) सामान्यतया अन्तर्भावना में एक ऐसा आप्तत्व मानते हैं जो इस प्रकार की शक्ति से बिल्कुल मुक्त है। इस विषय पर बटलर का दृष्टिकोण मार्के का है। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, बटलर मनुष्य की प्रकृति को एक संविधान मानते हैं जिसमें सर्वोच्च सत्ता अन्तर्भावना की है। वह कहते हैं—

“तो इस प्रकार जिस सिद्धान्त द्वारा हम अपने हृदय, बुद्धि और कार्यों का सर्वेक्षण करते हैं और उन्हें उचित या अनुचित ठहराते हैं, उसे हम ऐसा नहीं मान सकते कि उसका महज थोड़ा-बहुत प्रभाव है—थोड़ा-बहुत प्रभाव तो प्रत्येक भावावेश का होता है, निम्नतम इच्छा का भी प्रभाव होता है—बल्कि उसे सभी भावावेशों से इस अर्थ में श्रेष्ठ मानना होगा कि इस मनःशक्ति—अन्तर्भावना—का निर्णय, उसका निर्देश और अधीक्षण स्वीकार किए बिना आप उसके सम्बन्ध में कोई कल्पना ही नहीं कर सकते। इस प्रकार अन्तर्भावना स्वभावतः और स्पष्ट रूप से श्रेष्ठ है। यह श्रेष्ठता इस मनःशक्ति का एक अंग है, और मनुष्य का संघटन, उसका संविधान और उसकी रचना-व्यवस्था ही कुछ ऐसी है कि संचालन और शासन का काम अन्तर्भावना को ही सौंपा गया है। जैसा अधिकार है वैसी ही यदि शक्ति भी उसमें होती, जितना स्पष्ट आप्तत्व उसमें है वैसी ही क्षमता भी यदि होती, तो वह संसार पर पूर्ण निरपेक्ष शासन करती।”

आगे चलकर बटलर फिर कहते हैं—“यह मान भी लें कि मानव-जाति के हृदय में औचित्य का राज्य है, फिर भी यह पूछा जा सकता है कि इस औचित्य को मानने, इसका पालन करने का कौन-सा दायित्व हमारे ऊपर है और वह कैसे लागू होता है? मेरा उत्तर यह है—यह सिद्ध किया जा चुका है कि स्वभावतः मनुष्य स्वयं ही अपना कानून है, और इस कानून की निश्चयात्मक अनुशास्तियों का स्पष्ट

टिप्पणी। यह पत्र उन्होंने Dumont को लिखा था।

1. अनुशास्ति का बड़ा सुन्दर विवेचन फाउलर (Fowler) की पुस्तक *Progressive Morality* के पहले व दूसरे अध्याय में, सिजविक की *Methods of Ethics* के दूसरे खण्ड के पाँचवें और अन्तिम अध्याय में, और म्यूरहेड (Muirhead) की *Elements of Ethics* के पृ० 101-4 में मिलेगा। यह ध्यान रखना होगा कि इन सबमें शब्दावली एक ही नहीं है। कहीं-कहीं बेन्थम की 'राजनैतिक अनुशास्ति' को 'कानूनी अनुशास्ति' कहा गया है और नैतिक अनुशास्ति या लोकानुशास्ति को 'सामाजिक अनुशास्ति'। 'नैतिक अनुशास्ति' का प्रयोग मिल की 'आन्तरिक अनुशास्ति' के लिए किया गया है। यह शब्दावली बेन्थम की शब्दावली से अच्छी जान पड़ती है।

विचार किये बिना भी वह अपने लिए अपना कानून बना रहता है। हम इन अनुशास्त्रियों के दण्ड और पुरस्कार का अनुभव करते हैं; तर्क-बुद्धि से हमें यह विश्वास करने का आधार मिलता है कि यह दण्ड-पुरस्कार अन्तर्भावना के इस कानून से सम्बद्ध है। और तब इस प्रश्न का उत्तर प्रश्न में ही मिल जाता है। इस कानून का पालन करना इसलिए आपका कर्तव्य है कि वह आपकी अपनी प्रकृति का कानून है। आपकी अन्तर्भावना किसी कार्य का अनुमोदन करती है—यही अपने-आप एक आबन्ध है उसे करने के लिए। अन्तर्भावना हमें केवल सही रास्ता ही नहीं दिखाती, उसके साथ उसका अपना यह आप्तत्व भी रहता है कि वही हमारी प्राकृतिक पथ-प्रदर्शिका है।”

पर यदि हम और अधिक निश्चयात्मक रूप में पूछें कि अन्तर्भावना के आप्तत्व का स्वरूप क्या है, तो साध्य की चर्चा चलाए बिना कोई स्पष्ट उत्तर दे सकना असम्भव जान पड़ता है। स्वयं बटलर ने उसके आप्तत्व के स्वरूप की व्याख्या करते हुए उसकी तुलना ‘तर्कसंगत आत्मप्रेम’ (reasonable self-love) के आप्तत्व के साथ की है।

वह कहते हैं—“कल्पना कीजिए कि कोई पशु प्रलोभन देकर किसी जाल में फँसा दिया जाता है, जिसमें वह मर जाता है। स्पष्ट है कि उसने अपनी प्रकृति का अनुसरण किया, जो उसे अपनी भूख शान्त करने के लिए उस जाल में ले गई। इस कार्य के साथ उसकी प्रकृति का पूरा-पूरा मेल बैठता है और इसलिए यह उसके लिए स्वाभाविक है। पर कल्पना कीजिए कि कोई व्यक्ति अपने निश्चित नाश का संकट देखते हुए भी, केवल तात्कालिक तुष्टि के लिए ऐसे जाल में जान-बूझकर फँसे तो? बेशक, पशु की ही भाँति वह भी अपनी प्रबलतम इच्छा का ही अनुसरण करेगा; किन्तु स्पष्टतः इस प्रकार का कार्य मनुष्य की प्रकृति के साथ उतना ही बेमेल होगा जितना बेमेल किसी महानतम कलाकार की कृति के साथ कोई निकृष्ट कलाकृति हो सकती है। और यह असंगति केवल ऐसे कार्य का या उसके परिणामों का ही विचार करने से नहीं मालूम होती, बल्कि कर्त्ता की प्रकृति के साथ उसकी तुलना करने से मालूम होती है। और चूँकि इस प्रकार का कार्य मनुष्य की प्रकृति से कतई मेल नहीं खाता, इसलिए शुद्ध और उचित अर्थों में उसे अप्राकृतिक या अस्वाभाविक ही कहा जा सकता है।” “इस प्रकार अन्तर्भावना का कोई खास विचार किए बिना भी हम स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं कि एक आन्तरिक सिद्धान्त दूसरे आन्तरिक सिद्धान्त से श्रेष्ठ होता है, और यह भी देख सकते हैं कि यह प्राकृतिक श्रेष्ठता शक्ति और प्रचलन की मात्रा के अन्तर से भिन्न होती है।”

पर यह स्पष्ट है कि इस उदाहरण में तर्कसंगत आत्मप्रेम के आप्तत्व का आधार है, साध्य का विचार। हमारे लिए पशुओं की भाँति अपनी भूख या सहज-प्रवृत्ति का अनुसरण करना इसलिए अप्राकृतिक या अस्वाभाविक है कि हमें उन साध्यों का निश्चित ज्ञान है जिनकी सिद्धि का हम प्रयत्न करते हैं, और उनकी सिद्धि के सम्भव साधन भी हम जानते हैं। यदि अन्तर्भावना के आप्तत्व का यही स्वरूप है तो यह किसी अन्ध मनःशक्ति का आप्तत्व नहीं है, बल्कि स्वयं तर्कबुद्धि का आप्तत्व है। बटलर इस विचार को स्पष्ट नहीं कर सके, पर कांट की रचना में यह स्पष्ट है।

7. तर्कबुद्धि का आप्तत्व

कांट ही एक ऐसा लेखक है जिसने स्पष्ट रूप से केवल तर्कबुद्धि को नैतिक जीवन के चरम आप्तत्व के रूप में स्वीकार किया है। इस विषय में आधुनिक

प्रत्ययवाद ने उनका ही अनुसरण किया है। पर वास्तव में प्रायः सभी यूनानी नीतिज्ञों ने, और विशेष रूप से सुकरात, प्लैटो, अरस्तू तथा स्टोइक दार्शनिकों ने, इसी आप्तत्व को स्वीकार किया था, यद्यपि इतना खुलकर नहीं; और आधुनिक युग में कार्तीय लेखकों (Cartesians) तथा कुछ अंग्रेज लेखकों ने इसी को स्वीकार किया है। अभी हाल में तो लगभग सबकी एकमत राय-सी हो गई है कि नैतिक जीवन का यदि कोई चरम आप्तत्व हो सकता है तो वह केवल तर्कबुद्धि में ही है। सिजविक, गिज्याकी (Gizycki) तथा कुछ अन्य लोगों द्वारा प्रतिपादित उपयोगितावाद भी इसी मत को मानने लगा है।

वर्तमान समय में केवल एक ही ऐसा प्रचलित मत है जो इस बात को नहीं मानता। यह है जैव-विकास (Biological evolution) वाला मत। इस मत को एक ऐसा अपवाद माना जा सकता है जो सिद्धान्त को पुष्ट करता है; क्योंकि इस मत के लेखक इस बात को स्वीकार ही नहीं करते कि नैतिक जीवन का कोई चरम आप्तत्व हो भी सकता है। उनके अनुसार नैतिकता का केवल वस्तुतः औचित्य है और मानव-जाति का विकास उसे बदल सकता है, समाप्त भी कर सकता है। उदाहरण के लिए सिमेल (Simmel) नैतिक सिद्धान्त को 'सुसंभूत बहुमत' की इच्छा-मात्र मानते हैं। यह 'अस्ति' की प्रबल प्रवृत्ति मात्र है और 'इतिकर्तव्य' तो क्या, 'चाहिए' भी नहीं है। तर्कबुद्धि का आप्तत्व माननेवाले सिद्धान्त का विकल्प इस प्रकार का नैतिक संशयवाद ही है।

8. नैतिक आप्तत्व की चरमता

कभी-कभी ऐसा मालूम होना सहज ही है कि नैतिक मानक के आप्तत्व की चरमता उतनी ही कम होती जाती है जितना कि उस मानक को अधिक सूक्ष्म या परिशुद्ध रूप में नैतिक बनाया जाता है। थोड़े-से लिखित नियमों (चाहे वे राज्य के हों या किसी दैवी नियामक के) का आप्तत्व प्रत्यक्ष और अविवाद्य होता है, विशेषकर यदि उनके पीछे कठिन दण्ड की अनुशास्ति हो; जैसे जेल, फाँसी या नरक-कण्ड की। इसीलिए जो लेखक नैतिक सिद्धान्तों को लागू करने के विशेष इच्छुक होते हैं, जैसे कार्लाइल, वे नियमों को दैवी आदेशों का रूप देते हैं और उनके उल्लंघन या अवज्ञा से मिलने वाले दण्ड पर जोर देते हैं।

जो उचित है वह किया जाए, क्योंकि वह उचित है—यह सीधी-सी विधि या आदेश ऐसे कानूनों की तुलना में बहुत ही कमजोर और प्रभावहीन मालूम होता है। कांट के निरपेक्ष आदेश (Categorical imperative) के साथ भी ऐसा कोई भय जुड़ा हुआ नहीं है; क्योंकि अन्तर्भावना की कचोट तो दबाई जा सकती है। इस प्रवेशिका में साध्य-सम्बन्धी जिस विचार का प्रतिपादन किया गया है उसमें तो और भी कम बन्ध-शक्ति (binding force) जान पड़ती है। एक तर्कसंगत जगत् की सिद्धि तो बहुत ही दूर दिखाई देती है। और यदि हम उसे नहीं प्राप्त कर पाते तो भी ऐसी कोई आसन्न सम्भावना नहीं दिखाई देती कि हम पर बँत बरसेंगे, या हम जला दिए जाएँगे, या हमारी खिल्ली उड़ाई जाएगी, या तन या मन या धन की कोई विशेष क्षति होगी। तो फिर इस मानक का आप्तत्व है कहाँ ?

पर जिस किसी ने भी इस मानक का अर्थ समझ लिया है वह इस प्रकार का तर्क नहीं करेगा। उदाहरणों द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि नैतिक आप्तत्व अपने विकास की प्राथमिक स्थिति में जितना सबल था उससे कहीं अधिक शक्तिमान वह अपने उच्चतम रूप में है। जो बच्चा किसी अध्यापक की देखरेख में

सरल रेखाएँ खींचना सीखता है, या वर्णमाला और प्रारम्भिक अक्षर-विन्यास सीखता है, वह बड़े सख्त नियन्त्रण में मालूम होगा और उसकी तुलना में एक महान् कलाकार या कवि को असीम छूट मिली हुई दिखाई देगी। पर क्या वास्तव में ऐसा ही है? क्या अध्यापक के शब्दों में ऐसी कोई निरोधक शक्ति है जैसी निरोधक शक्ति कलाकार या कवि के लिए सौन्दर्य के आदर्श में है? एक कानून ऐसा है जो सरल और स्पष्ट है, सुनिश्चित है और उसके साथ का पुरस्कार या दण्ड भी स्पष्ट है। दूसरे की परिभाषा देना भी कठिन हो सकता है, उसकी मिति ही नहीं; और सर्जन के हर्ष के अलावा उसका कोई पुरस्कार नहीं, असफलता की पीड़ा के अलावा और कोई दण्ड नहीं। फिर भी निश्चित रूप से महान् कलाकार पर ही कठोरतम प्रतिबन्ध लागू होते हैं।

और देखिए, एक देशभक्त मिपाही का कर्तव्य सीधा-सरल और स्पष्ट कहा जा सकता है; उसे अपने अधिकारियों के आदेश पर केवल करना और मरना होता है। पर एक देशभक्त राजमर्मज्ञ का कर्तव्य कहीं अधिक जटिल होता है। उलझी हुई जटिल स्थितियों में उसे तय करना होता है कि अन्ततः कौन-सी बात देश के लिए सबसे अधिक हितकर होगी; और प्रायः स्पष्ट उत्तर कहीं दिखाई नहीं देता। पर कोई भी सच्चा देशभक्त राजमर्मज्ञ अपने आबन्ध (Obligation) को किसी भी सैनिक के आबन्ध से कम वास्तविक नहीं महसूस करेगा। बल्कि सामने आने वाली समस्याओं की महत्ता उसके आबन्ध को और भी अधिक कठोर और वास्तविक बना देगी।

सामान्य आचरण के सम्बन्ध में हम यही बात कह सकते हैं। नैतिक जीवन के विकास में हम जैसे-जैसे आगे बढ़ते हैं वैसे-वैसे यह और भी कम सम्भव होता जाता है कि कोई एक ऐसा नियम बताया जाए जिसके साथ उसका अपना आप्तत्व हो, कोई ऐसा कानून बताया जाए जो हमसे ऊपर हो और स्पष्टतः कह सके—“तुम्हें ऐसा करना ही चाहिए।” अधिकाधिक रूप में हमें केवल एक सामान्य सिद्धान्त मिलता है जो कहता है—“जो तुम्हें सर्वोत्तम जान पड़े वही तुम्हारा इतिकर्तव्य है।” और बदलती हुई स्थितियों के साथ सर्वोत्तम भी अपने बाह्य रूप में तो बहुत अधिक और अपने आन्तरिक स्वरूप में भी कुछ बदल सकता है। पर इससे नैतिक मानक की निरपेक्षता नष्ट नहीं हो जाती। यह बात फिर भी सच ही रहती है कि “परिणामों की परवाह किए बगैर” हमें उसी का चयन करना है जो उचित है, यद्यपि किसी भी समय यह कह सकना कठिन होगा कि उचित क्या है? नियम को एक बाह्य शक्ति मानने के बजाय जब हम उसे अपना ही कानून मानते हैं तब आप्तत्व में कहीं अधिक निरपेक्ष शक्ति आ जाती है।

इतना तो स्पष्ट है ही कि जैसे-जैसे नैतिक सिद्धान्त किसी राज्य के या किसी दैवी नियामक के बनाए कानून के रूप में, या हमारे भीतर की अन्तर्भावना की निश्चित आवाज के रूप में नहीं रह जाते, वैसे-वैसे यह और भी जरूरी व महत्वपूर्ण हो जाता है कि नैतिक जीवन की ठोस विषयवस्तु का स्पष्ट बोध हमें हो। कुछ थोड़े-से सामान्य सिद्धान्त हमारा मार्ग-दर्शन नहीं कर सकेंगे। मानव-जीवन से और अधिक स्पष्ट रूप से सम्बन्धित शास्त्रों के विकास में यही बात दिखाई देती है। उदाहरण के लिए अर्थशास्त्र में वैज्ञानिक विश्लेषण का प्रारम्भ कुछ सीधे-से नियम बनाने से हुआ और धीरे-धीरे, बाद में ही, यह स्वीकार किया गया कि आवश्यकता अर्थ-व्यवस्था के ठोस तथ्यों का अध्ययन करने की है। नीतिशास्त्र तो अपेक्षाकृत रूप से अपने विकास की प्रारम्भिक स्थिति में ही अरस्तू की कृपा से उचित और सही

मार्ग पर चल निकला था, पर अरस्तू से पहले और उनके बाद भी किसी रूढ़ सूक्ष्म मानक की दुहाई देकर झूठ-मूठ के सरलीकरण के प्रयत्न बराबर किये गए हैं। हेगेल की, और हाल ही में चले विकासवादी मत की, महत्ता अधिकांश में यही है कि इन्होंने हमें फिर से अरस्तू के ठोस दृष्टिकोण के समीप पहुँचा दिया है।

अगले खण्ड में यह स्पष्ट किया जाएगा कि नैतिक जीवन की कुछ अभिक महत्वपूर्ण समस्याओं को सुलझाने में यह दृष्टिकोण कितनी महत्वपूर्ण सहायता करता है। पर ठोस नैतिक जीवन का विश्लेषण आरम्भ करने से पहले इस प्रश्न पर विचार करना उचित जान पड़ता है कि नैतिक सिद्धान्त का व्यवहार पर क्या प्रभाव पड़ता है। नैतिक मानक के स्वरूप-सम्बन्धी भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों के अनुसार भिन्न अर्थों में ही इस मानक को जीवन पर लागू किया जा सकता है; और इसीलिए अब इस विषय पर विचार कर लेना आवश्यक जान पड़ता है।

सिद्धान्त का व्यवहार पर प्रभाव

1. विभिन्न मत

जैसा पहले कहा जा चुका है, इस सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं कि मानव-जाति के व्यावहारिक जीवन पर नैतिक सिद्धान्त का कितना और कैसा प्रभाव पड़ता है। कुछ लोगों की राय में नीतिशास्त्र का उद्देश्य आदि से अन्त तक व्यावहारिक ही है। दूसरों की राय में नीतिशास्त्र एक शुद्ध सैद्धान्तिक अध्ययन है और व्यावहारिक जीवन पर उसका उतना ही कम प्रभाव है जितना ज्योतिष या रसायनशास्त्र या तत्त्व-मीमांसा का। कुछ अन्य लोग मध्यम मार्ग अपनाते हैं और, यह मानते हुए भी कि नीतिशास्त्र का उद्देश्य प्रत्यक्ष रूप से व्यावहारिक नहीं है, कहते हैं कि उसका महत्वपूर्ण व्यावहारिक प्रभाव पड़ता है, क्योंकि वह जीवन के आदर्श को स्पष्ट कर देता है।

नीतिशास्त्र की प्रत्यक्षतः व्यावहारिक विवेचना करनेवालों के उदाहरण हैं : प्लैटो तक के प्रारम्भिक विचारक, स्टोइक और भोगवादी (Epicureans), मध्यम युग के किकर्तव्य मीमांसक (Casuists), बेन्थम और अधिकांश आधुनिक उपयोगितावादी तथा हर्बर्ट स्पेंसर। यह मत इस विषय की प्रचलित अवधारणा के भी अनुरूप है। अधिकांश लोग यह आशा रखते हैं कि नीतिशास्त्र का अध्यापक उन्हें बता देगा कि उन्हें क्या करना चाहिए; और प्रचलित वाक्यांश "जुआ, होड़, विवाद आदि का नीतिशास्त्र" का अर्थ प्रायः किसी कार्य-विशेष के सम्बन्ध में अपनाया जाने वाला सही दृष्टिकोण माना जाता है।

शुद्ध सैद्धान्तिक दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व स्पिनोज़ा करते हैं, जिन्होंने नीतियों पर रेखागणित की तरह विचार किया है। विभिन्न आधुनिक लेखकों ने भी, कुछ भिन्न अर्थों में, यही दृष्टिकोण अपनाया है; इनमें से कुछ के नाम हैं—सिमेल, सम्भवतः एफ० एच० ब्रैडले और बी० बोसांके¹ तथा दो-एक और।

पर अरस्तू से लेकर बाद के अधिकांश महान् लेखकों ने मध्यम मार्ग अपनाया है; अर्थात् इन लेखकों ने विषय का विश्लेषण सैद्धान्तिक ढंग से किया है, पर इसके

1. सिमेल के विचार विरोध रूप से उनकी पुस्तक *Einleitung in die Moralwissenschaft* के प्रथम खण्ड, पृ० 3 और द्वितीय खण्ड, पृ० 408, 409 में मिलते हैं। इस विषय पर ब्रैडले के जोरदार वक्तव्य उनकी पुस्तक *Ethical Studies* के पृ० 174-5 में तथा *Principles of Logic* के पृ० 247-8 में मिलते हैं। इन वक्तव्यों की आलोचना रशदल की पुस्तक *Theory of Good and Evil* के तीसरे खण्ड के पाँचवें अध्याय में तथा *International Journal of Ethics*, तीसरा खण्ड, सं० 4, पृ० 459, 510, में तथा चौथा खण्ड, संख्या 3, पृ० 160-173 में मिलती है। फिर भी यह सम्भव है कि इन वक्तव्यों में ब्रैडले का उद्देश्य केवल यह रहा हो कि जो लोग नीतिशास्त्र का यह कर्तव्य मानते हैं कि वह हमें प्रत्यक्ष रूप से हमारा इतिकर्तव्य बताए, उनके अतिवादी विरोधी दृष्टिकोण के विरुद्ध अपना जोरदार विरोध प्रकट करें।

साथ ही ठोस नैतिक जीवन पर उसके प्रभाव का भी स्पष्ट निर्देश किया है।

इस विषय में हमें जो दृष्टिकोण अपनाना चाहिए वह बहुत-कुछ इस बात पर निर्भर करेगा कि नीतिशास्त्र का कौनसा सामान्य सिद्धान्त हम स्वीकार करते हैं। इसलिए अब इस बात पर विचार कर लेना यहाँ उचित जान पड़ता है कि व्यवहार पर सिद्धान्त का जो असर होता है उसे सिद्धान्त का स्वरूप किस प्रकार प्रभावित करता है।

2. विभिन्न नैतिक सिद्धान्तों के साथ विभिन्न दृष्टिकोणों का सम्बन्ध

नैतिक भावना को माननेवाले मत के दृष्टिकोण से तो व्यावहारिक जीवन पर नैतिक सिद्धान्त का प्रभाव बहुत ही कम होगा। क्योंकि, इस दृष्टिकोण के अनुसार, नीतिशास्त्र का तत्त्वतः वही स्थान है जो सौन्दर्यशास्त्र का है। यह बात तो सामान्यतः स्वीकार की जाएगी कि रुचि उत्पन्न करने पर या रुचि के परिष्कार पर और कला-कृतियों की सर्जना पर सौन्दर्य-शास्त्र¹ का प्रत्यक्ष प्रभाव बहुत कम पड़ता है। इसमें सन्देह नहीं कि एक बुरा सिद्धान्त कभी-कभी एक पीढ़ी की अभिरुचि को विकृत कर देता है। एक अच्छा सिद्धान्त उस अभिरुचि को सुधारने में सहायक भी हो सकता है। किन्तु इस दृष्टि से सौन्दर्य-सिद्धान्त का प्रभाव सम्भवतः ज्योतिष या प्राणिशास्त्र के किसी भी सिद्धान्त-विशेष के सम्भाव्य प्रभाव से अधिक नहीं कहा जा सकता। समस्त ज्ञान व्यवहार को प्रभावित करता है; पर सभी प्रकार का ज्ञान व्यवहार के क्षेत्र में मार्ग-दर्शन नहीं करता, और सम्यक् रूप में सौन्दर्य-सिद्धान्त अभिरुचि अथवा कलात्मक सर्जना का मार्ग-दर्शन नहीं करता।

इसी प्रकार यदि नैतिकता किसी प्रकार की आन्तःप्रज्ञ अभिरुचि (Intuitive taste) पर निर्भर होती तो, अपेक्षाकृत अप्रत्यक्ष ढंग से पड़नेवाले कुछ प्रभाव के अलावा, इस अभिरुचि की व्याख्या करनेवाले सिद्धान्त का व्यावहारिक जीवन पर अधिक प्रभाव न पड़ता। नैतिकता के अधिकांश अन्तःप्रज्ञावादी सिद्धान्तों के सम्बन्ध में यही बात लागू होती है कि यदि उन्हें आन्तःप्रज्ञ मान लिया जाए, तो व्यावहारिक जीवन पर नीतिशास्त्र का प्रभाव अत्यल्प ही रह जाएगा। जो उचित है उसका ज्ञान यदि हमें अन्तःप्रज्ञा द्वारा या अन्य किसी अन्तर्दृष्टि द्वारा प्रत्यक्ष हो, तो इस अन्तर्दृष्टि का सिद्धान्तिक विवेचन ऐसी कोई बात नहीं बता सकेगा, जो पहले ही से मनुष्य-जाति के व्यवहार में न हो। दूसरी ओर तर्कनापरक सिद्धान्त में, जैसा कि कांट का है, व्यावहारिक प्रयोग के लिए अधिक गुंजाइश रहती है, क्योंकि इस प्रकार के मत में जिन तर्कसंगत सिद्धान्तों को स्वीकार किया जाता है वे यद्यपि मानव जाति की सामान्य चेतना में अन्तर्निहित रहते हैं, फिर भी उनकी व्याख्या करने से वे अधिक स्पष्ट हो जाते हैं और इस प्रकार व्यवहार पर उनका काफ़ी अधिक प्रभाव पड़ने की सम्भावना बढ़ जाती है।

पर सबसे अधिक व्यावहारिक उपयोग में आ सकने वाला सिद्धान्त है उपयोगितावादी सिद्धान्त। इसके अनुसार जीवन का एक निश्चित साध्य (अधिकतम

1. यहाँ, तथा अन्यत्र भी, मैं सौन्दर्य (चाहे वह प्राकृतिक सौन्दर्य हो, चाहे कला का सौन्दर्य) के अध्ययन को ही सौन्दर्य-शास्त्र का विषय मानता हूँ। कुछ लेखक सौन्दर्य-शास्त्र को कलात्मक सर्जना का सिद्धान्त मानते हैं। यदि ऐसा कोई सिद्धान्त है तो वह नीतिशास्त्र के अधिक अनुरूप मालूम होगा। पर मेरे विचार से सौन्दर्य-शास्त्र का विषय सौन्दर्य का बोध, सौन्दर्य की अनुभावना है, न कि सौन्दर्य की सृष्टि। इसके विपरीत नैतिक जीवन को, उसकी प्रकृति से ही, एक सर्जनात्मक क्रिया मानना आवश्यक हो जाता है।

लोगों का अधिकतम सुख) है जिसे अपना लक्ष्य बनाया जाना चाहिए। यह आशा नहीं की जा सकती कि अपने साधारण कार्यों में लोग इस लक्ष्य को अपने ध्यान में रख सकते हैं; यदि रखेंगे भी तो बहुत ही अस्पष्ट और भूल-भरे ढंग से। इसलिए नैतिक सिद्धान्त का यह उद्देश्य होगा कि वह जीवन के इस लक्ष्य को लोगों के सामने स्पष्ट करे और उसकी सिद्धि के सर्वोत्तम उपायों पर विचार करे। यह बात ऐसे मत पर भी लागू होगी (जैसे मुकरात का मत) जिसके अनुसार जीवन का कोई ऐसा साध्य है (जैसे निःश्रेयस या परमार्थ—Summum Bonum), जिसे निश्चित रूप से जाना जा सकता है और जिसके लिए मानव-जीवन को प्रेरित किया जाना चाहिए, चाहे इस साध्य को सुख कहा जाए, चाहे कुछ और।

और अन्त में, यदि हम विकासवादी दृष्टिकोण स्वीकार करते हैं, तो हमें व्यवहार में नैतिक सिद्धान्त के उपयोग के सम्बन्ध में मध्यम-मार्ग अपनाता होगा। वेशक, यदि कोई यह मत स्वीकार करे कि विकास-क्रम तो अनिवार्य है और उसकी आलोचना नहीं की जा सकती तब तो, इस दृष्टिकोण के सिद्धान्त का व्यवहार में उपयोग करने की ठीक वैसे ही कोई सम्भावना नहीं रह जाएगी जैसे शुद्ध अन्तःप्रज्ञावादी दृष्टिकोण में नहीं है। यदि कोई ऐसे निरपेक्ष नियम या कानून हैं—चाहे वे अन्तःप्राज्ञ समादेशों के रूप में हों या अनिवार्य प्राकृतिक शक्तियों के रूप में—जिनके द्वारा नैतिक जीवन के स्वरूप का निर्धारण होता है, तो फिर नीतिशास्त्र तो केवल अलग रहकर उनकी प्रशंसा-भर कर सकता है। कुछ ऐसे विकासवादी हैं भी जो इसी मत को मानते हैं। पर विकासवाद का सिद्धान्त माननेवालों का मत सामान्य रूप से यह है कि, कम-से-कम उच्चतर अवस्थाओं में, विचार-विमर्श द्वारा विकास का मार्ग-दर्शन किया जा सकता है; और, विकास वास्तव में हो भी तभी सकता है जब विचार-विमर्श द्वारा मार्ग-दर्शन मिले। इसलिए इस मत के माननेवाले विचारक जहाँ एक ओर किसी ऐसे सूक्ष्म साध्य की कसौटी पर जीवन का विवेचन करने से हिचकेंगे, जिसके विकास-क्रम पर ध्यान दिए बिना ही उसे स्वीकार कर लिया गया हो, वहाँ दूसरी ओर इस विकास-क्रम का अध्ययन करने के लिए वे तैयार होंगे, ताकि यह निश्चित रूप से जाना जा सके कि जो आदर्श इस विकास में निहित है उसकी प्राप्ति के लिए यह विकास-क्रम कहाँ तक उपयुक्त है। और यह विमर्श-मूलक आलोचना व्यावहारिक जीवन पर काफ़ी प्रभाव डाल सकती है।

ये सभी सामान्य विचार केवल मोटे तौर से सही हैं; और अब सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों के सन्दर्भ में इनकी और सटीक व्याख्या करने का प्रयत्न करना चाहिए।

3. अन्तःप्रज्ञावादी दृष्टिकोण

अन्तःप्रज्ञावादी दृष्टिकोण के अनुसार हमें इस बात का तुरन्त बोध हो जाता है कि कुछ कार्य उचित हैं और कुछ अन्य कार्य अनुचित हैं। इसका शुद्ध-सटीक अर्थ यह होगा कि इस बात का वास्तविक सन्देह कभी हो ही नहीं सकता कि हमारे लिए सर्वोत्तम मार्ग कौनसा है। “बूकनेवाली अन्तर्भावना एक मनगढ़न्त बात है”; इसलिए नैतिक सिद्धान्तों का अध्ययन किसी ऐसे सत्य का बोध नहीं करा सकता जिसका ज्ञान हमें पहले से ही न हो; और वैज्ञानिक नीतिशास्त्र तो कोरा बौद्धिक विलास है। पर इतना कठोर दृष्टिकोण अन्तःप्रज्ञावादियों ने बहुत कम अपनाया है। सामान्यतः उन्होंने इस बात को माना है कि कुछ हद तक तो अन्तर्भावना को भी शिक्षित किया जा सकता है। कभी-कभी तो उन्होंने इस बात को भी माना है कि अन्तःप्राज्ञ नैतिक

सिद्धान्तों (Intuitive moral principles) में भी परस्पर टक्कर हो सकती है, और यह कि ऐसे विरोधों को दूर करने में विचार-विमर्श की आवश्यकता होती है। अन्तः-प्रज्ञावादियों में भी किकर्तव्यमीमांसा कोई अनजानी बात नहीं है।

मैं इस बात का भी संकेत कर चुका हूँ कि अधिक तर्कनापरक अन्तःप्रज्ञा-वादियों¹ (अर्थात् कड़वर्थ से प्रारम्भ होकर कांट तक आनेवाली विचारधारा के माननेवालों) के मत से यह स्वाभाविक है कि नीतिशास्त्र का कार्य-व्यापार अधिक प्रत्यक्षतः व्यावहारिक माना जाए; क्योंकि इस दृष्टिकोण के अनुसार नैतिकता का सिद्धान्त ऐसा है कि उसका विमर्शमूलक विश्लेषण किया जा सकता है। पर यह ध्यान देने की बात है कि कांट ने स्वयं कभी भी नीतिशास्त्र को इस अर्थ में व्यावहारिक नहीं माना; क्योंकि कांट ने यद्यपि यह बात मानी है कि निरपेक्ष आदेश का विमर्शमूलक विश्लेषण किया जा सकता है, फिर भी वह इस बात को भी मानते थे कि निरपेक्ष आदेश व्यवहार में इतना सरल और स्पष्ट है कि सभी तर्कनाशील व्यक्ति उसका प्रयोग करते हैं और उन्हें विमर्शमूलक विश्लेषण की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। सच तो यह है कि कांट ने ही यह सूक्ति दी है, “चूकनेवाली अन्तर्भावना एक मनगढ़न्त बात है।” इस मत के अनुसार कांट यह भी मानते थे कि नैतिक संघर्ष वास्तव में कभी नहीं होता और इसलिए किकर्तव्यमीमांसा अर्थहीन है। कर्तव्य के नियम निरपेक्ष नियम हैं; उनमें अपवाद का स्थान नहीं है। इस दृष्टि से कांट सचमुच सबसे ज्यादा कठोर अन्तःप्रज्ञावादी हैं। पर सामान्यतः यह सच है कि जो लोग किसी तर्कनापरक सिद्धान्त को अपना मानक मानते हैं वे व्यावहारिक दृष्टिकोण के विमर्श-मूलक विश्लेषण का महत्त्व स्वीकार करते हैं।

4. उपयोगितावादी दृष्टिकोण

उपयोगितावादी दृष्टिकोण में नैतिक जीवन की यह कल्पना की गई है कि वह एक निश्चित साध्य की ओर बढ़नेवाला जीवन है। यह साध्य है सुख की प्राप्ति; अधिक निश्चित शब्दों में कहें तो—समस्त इन्द्रिय-चेतन जीवों (sentient creatures) के अधिकतम सम्भव सुख की प्राप्ति। तो इस साध्य को जितने ही अधिक परिशुद्ध रूप में निर्धारित किया जा सके और उसकी सिद्धि के साधन जितने ही अधिक निश्चित रूप से जाने जा सकें, परिस्थिति के अनुसार कार्य करने का सर्वोत्तम मार्ग चुन लेना उतना ही अधिक सम्भव हो सकेगा। इस प्रकार नीतिशास्त्र का काम प्रत्यक्ष रूप से व्यावहारिक हो जाता है।

किन्तु उपयोगितावादी दृष्टिकोण से भी, इस मत में काफ़ी किन्तु-परन्तु की गुंजाइश है। स्वयं उपयोगितावादी भी इसकी कल्पना नहीं करते कि मानव-जाति के लिए कोई नैतिकता देना नीतिशास्त्र का काम है। इस मत के किसी भी प्रमुख व्याख्याता को ऐसी भोंडी भूल का श्रेय देना अन्याय होगा। विशेष रूप से जे० एस० मिल इस भूल के विरुद्ध सावधान रहे हैं; मानव-जाति के नैतिक अनुभव के परिणामों की तुलना नोपरिवहन में उपयोग में आने वाले नाविकपंचांग के साथ करके उन्होंने यह सावधानी दिखाई है। उनका कहना है कि मानव-जाति अपने जीवन की यात्रा में विविध कार्य-पद्धतियों के परिणामों की परीक्षा करती आई है और इस अनुभव के परिणाम या निष्कर्ष मानव-जाति के सामान्य बोध में संग्रहीत हैं। नैतिक दार्शनिक तथा साधारण व्यक्ति—दोनों ही के लिए यह पंचांग तैयार किया हुआ रखा है, केवल उसका उपयोग करने की जरूरत है। पर मिल की धारणा है कि इस पंचांग की गणना

1. यदि उन्हें अन्तःप्रज्ञावादी कहा जा सके। देखिए अध्याय तीसरा, अनु० 10।

कुछ मोटे तौर से की गई है और दशमलव के कई स्थानों तक नहीं ले जाई गई। नैतिक दार्शनिक धीरे-धीरे इस गणना का संशोधन करने और उसे आगे बढ़ाने का प्रयत्न करेगा।

इस रूपक को छोड़ दें तो कह सकते हैं कि तमाम ऐसे नैतिक सत्य हैं जो, उपयोगितावादी दृष्टिकोण से, मानव जाति के सर्वोत्तम अनुभव माने जा सकते हैं; किन्तु मानव-जाति उपयोगितावादी विचारों को यत्नपूर्वक मानते हुए नहीं चली, इसलिए उसने अपने इन अनुभवों या निष्कर्षों को परिशुद्ध या यथार्थ रूप में उन नैतिक उपदेशों में व्यक्त नहीं किया जो मान्य या पालनीय माने जाते हैं। सूक्ष्म विभेद दृष्टि से ओझल हो गए हैं और दूरवर्ती परिणामों पर ध्यान नहीं दिया गया। इसलिए नैतिक साध्य पर विचार-विमर्श करके हम साधारण नीति के निर्णयों में काफ़ी संशोधन कर सकते हैं।

यह कहा गया है कि व्यावहारिक नीतिज्ञ के लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि इतिहास उसे उन्नति या विकास-सम्बन्धी विचार से परिचित कराएगा और यह बताएगा कि संस्थाओं या आदतों की उत्पत्ति आकस्मिक नहीं होती और न यह किसी विधिकर्ता की ही करतूत होती है; यह कि अधिकांश में इन संस्थाओं या आदतों का विकास बाह्य परिस्थितियों द्वारा संशोधित और परिचालित मानवीय प्रवृत्तियों के कारण हुआ है और जो भी इन प्रवृत्तियों का निर्देशन करना चाहते हैं उन्हें इनको समझना चाहिए। इस विवेचन से हमें यह सीख मिलेगी कि प्रचलित विचारों और रीति-रिवाजों के सम्बन्ध में सावधानी से काम लेना चाहिए और बिना आवश्यक तैयारी किए उन्हें सुधारने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। दूसरी ओर नैतिक विचार या नियम जिन परिस्थितियों में उत्पन्न हुए थे उनका अध्ययन करने से हम यह और अच्छी तरह से समझ सकेंगे कि क्या वे विचार या नियम मानव-जाति की वर्तमान स्थिति के लिए उपयुक्त है, या उनकी उपयोगिता समाप्त हो चुकी है।

संक्षेप में, इतिहास हमें वर्तमान को समझने, उसके गुणों को ग्रहण करने की सामर्थ्य देता है; कुछ हद तक भविष्य की पूर्व-कल्पना करने की शक्ति देता है; और उससे मिला हुआ ज्ञान नैतिक तथा सामाजिक उत्थान के समस्त विवेकपूर्ण प्रयत्नों की एक अनिवार्य शर्त है।

एक सतर्क उपयोगितावादी इसी रूप में ठोस नैतिक उन्नति के वास्तविक विकास-क्रम के अध्ययन की आवश्यकता स्वीकार करता है।

5. विकासवादी दृष्टिकोण

इस प्रकार की विशिष्ट-व्याख्या किए जाने पर उपयोगितावादी दृष्टिकोण इस विषय में विकासवादियों द्वारा अपनाए जानेवाले दृष्टिकोण से तात्त्विक अर्थों में भिन्न नहीं है। कम-से-कम विकास के साध्यपरक दृष्टिकोण (teleological view) से तो भिन्न है ही नहीं। उपयोगितावाद तथा साध्यपरक विकासवाद, दोनों ही के अनुसार एक निश्चित साध्य हमारे सामने रहता है, भले ही उसे एक रूप व आकार देना बहुत कठिन हो। पर साध्य जितना ही जटिल होता है, उसकी सिद्धि के साधन उतने ही अनिश्चित होते जाने की आशंका रहती है; दूसरी ओर, विकास की धारणा विगत अनुभवों के परिणामों पर—जो मनुष्य-जाति की परम्पराओं और अन्तःप्रज्ञाओं के रूप में हमारे सामने हैं—और अधिक विश्वास उत्पन्न करती है।

फलतः उपयोगितावादियों की अपेक्षा विकासवादी यह मानने के लिए कम तैयार होंगे कि विचार-विमर्श द्वारा सामान्य बोध में आनेवाली नैतिकता का कोई

निश्चित सुधार किया जा सकता है। अन्य लोगों की अपेक्षा हर्बर्ट स्पेन्सर व्यावहारिक निष्कर्षों के सुझाव देने के लिए अधिक तत्पर थे। पर यह तत्परता इसलिए नहीं थी कि वे अनुभव-जन्य निष्कर्षों में सुधार सम्भव मानते थे, बल्कि इसका कारण यह था कि मानव-जाति के अनुभव के परिणामस्वरूप प्राकृतिक अधिकारों आदि के सम्बन्ध में कुछ निश्चित अन्तःप्रज्ञाओं की स्थापना पर स्पेन्सर को विश्वास था, यद्यपि मनुष्य जाति की विपर्यस्त (Perverse) प्रकृति प्रायः इन अन्तःप्राज्ञ सत्यों (Intuitive truths) की अवहेलना करवाती है। इस विषय में स्पेन्सर के विचार मुझे कुछ संगत नहीं जान पड़ते।

पर, जैसा हम पहले देख चुके हैं, दूसरे विकासवादी लेखक ऐसे हैं जो यह नहीं मानते कि ऐसा कोई निश्चित साध्य निर्धारित किया जा सकता है जिसे विकास-प्रक्रिया का लक्ष्य माना जा सके। इन लेखकों के अनुसार विकास की एक क्रमिक प्रक्रिया है और नैतिक कार्य तथा नैतिक निर्णय के विविध रूप इसी प्रक्रिया से उत्पन्न होते रहते हैं; किन्तु इसके चरम लक्ष्य का कोई स्पष्ट विवरण दे सकना सम्भव नहीं है। इस प्रक्रिया को और उसके साथ ही नैतिक कार्य तथा नैतिक निर्णय के विविध रूपों को भी यथावत् स्वीकार करना होता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार नीति-शास्त्र का अध्ययन मनोविज्ञान और समाजशास्त्र के व्यापक अध्ययन का ही एक अंग है और, इसलिए, केवल तथ्यों का अध्ययन और उनकी व्याख्या मात्र है।

सिमेल विशेष रूप से इस मत को मानते हैं। जो लेखक किसी भी एक ऐसे सिद्धान्त को मानते हैं जिसके अनुसार नैतिक जीवन का मार्गदर्शन होता हो, उनको एकात्मक नीतिशास्त्री (Monistic Moralists) कहकर, सिमेल उनका मज़ाक बनाते हैं। उनके अनुसार विरोधी शक्तियों का संघर्ष ही सत्य है, इस संघर्ष के परिणामस्वरूप बनने वाली नैतिक व्यवस्था केवल संहत बहुमत की प्रवृत्तियों को ही प्रकट करती है। पर यह तो नीतिशास्त्र का सिद्धान्त न होकर उसके अभाव का सिद्धान्त हुआ। फिर भी, जिस हद तक यह दृष्टिकोण स्वीकार किया जाएगा, उस हद तक नैतिक सिद्धान्त के व्यावहारिक उपयोग की उसी प्रकार कोई सम्भावना नहीं रहेगी जिस प्रकार शुद्ध अन्तःप्राज्ञ वाले दृष्टिकोण में नहीं रहती। जब हम किसी निरपेक्ष विधान को नैतिकता का आधार मान लेते हैं, तब किसी प्रत्यय पर आधारित नियामक सिद्धान्तों की सम्भावना समाप्त हो जाती है—निरपेक्ष विधान चाहे ईश्वरीय विधान हो, चाहे अन्तर्भावना का, या तर्क-बुद्धि का, या केवल अन्ध संघर्ष का ही विधान क्यों न हो।

6. प्रत्ययवादी दृष्टिकोण

अब, अन्त में, उन्नति के अधिक प्रत्ययवादी सिद्धान्त के दृष्टिकोण से इस मसले पर विचार कर लें। जैविक विकास (biological evolution) के दृष्टिकोण की अपेक्षा इस दृष्टिकोण में उन्नति की प्रक्रिया को अधिक स्पष्ट रूप से साध्य-परक माना गया है; पर, दूसरी ओर, साध्य अधिक जटिल है, उसकी परिभाषा देना अधिक कठिन है। मानव-जाति की शक्तियों का विकास, तर्क-संगत संसार की सिद्धि, आदि वाक्यांश ऐसा कोई सुस्पष्ट साध्य हमारे सामने नहीं रखते जिसकी सिद्धि के लिए निश्चित उपाय किये जाएँ; यद्यपि इन वाक्यांशों का अर्थ स्पष्ट होता है। यदि इस प्रकार का कोई साध्य ऐसा न हो जिसे मनुष्य जाति स्वभावतः और अनिवार्य रूप से अपना ले, तो इसे बरबस लोगों पर मढ़ने का प्रयत्न व्यर्थ होगा। इसके अलावा, चूँकि इस दृष्टिकोण में प्रत्यय की कल्पना किसी बाह्य साध्य के रूप में नहीं की गई, बल्कि उसे मानव-जाति की तार्त्विक प्रकृति की ही अभिव्यक्ति माना गया है, इसलिए

स्वभावतः यह आशा की जा सकती है कि पूरे मानव-इतिहास के दौरान यह प्रकृति अभिव्यक्त होती दिखाई देगी। यदि यह सही दृष्टिकोण हो तो मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्री को भी मानव-जीवन में प्रत्यय की उपलब्धि उसी प्रकार होगी जैसे नीतिशास्त्र के विद्यार्थी को; अन्तर केवल यह होगा कि मनोवैज्ञानिक व समाजशास्त्री को इससे कोई विशेष सम्बन्ध न होगा और उनके लिए अन्य दृष्टियों में एक यह भी होगा, जबकि नीतिशास्त्र का विद्यार्थी इसी के विवेचन को अपना विशिष्ट उद्देश्य बनाएगा। इसलिए अन्यवादों की अपेक्षा प्रत्ययवाद के दृष्टिकोण से यह बात और भी अधिक स्पष्ट रूप से स्वीकार की जानी चाहिए कि संसार के लिए कोई नवीन नैतिकता देना नीतिशास्त्र का काम नहीं है। यदि यह सत्य न होता कि 'नैतिकता तो सबकी प्रकृति ही है' तो चाहे जितना विचार-विमर्श किया जाता फिर भी संसार को नैतिक न बनाया जा सकता। पर इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि नीतिशास्त्र का विद्यार्थी संसार को जैसा पाता है उसी रूप में उसे स्वीकार कर लेता है। कवि की भाँति वह भी—

“देखता है विश्व सब, जैसा, जहाँ है;

किन्तु फिर भी एक गौरव-दृष्टि से।”¹

जो प्रत्यय इस संसार के माध्यम से विकसित हो रहा है उसके प्रकाश में ही वह इस संसार को देखता है। संसार जब जैसा है तब तैसा स्वीकार कर लेने से तो वह हमें पूर्ण नहीं दिखाई देगा। यह तो एक संघर्षशील, उन्नतिशील प्रक्रिया है, जिसमें प्रकाश और अन्धकार का निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। प्रत्ययवाद के दृष्टिकोण से नीतिशास्त्र का विद्यार्थी इस संघर्ष का तटस्थ दर्शक-मात्र नहीं है। वह प्रकाश की विजय का प्रमाण खोजता है। वह इस बात की भविष्यवाणी नहीं करना कि यह विजय किस प्रकार होगी; किन्तु परिवार और राज्य में, व्यक्तिवाद और समाजवाद में, कानून और स्वतन्त्रता में तथा हिब्रू लोगों और यूनानियों के आदर्शों में चल रहे संघर्ष का—जीवन और इतिहास का—अध्ययन करते समय वह केवल यही नहीं देखना चाहता कि किसी समय-विशेष में संघर्ष किस ओर बढ़ रहा है; विरोधी शक्तियों की खींचातानी तक ही उसकी दृष्टि सीमित नहीं रहती, बल्कि वह इस सारी सक्रियता की सार्थकता जानना चाहता है, इस सक्रियता या संघर्ष में छिपे हुए आदर्श की अभिव्यक्ति पर इसके प्रभाव को जानना चाहता है। और इस प्रकार उसका अध्ययन करने का अर्थ है उसकी आलोचना करते चलना।

इस प्रकार नीतिशास्त्र के प्रत्ययवादी दृष्टिकोण के दो पक्ष हैं। एक पक्ष तो मानव-जाति के अनुभव को देखता है, दूसरा पक्ष आदर्श को। अनुभव के बिना वह खोखला रह जाएगा; आदर्श के बिना अन्धा हो जाएगा। और जिन लेखकों ने इस विषय पर इस दृष्टिकोण से विचार किया है, उन सबने इन दोनों पहलुओं पर अपनी नज़र रखी है। किन्तु कुछ लेखकों ने एक की अपेक्षा दूसरे पहलू पर अधिक जोर दिया है।

विशेष रूप से प्लेटो और अरस्तू को हम इसके उदाहरण मानते हैं। ऊपर से देखने पर ऐसा लगता है कि प्लेटो निरन्तर आदर्श गणराज्यों और आदर्श जीवन की संरचना में व्यस्त है और मानव-उत्थान² के यथार्थ तथ्यों से जैसे उन्हें कोई वास्तव

1. “Looks at all things as they are,
But through a kind of glory.”

2. हेगेल ने अपनी पुस्तकों History of Philosophy तथा Philosophy of Right में इस तथ्य को भली-भाँति स्पष्ट किया है कि प्लेटो केवल स्वप्नदर्शी ही नहीं थे बल्कि अपने युग के नैतिक जीवन के एक यथार्थ व्याख्याता भी थे।

ही नहीं है। दूसरी ओर अरस्तू, ऊपर से देखने पर, आदर्श को दूर फेंक, अपने युग के यूनानी राज्य के सद्गुणों और संस्थाओं पर ही अपना सारा ध्यान केन्द्रित करते-से जान पड़ते हैं। आधुनिक युग में हेगेल दोनों ही प्रकार की भूलें करते दिखाई देते हैं। कुछ लोग उन्हें क्रान्तिवादियों¹ का जनक मानते हैं जिसने तथ्य और इतिहास की परवाह न करके अपनी अन्तश्चेतना से एक संसार की रचना की; दूसरे लोग उन्हें यथास्थिति (status quo) का ऐसा समर्थक मानकर उनकी निन्दा करते रहे हैं जिसने संसार को जैसा पाया वैसा ही उसे स्वीकार कर लिया।²

पर, प्रज्ञान तो सबका ही उचित, सही होता है; और सत्य के विभिन्न पक्षों का पारस्परिक विरोध केवल ऊपरी, दिखावटी होता है। नैतिक प्रत्ययवादी संसार को जैसा पाता है उसी रूप में उसे ग्रहण करता है; किन्तु उसे ग्रहण करता है उसकी सार्थकता को स्पष्ट करने के लिए, और इसलिए यह स्वीकृति होती है आलोचना करने के लिए। वह संसार को प्रभावित करता है एक आदर्श से, और यह आदर्श स्वयं तथ्यों में ही निहित रहता है। ऊपर से दिखाई देने वाला विरोध ही वास्तविक एकरूपता है; और अरस्तू प्लेटो के शत्रु नहीं बल्कि उनके व्याख्याता हैं।

7. परिणामों का सारांश

तो इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यावहारिक जीवन पर नीतिशास्त्र के प्रभाव के सम्बन्ध में तीन मत हैं—

(1) एक मत यह है कि व्यावहारिक जीवन पर नीतिशास्त्र का तत्त्वतः कोई प्रभाव नहीं है। यह मत अतिवादी अन्तःप्रज्ञावादियों का है चाहे उनकी अन्तःप्रज्ञा प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक (perceptual) हो और चाहे तर्कनामूलक; उन विकासवादियों का है जिनका विश्वास है कि विकास-क्रम का कोई लक्ष्य नहीं निर्धारित किया जा सकता; और शायद कुछ प्रत्ययवादियों का भी यही मत है।

(2) दूसरा मत यह है कि नीतिशास्त्र प्रत्यक्षतः व्यावहारिक है। मुख्य रूप से यह मत उपयोगितावादियों का है; पर अंशतः उन लोगों का भी यही मत है जिनके विचार से मानव-जाति के लिए कोई ऐसा निश्चित लक्ष्य या साध्य निर्धारित किया जा सकता है जो मानव के विकास-क्रम में ही निहित नहीं है।

(3) तीसरा मत यह है कि नैतिक जीवन में जो प्रत्यय निहित है उस प्रत्यय के सन्दर्भ में ही नैतिक जीवन की सार्थकता स्पष्ट करना नीतिशास्त्र का प्राथमिक कर्तव्य है, और इस काम में इसकी आलोचना भी करनी होती है। यही तीसरा मत इस पुस्तक में स्वीकार किया गया है। इस दृष्टि से देखने पर नीतिशास्त्र के तत्त्वतः प्रत्ययमूलक स्वरूप के सम्बन्ध में पुस्तक के प्रारम्भ में जो कुछ कहा गया था, वह और स्पष्ट हो जाएगा।

1. समाजवादी और नाशवादी (Nihilists) हेगेल को अपना प्रवर्तक मानते थे। लगता है अब उन्होंने यह मत छोड़ दिया है।
2. फ्रांस ने हेगेल के लिए कहा था कि उनके राजनीतिक विचारों की उत्पत्ति 'विज्ञान की बाटिका में' नहीं बल्कि चापलूसी के कूड़े पर हुई थी। कुछ इसी प्रकार गोथे (Goethe) को सत्ताधारियों का मित्र कहा गया था। हेगेल के सम्बन्ध में भ्रम उत्पन्न होने का कारण है उस विभेद को न समझ पाना जो उन्होंने यथार्थ (Actual) और वर्तमान (existing) के बीच किया है। उनका कहना था कि यथार्थ तर्कसंगत होता है; पर यथार्थ वह उसे नहीं मानते थे जो किसी समय में वर्तमान पाया जाए, बल्कि उस भावना को जो इतिहास को आगे बढ़ाती है। इसी भावना को स्पष्ट करना नीतिशास्त्र का काम है।

8. नीतिशास्त्र और तर्कशास्त्र की तुलना

इस दृष्टि से नीतिशास्त्र और तर्कशास्त्र की तुलना करने से मेरा अभिप्राय शायद कुछ और स्पष्ट हो जाएगा। इन दोनों की तात्त्विक एकरूपता पहले ही स्पष्ट की जा चुकी है।

नीतिशास्त्र पर तर्कशास्त्र के प्रभाव के सम्बन्ध में विभिन्न मत हो सकते हैं, जैसे व्यावहारिक जीवन पर नीतिशास्त्र के प्रभाव के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं। यह कहा जा सकता है कि प्रकृति के परीक्षण में पालन किए जानेवाले नियमों का निर्धारण आगमनात्मक तर्कशास्त्र का काम है। मिल ने यह मत व्यक्त किया था; और नीतिशास्त्र के सम्बन्ध में भी इसके अनुरूप मत उन्हीं ने सुझाया है। या फिर हेगेल के-से तर्कशास्त्र को लें, जिसमें परिमाण, कारण और पदार्थ आदि विषयक विचारों की विवेचना उनके पारस्परिक सम्बन्ध की दृष्टि से की गई है। इन तर्कशास्त्रों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है (और कहा गया है) कि इनमें अनुभव-प्रक्रिया का विचार किए बिना ही प्रागनुभव (a priori) से विचारों का अनुभव करने का प्रयत्न किया जाता है। तर्कशास्त्र-सम्बन्धी यह दृष्टिकोण बिल्कुल वही—वैसा ही है जिसके अनुसार एक नैतिक व्यवस्था की ईजाद करना नीतिशास्त्र का कर्तव्य माना जाता है।

पर अधिकांश तर्कशास्त्री आज इस बात को स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक शास्त्र को अपनी पद्धति पहले स्वयं ही खोजनी होती है, और यह कि इन शास्त्रों द्वारा प्रयुक्त विचार (परिभाषा, पदार्थ, कारण आदि) यदि हमारे प्रत्यक्ष अनुभव में न आते तो हमें कभी भी उनका ज्ञान न हो पाता। इसी प्रकार यह भी सत्य जान पड़ता है कि नैतिक जीवन के अन्तर्विषय का विकास मनुष्य-जाति के अनुभव-क्रम में होता है; इसकी आवश्यकता नहीं रहती कि नीतिशास्त्र उसकी ईजाद करे।

लेकिन तब यह पूछा जा सकता है कि क्या तर्कशास्त्र चुपचाप प्रत्येक शास्त्र की अपनी पद्धति को यथावत्-रूप में स्वीकार कर लेता है और अन्य शास्त्रों द्वारा जिन विचारों का उपयोग किया जाता है उन्हें केवल व्यवस्थित-भर कर देता है? यह तो गलत बात मालूम होती है। तर्कशास्त्र इन पद्धतियों और विचारों की सार्थकता स्पष्ट करता है और उनकी मान्यता को परखता है। इस प्रकार एक ओर वह प्रत्येक के उपयुक्त क्षेत्र में उसका औचित्य सिद्ध करता है और साथ-ही-साथ दूसरी ओर उसकी मर्यादाएँ भी निर्धारित करता है। शास्त्रों के लिए वह विचारों और पद्धतियों की ईजाद नहीं करता, पर जो विचार और पद्धतियाँ सामने आती हैं उनकी आलोचना उन्हीं में निहित सत्य और संगत विचारों की कसौटी पर करता है। यही बात नीतिशास्त्र पर भी लागू होती है। परिवार और राज्य की, या प्रेम और सत्य-सम्बन्धी विचारों की, या जीवन और सम्पत्ति-सम्बन्धी कानूनों की ईजाद नीतिशास्त्र नहीं करता। इन विचारों और संस्थाओं को उलट देने का प्रयत्न तो वह और भी नहीं करता। जिस दुनिया से उसका ताल्लुक है उसमें यह सब उसे मिलता है, और मानव-विकास के जिस प्रत्यय से इन सबका सम्बन्ध है उसी के सन्दर्भ में नीतिशास्त्र इन सबको समझने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार वह इन सबकी सार्थकता स्पष्ट करने के साथ-साथ इनकी मर्यादाओं का भी निर्देश करता है।

एक 'सीधे-सादे' आदमी को परिवार और व्यक्तिगत सम्पत्ति जैसी संस्थाएँ नैतिक जीवन के चिरन्तन और अलंघनीय तथ्य मालूम हो सकते हैं, और यदि उसके सामने यह कहा जाए कि इन संस्थाओं का भी एक इतिहास है और ये जैसी आज हैं वैसी ही हमेशा नहीं रहें, तो सम्भव है कि वह भ्रम में पड़ जाए और यह सोचने लगे कि मानव-जीवन में इनकी सार्थकता समाप्त कर दी गई। नीतिशास्त्र के

विद्यार्थी को इन और ऐसी अन्य संस्थाओं की सार्थकता और इनका मूल्य समझना चाहिए और साथ ही उसमें यह योग्यता होनी चाहिए कि वह सम्पूर्ण के अंश-रूप में इनका उपयुक्त स्थान और महत्त्व भी निर्धारित कर सके। इस आलोचनात्मक अन्त-दृष्टि के रूप में ही नीतिशास्त्र के अध्ययन का व्यावहारिक मूल्य-महत्त्व है।

9. प्रयोज्य नीतिशास्त्र की विवेचना

ऊपर के विवेचन के आधार पर अब हम प्रयोज्य नीतिशास्त्र (applied ethics) पर विचार कर सकते हैं। अभी तक हम शुद्ध सिद्धान्तों पर—अर्थात् मानक या आदर्श के स्वरूप पर—विचार कर रहे थे। नीतिशास्त्र पर लिखी जानेवाली पुस्तक में प्रायः इस स्वरूप-विवेचन से अधिक कुछ नहीं होता; और मानक के सम्बन्ध में हमारा जो मत है, उससे यदि कुछ भिन्न होता, तो शायद इतना ही विवेचन हमारे लिए भी पर्याप्त होता। यदि हमने अन्तःप्रज्ञावादी मत स्वीकार किया होता तो प्रयोज्य नीतिशास्त्र पर विचार करने की आवश्यकता ही न होती। यदि हमने उपयोगितावादी दृष्टिकोण स्वीकार किया होता तो विभिन्न क्षेत्रों का कलन (calculus) निकालने तक ही उसका व्यावहारिक पक्ष सीमित रहता; और यह काम चाहे जितना कठिन हो (यदि असम्भव न हो तो), इसका सामान्य सिद्धान्त जरूर इतना स्पष्ट होता कि हमें इस काम से फुरसत मिल जाती। किन्तु विकासवादी दृष्टिकोण अपनाने वाले व्यक्ति के लिए नीतिशास्त्र की ऐसी विवेचना अर्थहीन ही होगी, जिसमें यथार्थ विकास-क्रम की व्याख्या विकास में निहित प्रत्यय-सिद्धान्त के सन्दर्भ में न की जाए।

इसलिए विकासवाद को माननेवाले लेखकों की पुस्तकों में यह अंश अधिक प्रधानता पाता रहा है। उदाहरण के लिए अरस्तू की पुस्तक 'Nicomachean Ethics' में नागरिक के यथार्थ जीवन का वर्णन काफी अधिक किया गया है और 'Politics' में राज्य और शिक्षा की विवेचना करके उन्होंने यह वर्णन पूरा किया है। यही बात हेगेल के सम्बन्ध में भी लागू है; नीतिशास्त्र पर उनका प्रधान ग्रन्थ 'The Philosophy of Right' लगभग पूरा-का-पूरा यथार्थ नैतिक जीवन के विवेचन से भरा है।

इस विषय के इस यथार्थ पहलू का अध्ययन करते समय विद्यार्थी को दो सम्भव भ्रान्तियों से बचना चाहिए। इन भ्रान्तियों की ओर संकेत पहले भी किया जा चुका है, पर यहाँ उन्हें दुहरा देना अच्छा ही होगा।

1. एक क्षण के लिए भी यह नहीं सोचना चाहिए कि नैतिक जीवन के यथार्थ तत्त्वों को किसी कीमियागिरी के सहारे सामान्य सिद्धान्त से ही निकाल लिया जा सकता है। नीतिशास्त्र को यदि नैतिक जीवन की ईजाद भी करनी पड़े और उसकी व्याख्या भी, तब तो उसका काम बहुत ही कठिन हो जाएगा। पर ग़नीमत रही कि नीतिशास्त्र पर पुस्तकें लिखी जाने से पहले इस दुनिया में कुछ भले आदमी भी थे; और आज भी, जब नीतिशास्त्र पर तमाम पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं, भगवान् ही उस अभागे की मदद करें जिसे नैतिक-जीवन-सम्बन्धी विचार पुस्तकों से ही प्राप्त होते हों।

नैतिक जीवन का ज्ञान नैतिक जीवन बिताकर ही मिलता है, और कोई दूसरा रास्ता नहीं है। नैतिक जीवन बिताने के बाद ही नीतिशास्त्र उसका अर्थ समझाता है। बेशक, उसका अर्थ बताते हुए वह उसकी आलोचना भी साथ ही करता चलता है; और जिस नैतिक जीवन की आलोचना की जा चुकी हो वह (आलोचना की गई पुस्तक की भाँति) ठीक वही, वैसा ही नहीं रह जाता जो, जैसा पहले था।

पर विद्यार्थी को यह धारणा मन से निकाल देनी चाहिए कि आनेवाले अध्यायों में एक बिलकुल ताजा नया नैतिक जीवन उसकी आँखों के सामने आएगा। चिकित्सा-शास्त्र पर लिखी पुस्तक भी हमें कानों से साँस लेना नहीं सिखाती। शरीर-क्रिया-विज्ञान अथवा स्वास्थ्य-विज्ञान का अध्ययन करने से पहले ही हम साँस लेना सीख लेते हैं; नीतिशास्त्र का अध्ययन करने से पहले ही हम जीवन बिताना सीख लेते हैं; और इन सबका अध्ययन कर लेने के बाद भी हम बहुत-कुछ पहले ही की तरह साँस लेते हैं और जीवन बिताते हैं। ऐसी चीजें हम कार्य से और अनुभव से सीखते हैं।

यदि किसी व्यक्ति को चालीस वर्ष की अवस्था में 'या तो मूर्ख या बैध' कहा जा सकता है तो नीतिशास्त्र-सम्बन्धी उसका ज्ञान तो और भी बचकाना होगा। ऐसे व्यक्ति को जीवन की विमर्शमूलक व्याख्या केवल यही सिखा सकती है कि वह अपना जो काम करता आया है उसी को थोड़ा और सावधानीपूर्वक, ठीक-ठीक (हो सकता है, थोड़ा और पांडित्य दिखाते हुए) करता चले।

2. दूसरी ओर विद्यार्थी को इससे उलटी गलत धारणा से भी बचना चाहिए। यह गलत धारणा है नैतिक जीवन पर केवल समाजशास्त्र के दृष्टिकोण से विचार करने की। समाजशास्त्र के विद्यार्थी के लिए अनैतिक जीवन का अध्ययन उतना ही रुचिकर होता है जितना कि नैतिक जीवन का (सिमेल का कहना है¹ कि वह अधिक रुचिकर होता है), और उसके लिए अधःपतन तथा उत्थान दोनों समान रूप से मनोरंजक होते हैं। पर हमारे लिए तो जीवन आदर्श के सन्दर्भ में ही रुचिकर है। हम इसकी चिन्ता नहीं करते कि जीवन क्या है, हम जानना चाहते हैं कि उसका महत्त्व क्या है। इसीलिए हमारी विचार-पद्धति भी भिन्न है। बिखरे लम्बे इतिहास के दौरान नैतिक जीवन किन-किन रास्तों से गुजरा है इसका विवरण देना हमारा उद्देश्य नहीं है; हमारा उद्देश्य है नैतिक जीवन के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पहलुओं पर प्रकाश डालना। इसका पूरा-पूरा विवेचन करने के लिए हमें, हेगेल के ढंग पर, इसे द्वन्द्वात्मक विकास-क्रम के अनुसार लेना पड़ेगा। पर इस पुस्तक में, जो इस विवेचना की भूमिका-मात्र है, कुछ कम व्यवस्थित ढंग भी काम दे जाएगा।

तो अब तक ये प्रारम्भिक चर्चाएँ और चेतावनियाँ काफ़ी हो चुकीं। आइए, अब हम अपनी शक्ति-भर ठोस नैतिक जीवन की विवेचना प्रारम्भ करें।

1. देखिए International Journal of Ethics, Vol. III, No. 4। इसी प्रकार फ्रिडिशालोजी और मनोविज्ञान के अध्ययन में प्राकृतिक स्थितियों की अपेक्षा विवृत अवस्थाओं का अध्ययन अधिक ज्ञानवर्धक होता है।

तृतीय खण्ड नैतिक जीवन



अध्याय—1

सामाजिक एकता

1. सामाजिक अहम्

हम यह देख चुके हैं कि एक दृष्टि से यह कहना बिल्कुल सही है कि सच्चा अहम् तर्कनाशील अहम् है। अब इसका अर्थ समझने का प्रयत्न करें। प्रारम्भ में ही हमें यह कहना चाहिए—जैसा कि हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं—कि सच्चा अहम् सामाजिक अहम् है। अभी तक हम व्यक्त की बात इस प्रकार करते आए हैं जैसे कि वह एक स्वतन्त्र और अकेली इकाई हो। पर यह याद रखने के भी अवसर अवसर आए हैं कि प्रत्येक व्यक्ति एक सामाजिक व्यवस्था का अंग है। एकाकी व्यक्ति की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। अरस्तू ने ठीक ही कहा था कि एकाकी व्यक्ति 'या तो पशु होगा या देवता'¹। यह बात हम पहले भी कह चुके हैं। ऐसे व्यक्ति का कोई आदर्श अहम् ही नहीं सकता। या तो उसने एक देवता की भाँति अपने आदर्श को पा लिया है, और या पशु की भाँति उसका कोई आदर्श है ही नहीं, जिसे वह प्राप्त करे; क्योंकि हमारे आदर्श अहम् का मूल रूप हमें समाज के जीवन में ही प्राप्त होता है और उसी रूप में वह हमारे सामने प्रत्यक्ष रहता है। इतना ही नहीं, हमारे आदर्श की सिद्धि के लिए भी समाज की आवश्यकता है, क्योंकि एक पूर्ण तर्कनाशील अहम् की स्थिति ऐसे जगत् में ही सम्भव है जो पूर्ण रूप से तर्कनापरक हो। ऐसा तर्कनापरक जगत् वही हो सकता है जिसके निवासी तर्कनाशील हों। इसलिए हमें अरस्तू के कथन से भी आगे बढ़कर कहना होगा कि देवता के लिए भी सामाजिक होना अनिवार्य है। देवता को भी अपने लिए एक तर्कनापरक जगत् चाहिए और इसलिए वह या तो ऐसे तर्कनापरक जगत् की सृष्टि करेगा या हेगेल के शब्दों में, अपने से बाहर ऐसे तर्कनाशील जीवों के जगत् में जाएगा।

पर यह विषय इतना गूढ़ है कि इसका यहाँ केवल संकेत-भर किया जा सकता है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि अपने संगी-साथियों के सम्बन्ध से ही हमें अपना आदर्श जीवन प्राप्त होता है।

जहाँ कहीं दो-चार व्यक्ति एकत्र हों

वहाँ, उन्हीं के बीच मिलूंगा मैं सदा²। —हमारे व्यक्ति-बोधक

1. Politics, I, ii, 14: "जो समाज में रहने से असमर्थ है या जिसे समाज की कोई आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि वह अपने-आप में पूर्ण है, ऐसा व्यक्ति या तो पशु होगा या देवता।"
2. मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि यह उक्ति जिस अर्थ में यहाँ उद्धृत की गई है उसी अर्थ में कही गई थी। पर मैं समझता हूँ कि धार्मिक व्यक्तियों द्वारा प्रायः इस उक्ति का प्रयोग

में की, या आदर्श अहम् की उपलब्धि किसी एक एकाकी व्यक्ति में नहीं होती, बल्कि व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों में होती है। यह आदर्श अहम् साहित्य और कला में, राज्य के विधानों में और पूर्णता की उन सीखों में मूर्तिमान होता है जिनकी रचना समाज धीरे-धीरे अपने लिए करते हैं।

2. समाज : एक एकता

इसलिए समाज को एक एकता मानना चाहिए—वास्तव में उसे एक जैविक एकता मानना चाहिए, जैसा कि हम जागे चलकर देखेंगे। इसके अंग एक-दूसरे के लिए उसी प्रकार आवश्यक हैं जिस प्रकार एक जीवित प्राणी के अंग परस्पर आवश्यक होते हैं और सच्चा जीवन किसी एक अंग में नहीं बल्कि पारस्परिक सम्बन्ध के सन्दर्भ में सभी सुसंहत अंगों में प्राप्त हो सकता है। “हम सब एक-दूसरे के अंग हैं।” एक अंग के आदर्श जीवन के लिए आवश्यक है कि दूसरा अंग उसकी पूर्ति करे; और पारस्परिक सहायता से ही सबका विकास पूर्णता की ओर होता है। पहले ही हम इस लक्ष्य की थोड़ा-बहुत समझ चुके हैं, आगे चलकर और अधिक स्पष्ट रूप से समझेंगे।¹

3. स्वार्थवाद और परार्थवाद

अब तक नैतिक जीवन के सम्बन्ध में जो मत व्यक्त किया गया उसमें अब इस तथ्य के कारण कुछ संशोधन करना होगा। हमने आत्म-सिद्धि (Self-realization) या चरम मूल्य (Supreme value) को नैतिक जीवन का महान् साध्य कहा है। किन्तु व्यक्ति सामाजिक एकता का एक अंग है, इसलिए केवल अपने जीवन की पूर्णता, या जो कुछ उसे सर्वाधिक आधारभूत मूल्यों वाला जान पड़े, उसकी सिद्धि ही उसका परम साध्य नहीं हो सकती; जिस समाज का वह एक अंग है उसकी पूर्णता भी उसका परम साध्य है। बहुत-कुछ तो ये दोनों साध्य एक-दूसरे से मिलते-जुलते हैं। पर, पहली नजर में, इन दोनों के बीच संघर्ष की भी कुछ सम्भावनाएँ दिखाई देंगी। जब हम केवल अपने ही व्यक्तिगत साध्य की सिद्धि चाहते हैं तब इसे स्वार्थवाद कहा जाता है; परार्थवाद है दूसरों के साध्य की सिद्धि का प्रयत्न करना। इन दोनों के पारस्परिक परिशुद्ध सम्बन्धों पर विचार करना बहुत ही आवश्यक और महत्वपूर्ण है।

4. स्पेन्सर द्वारा स्थापित सामंजस्य

इस विषय पर हर्बर्ट स्पेन्सर² ने काफ़ी विचार किया था और यह दिखाने का प्रयत्न किया था कि इन दोनों दृष्टिकोणों में सामंजस्य कैसे स्थापित किया जा सकता है। उन्होंने यह बताया कि यदि इन्हें अतिशय पराकाष्ठा तक ले जाया जाए तो

एकता की उस चेतना को, और एक उच्चतर विश्व में उस चेतना के ऐसे उन्नयन को व्यक्त करने के लिए किया गया है, जो अपने नैतिक जीवन की प्रगति के सामान्य लक्ष्य और एक सामान्य भावना वाले, कुछ व्यक्तियों के एक साथ एकत्रित होने पर ही प्राप्त होता है। Clifford की रचना ‘Tribal Self’ में ऐसा ही भाव है। देखिए, प्रथम खण्ड, अध्याय 6, अनु० 10।

1. अगले अनुभाग 11 और 12 देखिए। इस अनुभाग में केवल प्रारम्भिक विवरण दिया जा रहा है।
2. Data of Ethics, अध्याय 11 और 14। तुलना कीजिए Stephen की पुस्तक Science of Ethics, अध्याय 6; Dewey की पुस्तक Outlines of Ethics, पृ० 70-1 और Muirhead की पुस्तक Elements of Ethics, पृ० 168-9।

दोनों ही दृष्टिकोण स्वयं अपने-आपको निर्मूल कर देते हैं। यदि प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने साध्य की ही सिद्धि चाहे तो एक का भी साध्य सिद्ध हो पाना दूभर हो जाएगा, क्योंकि हर एक को अक्सर सहायता की जरूरत पड़ती है। दूसरी ओर प्रत्येक व्यक्ति केवल दूसरों के कल्याण में ही दत्तचित्त हो जाए तो इससे दूसरों का कल्याण ही खतरे में पड़ जाएगा; क्योंकि यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी देखभाल करना छोड़ दे तो दूसरों की सहायता करने की उसकी सामर्थ्य ही क्षीण हो जाएगी। स्पेन्सर ने बड़े रोचक ढंग से इसका विश्लेषण किया था और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि न तो शुद्ध स्वार्थवाद को और न शुद्ध परार्थवाद को ही हमें अपना लक्ष्य बनाना चाहिए, बल्कि दोनों के बीच सामंजस्य स्थापित करना चाहिए। उनकी यह भी धारणा थी कि समाज का जितना ही अधिक विकास होगा उतना ही अधिक साम्य इन दोनों साध्यों में स्थापित होता जाएगा।

5. आत्म-त्याग द्वारा आत्म-सिद्धि

पर ऐसा लगता है कि स्वार्थवाद और परार्थवाद के बीच जितना अन्तर स्पेन्सर ने स्वीकार किया था वास्तव में इन दोनों में उससे भी कम अन्तर है। सामाजिक साध्यों को प्राप्त कर लेने पर ही हमें सच्चे अहम् या पूर्ण शुभ की प्राप्ति हो सकती है। इसके लिए हमें निर्रे व्यक्तिगत अहम् को समाप्त करना होगा, क्योंकि हम कह चुके हैं कि वह सच्चा अहम् नहीं है। हमें आत्म-त्याग करके ही आत्म-सिद्धि प्राप्त होगी।¹ जितनी ही अधिक पूर्ण आत्म-सिद्धि हमें इस प्रकार प्राप्त होती है उतना ही अधिक हम स्वार्थवादी दृष्टिकोण के नजदीक पहुँचते हैं—अर्थात् उस दृष्टिकोण के नजदीक, जिसके अनुसार हमारा अपना व्यक्तिगत कल्याण हमें अन्य किसी के भी कल्याण से बढ़कर नहीं दिखाई देता। वेशक हमारे लिए हमेशा यह जरूरी होगा कि अन्य किसी की अपेक्षा हम स्वयं अपने व्यक्तिगत विकास की अधिक चिन्ता करें; क्योंकि अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं को प्रत्येक व्यक्ति खुद ही सबसे ज्यादा अच्छी तरह समझता है, और अपनी प्रकृति की पूर्णता के सर्वोत्तम साधन भी वही जानता है। किन्तु जब सबके कल्याण को दृष्टि में रखकर ऐसा किया जाता है तब हम उसे स्वार्थवाद नहीं कह सकते। यह आत्म-सिद्धि है जरूर, पर यह आत्म-सिद्धि सबके हित के लिए है।

इस प्रकार की आत्म-सिद्धि में हम अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं और सनकों का बलिदान कर देते हैं और अपना विकास उसी भावना के साथ उन्हीं साध्यों के लिए करते हैं जिस भावना से और जिन साध्यों के लिए हम दूसरों का विकास करना चाहते हैं। जब हमारा जीवन इस प्रकार की भावना से चलता है तब स्वार्थवाद और परार्थवाद का अन्तर समाप्त हो जाता है। हम न केवल अपना शुभ चाहते हैं और न केवल दूसरों का शुभ चाहते हैं, बल्कि अपना और समाज के अन्य सदस्यों का सम्मिलित एकरूप शुभ चाहते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर आत्म-सिद्धि को चरम साध्य मानने के बजाय एक तर्कनापरक जगत् की सिद्धि को ही चरम साध्य मानना अधिक अच्छा जान पड़ता है। यह और भी अच्छा होगा कि हम ऐसे सर्वाधिक पूर्ण शुभ की सिद्धि को अपना चरम साध्य मानें जिसे हम प्राप्त कर सकते हों; और ऐसा शुभ स्पष्ट रूप से सामाजिक शुभ है।

1. Caird की पुस्तक Hegel के पृ० 210-18 से तुलना कीजिए।

6. नीतिशास्त्र, राजनीति का एक अंग

संक्षेप में, हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि मनुष्य 'एक राजनैतिक प्राणी'¹ है, जैसा कि अरस्तू ने कहा था; और राजनीति का एक अंग माने बिना नीतिशास्त्र का सन्तोषजनक विवेचन नहीं किया जा सकता। राजनीति का अंग मानने का अर्थ है समाज के विवेचन का अंग मानना। पग-पग पर हमारे कर्तव्य और हमारे सद्गुण हमारे पारस्परिक सम्बन्धों पर निर्भर रहते हैं। प्राचीन यूनानी विचारकों ने इस तथ्य को जितने स्पष्ट रूप में पहचाना था, अनेक आधुनिक लेखकों ने इसे उतने स्पष्ट रूप से नहीं समझा, क्योंकि, कुछ तो व्यक्तिगत पूर्णता पर अधिक जोर दिए जाने के कारण भी—जो ईसाई मत की एक विशेषता है², आधुनिक समय में हम व्यक्ति की स्वतन्त्रता का विचार अधिक करने लगे हैं। इसलिए यह अच्छा होगा कि नीतिशास्त्र के सम्बन्ध में प्लैटो और अरस्तू के दृष्टिकोण को भी हम संक्षेप में देखते चलें।

7. नीतिशास्त्र के सम्बन्ध में प्लैटो का मत

मनुष्य की सामाजिक प्रकृति से और समाज के सन्दर्भ में ही जीवन का अध्ययन करने की आवश्यकता से प्लैटो इतना अधिक प्रभावित थे कि नीतिशास्त्र के विवेचन में उन्होंने व्यक्ति के सद्गुणी जीवन की विशेषताओं की परख करने के बजाय पहले एक अच्छे राज्य की विशेषताओं को निर्धारित करने का प्रयत्न किया। उनका विचार था कि एक अच्छे राज्य की विशेषताएँ निर्धारित कर लेने के बाद एक सद्गुणी व्यक्ति की विशेषताएँ निर्धारित करना बहुत ही आसान काम होगा। इसी-लिए अपनी पुस्तक रिपब्लिक में उन्होंने एक आदर्श राज्य की रूपरेखा खींची है। तत्कालीन यूनानी लोगों में प्रचलित एक वर्गीकरण के अनुसार उन्हें ऐसा लगा कि एक आदर्श राज्य के लिए चार महान् सद्गुणों की आवश्यकता होती है; ये सद्गुण हैं—ज्ञान, साहस, मिताचार और न्याय; और उनका विचार था कि एक आदर्श राज्य में इन सद्गुणों की सार्थकता परखने से उन्हें यह मालूम हो जाएगा कि व्यक्ति के जीवन में इनकी सार्थकता क्या होगी।³

8. नीतिशास्त्र के सम्बन्ध में अरस्तू का मत

मनुष्य स्वभाव से ही सामाजिक प्राणी है—इस तथ्य पर अरस्तू को प्लैटो से कम विश्वास न था। नीतिशास्त्र पर अपना ग्रन्थ लिखते हुए—जो कुछ अर्थों में इस विषय का सर्वोत्तम ग्रन्थ है—उन्होंने प्रारम्भ में ही कहा है कि नीतिशास्त्र

1. Politics I, II, 9।

2. कुछ इस कारण भी कि व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों ने किसी भी सामाजिक व्यवस्था को एक पूर्ण इकाई मानना असम्भव बना दिया है।

3. Plato के नीतिशास्त्र का और अधिक विवरण जानने के लिए देखिए Sidgwick की पुस्तक History of Ethics, पृ० 35-51। Plato की पुस्तक Republic इतनी रोचक और महत्त्वपूर्ण है कि प्रत्येक विद्यार्थी को उसके पढ़ने का अवसर निकालना ही चाहिए। Jowett ने तथा Davies व Vaughan ने इसके बड़े सुन्दर अनुवाद किए हैं। इस अध्ययन में Dr. Bosanquet की पुस्तक Companion to Plato's Republic की सहायता अवश्य लेनी चाहिए।

राजनीति का एक अंग है।¹ ग्रन्थ के अधिकांश भाग में उन्होंने उन सद्गुणों का विवेचन किया है जो किसी राज्य के एक अच्छे नागरिक में होने चाहिए, जैसे कि यूनान और विशेषकर एथेन्स में उन्होंने देखे थे। बेशक वह इस बात को मानते थे कि एक प्रकार का जीवन ऐसा है जो राजनैतिक क्रियाशीलता के जीवन से ऊँचा है; और इसे वे चिन्तनशील या कल्पनाशील जीवन कहते थे (जिसे हम विज्ञान का जीवन या विद्यार्थी का जीवन कह सकते हैं)। पर उनकी धारणा थी कि ऐसा जीवन भी नागरिक सद्गुणों के आधार पर ही निर्मित हो सकता है।²

9. विश्व-नागरिकता

तो इस प्रकार यूनानियों का सर्वोत्तम नीतिशास्त्र इस धारणा पर आधारित था कि राज्य ही वह क्षेत्र है जिसकी परिधि के भीतर व्यक्ति को जीवन की सिद्धि मिल सकती है। यूनानी नगर-राज्यों के स्वर्णिम दिन समाप्त हो जाने के बाद, जब यूनान का अपना सभी कुछ रोम के शासन-चक्र से कुचला जाने लगा था,³ तभी स्टोइक दार्शनिकों (उदासी पंथवालों) ने यह नारा बुलन्द किया था कि सद्गुणी व्यक्ति (या, स्टोइकों के शब्दों में, 'प्रज्ञावान व्यक्ति') वह है जो किसी प्रकार के सामाजिक बन्धनों का गुलाम न हो, बल्कि अपना स्वतन्त्र जीवन बिताता हो। फिर भी, स्टोइकों ने भी यह मंजूर किया था कि अच्छा व्यक्ति भी नागरिक तो होता ही है; पर उनका कहना था कि उसे 'विश्व का नागरिक' होना चाहिए, न कि किसी समुदाय-विशेष का। इस प्रकार एक सद्गुणी व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्ध इतने अस्पष्ट बना दिये गए कि उनकी परवाह करना भी अनावश्यक मालूम होने लगा। स्टोइकों के उपदेशों में बहुत-सी ऊँची-ऊँची बातें थीं; किन्तु सामाजिक सम्बन्धों को निश्चित रूप से स्वीकार न करने के कारण ये सारे उपदेश प्रभावहीन, कठोर और सारहीन-से हो गए। व्यक्ति की स्वतन्त्रता का झूठा गर्व भी इन उपदेशों में घर कर गया।

10. ईसाई नीतिशास्त्र

कहा जा सकता है कि ईसाई मत भी कुछ हद तक स्टोइकों के ही रास्ते पर चला।⁴ तात्त्विक दृष्टि से ईसाई मत विश्व-नागरिकतावादी भी था और व्यक्ति के स्वतन्त्र जीवन पर भी जोर देता था।⁵ प्रत्येक व्यक्ति को "अपनी मुक्ति का मार्ग

1. राजनीति के उस व्यापक अर्थ में जिस अर्थ में यूनानी लोग इसका प्रयोग करते थे। आधुनिक समय में हमें शायद यह कहना चाहिए कि नीतिशास्त्र सामाजिक दर्शन का एक अंग है, जैसा कि हम पहले कह भी चुके हैं। नीतिशास्त्र और राजनीति के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में विद्यार्थी को Sidgwick की पुस्तक *Methods of Ethics*, भाग 1, अध्याय 2 पढ़ना चाहिए। Muirhead की पुस्तक *Elements of Ethics*, भाग 1, अध्याय 3, अनु० 13 भी देखिए।
2. देखिए, Sidgwick की पुस्तक *History of Ethics*, पृ० 51-70।
3. देखिए, Caird की पुस्तक *Hegel*, पृ० 204-7, Zeller की पुस्तक *Stoics, Epicureans and Sceptics*, पृ० 15-16 और Wallace की *Epicureanism*, अध्याय 1।
4. देखिए, Sidgwick की पुस्तक *History of Ethics*, पृ० 114-17।
5. ईसाई मत ने स्टोइकों से भी अधिक जोरदार शब्दों में व्यक्ति के गौरव पर जोर दिया। स्टोइकों ने तो प्रज्ञावान व्यक्ति या दार्शनिक ही के गौरव की बात की थी; ईसाई मत का उपदेश तो 'सर्वसामान्य लोगों और पापियों' को दिया गया।

खोजना होगा," और आदर्श जीवन बिताने के लिए माता-पिता और अन्य सामाजिक सम्बन्धियों को छोड़ना भी होगा। ईसाई मत ने एक दिव्य व्यक्तित्व के अनुकरण को भी आदर्श जीवन बताया।

पर यह तो ईसाई मत का केवल एक पहलू था। इस सिद्धान्त पर भी ईसाई मत ने कम जोर नहीं दिया कि "हम एक-दूसरे के अंग हैं" और पूर्णता की सिद्धि के लिए हमें परस्पर एक-दूसरे के साथ और ईश्वर के साथ अपनी तात्त्विक एकता स्वीकार करनी होगी। फिर भी, चूंकि एक विरोधी संसार में उसे आगे बढ़ना था, इसलिए ईसाई मत के लिए शुरू में पृथक्करण की आवश्यकता पर जोर देना जरूरी हो गया। इसके अनुयायियों को स्वीकार करना पड़ा कि वे 'संसार के नहीं हैं' ताकि उनके आदर्श शुद्ध बने रहें, उनमें भ्रष्टता न आए। पर काफ़ी हद तक संसार पर विजय पा लेने के बाद ईसाई मत का दूसरा—सामाजिक—पक्ष आगे बढ़ा, और आजकल सम्भवतः इस मत की सर्वाधिक सार्थकता इसी पक्ष में है।

इस प्रकार चाहे हम प्राचीन नीतिशास्त्रों को देखें चाहे अर्वाचीन को, यह समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी कि इनमें जो कुछ भी सर्वोत्तम है उसमें व्यक्ति की सामाजिक प्रकृति की स्वीकृति अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। और इसलिए अब इस मत को छोड़ देना ही अच्छा होगा कि व्यक्ति के जीवन को पूर्ण बनाया जाना चाहिए, और इसका विचार करना उचित होगा कि समाज की पूर्णता का क्या अर्थ है।

11. सामाजिक संसार

पर पहले हमें इस दृष्टिकोण का सम्बन्ध वास्तविक मानव-जगत् के साथ स्थापित करना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य का जीवन, यदि वह बिल्कुल पागल नहीं है तो, कमो-वेश एक सुसंगत पूर्णता के रूप में होता है। उसके सारे कार्य न्यूनाधिक रूप में एक व्यवस्थित योजना के अनुसार होते हैं। इसी पूर्णता को, इसी योजना को, साध्यों के इसी समवाय को—जिनकी सिद्धि का मनुष्य प्रयत्न करता है—हम वह जगत् कहते हैं जिसमें वह अपना जीवन बिताता है। यह जगत् हमेशा एक सामाजिक संसार होता है। जिस सामाजिक पर्यावरण द्वारा मनुष्य का निर्माण होता है, उसके प्रभाव से सर्वाधिक मौलिक और सर्वाधिक मानव-द्वेषी लोग भी नहीं बच सकते। जिस जाति या राष्ट्र या जन-समूह में उनका जीवन बीतता है उसके द्वारा स्वीकृत नैतिक दृष्टिकोण का, अपने 'समाज के लोकाचार' का, कुछ-न-कुछ प्रभाव अनिवार्य रूप से उन पर पड़ता ही है। जिस नैतिक वातावरण में वे जीवन व्यतीत करते हैं उसीसे अधिकांश रूप में वह जगत् बनता है जिसमें उनकी इच्छाओं की पूर्ति होती है। यह तथ्य इतना सही और व्यापक है कि प्रत्येक व्यक्ति, अस्वाभाविक मनःस्थिति को छोड़कर, हमेशा अपने-आपको एकाकी व्यक्तित्व न मानकर किसी-न-किसी समुदाय का अंग मानता है।

इस तथ्य पर मिल-जैसे एक व्यक्तिवादी लेखक ने भी जोर दिया है।¹ वह लिखते हैं, "सामाजिक स्थिति इतनी स्वाभाविक, इतनी आवश्यक और मनुष्य के लिए इतनी अभ्यस्त है कि असाधारण परिस्थितियों अथवा स्वेच्छामूलक अन्यमनस्कता को छोड़कर वह कभी भी यह नहीं सोचता कि वह किसी भी समुदाय का अंग नहीं है।"²

1. Mill ने स्वीकार किया है कि यह विचार उन्हें Comte का अध्ययन करने से मिला। उनके आत्म-चरित के अध्याय 4 से तुलना कीजिए। पर ऐसा लगता है कि अपने दार्शनिक विचारों के साथ Comte के विचारों की संगति बैठाने की Mill ने कोई खास कोशिश नहीं की।
2. देखिए Utilitarianism, अध्याय 3, पृ० 46-7।

और जैसे-जैसे मनुष्य जाति जंगलीपन की आजादी से दूर हटती जाती है वैसे-वैसे यह सामाजिक सम्बन्ध और भी अधिक गहरा होता जाता है। इसलिए सामाजिक स्थिति के लिए जो भी शर्त अनिवार्य होती है वह धीरे-धीरे उस जगत् का एक अविभाज्य अंग बनती जाती है जिसमें हम पैदा हुए हैं और जो किसी भी मनुष्य के जीवन का लक्ष्य है।”

इसीलिए जब हम किसी ऐसे बड़े मानव-समुदाय पर विचार करते हैं जो एक भाषा, एक कानून, एक धर्म और एक ही सामान्य हित के सूत्रों से बँधा हुआ हो, तब हम कह सकते हैं कि उस समुदाय के लोग एक ही जगत् में रहते हैं। बेशक, उन सबकी व्यक्तिगत विशेषताएँ भी होंगी; उन सामान्य सूत्रों का बन्धन किसी को ज्यादा और किसी को कम प्रभावित करेगा; और प्रत्येक के लिए वह जगत् प्रतिवर्ष और प्रतिदिन बहुत-कुछ परिवर्तित भी होता रहेगा। फिर भी, व्यापक दृष्टिकोण से, प्रत्येक व्यक्ति के देश और काल की नैतिक आदतें उसके व्यक्तिगत स्वभाव की विशेषताओं पर छा जाती हैं और जीवन-सम्बन्धी उसके दृष्टिकोण पर तथा आजीविका-सम्बन्धी उसकी धारणा पर गहरा निर्णायक प्रभाव डालती हैं। परस्पर एक-दूसरे को ठीक-ठीक समझने-समझाने की आवश्यकता और उससे होनेवाला असीम लाभ तथा परस्पर बराबर सहयोग करते रहने की आवश्यकता ही किसी भी समुदाय के सदस्यों में सजातीयता उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त होती हैं। और जब आनुवंशिकता (heredity) तथा शिक्षा का भी प्रभाव इनसे मिल जाता है तो इनकी शक्ति अपार हो जाती है।

12. समाज एक जीवांग

इस विवेचन से अंशतः उस विचार को समझने में हमें सहायता मिलेगी जो हाल ही में विभिन्न मतों के विचारकों में काफ़ी प्रचलित हो गया है और जिसके अनुसार समाज को एक ‘अंगीय एकता’ माना जाता है। मोटे तौर से इसका अर्थ यह है कि जैसे एक सजीव शरीर के विभिन्न अंगों में हम एक सामान्य जीवन की सत्ता स्वीकार करते हैं जो उन सभी अंगों को सजीव बनाती है, उसी प्रकार की एकता मानव-समाज के सदस्यों में भी हमें स्वीकार करनी चाहिए। इस विचार को कभी-कभी एक रूपक के सहारे स्पष्ट किया गया है; अर्थात् मानव-समाजों के गठन और पशुओं या वनस्पतियों की शरीर-रचना के बीच समानान्तर तुलना करने का प्रयत्न किया गया है।¹ इस प्रकार के रूपक कभी-कभी कुछ संकेत जरूर देते हैं, पर कुल मिलाकर इनमें अन्तर्दृष्टि की अपेक्षा कल्पनाशीलता ही अधिक दिखाई देती है।

तत्त्व की बात तो यह है कि मानव-व्यक्तित्व कभी भी एकाकी नहीं होता। अन्य व्यक्तियों के साथ कुछ निश्चित सम्बन्धों के अभाव में उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। मनुष्य के नैतिक जीवन का विधायक रूप इन्हीं सम्बन्धों पर निर्भर रहता है; इन सम्बन्धों के अभाव में वह ठीक ऐसे ही नष्ट, निष्प्राण हो जाएगा जैसे शरीर से काट दिए जाने पर उसका कोई भी अंग निर्जीव, नष्ट हो जाता है। व्यक्ति

1. उदाहरण के लिए Herbert Spencer ने अपनी पुस्तक Principles of Sociology में ऐसी तुलना की है। एक जर्मन लेखक Schaffle ने अपनी पुस्तक Bau und Leben des socialen में यह रूपक और भी अधिक ब्यौरेवार ढंग से बाँधा है। Sir Leslie Stephen (Science of Ethics, पृ० 126) ‘सामाजिक जीवांग’ की अपेक्षा ‘सामाजिक ऊतक’ (social tissue) कहना अधिक पसन्द करते थे, क्योंकि जिस प्रकार जीवांग के अवयव एक-दूसरे से जुड़े होते हैं, उसी प्रकार व्यक्तियों को परस्पर सम्बद्ध रखनेवाली कोई स्थायी एकता नहीं होती।

का सारा नैतिक जीवन, उसके सारे उद्देश्य, उसका सम्पूर्ण प्रयोजन और मूल्य उन आदर्शों, संस्थाओं और नैतिक आदतों से प्रभावित और निर्धारित होते हैं जिनके बीच उसके जीवन का विकास होता है। और इसलिए नैतिक जीवन का विवेचन करते समय केवल एक व्यक्ति का ही विचार करना जरूरी नहीं होता, बल्कि उस एकता या समाज का विचार करना भी महत्वपूर्ण और आवश्यक होता है जिसमें व्यक्ति के जीवन का प्रमुख भाग बीता हो।¹ इस एकता के बावजूद एक अर्थ में व्यक्ति का अपना व्यक्तिगत जीवन भी होता है। इस विषय पर हम आगे चलकर विचार करेंगे।

13. सामाजिक जगत् की श्रेष्ठता

अब इस विवेचन में स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि व्यक्तिगत चेतना के जगत् से सामाजिक जगत् को श्रेष्ठ क्यों माना जाए। इसका उत्तर यह है कि व्यक्ति अपने अहम् में स्वभावतः अपूर्ण होता है और अपनी सिद्धि के लिए उसे एक व्यापक पूर्णता की आवश्यकता होती है। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार की व्यापक पूर्णता सम्भवतः किसी ऐसे तत्व में मिल सकती है जो समाज से ऊपर, उससे भी परे हो; और यदि किसी नवीन नैतिकता का निर्माण हमें करना हो तो ऐसे वृहत्तर विश्व की खोज करनी पड़ सकती है। किन्तु यदि हम विकासवादी दृष्टिकोण स्वीकार करते हैं तो जिस माध्यम से नैतिक विकास की यथार्थ प्रक्रिया ज्ञात हो उसे ही स्वीकार करना होगा। यदि यह सच है कि सामाजिक पूर्णता से बाहर या पृथक् रहकर व्यक्ति की कोई वास्तविकता नहीं रह जाती और इस पूर्णता के भीतर ही व्यक्ति का विकास हो पाता है, तो फिर इस पूर्णता के प्रति व्यक्ति की निष्ठा में उतनी ही बन्धन-शक्ति है जितनी आदर्श अहम् या पूर्ण शुभ के प्रति उसकी निष्ठा में होनी चाहिए। अपने विकास के आवश्यक माध्यम से अपने को अलग करके हम शून्य में अपने-आपको पूर्ण बनाने का प्रयत्न नहीं कर सकते।

इस प्रश्न पर और अधिक विचार करने के लिए हमें अहम् के स्वरूप का विवेचन करना होगा; जिस सामाजिक पूर्णता में उसका विकास होता है उसके साथ और सामान्य जगत् के साथ उसके सम्बन्धों का विवेचन करना होगा। यह सब तत्त्व-मीमांसीय विवेचन है। नैतिक आदर्श का प्रामाण्य पूरी तरह प्रतिष्ठित करने के लिए ऐसा विवेचन आवश्यक हो सकता है। पर यह विवेचन उस पुस्तक के विषय से बाहर की बात है जिसका उद्देश्य तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में कदम रखना नहीं है। आगे चलकर, अन्तिम अध्याय में हम इस समस्या के स्वरूप का कुछ संकेत कर सकेंगे। यहाँ नैतिक जीवन पर सामाजिक जगत् के प्रभाव की सार्थकता की चर्चा ही पर्याप्त होगी।

1. समाज के जैवांगिक स्वरूप के सम्बन्ध में विद्यार्थी को पढ़ना चाहिए—Bradley की Ethical Studies, पृ० 173-89; बोसोंके की Philosophical Theory of the State, विशेष रूप से अध्याय 7 और 8, तथा म्यूरहेड की Elements of Ethics, पृ० 170-8। जैवांगिक एकता की अच्छी व्याख्या मूर की Principia Ethica में पृ० 27 पर विशेष रूप से की गई है। इस विषय पर कुछ आलोचनात्मक टिप्पणियाँ McTaggart की Studies in Hegelian Cosmology, अध्याय 2 में देखिए। इस पुस्तक के कुछ अगले अध्यायों को पढ़ने के बाद विद्यार्थी इस विषय को सम्भवतः और अच्छी तरह से समझ सकेंगे।

14. सामाजिक एकता के साथ अन्तर्भावना का सम्बन्ध

अन्तर्भावना के निर्माण में सामाजिक पर्यावरण के महत्त्व पर कई एक आधुनिक लेखकों ने विचार किया है। उदाहरण के लिए नैतिक अनुशासितियों¹ का विवेचन करते हुए मिल² ने इस पर काफ़ी जोर दिया है। इस विषय पर मिल के तथा अन्य लोगों के सभी विचारों का समर्थन हमें नहीं करना; हम तो यहाँ संक्षेप में, अन्तर्भावना के स्वरूप के सम्बन्ध में जो कहना है, कहेंगे और सामाजिक संसार के साथ उनके सम्बन्धों का संकेत मात्र करेंगे।

पहले ही कहा जा चुका है कि 'अन्तर्भावना'³ शब्द के प्रयोग में दोहरी अस्पष्टता है। कभी-कभी इस शब्द का प्रयोग, उन मूलभूत सिद्धान्तों को व्यक्त करने के लिए किया जाता है जिनके आधार पर नैतिक निर्णय किया जाता है; कभी इस शब्द का प्रयोग किसी व्यक्ति द्वारा अंगीकार किये गए सिद्धान्तों को व्यक्त करता है; शायद अधिकतर इस शब्द का अर्थ होता है : "वह विशेष प्रकार का सुख या वलेश जो सिद्धान्त के साथ अपनी अनुरूपता या अननुरूपता का बोध होने पर होता है।"⁴

अन्तिम अर्थ मुझे सबसे ज्यादा सुविधाजनक मालूम होता है⁵, सिवाय इसके कि मैं इस अर्थ का आशय केवल इतना मानूँगा कि यह सिद्धान्त के साथ हमारी अनुरूपता⁶ के फलस्वरूप होनेवाली वलेश की भावना है। इस शब्द का यह अर्थ स्पष्टतः

1. नैतिक अनुशासितियों की व्याख्या के लिए अध्याय 6 के अन्त में दी गई टिप्पणी देखिए।
2. Utilitarianism, अध्याय 3। और भी तुलना कीजिए Bradley की पुस्तक Ethical Studies, पृ० 198-9, Stephen की पुस्तक Science of Ethics अध्याय 8, Clifford के Lectures and Essays (On the Scientific Basis of Ethics), और Dr. Starcke का लेख 'The Conscience' जो International Journal of Ethics, vol. ii, No. 3 अप्रैल, 1892, पृ० 342-72 में छपा था। मेरे विचार से Hegel पहले लेखक थे जिन्होंने अपनी पुस्तक Rechtsphilosophie में अन्तर्भावना के सामाजिक प्रभाव का स्पष्ट निर्देश किया। Hegel के विचारों को Dewey ने Outlines of Ethics, पृ० 182-99 में सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है।
3. इस पुस्तक के प्रथम खण्ड का अध्याय 6 देखिए। तुलना कीजिए Hegel की Philosophy of Right अनु० 136-9 से।
4. Starcke, loc. cit., p. 348।
5. मुख्यतः इसलिए कि यह सर्वाधिक निश्चित अर्थ देता है। इससे आगे जाने पर व्यर्थ की अस्पष्टता सामने आती है।
6. अन्तर्भावना के साथ बहुधा जो रहस्य का तत्त्व मिला हुआ समझा जाता है, उसका कारण, मेरे विचार से, यह है कि 'सिद्धान्त के साथ अनुरूपता या अननुरूपता' का प्रत्यक्ष बोध प्रायः नहीं होता। प्रायः मनुष्य को इस विचार से बेचैनी होती है कि उसने कुछ अनुचित काम किया, पर वह ठीक-ठीक यह नहीं कह सकता कि किस सिद्धान्त का उसने उल्लंघन किया है। फिर अन्तर्भावना का 'सुख' कहना ठीक है, इसमें मुझे सन्देह है। नैतिक सिद्धान्त के साथ अनुरूपता तो स्वाभाविक स्थिति है, और इसे तटस्थता की स्थिति भी कहा जा सकता है। पर सिद्धान्त का उल्लंघन वलेश देता है। कर्तव्य का पालन तो व्यक्ति को फिर भी एक 'अलाभकर सेवक की स्थिति में छोड़ देता है। 'आध्यात्मिक गर्व' में वेशाक एक सुख है; पर क्या इसे अन्तर्भावना का सुख कहा जा सकता है? मेरे विचार से इस विषय में Carlyle का मत ठीक था : 'यह कहना कि हमारी अन्तर्भावना शुद्ध है, एक अशुद्ध प्रयोग है। यदि

दूसरे अर्थ से मिला हुआ है, क्योंकि जिन सिद्धान्तों के सम्बन्ध में व्यक्ति को क्लेश होता है वे उसी के द्वारा स्वीकृत सिद्धान्त होते हैं। फिर भी पहला अर्थ बिल्कुल गलत नहीं है; क्योंकि गहरे विवेक के जिन सिद्धान्तों पर नैतिक निर्णय आधारित रहता है उनका स्पष्ट बोध न रहते हुए भी जब कभी वह उनका उल्लंघन करता है तो उसे एक अस्पष्ट बेचैनी-सी होती है। पर सामान्यतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्पष्टतः स्वीकृत कर्तव्य का उल्लंघन करने पर ही अन्तर्भावना की पीड़ा होती है।

यह हम देख ही चुके हैं कि कर्तव्य-सम्बन्धी जिन सिद्धान्तों का व्यक्ति स्वीकार करता है वे अधिकांश रूप में उस सामाजिक जगत् द्वारा निर्धारित होते हैं जिसमें वह रहता है। इसलिए उसकी अन्तर्भावना भी बहुत-कुछ इसी के द्वारा निर्धारित होगी।¹ यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति की अन्तर्भावना उस व्यवस्था से संलग्न रहती है जिसे वह व्यक्ति सर्वोत्तम व्यवस्था मानता है। सच तो यह है कि अन्तर्भावना की पीड़ा के अनुरूप ही पीड़ा उस प्रत्येक जगत् के सम्बन्ध में होती है जिसमें मनुष्य रहता है, चाहे वह उसे सर्वोत्तम मानता हो, या न मानता हो। लज्जा² या पीड़ा की भावना शिष्टाचार या शिष्ट रचि के नियमों का उल्लंघन करने पर होती है; यह भावना किसी प्रकार की शारीरिक विकृति या बेढंगेपन के कारण भी होती है, और यह जानते हुए भी होती है कि जिस जगत् का यह शिष्टाचार या यह रचि है वह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है और इन विकृतियों या त्रुटियों को दूर कर सकना हमारी इच्छा-शक्ति के वश की बात नहीं है। इस प्रकार की भावना को अन्तर्भावनाभाम (Quasi-

हमने कभी पाप न किया होता तो हमारे पास अन्तर्भावना होती ही नहीं। देखिए उनका लेख 'Characteristics'।

बेशक, अनभ्यस्त कर्तव्यों के पालन से भी एक प्रकार की परितुष्टि होती है। सदा की भौति सप्ताह में तीन बार शराब पीने के बजाय यदि कोई व्यक्ति कभी सप्ताह में दो ही बार पीता है, अथवा झूठ बोलने का प्रबल प्रलोभन होने पर भी यदि वह सच बोलता है तो अपने इस काम से उसे प्रसन्नता होती है। किन्तु प्रसन्नता की इस भावना में वह स्वतः प्रवृत्ति और तात्कालिकता नहीं होती जो पीड़ा की भावना में होती है; और न प्रसन्नता की यह भावना इतनी शुद्ध नैतिक स्वरूप की ही होती है। कोई कठिन समस्या हल कर लेने पर जो प्रसन्नता होती है उसी से मिलती-जुलती यह प्रसन्नता भी है। मुझे ऐसा लगता है कि जैसे दाँत की पीड़ा के अनुरूप दाँत का सुख नहीं होता, उसी प्रकार अन्तर्भावना की पीड़ा के अनुरूप अन्तर्भावना का सुख भी नहीं होता।

1. Clifford के 'कबीली अहम्' (tribal self) सम्बन्धी विचार का यही आधार है; यह अहम् मनुष्य के कबीले या समाज का अहम् है और व्यक्ति का वैयक्तिक अहम् इसके अधीन रहता है। Clifford का कहना है कि मनुष्य की अन्तर्भावना 'उसके कबीली अहम् की आवाज' है। अन्तर्भावना की पीड़ा व्यक्ति की इस आत्म-भर्त्सना के ही समान है, "मैंने जो यह राजद्रोह या जातिद्रोह किया है उसके लिए मैं अपने कबीले के नाम पर अपने-आपसे क्षमा करता हूँ।" इस पुस्तक का प्रथम खण्ड, अध्याय 5 देखिए और Muirhead की Elements of Ethics, पृ० 164 से तुलना कीजिए।
2. अन्तर्भावना के कम-से-कम एक पक्ष के लिए यूनानी भाषा का एक शब्द, जिसका अनुवाद 'लज्जा' है, बहुत-कुछ समानार्थक जान पड़ता है। Stephen की पुस्तक Science of Ethics पृ० 321 और Caird की Critical Philosophy of Kant, खण्ड 2, पृ० 285-6 से तुलना कीजिए।

Conscience) कहा जा सकता है।¹ विचार करने पर हमें मालूम होता है कि या तो इन त्रुटियों के लिए हम उत्तरदायी नहीं हैं, या फिर इन त्रुटियों का कोई गम्भीर नैतिक महत्त्व नहीं है; पर तत्काल इस भावना को शुद्ध अन्तर्भावना से पृथक् कर पाना कठिन होता है।

कभी-कभी अन्तर्भावना के साथ इस भावना की टक्कर भी हो जाती है। इस प्रकार कर्तव्य के पालन में कभी शिष्टाचार का उल्लंघन भी हो सकता है; और परिणामतः हम चाहे जिस ओर कदम उठाएँ, हमें पीड़ा होती ही है, चाहे अन्तर्भावना की पीड़ा हो और चाहे अन्तर्भावनाभास की।

फिर, अन्तर्भावना कभी-कभी उस जगत् से संलग्न रहती है जिसे हम पीछे छोड़ चुके होते हैं। यदि हाल ही में हमने एक जगत् को पार कर दूसरे में कदम रखा है तो हमारी अन्तर्भावना सामान्यतः कुछ पीछे ही अटकी रहेगी और नए जगत् की अपेक्षा पुराने जगत् से ही नाता जोड़े रहेगी। प्रो० म्यूरहेड ने ठीक ही कहा है,² “भावना मानव-जीवन का रूढ़िवादी तत्त्व है !” नए जगत् से यह तब तक अपना नाता नहीं जोड़ती जब तक हमने अच्छी तरह उसमें रह न लिया हो और उसमें हमारा मन रम न गया हो; और पुराने जगत् से तब तक यह अपना नाता नहीं तोड़ती जब तक हमारा पूरा-पूरा सम्बन्ध-विच्छेद उससे न हो जाए। इस प्रकार मनुष्य को किसी ऐसे कार्य के करने में प्रायः अन्तर्भावना की पीड़ा या अन्तर्भावनाभास की पीड़ा होगी जिसे उसकी तर्कबुद्धि ने स्वीकार्य³ या विधायक कर्तव्य भी क्यों न मान लिया हो; दूसरी ओर किसी नए आबन्ध का उल्लंघन करने में उसे किसी प्रकार की भी पीड़ा प्रायः नहीं होगी⁴। सामान्यतः जिन सिद्धान्तों को हम सर्वोच्च सिद्धान्त मान

1. Elements of Ethics, पृ० 81 में Prof. Muirhead ने इसकी बड़ी सुन्दर निदर्शना दी है। यह निदर्शना Prof. Royce की Religious Aspect of Philosophy, (पृ० 53-4) से ली गई है : “किसी दूसरे व्यक्ति का मौसमी टिकट लेकर आप यात्रा करते हैं, या सफेद झूठ बोलते हैं, या किसी को दुखानेवाली बात कहते हैं और, यदि इन सब कामों से आप अभ्यस्त हैं तो, आपकी अन्तर्भावना कुछ नहीं बोलती। पर रास्ते में किसी गलत आदमी को नमस्कार कर दें, या किसी शब्द का अशुद्ध उच्चारण कर दें, या किसीका पानी-भरा गिलास गिरा दें तो सारे दिन, और कभी-कभी हफ्तों, आप अपनी भूल पर पछताते हैं। कर्तव्य की भावना कुछ ऐसी ही निष्पक्ष होती है।” इसी प्रकार की निदर्शनाओं के लिए देखिए Stephen की पुस्तक Science of Ethics, पृ० 323 और Spencer की पुस्तक Principles of Ethics पृ०, 337।
2. Elements of Ethics, पृ० 80। Jacob के इस कथन से तुलना कीजिए जिसे Miss Wedgwood ने The Moral Ideal के पृ० 233 पर उद्धृत किया है : “एक पीढ़ी के विचार उसके बाद आनेवाली पीढ़ी की भावनाएँ बन जाते हैं।”
3. “पहली बार जब उपासना के दिन कलह करने या न.च.रंग देखने की अनुमति हम अपने-आपको देते हैं, तब तर्कबुद्धि और भावना का जो विरोध सामने आता है वह आधुनिक जीवन में ऐसे विरोध का अच्छा उदाहरण है।” (Muirhead, Elements of Ethics, पृ० 84)।
4. अंशतः इसीलिए नए सिद्धान्तों में नए-नए दीक्षित किए जानेवाले व्यक्ति प्रायः उन सिद्धान्तों से मुक्त जाते हैं। उनकी त्रुटियों के प्रति अन्तर्भावना में पर्याप्त तत्परता से प्रतिक्रिया नहीं होती। यह भी ध्यान देने की बात है कि अपने-आपको एक जगत् से दूसरे जगत् में स्थानांतरित करके अन्तर्भावना का गला घोट देना भी प्रायः सम्भव होता है। इस प्रकार धर्मान्यता

लेते हैं उनका किसी प्रकार भी उल्लंघन करने पर अन्तर्भावना की पीड़ा होती है; और सामान्यतः ये सिद्धान्त वही होते हैं जिन्हें उस सामाजिक जगत् में आवन्धक मान लिया जाता है जिसमें हम रहते हैं।¹

इस विवेचन के बाद अब हम सामाजिक नीतिशास्त्र का अधिक विवरणपूर्ण अध्ययन प्रारम्भ कर सकते हैं, अर्थात् जिस नैतिक व्यवस्था में व्यक्ति का जीवन वीतता है उस व्यवस्था का विवेचन और व्यक्ति के जीवन के साथ इस व्यवस्था के सम्बन्ध का विवेचन अब किया जाना चाहिए। पर इस जैसी पुस्तक में यह विवेचन अत्यधिक संक्षिप्त रूप में ही किया जा सकता है। फिर भी स्वीकृत नैतिक संस्थाओं, कर्तव्यों और सद्गुणों की नैतिक सार्थकता के सम्बन्ध में कुछ विचार-विमर्श सहायक ही होगा।²

के आवेश में मनुष्य ऐसे निर्दयतापूर्ण कार्य कर सकता है जिनसे अपनी स्वाभाविक स्थिति में वह दूर भगेगा। जिस जगत् में ऐसे कार्यों की निन्दा की जाती है उससे दूर ऐसे जगत् में जाकर, जिसमें ऐसे कार्यों का अनुमोदन किया जाता है, वह अपनी अन्तर्भावना का गला घोट देता है। Macaulay ने अपनी पुस्तक History of England के अध्याय 18 में इसका अच्छा उदाहरण दिया है।

1. अन्तर्भावना के सम्बन्ध में सामान्य विवेचन के लिए देखिए Porter की पुस्तक Elements of Moral Science, पहला भाग, अध्याय 16, Dewey की पुस्तक Outlines of Ethics, पृ० 182-206 और Muirhead की Elements of Ethics, पृ० 77-87 और 256-60।
2. व्यक्ति के परम शुभ के साथ पूरे समाज के परम शुभ की एकरूपता स्थापित करने के मार्ग में आनेवाली कठिनाइयों को Bradley ने (Appearance and Reality, अध्याय 25) बड़े जोरदार शब्दों में व्यक्त किया है। प्रो० A. E. Taylor ने अपनी शिक्षाप्रद पुस्तक The Problem of Conduct में इन कठिनाइयों की विस्तृत व्याख्या की है (सम्भवतः कुछ कम स्पष्ट और कम जोरदार शब्दों में)। इस पुस्तक में इस विषय का और अधिक विवेचन सम्भव नहीं है। मुझे ऐसा लगता है कि अधिकांश कठिनाइयों का कारण है व्यक्ति के परम शुभ के स्वरूप की भ्रान्त धारणा। Bosanquet द्वारा प्रो० Taylor को दिया गया बड़ा ही सुन्दर उत्तर Aristotelian Society की कार्यवाही (Proceedings, new series, Vol. II में छपा है। International Journal of Ethics जुलाई 1902 भी देखिए। सामाजिक जीवांग की धारणा की एक रोचक आलोचना McTaggart की पुस्तक Studies in Hegelian Cosmology के अध्याय 7, में मिलेगी। एक मानव-समाज की आध्यात्मिक एकता निश्चित रूप से एक पशु जीवांग की आध्यात्मिक एकता से बहुत भिन्न है।

अध्याय 2 नैतिक संस्थाएँ

१. सामाजिक आदेश (The Social Imperative)

‘इतिकर्तव्य’ के स्वरूप का थोड़ा-बहुत विवेचन हम कर चुके हैं। हम कह सकते हैं कि इतिकर्तव्य हमारे आदर्श अहम् द्वारा वास्तविक अहम् पर लागू किया गया नियम है। किन्तु आदर्श अहम् चूँकि तर्कनापरक अहम् होता है, और चूँकि तर्कनापरक अहम् की सिद्धि एकान्त में नहीं होती, बल्कि मानव-समाज के भीतर रहकर ही होती है, इसलिए निष्कर्ष यह निकलता है कि ‘इतिकर्तव्य’ जितना व्यक्तियों पर लागू होता है उतना ही समाज पर भी लागू होता है।

हर्वर्ट स्पेन्सर का कहना है,¹ “एक आदर्श व्यक्ति के अस्तित्व का विचार हम एक आदर्श सामाजिक स्थिति में ही कर सकते हैं।” इस आदर्श का विचार करते समय हम न केवल वर्तमान व्यक्तियों की ही आलोचना करते हैं बल्कि वर्तमान सामाजिक राज्यों की भी आलोचना करते हैं। हम केवल यही नहीं कह सकते कि व्यक्ति का इतिकर्तव्य क्या है, बल्कि यह भी कह सकते हैं कि किस प्रकार का संविधान अपनाना समाज का इतिकर्तव्य है।² व्यक्ति जहाँ तक अपने इतिकर्तव्य के अनुसार कार्य करता है, हम उसके आचरण को उचित कहते हैं, उस व्यक्ति को अच्छा, न्याय-प्रिय या नैतिक व्यक्ति कहते हैं। जहाँ तक समाज का संगठन उसके इतिकर्तव्य के अनुरूप होता है, हम उस समाज को सुव्यवस्थित समाज कहते हैं और उसके संविधान को न्याय संगत संविधान कहते हैं। प्रत्येक स्थिति में हम वर्तमान मनुष्यों की तुलना एक तर्कनाशील व्यक्ति के आदर्श के साथ और वर्तमान राज्यों की तुलना एक तर्क-संगत विधि से संगठित आदर्श राज्य के साथ करते हैं। इस प्रकार के आदर्श राज्य पर अब हमें संक्षेप में विचार कर लेना चाहिए।³

1. Data of Ethics, अध्याय 16, अनुच्छेद, 106।

2. यह पृष्ठा जा सकता है कि यह इतिकर्तव्य किस पर लागू किया जाता है? उत्तर यह है कि यह पूरे समाज पर लागू किया जाता है और विशेष रूप से समाज के राजनीतिज्ञों तथा अन्य ‘सक्रिय नागरिकों’ पर लागू किया जाता है।

3. इस विषय का परिपूर्ण विवेचन तो राजनीति या सामाजिक दर्शन के क्षेत्र का विषय है, नीतिशास्त्र का नहीं। किन्तु जहाँ तक केवल नैतिक दृष्टिकोण से इस पर विचार किया जा सकता है वहाँ तक इसका विवेचन करना आवश्यक जान पड़ता है। यहाँ जिन बातों पर विचार किया गया है उनका कुछ भरपूर विवेचन कुछ अन्य पुस्तकों में किया गया है, जैसे Hetherington और Muirhead की Social Purpose, प्रो० E. J. Urwick की Social Good तथा अन्य अनेक हाल में प्रकाशित पुस्तकें।

इस अध्याय में जिन विषयों की चर्चा की गई है उन पर अंग्रेज लेखकों ने अधिक ध्यान नहीं दिया। फिर भी Stephen की पुस्तक Science of Ethics, अध्याय 3, Porter

२. न्याय

कहा गया है कि “न्याय हैं वे लोग जो न्याय के लिए भूख-प्यास तक का कष्ट झेलते हैं।”¹ पर न्याय के लिए कष्ट झेलना सम्भवतः न्याय की ठीक-ठीक व्याख्या करने की अपेक्षा अधिक सरल है। यहाँ, इस पुस्तक में, हम न्याय के स्वरूप का एक सामान्य निर्देश-मात्र कर सकेंगे। अधिक व्यापक विवेचन के लिए राजनीतिशास्त्र की पुस्तकें देखनी चाहिए।

समाज की जो व्यवस्था समाज के सभी सदस्यों के आदर्श-जीवन की यथामुम्भव कुशलतापूर्वक अभिवृद्धि करे, उसी को उचित या न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था कहा जा सकता है। इसलिए जिस सामाजिक व्यवस्था में बड़े-बड़े वर्गों को इस प्रकार गुलाम बनाकर रखा जाए कि वे अपने जीवन का विकास करने में असमर्थ रहें, वह सामाजिक विधान अनुचित, अन्यायपूर्ण है। उदाहरण के लिए, यदि किसी समाज का कोई भी वर्ग इतना गरीब है या उससे इतना अधिक काम लिया जाता है, या दूसरों पर वह इतना अधिक निर्भर है कि अपनी मा-शक्तियों का विकास नहीं कर पाता और अपनी प्रकृति की पूर्णता की दिशा में प्रगति नहीं कर पाता, तो उस समाज का विधान अन्यायपूर्ण है।² जब आलसी लोगों की रक्षा की जाए और उन्हें सत्ताधारी बनाया जाए तथा परिश्रमी लोगों को कुचला जाए, तब समाज अन्यायपूर्ण है।

सभी युगों में प्रजावान और भले आदमियों का एक प्रधान उद्देश्य—सम्भवतः सर्वप्रधान उद्देश्य—यही रहा है कि इस प्रकार की व्यवस्थाओं से समाज को मुक्त किया जाए; और निश्चित रूप से ऐसी कोई चीज शायद ही होगी जिस पर प्रयोज्य नीतिशास्त्र के विद्यार्थी को उतना या उससे अधिक ध्यान देना उचित हो जितना ध्यान उसे उन उपायों—साधनों पर देना चाहिए जिनसे अब तक इस उद्देश्य की सिद्धि हुई है और आगे हो सकती है। पर यह विषय इतना जटिल है कि इस छोटी-सी पुस्तक में, या किसी भी पुस्तक में, इसका पूरा विवेचन नहीं किया जा सकता,³ हम केवल इतना ही कर सकते हैं कि एक न्यायसंगत सामाजिक व्यवस्था स्थापित

की पुस्तक *Elements of Moral Science*, भाग 2, अध्याय 13-16, Rickaby की पुस्तक *Moral Philosophy* और Clark Murrays की पुस्तक *Introduction to Ethics*, दूसरा खण्ड, दूसरा भाग, अध्याय 1 को देखा जा सकता है।

विषय के व्यापक विवेचन के लिए विद्यार्थी को Hoffding और Paulsen की-सी पुस्तकें देखनी चाहिए। प्रो० Gizycki ने भी कुछ बातों का विवेचन किया है। इनकी पुस्तक का भाषान्तर अंग्रेजी में Dr. Stanton Coit ने किया है। इस पूरे विषय के विवेचन के लिए Hegel की पुस्तक *Philosophie des Rechts* आज भी आदर्श ग्रन्थ है। इसका अनुवाद अंग्रेजी में प्रो० Dyce ने हाल ही में किया है।

1. यदि ‘न्याय’ शब्द की व्याख्या हम कुछ कानूनी अर्थों में ही न करें तो जिस यूनानी शब्द का अनुवाद ‘नीतिपरायणता’ किया गया है उसके लिए ‘न्याय’ शब्द का भी प्रयोग भली-भाँति किया जा सकता है।
2. एक न्यायपूर्ण सामाजिक राज्य में प्रत्येक व्यक्ति को परम साध्य माना जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि किसी भी एक व्यक्ति को अकेले एकमात्र परम साध्य नहीं माना जा सकता; अन्यथा शेष सभी इस एक साध्य के ‘साधन-मात्र’ रह जाएँगे। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को एक साथ ही साध्य और साधन दोनों ही मानना पड़ेगा।
3. वास्तव में यह विषय सामाजिक दर्शन के क्षेत्र का है।

करने में जिन प्रधान बातों पर ध्यान दिया जाना चाहिए उनका निर्देश-मात्र कर दें।¹

3. कानून और जनमत

सबसे पहले ध्यान देने की बात यह है कि समाज की एक न्यायसंगत व्यवस्था कुछ हद तक ही बलपूर्वक लागू की जा सकती है। नीचे लिखी पंक्तियाँ प्रायः उद्धृत की जाती हैं :

“जितना जो कुछ मानव-हृदय सहन करते हैं
उसके कितने क्षुद्र अंश के कारण-वारण
ये भूपति या राज्यों के विधान होते हैं ?”

और विधायक कानूनों द्वारा जो-कुछ प्रत्यक्ष रूप से और तत्काल किया जा सकता है उसके सम्बन्ध में यह बात अंशतः सही भी है। यदि जनता स्वभावतः कानूनों के विरुद्ध हो तो कानून असफल-से होते हैं; और जब कोई समाज व्यवस्थित और बुद्धिमान हो जाता है तब कानूनों को जैसे सो जाने दिया जाता है। जीवन की परिस्थितियाँ निरन्तर बदलती रहती हैं और जो विधायक कानून किसी समय कल्याणकारी होते हैं वही धीरे-धीरे बुरे हो जाते हैं। इसलिए जीवन के अनेक विभागों में कठोर विधायक कानून पास करने के बजाय सत्कार्यों और सद्भावों की आदत डालना कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण होता है।²

फिर भी विधायक कानून का क्षेत्र बहुत बड़ा है। जनमत तो बहुत धीरे-धीरे बनता है; और प्रत्येक समाज में हमेशा काफ़ी ऐसे लोग होते हैं जिन पर जनमत का असर तब तक नहीं पड़ता जब तक उसे ऐसा निश्चित कानून न बना दिया जाए जिसमें दण्ड की भी व्यवस्था हो। कभी-कभी, ऐसे कानूनों का उद्देश्य पूरा हो जाने के बाद उन्हें निरस्त कर देना वांछनीय हो जाता है। यहूदी कानून के विषय में सन्त पाल का कहना था कि “वह लोगों को ईसा के पास ले जानेवाला स्कूल मास्टर” था; अर्थात् नैतिक आदर्श का सच्चा अर्थ ग्रहण कर लेने के बाद लोग कानून की संकुचित विधियों को छोड़ सकते हैं; पर ये विधियाँ प्रारम्भिक तैयारी के लिए आवश्यक हैं। यह बात प्रायः सभी कानूनों के सम्बन्ध में सही है। सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने पर कानून मनुष्य के लिए अत्यधिक रूढ़ और औपचारिक हो जाते हैं। पर प्रारम्भ में उच्छृङ्खलता पर रोक लगाने के लिए आवश्यक होते हैं। शुरू में लोग जो-कुछ भय

1. न्याय की जो व्याख्या प्लैटो और अरस्तू ने (Republic और Ethics में) दी है उससे अच्छी व्याख्या नहीं दी जा सकती। इस विषय की आधुनिक विवेचनाओं के लिए देखिए Mill की पुस्तक Utilitarianism, अध्याय 5, Sidgwick की पुस्तक Methods of Ethics, खण्ड 3, अध्याय 5 और Principles of Political Economy, खण्ड 3, अध्याय 6 और 7 तथा Stephen की पुस्तक Science of Ethics अध्याय 5, अनु० 35-9।
2. “How small of all that human hearts endure
That part which kings or laws can cause or cure !”
3. अपनी प्रतिष्ठा पर एकांगी पुस्तक The Man versus the State में H. Spencer ने जो-कुछ कहा है उसमें जो भी सत्य का तत्त्व है वह इस वक्तव्य से स्पष्ट हो जाता है। इसी विषय के कुछ पहलुओं पर Dr. Bosanquet द्वारा सम्पादित Aspects of the Social Problem में अधिक सतर्कतापूर्वक विचार किया गया है।

के कारण करते हैं, धीरे-धीरे वही सब अभ्यासवश और बाद में जान-बूझकर संकल्प-पूर्वक करते हैं। पहले कानून आता है, फिर अभ्यास और फिर सद्गुण।¹

4. अधिकार और आबन्ध

कानून की शक्तियों का और जनमत का सम्बन्ध मुख्य रूप से मनुष्यों के अधिकारों और आबन्धों की प्रतिष्ठा करने से है। ये दोनों ही शब्द परस्पर सम्बन्धित हैं। प्रत्येक अधिकार के साथ एक आबन्ध लगा हुआ है—केवल इस स्पष्ट अर्थ में ही नहीं कि यदि एक व्यक्ति का कोई अधिकार है तो दूसरों पर यह आबन्ध है कि वे उस अधिकार को स्वीकार करें-मानें, बल्कि इस सूक्ष्म अर्थ में भी कि जब किसी व्यक्ति को कोई अधिकार प्राप्त होता है तो उस पर यह आबन्ध भी लागू हो जाता है कि उस अधिकार का प्रयोग वह सबके हित के लिए करे।

कानूनी आबन्ध और नैतिक आबन्ध में कुछ भ्रम होने के कारण अनेक लोगों के दिमाग में यह बात स्पष्ट नहीं होती। विधायक कानूनों द्वारा अधिकारों की स्वीकृति लागू कराना प्रायः सुविधाजनक होता है; पर अधिकारों के अनुरूप आबन्धों को लागू कराना प्रायः सरल नहीं होता। इसीलिए लोग सोचने लगते हैं कि आबन्ध ही नहीं। उदाहरण के लिए, सम्पत्ति की रक्षा करना सरल है; पर लोगों को इस बात के लिए विवश करना कि अपनी सम्पत्ति का बुद्धिमानी के साथ उपयोग करें, बहुत ही कठिन और खतरनाक है; और इस प्रकार का कोई भी प्रयत्न, कुछ संकीर्ण सीमाओं के बाहर जाते ही, निश्चित रूप से असफल हो जाएगा। इसीलिए यह कहा जाने लगा है कि व्यक्ति “अपनी सम्पत्ति का जो चाहे, कर सकता है।” कानून के अनुसार वह ऐसा कर सकता है; पर नैतिक दृष्टि से उस पर यह आबन्ध लागू है कि अपनी सम्पत्ति का उपयोग सबके हित के लिए करे, ठीक वैसे ही जैसे कि वह सम्पत्ति दूसरों की हो। वास्तव में मनुष्य के अधिकार उन चीजों से अधिक कुछ नहीं हैं जिन्हें सामान्य हित की दृष्टि से अपने पास रखने की अनुमति उसे दे दी गई हो। और चूंकि सामान्य हित के लिए वह उन्हें रख रहा है इसलिए उसका कर्तव्य है कि उसी साध्य की सिद्धि के लिए उनका उपयोग करे।

अपने-आपमें व्यक्ति को किसी चीज पर कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। वह सामाजिक पूर्णता का एक अंग है; और सम्पूर्ण समाज के हित के लिए जो चीज उसे

1. अपनी पुस्तक (Elements of Ethics, दूसरा संस्करण, पृ० 93, टिप्पणी) में प्रो० Muirhead ने Connop Thirlwall के सम्बन्ध में एक कहानी उद्धृत की है, “जिन दिनों Lincoln के बिशप Dr. Christopher Wordsworth ट्रिनिटी कालेज में रह रहे थे उन दिनों एक बार, गिरजाघर में मजबूरन हाकिमों देने की प्रथा चालू रखने के सम्बन्ध में, उनके साथ थिलवाल की बहस हो गई। बिशप ने कहा, “दो में से एक चुनना है—या तो अनिवार्य धर्म चुन लें, या धर्म का अभाव।” थिलवाल ने उत्तर दिया, “यह अन्तर इतना सूक्ष्म है कि मेरी समझ में नहीं आता।” अनिवार्य नैतिकता के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है; वह नैतिकता के अभाव ही के समान है। यह बात बेशक सही है; फिर भी अनिवार्य नैतिकता सच्ची नैतिकता की शिक्षा का काम दे सकती है। यही उत्तर अंशतः थिलवाल को भी दिया जा सकता था। तुलना कीजिए ऊपर खण्ड 2, अध्याय 9, अनु० 4 से और Hoffding की पुस्तक Outlines of Psychology, पृ० 76 से। प्रो० Muirhead ने इस बात पर बाद में ध्यान दिया, पृ० 179-80।

मिलनी चाहिए उसी को पाने का अधिकार उसे है। आइए, इनमें से कुछ अधिक महत्वपूर्ण अधिकारों पर संक्षेप में कुछ विचार कर लें।

5. मनुष्य के अधिकार

(क) जीवन—पहला मानव-अधिकार है जीवन का अधिकार। इस अधिकार का मूल यह तथ्य है कि नैतिक साध्य—एक प्रकार की आत्म-सिद्धि—एक व्यक्तिगत साध्य है। यदि मनुष्यों का साध्य कोई सामान्य पदार्थ होता तो उसके लिए जीवन बलिदान कर देना तर्कसंगत होता। और सचमुच चूँकि जिस अहम् की सिद्धि अभीष्ट है वह सामाजिक अहम् है, इसलिए व्यक्ति द्वारा समाज के लिए अपने जीवन का बलिदान करना कभी-कभी न्यायसंगत होगा। पर ऐसे मामले अपवाद स्वरूप ही होते हैं। सामान्य रूप से मानव की भलाई के लिए यह आवश्यक है कि जीवन की सिद्धि के लिए जीवन कायम रहे। इसीलिए जीवन की पवित्रता का स्वीकार किया जाना आवश्यक और महत्वपूर्ण है।

कुछ आदिम समाजों में यह मौलिक अधिकार भी नहीं स्वीकार किया जाता। बच्चे प्रायः अरक्षित छोड़ दिए जाते हैं और युद्धबन्धियों को बिना संकोच मौत के घाट उतार दिया जाता है। अंशतः सम्य समुदायों में भी जीवन की पवित्रता का विचार बड़े हलके दिल से किया जाता है; उदाहरण के लिए जहाँ द्वन्द्व-युद्ध की अनुमति दी जाती है। सच तो यह है कि यदि जीवन का मूल्य-मान पूरी तरह समझा-स्वीकार किया जाए तो सम्य राष्ट्रों के बीच युद्ध भी जल्दी ही निषिद्ध मान लिया जाए। और फिर यह भी ध्यान देने की बात है कि जब तक आजीविका के साधन सचमुच सबके लिए सुरक्षित न हों, तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि किसी समाज में जीवन का अधिकार सुरक्षित हो गया है। इस प्रकार जीवन के अधिकार में श्रम का अधिकार निहित है।¹

अन्य अधिकारों की भाँति जीवन के अधिकार के साथ भी एक आबन्ध लगा हुआ है; अर्थात् स्वयं अपने और दूसरों के जीवन को एक पवित्र धरोहर समझने-मानने का आबन्ध। जो कोई इस आबन्ध को तोड़ता है—उदाहरण के लिए, हत्या करके—वह जीवन का अधिकार भी खो देता है, और न्यायतः उसे इस अधिकार से वंचित किया जा सकता है।

(ख) स्वाधीनता—दूसरा अधिकार है स्वाधीनता का अधिकार। इसका आधार यह है कि नैतिक आदर्श की सिद्धि व्यक्तिगत संकल्प द्वारा ही होनी है। इसलिए इस परम साध्य की सिद्धि के लिए अपनी संकल्प-शक्ति का प्रयोग करने में व्यक्ति को स्वाधीन होना ही चाहिए। जीवन-अधिकार की अपेक्षा इस अधिकार को काफ़ी बाद में स्वीकार किया गया है।² युद्ध-बन्धियों को जब मौत के घाट उतार दिया

1. इस विषय पर Louis Blanc और कुछ अन्य समाजवादी लेखकों ने जोर दिया था। किन साधनों से और किस हद तक यह अधिकार सुरक्षित किया जा सकता है—इसका विवेचन राजनीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र के लेखकों के लिए छोड़ देना पड़ेगा और सम्भवतः इन लेखकों को भी इस प्रश्न का उत्तर अन्ततः मानव-जाति की सद्बुद्धि पर ही छोड़ देना पड़ेगा।

2. Hegel ने (Philosophy of History की भूमिका में) कहा है कि पूर्व के राष्ट्रों में केवल एक व्यक्ति—निरंकुश शासक—को ही स्वाधीन माना गया था; यूनानियों ने कुछ लोगों, अर्थात् यूनानी नागरिकों, को स्वतन्त्र माना था; और बर्बर लोगों को केवल दासता

जाता था, उसके काफ़ी समय बाद तक दासता की प्रथा कायम रही; और आज, दास प्रथा समाप्त हो जाने के बाद, श्रम और सम्पत्ति-सम्बन्धी करार की शर्तें प्रायः ऐसी होती हैं जो व्यक्ति की स्वाधीनता में गम्भीर हस्तक्षेप करती हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि निरपेक्ष स्वाधीनता किसी भी अर्थ में सम्भव नहीं है। उसकी कोशिश भी नहीं करनी चाहिए। किसी भी सुव्यवस्थित समाज में कभी भी सकी अनुमति नहीं दी जा सकती कि उसके सदस्य मनमानी करें। सबके लिए बांछनीय यही है कि प्रत्येक को अपने जीवन का मुक्त विकास करने का अधिकार मिले, इस विकास के अधिकार में यथासम्भव न्यूनतम हस्तक्षेप हो और यह अधिकार सामाजिक व्यवस्था के अनुकूल हो।

स्वाधीनता के अधिकार के साथ यह आवन्ध लागू है कि इसका उपयोग व्यक्ति तर्कसंगत साध्यों की सिद्धि के लिए करे। स्वाधीनता के सम्बन्ध में मिल्टन ने ठीक ही कहा था, 'जो उससे (स्वाधीनता से) प्रेम करना चाहे वह पहले प्रज्ञावान और भला आदमी बने'¹ एक सुव्यवस्थित राज्य में इसी मान्यता के आधार पर स्वाधीनता दी जा सकती है। इसलिए स्वाधीनता-प्राप्ति में जो देर लगती है वह औचित्यहीन नहीं है। स्वाधीनता कोई सामान नहीं है जो खरीदा या दिया जा सके; स्वाधीनता तो अर्जित करनी होती है।

(ग) सम्पत्ति—सम्पत्ति के अधिकार को स्वाधीनता के अधिकार का अंग भी माना जा सकता है। जितने भी साध्यों को व्यक्ति अपना लक्ष्य बनाता है उन सबकी सिद्धि के लिए साधनों की आवश्यकता होती है; और यदि इन साधनों के उपयोग का ही अधिकार व्यक्ति को न मिले, तो साध्यों के लिए प्रयत्न करने की स्वाधीनता ही व्यर्थ हो जाती है। किन्तु साधन—विशेषरूप से ऐसे साधन, जैसे किसी देश की धरती—सीमित होते हैं, इसलिए समाज के सदस्यों में इनके वितरण का प्रश्न बड़ा जटिल हो जाता है। यदि इनका उपयोग कुछ लोगों के लिए आरक्षित कर दिया जाता है तो अधिकांश नागरिकों की स्वाधीनता काफ़ी हद तक छिन जाती है। पर इस प्रश्न का विवेचन राजनीतिशास्त्र और सामाजिक दर्शन के लेखकों के लिए छोड़ देना पड़ेगा। शुद्ध नैतिक दृष्टिकोण से हम केवल यही जोर दे सकते हैं कि जीवन के मुक्त विकास की सिद्धि के लिए सम्पत्ति का अधिकार महत्वपूर्ण है।

सम्पत्ति के अधिकार के साथ यह आवन्ध भी लगा हुआ है कि उसका उपयोग बुद्धि मानी के साथ सबके सामान्य हित के लिए किया जाए। जिन समाजों में

के ही योग्य माना जाता था। आधुनिक युग को ही यह श्रेय बड़ा था कि वह, ईसाई मत के प्रभाव में, सबकी स्वाधीनता की माँग करे। रिफ़ॉर्मेशन के जमाने से यह भाग विशेष रूप से प्रबल पड़ी है। कभी-कभी तो इसे अति के छोर तक पहुँचा दिया गया है; जैसे रूसो द्वारा तथा अवन्ध नीति (Laissez faire) मानने वाले अर्थशास्त्रियों द्वारा। आधुनिक अति-वादी विचारों के लिए देखिए A Plea for Liberty और स्पेन्सर की पुस्तक The Man versus the State; ऐसे विचारों की आलोचना के लिए देखिए Ritchie की पुस्तक Principles of State Interference।

1. तुलना कीजिए मिल्टन के ही इस कथन से जो उन्होंने Tenure of Kings and Magistrates, अनु० 1 में कहा है: "सत्पुरुषों को छोड़कर दूसरा कोई भी हृदय से स्वाधीनता का प्रेमी नहीं हो सकता; दूसरे लोग स्वाधीनता से नहीं, उच्छृङ्खलता से प्रेम करते हैं, और इसके लिए जितना अवसर, जितनी छूट निरंकुश शासकों के शासन में मिलती है उससे अधिक और कहीं नहीं मिलती।"

इस आबन्ध की पूर्ति का कोई भरोसा नहीं किया जा सकता, उनमें सम्पत्ति का अधिकार नहीं दिया जा सकता। आदिम समाजों में वस्तुतः ऐसा कोई अधिकार नहीं है। सब कुछ सबका है। सम्पत्ति और शिक्षित हो जाने पर ही मनुष्य इस योग्य होता है कि उसे सम्पत्ति सौंपी जाए। और फिर भी प्रायः यह आवश्यक होता है कि इस अधिकार का दुरुपयोग किए जाने के विरुद्ध सावधानी बरती जाए।¹

कुछ लेखकों का (उदाहरण के लिए प्लेटो का) यह विचार है कि एक आदर्श राज्य में सम्पत्ति की सामाजिकता होनी चाहिए और व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार नहीं होना चाहिए।² पर यह गलत बात मालूम होती है। सम्भवतः इससे अधिक उचित और उपयुक्त विचार अरस्तू का था³ कि एक आदर्श राज्य में सभी के लिए आवश्यक साधनों के उपयोग की स्वतन्त्रता होनी चाहिए,⁴ पर सबको इस बात की शिक्षा दी जानी चाहिए कि उनका उपयोग सबके सामान्य हित के लिए करें।

(घ) संविदा (Contract)—दूसरा महत्त्वपूर्ण अधिकार है संविदा की पूर्ति का अधिकार। यदि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की कोई सेवा करने का करार करता है तो दूसरे व्यक्ति को ये सेवाएँ प्राप्त करने का अधिकार है। आदिम समाजों में तो संविदा-जैसी कोई चीज शायद ही होती। लोगों के पारस्परिक सम्बन्ध जन्म से ही निर्धारित रहते हैं और केवल शक्ति-प्रयोग से ही उनमें कोई परिवर्तन होता है।⁵ इसीलिए कहा गया है⁶ कि समाजों का विकास 'पद की स्थिति से संविदा की स्थिति में होता है।'

संविदा के अधिकार के साथ यह आबन्ध लगा हुआ है कि ऐसे करारों के अलावा जो कि उचित ढंग से पूरे किये जा सकते हों, दूसरे कोई करार न किये जाएँ।

1. सच तो यह है कि शुद्ध नैतिक दृष्टिकोण से किसी भी व्यक्ति का किसी प्रकार की भी सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं है, सिवाय उसके जिसे उसने अपने अस्तित्व का अनिवार्य अंग बना लिया हो। इसीलिए जर्मनी के लेखक G. Simmel का कहना है, "शुद्ध अर्थों में अपने अस्तित्व को छोड़कर मेरा कुछ भी नहीं है" (Einleitung in die Moralwissenschaft, पृ० 172)। पर व्यावहारिक राजनीति में इस सिद्धान्त का पालन असम्भव होगा। लेकिन इसी से इस पर विचार करने का महत्त्व घट नहीं जाता।
2. देखिए, उनकी Republic, खण्ड 4 और 5। यह स्पष्ट नहीं है कि सामाजिकता के सिद्धान्त को प्लेटो किस हद तक ले जाना चाहते थे। साम्यवाद के आधुनिक समर्थन के लिए देखिए, Morris की पुस्तक News from Nowhere.
3. देखिए, Politics, II, V.
4. यह तो एक और भी अधिक जटिल प्रश्न है कि भरती पर तथा अन्य ऐसी सम्पत्ति पर, जिसे निरन्तर बढ़ाया नहीं जा सकता, क्या यही सिद्धान्त लागू किया जा सकता है?
5. दूसरी ओर आजकल सम्बन्ध स्थापित करने के साधन-रूप में संविदा का इतना अधिक प्रचलन हो गया है कि कुछ लेखक सम्पूर्ण सम्बन्धों का आधार इस प्रकार के करारों या संविदाओं को मानने के लिए प्रस्तुत हो गए हैं। उदाहरण के लिए, यह कहा गया है कि राज्य का आधार 'सामाजिक संविदा' है। इस मत के प्रधान पोषक हैं, हॉब्स और रूसो। Burke ने अपने ग्रन्थ Reflections on the Revolution in France में इस मत की जोरदार आलोचना की है। देखिए Muirhead की पुस्तक Elements of Ethics, पृ० 183-4। Hume की पुस्तक Essays ('Of the Original Contract' शीर्षक निबन्ध) में इसकी अच्छी आलोचना की गई है।
6. Maine की पुस्तक Ancient Law, अध्याय 5.

उदाहरण के लिए, किसी भी व्यक्ति को इस बात की आजादी नहीं है कि वह गुलाम बनने का करार करे।¹ इसीलिए केवल एक अत्यन्त विकसित समाज में ही सम्पत्ति के अधिकार की भाँति संविदा का अधिकार सम्भव है; फिर भी काफ़ी सतर्कता और बचाव की आवश्यकता होती है।²

(ङ) शिक्षा—अन्तिम अधिकार, जिस पर विचार करना आवश्यक जान पड़ता है, शिक्षा का अधिकार है। शिक्षा के सम्बन्ध में अधिकार और आबन्ध इतने मिले हुए हैं कि उन्हें पृथक् कर पाना असम्भव-सा जान पड़ता है। हम कह सकते हैं कि अपनी क्षमता-भर शिक्षित होना प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार और आबन्ध है, क्योंकि तर्कसंगत अहम् की सिद्धि के लिए शिक्षा आवश्यक है। अत्यधिक सम्य देशों में भी इस अधिकार को बड़ी सुस्ती से हिचकते हुए स्वीकार किया गया है। अनेक सम्य देशों में आज भी अधिकांश जनता के लिए उच्चतम शिक्षा वस्तुतः अलभ्य ही है। पर यह स्पष्ट है कि एक सुव्यवस्थित समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी मनःशक्तियों का अधिकतम विकास करने के अवसर व साधन मिलने चाहिए।

6. अधिकारों और आबन्धों का चरम अर्थ

थोड़ा-सा विचार करने पर हमें विश्वास हो जाएगा कि अधिकारों और आबन्धों की चरम सार्थकता केवल इस अर्थ में है कि हम जिस समाज के सदस्य हैं उस समाज के परम शुभ के लिए सर्वाधिक कल्याणकारी जो दिशा हो उस दिशा में अपने जीवन के विकास के लिए आवश्यक साधनों को प्राप्त करने का हमें अधिकार है; और हमारे ऊपर यह आबन्ध लागू है कि इस साध्य की सिद्धि के लिए इन प्राप्त साधनों का सर्वोत्तम उपयोग करें।³

7. सामाजिक संस्थाएँ

प्रत्येक समाज में व्यक्तियों के गुट विभिन्न प्रकार से बनते हैं; और इस प्रकार बनने वाले उनके पारस्परिक सम्बन्ध नैतिक दृष्टि से इतने सार्थक और महत्त्वपूर्ण होते हैं कि उनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण सम्बन्धों पर विचार कर लेना आवश्यक जान पड़ता है।

(क) परिवार—परिवार का आधार है स्वाभाविक स्नेह। इसके प्रधान उद्देश्य हैं—बचपन की निरीहावस्था में पर्याप्त सुरक्षा और देखभाल की व्यवस्था सम्भव बनाना तथा उच्चतम मैत्री और प्रेम के लिए उपयुक्त क्षेत्र सुलभ बनाना। ऐसा समझा जाता है कि किसी प्रकार की भी राजकीय व्यवस्था की अपेक्षा माता-

1. इसीलिए कार्लाइल का यह मत सदोष है कि किसी व्यक्ति की सेवाएँ भाड़े पर लेना ही दासता है। देखिए उनके Latter-day Pamphlets। किसी भी व्यक्ति को संविदा द्वारा अपनी आजादी खो देने का अधिकार नहीं है।
2. जो लोग किसी भी कारण से (उदाहरण के लिए, गरीबी के कारण) कमजोर स्थिति में हैं उन्हें अनुचित शर्तों पर करार करने के लिए फुसलाया जा सकता है। जहाँ तक सम्भव हो, इससे उनकी रक्षा करना आवश्यक है।
3. अधिकारों और आबन्धों की चर्चा यहाँ निस्सन्देह नैतिक अर्थ में की गई है। राज्यों में इन अधिकारों और आबन्धों को किस हद तक और किन साधनों द्वारा स्वीकार और लागू किया जाए, इन सवालों का विवेचन राजनीतिशास्त्रियों का काम है। इन विषयों पर देखिए Sidgwick की पुस्तक Elements of Politics, विशेषकर अध्याय 3-5 और अध्याय 10।

का स्नेह ही पहले उद्देश्य को अधिक उत्तम ढंग से पूरा कर सकता है।¹ दूसरा उद्देश्य एक सीमित दायरे में ही सर्वोत्तम ढंग से पूरा हो सकता है।²

फिर भी यह आवश्यक है कि माता-पिता का नियन्त्रण कई प्रकार से सीमित रहे। यह जरूरी है कि बच्चों की उचित शिक्षा लागू की जाए और छोटी उम्र में ही उन्हें अनुपयुक्त काम में लगाये जाने से रोका जाए। परिवार में पति-पत्नी का उपयुक्त सम्बन्ध बराबरी का सम्बन्ध है; पर जहाँ पारस्परिक प्रेम द्वारा यह सम्बन्ध नहीं स्थापित हो पाता वहाँ किसी प्रकार के भी राजकीय विनियमों द्वारा एक को दूसरे पर हावी होने से रोक सकना तब तक असम्भव जान पड़ता है जब तक व्यक्तिगत स्वाधीनता में असह्य हस्तक्षेप न किया जाए। इसलिए, यह एक ऐसा विषय है जिसके सम्बन्ध में जोरदार जनमत पैदा करने की जरूरत है। फिर भी उन अशक्तताओं को दूर करने में कानून काफ़ी मदद कर सकता है जो पूर्ण समानता की स्वीकृति में बाधा डालती हैं।³

(ख) कर्मशाला—औद्योगिक सम्बन्ध पारिवारिक सम्बन्धों से बिल्कुल भिन्न होते हैं। उनका आदर्श पारस्परिक स्नेह नहीं, बल्कि क्रार या संविदा होता है। ये सम्बन्ध समानता के नहीं, अधीनता के होते हैं। बेशक, परिवार में भी बच्चे अपने माता-पिता के अधीन रहते हैं, पर यह अधीनता तो अविकसित बच्चों का विकसित या बयस्क बड़ों के अधीन, निरीहों या असहायों का अपने स्वाभाविक रक्षकों के अधीन होना है। इसके विपरीत औद्योगिक जीवन की अधीनता का उद्देश्य अधीनस्थ लोगों की रक्षा या उनका विकास नहीं होता; वह अधीनता तो कुछ बाह्य साध्यों के लिए होती है।

1. पर प्लैटो का विचार इससे भिन्न था। देखिए उनकी पुस्तक Republic, भाग 5।
2. यूनान के स्वर्ण-युग में सर्वोत्तम मैत्री प्रायः हमेशा वहाँ के पुरुषों के बीच होती थी। स्त्रियों की स्थिति हीन थी और इसीलिए नागरिकों के उच्च जीवन में वे भाग नहीं ले पाती थीं। इसी कारण यूनानियों के परिवार-सम्बन्धी विचार प्रायः बिल्कुल दूषित हो गए हैं, ठीक वैसे ही जैसे दास-प्रथा को स्वीकार कर लेने के कारण और खेती के अलावा सभी प्रकार के श्रम से घृणा करने के कारण औद्योगिक जीवन-सम्बन्धी उनके विचार दूषित हो गए हैं। परिवार के सम्बन्ध में देखिए Hegel की पुस्तक Philosophy of Right और Rickaby की पुस्तक Moral Philosophy, भाग 2, अध्याय 6 तथा Devas की Studies of Family Life। अरस्तू द्वारा Politics के पहले दो भागों में किया गया विवेचन आज भी अत्यन्त सूक्ष्म-वृक्ष देने वाला है।
3. परिवार को अन्य सामाजिक संगठनों की कोटि में रखने पर Sir Leslie Stephen ने (Science of Ethics, अध्याय 3, अनु० 36-9 में) आपत्ति की है। उनकी आपत्ति का आधार उनकी यह मान्यता है कि परिवार का गठन शरीर-क्रियात्मक (Physiological) आवश्यकताओं के आधार पर हुआ है और वह राजनैतिक एकता का परिणाम नहीं, बल्कि उसकी नींव है। समाजशास्त्र या राजनीतिशास्त्र के विद्यार्थी के लिए उस तर्क में कड़ सार दिखाई देगा। पर मेरे विचार से परिवार की नैतिक महत्ता पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसके अलावा, किसी भी विकसित अर्थ में, परिवार के अस्तित्व के लिए वैधानिक या वैधानिक-कल्प-अनुरास्तियों की आवश्यकता होती है जो विवाह के स्वीकृत अधिकारों को लागू करें, विवाह चाहे बहुपतिव-प्रथा के अनुसार हो, चाहे बहुपत्नी-प्रथा के या एक-पत्नीव्रत के अनुसार हो। इस प्रकार सामाजिक संगठन की कल्पना परिवार से पूर्ववर्ती है और सामाजिक संगठन के विकास के साथ-साथ परिवार बदलता रहता है।

ऐसी परिस्थितियों में इस प्रकार के विनियम बनाना बहुत आवश्यक है जिनके कारण क्रार या संविदा न्याय-संगत और उचित ही हों और अधीनता को गुलामी में न बदला जा सके। कभी-कभी इस बात पर खेद प्रकट किया गया है कि जैसे-जैसे सभ्यता की प्रगति होती है वैसे-वैसे औद्योगिक जीवन के सम्बन्ध अधिकाधिक रूप में पारिवारिक सम्बन्धों से भिन्न होते जाते हैं। पहले उस्ताद और अप्रेंटिस या प्रशिक्षु का सम्बन्ध पिता-पुत्र का-सा सम्बन्ध होता था, किन्तु अब, जैसा कार्लाइल कहा करते थे¹, 'नगदी-सम्बन्ध' के अलावा कुछ भी नहीं रह गया।

पर मुझे इसमें शक है कि इस 'नगदी-सम्बन्ध' के बारे में किसी प्रकार का खेद प्रकट करना उचित है। स्वाभाविक स्नेह के अभाव में पिता-पुत्र वाला सम्बन्ध बड़ी आसानी से अत्याचार का आधार बन जाता है। व्यापारिक या व्यावसायिक सम्बन्धों के लिए तो सर्वोत्तम शायद यही है कि वे संविदा पर आधारित हों। हो सकता है कि पारस्परिक सदयता और निष्ठापूर्ण सम्बन्धों के विकास में इससे कुछ खलल पड़े; पर इसमें किसी तरह का सन्देह नहीं है कि अन्याय को रोकने में इससे बहुत बड़ी सहायता मिलती है। मालिकों और नौकरों की अपेक्षा पड़ोसियों और संगी-साथियों के बीच दया-भाव की सम्भावना अधिक होती है²; और सक्रिय सहायता मालिकों की अपेक्षा पूरा समाज शायद अधिक अच्छी तरह कर सकता है।

पर साथ ही इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि अधीनता के सम्बन्ध को जो भी बात कम कठोर बना सके वह वांछनीय है। इसलिए जितने प्रकार का भी सहयोग सम्भव हो, बढ़ाया जाना चाहिए। यह प्रश्न भी बहुत-कुछ एक नैतिक प्रश्न है कि किस प्रकार के उद्योगों को निरुत्साहित किया जाए; यद्यपि उद्योगों को उत्साहित करने या उनमें बाधा डालने के लाभप्रद तरीकों का विवेचन अर्थशास्त्रियों और राज-नीतिशास्त्रियों के लिए छोड़ देना चाहिए।

औद्योगिक जीवन की वर्तमान स्थितियों में उद्योगों का विकास या पतन प्रधान रूप से³ उन वस्तुओं की माँग में होनेवाले परिवर्तनों के कारण होता है जिनका उत्पादन उनमें होता हो; और माँग में परिवर्तन होते हैं लोगों की रुचि में, फ़ैशन में और आदतों में होने वाले परिवर्तनों के कारण। अब इन परिवर्तनों के फलस्वरूप जिन चीजों की माँग बढ़ती है वे चीजें मानव-जीवन की रक्षा या प्रगति के लिए जिस हद तक आवश्यक हों तथा उन वस्तुओं का उत्पादन करनेवाले उद्योग जिस हद तक मानव-जीवन के लिए हानिकारक न हों, उस हद तक इनके औचित्य में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। इसलिए केवल विलास-सामग्रियों के उपयोग के सम्बन्ध में तथा जो चीजें खतरनाक या हानिकारक तरीकों से पैदा की जाती हैं, उनके उपयोग के सम्बन्ध में ही मुख्य रूप से नैतिक प्रश्न उत्पन्न होता है। और इस प्रश्न का उत्तर केवल इसी प्रकार दिया जा सकता है कि जीवन के परम साध्य की दिशा में वांछित प्रगति में इन चीजों से मिलनेवाली सहायता को और इनके घातक प्रभावों से होने-

1. विशेष रूप से उनकी पुस्तक *Past and Present* देखिए।
2. पड़ोसियों और संगी-साथियों के सम्बन्धों में पारस्परिक दया-भाव कम-से-कम अधिक व्यापक अवश्य होते हैं; मालिक और नौकर के बीच जब वे भाव उत्पन्न होते हैं तब सम्भवतः वे अधिक गम्भीर होते हैं।
3. प्राकृतिक स्थितियों में होने वाले परिवर्तनों तथा नवीन खोजों और आविष्कारों से होनेवाले परिवर्तनों को छोड़कर, जिनसे कि नीतिशास्त्र का बहुत ही अप्रत्यक्ष सम्बन्ध है (क्योंकि यह प्रश्न इस समय व्यावहारिक नहीं माना जा सकता कि लोगों को किस हद तक नवीन आविष्कार करने और उनका उपयोग करने की अनुमति दी जानी चाहिए)।

वाली हानि को तुलनात्मक दृष्टि से तोला-परखा जाए।¹

(ग) नागरिक समाज—यदि लोगों के व्यावसायिक सम्बन्ध शुद्ध रूप में संविदा के ही आधार पर चलने हैं तो यह आवश्यक है कि पूरा समाज उन पत्रक कार्यों को अपने हाथ में ले जिन्हें व्यक्तियों के भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता। अंशतः यह काम केन्द्रीय सरकार का है; पर काफ़ी हद तक प्रत्येक जिले द्वारा अधिक सुविधा-पूर्वक किया जा सकता है। जिन मामलों में नागरिकों की देखभाल करनी चाहिए वे हैं : सफ़ाई की व्यवस्था (जिसमें शौच, स्नान आदि की व्यवस्था शामिल है), शिक्षा के साधनों की व्यवस्था (जिसमें सुसज्जित पुस्तकालय भी शामिल हैं), दुर्घटनाओं से बचाव की व्यवस्था, खाद्य-सामग्री में मिलावट तथा अन्य ऐसी धोखेबाज़ियों को रोकने और जो श्रम करने में असमर्थ हो गए हों उनकी आजीविका की व्यवस्था करना। इन व्यवस्थाओं के विवरण का विवेचन तथा इनका प्रबन्ध सर्वोत्तम ढंग से केन्द्रीय सत्ता द्वारा किया जा सकता है। इस प्रश्न का विवेचन राजनीतिशास्त्र के लेखकों पर छोड़ देना चाहिए।

(घ) धर्म-संस्थान—किसी प्रकार की भी नागरिक संस्था पूरी तरह से पत्रक ममत्व के साथ नागरिकों की देखभाल नहीं कर सकती। इस प्रकार की सभी संस्थाओं को स्नेह नहीं, कानून के आधार पर काम करना होता है; उनकी कार्य-प्रणाली में एक प्रकार की सख्ती रहती है। इसलिए नागरिकों के बीच और अधिक व्यक्तिगत सम्बन्धों से इस कमी को पूरा करना आवश्यक होता है।

इस प्रकार के व्यक्तिगत सम्बन्धों का केन्द्र धर्म-संस्थान है, जिसका कार्य ही यह है कि मानव-सम्बन्धों के उच्चतम नैतिक आदर्श को उपलब्ध करे। यह बड़े खेद की बात है कि धार्मिक मतभेदों के कारण धर्म-संस्थान इस कार्य को उतनी कुशलता से नहीं कर पाते जितनी कुशलता से कर सकते हैं। असाम्प्रदायिक नैतिक संस्थाओं द्वारा धर्म-संस्थानों के कार्यों में योग देना सम्भवतः आवश्यक होगा।

पर एक प्रारम्भिक प्रवेशिका में इस प्रश्न का विवेचन उपयुक्त न होगा;² और सच तो यह है कि नीतिशास्त्र के क्षेत्र से बाहर के कुछ विषयों का विवेचन किए बिना इस प्रश्न का उत्तर सन्तोषजनक ढंग से दिया भी नहीं जा सकता। धर्म-संस्थान तथा राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों के महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर भी यही बात लागू होती है।

(ङ) राज्य—राज्य समस्त मानव-सम्बन्धों का सर्वोच्च नियन्त्रक है। वह कानून बनाता है और उनका पालन करवाता है। अनेक प्रकार के ऐसे कार्य भी राज्य करता है जिन्हें व्यक्तियों के निजी प्रयत्नों पर नहीं छोड़ा जा सकता। उदाहरण के लिए राज्य राष्ट्रीय सुरक्षा की व्यवस्था करता है, डाक तथा कुछ देशों में रेलों की व्यवस्था करता है। एक नीतिशास्त्र की पुस्तक में इसका विवेचन नहीं किया जा सकता कि राज्य द्वारा किस हद तक इस प्रकार के कार्यों का किया जाना वांछनीय है। पर इस बात पर जोर देना आवश्यक है कि इस प्रश्न का उत्तर देनेवाले को

1. विलास के सम्बन्ध में हाल में कई एक रोचक विवेचन किये गए हैं। उदाहरण के लिए देखिए Bosanquet की पुस्तक *Civilization of Christendom*, MacGunn की पुस्तक *Ethics of Citizenship*, L. Stepan की पुस्तक *Social Rights and Duties*, Smart की *Studies in Economics* और *International Journal of Ethics*, Vol. v, No. 1 में प्रो० Sidgwick का लेख।

2. फिर भी प्रो० Gizycki ने अपनी पुस्तक *Introduction to the Study of Ethics* (डॉ० Coit का अनुवाद) अध्याय 9 में इसका विवेचन काफ़ी विस्तार के साथ किया है।

यह विचार अवश्य करना होगा कि राज्य के नागरिकों के सर्वोच्च जीवन के विकास में इन कार्यों से कितनी सहायता मिलती है।

(घ) मैत्री—सामाजिक एकता के ये कुछ प्रमुख रूप हैं; पर मनुष्यों के जिन पारस्परिक सम्बन्धों से नैतिक जीवन का विकास होता है, वे यहीं समाप्त नहीं हो जाते। व्यक्तिगत मैत्री-सम्बन्ध का भी विचार करना होगा। एकता के इसी रूप पर प्राचीन यूनान के नीतिशास्त्रियों ने विशेष ध्यान दिया था, और भोगवादी विचारकों के विन्तन में इसे सर्वोच्च महत्त्व प्राप्त हुआ। उन्होंने तो इसे प्रायः राज्य के पद पर ही प्रतिष्ठित कर दिया।

आधुनिक युग में पुस्तकों, यात्राओं आदि के द्वारा मनुष्य के सामाजिक संसार का विस्तार हो जाने से इन व्यक्तिगत सम्बन्धों का महत्त्व चाहे कुछ कम हो गया हो; फिर भी यह सच है कि एक मित्र में व्यक्ति को आत्मेतर अहम् की उपलब्धि होती है, जिसके माध्यम से उसके व्यक्तित्व का जगत् जितना पूर्ण रूप से विकसित होता है उतना अन्य किसी सम्बन्ध से सम्भव नहीं है। पर इस सम्बन्ध के विषय में भी हम केवल चर्चा ही कर सकते हैं, अधिक कुछ नहीं।¹

8. सामाजिक प्रगति

जितनी संस्थाओं की ऊपर चर्चा की गई उन सबमें, मानव-जाति की प्रगतिशील सभ्यता के कारण, निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। इन परिवर्तनों को स्वीकार करते समय इस बात का ध्यान रखना बहुत ही आवश्यक है कि केवल किसी अल्पकालीन लाभ के लिए ही परिवर्तन न किए जाएँ और ऐसा लाभ मानवीय कुशलता की कीमत पर न खरीदा जाए। प्रगति को परखने का चरम मानदण्ड है तर्कनापरक अहम् की निम्नता। भौतिक और सामाजिक प्रगति उसी हद तक गार्थक है जिस हद तक वह इस सिद्धि का साधन बन सके। इस प्रगति के स्वरूप पर आगे किसी अध्याय में और अधिक विचार किया जाएगा।

9. व्यक्तिवाद और समाजवाद

हाल में सामाजिक प्रगति पर हुई विवेचनाएँ प्रधानतः इस प्रश्न के रूप में सामने आई हैं कि हमें व्यक्तिवाद की दिशा में आगे बढ़ना चाहिए या समाजवाद की दिशा में। व्यक्तिवादियों की धारणा है कि व्यक्तिगत नागरिकों का कर्म-स्वातन्त्र्य यथासम्भव सुरक्षित रखना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। दूसरी ओर समाजवादियों का विचार है कि सबके सार्वजनिक शुभ की सिद्धि के लिए व्यक्तियों के कार्यों का नियमन ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात है।

पर मुझे तो ऐसा नहीं लगता कि व्यक्तिवाद और समाजवाद के सिद्धान्तों में कोई वास्तविक विरोध हो।² यदि प्रत्येक की प्रकृति को कुचल दिया जाए, उसे भूखा रखा जाए, तो निश्चय ही सार्वजनिक शुभ की सिद्धि नहीं हो सकती; और प्रत्येक व्यक्ति को स्वाधीनता भी तब तक नहीं दी जा सकती जब तक यह न मान लिया

1. अरस्तू की पुस्तक *Nicomachean Ethics* में किया गया मैत्री का विवेचन सम्भवतः आज भी सर्वोत्तम है। MacCunn की पुस्तक *Ethics of Citizenship* भी देखिए।
2. नीतिशास्त्र की दृष्टि से हम कह सकते हैं कि व्यक्तिवाद और समाजवाद दोनों ही से हमें आर्थिक आदेश प्राप्त होते हैं। व्यक्तिवाद का आदेश है—तुम भिखारी नहीं बनोगे। या इसी को यों कहें कि प्रत्येक को अपने निस्तार का मार्ग खोजने की स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। समाजवाद का आदेश है—तुम किसी का शोषण नहीं करोगे। या इसी को यों कहें कि किसी भी व्यक्ति को किसी दूसरे के निस्तार का साधन-मात्र नहीं बनाया जाना चाहिए।

जाए कि उस स्वाधीनता का उपयोग सबकी भलाई के लिए किया जाएगा। तो सही प्रश्न यह है कि किस दिशा में लोगों को अधिक स्वाधीनता देना वांछनीय है और किस दिशा में उनके कार्यों पर अधिक नियन्त्रण रखना उचित है ?

सवाल तफसील का है; और मानव-विकास के भिन्न स्तरों पर इसका जवाब भी भिन्न रूप में ही देना पड़ेगा। वर्तमान युग में सम्भवतः समाजवादी दिशा में ही प्रगति करने की माँग है। कारण यही है कि हाल की पिछली पीढ़ियों में व्यक्तिवाद पर अत्यधिक जोर दिया जा चुका है। इसका भी प्रधान कारण यह है कि हाल में हुई सामाजिक प्रगति से कारीगर या कुशल श्रमिकों को तकलीफदेह बन्धनों से मुक्ति दिलाई गई है।

आगे आने वाले युग की समस्या शायद यह होगी कि जो कम कुशल और कम समर्थ हैं, और इसीलिए जो अपने हितों की रक्षा करने में असमर्थ हैं, उनके लिए सच्चे मानव-जीवन की व्यवस्था कैसे की जाए। पहले जो प्रगति हुई वह व्यक्तिवादी तरीकों से हो सकी; अब इस बादवाली प्रगति के लिए कुछ हद तक समाजवाद की आवश्यकता होगी।¹ पर इस विषय में भी मोटे तौर से समस्या के स्वरूप की चर्चा से अधिक हम कुछ नहीं कर सकेंगे।

10. सामाजिक न्याय

न्याय की जटिल धारणा का पूरा-पूरा विवेचन इस पुस्तक में असम्भव ही है। पर कुछ चर्चा आवश्यक जान पड़ती है।

न्याय शब्द के अर्थ की सन्दिग्धता प्लैटो और अरस्तू को भी भलीभाँति मालूम थी, पर कुछ आधुनिक लेखक उसे भूल गए-से लगते हैं; और इसी कारण इस विषय के विवेचन में बड़ी भ्रान्ति पैदा हो गई है। हम 'न्यायप्रिय व्यक्ति' की भी बात करते हैं और 'न्यायप्रिय सरकार' या 'न्यायसंगत कानून' की भी बात करते हैं। किसी को

1. अपनी पुस्तक *System der Ethik*, Vol ii, book iv, 3 में प्रो० Paulsen ने इस विषय पर काफी विस्तार के साथ विचार किया है। व्यावहारिक राजनीति की एक समस्या के रूप में समाजवाद के विवेचन के लिए देखिए Sidgwick की पुस्तकें *Principles of Political Economy*, तीसरा खण्ड, अध्याय 2-7 और *Elements of Politics*, अध्याय 10, तथा *Methods of Ethics* भाग 3, अध्याय 5। इन पुस्तकों को भी देखा जा सकता है : Bosanquet की *Civilization of Christendom*, Green की *Lectures on Political Obligation*, Ritchie की *Principles of State Interference*, Kirkup की *Inquiry into Socialism*, Rae की *Contemporary Socialism*, Donisthorpe की *Individualism*, McKechnie की *The State and the Individual*। आधुनिक काल की औद्योगिक समस्याओं पर Poor Law Commission की हाल की रिपोर्ट और W. H. Beveridge की महत्वपूर्ण पुस्तक *Unemployment* सम्भवतः सर्वोत्तम हैं। श्री J. A. Hobson की तथा अन्य लोगों की हाल ही में प्रकाशित पुस्तकों ने आर्थिक समस्याओं के विवेचन को और भी अधिक निश्चित रूप से नैतिक सिद्धान्तों के साथ जोड़ दिया है। इस सम्बन्ध में Hobson की पुस्तक *Work and Wealth : a Human Valuation* विशेष रूप से पढ़ने योग्य है। इस पुस्तक में अपनाए गए दृष्टिकोण को नरम समाजवाद कहा जा सकता है जो अधिकांशतः रस्किन की शिक्षाओं पर और कुछ अंशों में रूसो की शिक्षाओं पर आधारित है। ऐसे प्रश्नों के सम्बन्ध में नई पुस्तकें बराबर प्रकाशित होती रहती हैं और सन्दर्भ-सूची को अथतः परी बनाए रखना असम्भव-सा हो गया है।

न्यायप्रिय व्यक्ति कहने का अर्थ लगभग वही है जो उसे नैतिक दृष्टि से भला आदमी कहने का है; इसका आशय है अपने सामाजिक आबन्धों को पूरा करने में नैतिक दृष्टि से भला होना। इस प्रकार इस अर्थ में न्याय अपने सामाजिक पक्ष में सम्पूर्ण सद्गुण का समानार्थक है।¹ दूसरी ओर जब हम एक न्याय-संगत कानून या न्याय-प्रिय सरकार की बात करते हैं तो हमारा अर्थ होता है कि जिन लोगों पर वह कानून लागू होता है या वह सरकार शासन करती है² उनके साथ वह उचित और निष्पक्ष³ व्यवहार करती है।

न्याय शब्द के प्रयोग में अर्थ की यह सन्दिग्धता कुछ अंशों में इसलिए छिप जाती है कि कभी-कभी हम एक व्यक्ति को भी ठीक उसी अर्थ में न्यायप्रिय कह देते हैं जिस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग कानून या सरकार के लिए किया जाता है— उदाहरण के लिए, ऐसे मामलों में जहाँ कोई व्यक्ति किसी ऐसे अधिकारी पद पर स्थित होता है (जैसे कोई न्यायाधीश, राजा या माता-पिता भी) जिसमें वह कानून या सरकार का प्रतिनिधि होता है। इसीलिए अनेक लेखक इस तथ्य को नहीं समझ पाए कि इस शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है।

उदाहरण के लिए, इन दोनों अर्थों के बीच होने वाले भ्रम के कारण ही, मिल ने अपनी पुस्तक *Utilitarianism* के पाँचवें अध्याय में न्याय के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा वह सब दोषपूर्ण हो गया है। कुछ हाल के लेखकों पर भी इस भ्रान्ति का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा। सिजविक ने न्याय शब्द के इन दोनों अर्थों के बीच बड़ी सावधानी से विभेद किया है⁴ और यह कहा है कि वह दूसरे अर्थ को ही ग्रहण करेंगे। फिर भी ऐसा लगता है कि एक उदाहरण में न्याय शब्द पहले अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। वह कहते हैं,⁵ “लोगों के व्यक्तिगत आचरण का विवेचन करते हुए,” हम यह नहीं कह सकते कि, “मनमाने ढंग से की गई समस्त असमानता अन्याय है; यदि कोई धनी अविवाहित व्यक्ति, जिसके कोई निकट सम्बन्धी न हों, अपनी सारी सम्पत्ति केवल लाल बालोंवाले देशी लोगों को पेंशन देने के लिए छोड़ जाता है तो सामान्यतः इसे अन्यायपूर्ण नहीं कहा जाएगा, उसका यह निश्चय चाहे कितना ही अयुक्तिसंगत क्यों न मालूम पड़े।” इस काम को अन्यायपूर्ण न कहने का सीधा-सा अर्थ क्या यह नहीं है कि वह किसी स्वीकृत नैतिक आबन्ध के विरुद्ध नहीं है? और, इसलिए, क्या इस शब्द का प्रयोग पहले अर्थ में नहीं किया गया? जिस प्रकार की अयुक्तिसंगत चंचलता की कल्पना सिजविक ने की है वैसे ही चंचलता यदि किसी कानून में, या सरकार में या अपने बच्चों के प्रति किन्हीं माता-पिता में भी दिखाई दे

1. देखिए अरस्तु की *Ethics*, भाग 5, अध्याय 1। फिर भी कभी-कभी किसी को ‘न्यायप्रिय’ कहने का अर्थ होता है केवल ऐसा व्यक्ति जो विधायक कानून द्वारा लागू किये गए आबन्धों को ही पूरा कर देता है। तुलना कीजिए आगे अध्याय 3, अनु० 12 से। पर मेरे विचार से इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग न तो प्रचलित ही है और न इस अर्थ की ताईद ही करनी चाहिए।
2. न्याय का समानार्थी अंग्रेजी शब्द *justice* लैटिन भाषा के *jus* शब्द से बना है। *jus* शब्द *jussum* का सजातीय है, जिसका अर्थ है आदिष्ट। जो आदेशों का, अर्थात् नैतिक आदेशों या कानूनों का पालन करे, वह व्यक्ति *just* अर्थात् न्याय-प्रिय है। कानून या सरकार के सन्दर्भ में *just* का अर्थ इससे भिन्न है, वहाँ *just* का अर्थ है निष्पक्ष।
3. देखिए अरस्तु की *Ethics*, भाग 5, अध्याय 1।
4. देखिए *Methods of Ethics*, पृ० 264-5, टिप्पणी 2।
5. वही, पृ० 268-9, टिप्पणी।

तो क्या तुरन्त ही उसे अन्याय नहीं कहा जा सकता ? और तब न्याय शब्द का प्रयोग दूसरे अर्थ में होगा । डॉ० सिजविक ने जिस व्यक्ति की कल्पना की है उसे अन्यायी केवल इसलिए नहीं कहा जाएगा कि वह ऐसी स्थिति में नहीं है जिसमें उससे न्याय की अपेक्षा इस दूसरे अर्थ में की जा सके । इस दूसरे अर्थ में कोई भी व्यक्ति तब तक न्यायपूर्ण या अन्यायी नहीं हो सकता जब तक वह किसी प्रकार के कानून का या सरकार का प्रतिनिधित्व न करता हो ।

पर न्याय शब्द के प्रयोग में एक और सन्दिग्धता है । और इसका भी संकेत अरस्तू ने किया था । न्याय शब्द का प्रयोग जब हम इन्साफ़ के अर्थ में करते हैं तब या तो हम अच्छाइयों के अनुभाजन की बात करते हैं, या फिर बुराइयों के अनुभाजन की । बुराई का अनुभाजन उन्हीं के लिए किया जा सकता है जिन्होंने बुराई की हो; अर्थात् उन्हें दण्ड दिया जा सकता है । इस प्रकार न्याय या तो वितरण-न्याय होगा या फिर शोधक-न्याय (Corrective Justice) होगा । पर कभी-कभी न्याय शब्द का प्रयोग इस प्रकार किया जाता है, मानो दूसरा अर्थ ही उसका एकमात्र अर्थ हो । न्याय करने का अर्थ प्रायः दण्ड देना समझा जाता है । इस प्रकार न्याय शब्द के व्यापक अर्थ (जिसमें वितरण-न्याय तथा शोधक-न्याय दोनों निहित हैं) और संकुचित अर्थ (केवल शोधक-न्याय) के बीच भी एक भ्रान्ति है ।

ऐसा लगता है कि मिल इस भ्रान्ति के भी शिकार-हुए हैं । वह कहते हैं कि "न्याय-भावना के दो तात्त्विक अंश हैं : जिस व्यक्ति ने हानि पहुँचाई है उसे दण्ड देने की इच्छा, और यह ज्ञान या विश्वास कि कोई ऐसा निश्चित व्यक्ति है, या ऐसे व्यक्ति हैं जिसे या जिन्हें हानि पहुँचाई गई है ।" इस कथन से स्पष्ट है कि मिल शोधक-न्याय की ही बात कर रहे हैं, और उन्हें इसका पता ही नहीं है कि वह विषय के केवल एक पक्ष का ही विवेचन कर रहे हैं ।

जहाँ तक मैं समझता हूँ, अरस्तू द्वारा किया गया न्याय का विवेचन आज भी सर्वोत्तम है । सिजविक के विवेचन में एक लाभ यह अवश्य है कि वह ज्ञान और व्यवहार की आधुनिक परिस्थितियों के अधिक अनुकूल है ।

अध्याय 3

कर्तव्य

1. नैतिक नियमों का स्वरूप

आधुनिक संसार की अधिकांश नैतिक चेतना निर्धारित करने वाले यहूदियों ने¹ कर्तव्य-सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण को दस धर्मादेशों में व्यक्त किया है। अन्य जातियों में भी न्यूनाधिक रूप में ऐसे निश्चित नियमों की स्वीकृति दिखाई देती है जिनका पालन एक अच्छे आदमी को करना ही चाहिए। ये नियम विध्यात्मक और निषेधात्मक, दोनों प्रकार के हैं।² नैतिक इतिकर्तव्य को अभी तक हमने जिस रूप में समझा है उसमें इस तरह के स्पष्ट आदेश नहीं मिलते। केवल एक सार्वजनिक आदेश है—अपने तर्कबापरक अहम् की सिद्धि का। देखना चाहिए कि इस सार्वजनिक धर्मादेश के भीतर विशिष्ट नियमों का क्या स्थान है।

पिछले अध्याय में जो कुछ कहा गया है उससे हमें इस विवेचन में सहायता मिलेगी; क्योंकि वहाँ हम यह देख चुके हैं कि धीरे-धीरे मनुष्यों के विभिन्न समाजों में कुछ निश्चित अधिकार स्वीकार कर लिए जाते हैं जो नमनशील भी होते हैं और जिनमें सुधार भी किया जा सकता है; और इन निश्चित अधिकारों के साथ कुछ निश्चित आबन्ध भी लगे रहते हैं। इन आबन्धों को धर्मादेशों के रूप में भी व्यक्त किया जा सकता है।

पर केवल इन स्वीकृत अधिकारों के सम्बन्ध में ही ऐसे आबन्ध नहीं उत्पन्न होते। सामाजिक जीवन की सम्पूर्ण संस्थाओं के सम्बन्ध में और मनुष्य के समस्त

1. यह कहना कठिन है कि इस क्षेत्र में हमारे ऊपर यहूदियों का प्रभाव सर्वाधिक पक्का है या यूनानियों का। देखिए Hatch के Hibbert Lectures; और इसी विषय पर Duhring की *Ersatze der Religion* में व्यक्त किये गए जोरदार पर विरोधामास-पूर्ण विचारों से तुलना कीजिए।
2. यूनानियों के पास नैतिक नियमों की कोई निश्चित संहिता नहीं थी। उनका आदिम नैतिक-प्रश्न संचिप्त सूत्र-रूपी कहावतों में व्यक्त हुआ था। पर अन्य आदिकालीन लोगों की भाँति यूनानियों में भी राज्य के कानून ही नैतिक आबन्धों का आधार बने; जैसे बच्चे की कर्तव्य-सम्बन्धी धारणा पहले-पहल माता-पिता के आदेशों से निर्धारित होती है। Sophocles के *Antigone* में यह बोल स्पष्ट रूप से दिखाई देता है कि नैतिक आबन्ध का आधार राज्य के कानूनों की अपेक्षा अधिक गहरा है। Sophist लोगों की (और कुछ हद तक सुकरात की भी) जो आलोचनाएँ की गईं उन्हें नैतिक विरोधी अधिकांश में इसीलिए माना गया कि प्रारम्भ में यूनान के लोग नैतिक नियमों और राज्य के कानूनों में कोई स्पष्ट विभेद नहीं करते थे। देखिए Zeller की पुस्तक *Pre-Socratic Philosophy*, भाग 2, पृष्ठ 404, तथा *Socrates and the Socratic Schools*, पृ० 219-21। यह ध्यान देने की बात है कि जैसे ही यहूदियों की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता समाप्त हुई, यहूदी कानून की निरपेक्षता भी समाप्त होने लगी। तुलना कीजिए, इस पुस्तक का पहला खण्ड, अध्याय 5, अनु० 10।

पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में भी आबन्ध उत्पन्न होते हैं। बेशक ऐसे सभी आबन्धों के अनुरूप कोई निश्चित अधिकार भी होता है, ठीक वैसे ही जैसे प्रत्येक अधिकार के अनुरूप कोई आबन्ध भी होता है।¹ पर कहीं अधिकार प्रत्यक्ष होता है और आबन्ध उसके पीछे अनुगमन करता है; कहीं आबन्ध सामने होता है और आसानी से समझा जा सकता है।

पिछले अध्याय में हमने सामाजिक जीवन में विकसित हुए कुछ प्रमुख अधिकारों और संस्थाओं पर विचार किया है। इस अध्याय में हम कुछ प्रमुख आबन्धों पर विचार करेंगे, जिन्हें लोगों ने धर्मदेशों के रूप में स्वीकार कर लिया है; और नैतिक चेतना के क्षेत्र में इनकी शुद्ध नैतिक सार्थकता को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे। पर किसी भी क्षेत्र में कोई व्यापक वर्गीकरण करने का प्रयत्न व्यर्थ ही होगा।

2. जीवन का आदर

पहला धर्मदेश है—जीवन का सम्मान करो। यह जीवन-अधिकार का अनुरूपी आबन्ध है। यह धर्मदेश इस रूप में व्यक्त हुआ है : जीव-हत्या मत करो। इसका आशय इतना स्पष्ट है कि टीका-टिप्पणी की आवश्यकता ही नहीं। हमें केवल इतना ही कहना चाहिए कि जिस धर्मदेश में जीवन का सम्मान करने को कहा गया है उसमें दूसरों का जीवन न लेने का निष्क्रिय वर्जन मात्र ही नहीं है, इससे बहुत अधिक है। इसमें स्वयं अपनी शारीरिक देखभाल करना तथा ऐसी बातों का बराना भी निहित है जिनसे हमारी अपनी या औरों की शारीरिक भलाई को हानि पहुँचने की सम्भावना हो। इसमें क्या-क्या अर्थ निहित हैं यह हम धीरे-धीरे समझ रहे हैं। नैतिक नियम के इस पक्ष पर जोर देकर हर्बर्ट स्पेन्सर ने प्रशंसनीय कार्य किया है।²

3. स्वाधीनता का सम्मान

दूसरा धर्मदेश स्वातन्त्र्य-अधिकार के अनुरूप है। इसमें किसी भी दूसरे व्यक्ति के जीवन के विकास में हस्तक्षेप करने का निषेध किया गया है—ऐसे और इतने हस्तक्षेप को छोड़कर जो इस विकास में ही सहायता देने के लिए आवश्यक हो। इस धर्मदेश को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है : प्रत्येक मनुष्य को एक व्यक्ति मानो, कोई पदार्थ नहीं। इस रूप में इसके द्वारा दासता, अत्याचार, शोषण, वेश्यागमन तथा अन्य प्रत्येक ऐसे कार्य का निषेध माना जा सकता है जिसमें किसी दूसरे

1. अधिकार भी अधिकांश रूप में किन्हीं निश्चित संस्थाओं या सामाजिक संगठनों से सम्बद्ध होते हैं। इसीलिए कर्त्तव्य भी उन्हीं के इर्द-गिर्द घिरते हैं। प्रो० Alexander (Mora Order and Progress, पृष्ठ 253 में) कहते हैं, “कर्त्तव्य वे आचरण हैं जिनके द्वार संस्थाएँ कायम रखी जाती हैं।” “मतदान का कर्त्तव्य संसदीय मताधिकार को जन्म देता है।” पर यह कहना तो एक अत्युक्ति ही मालूम होती है कि सभी कर्त्तव्य इसी प्रकार संस्थाओं या प्रथाओं से सम्बन्धित हैं। उदाहरण के लिए जीवन का आदर करने का कर्त्तव्य किसी भी विशिष्ट संस्था से सम्बन्धित नहीं, बल्कि स्वतन्त्र जान पड़ता है। हाँ अगर जीवन को ही एक ‘संस्था’ मान लिया जाए तो बात दूसरी है; पर ऐसा करना विरोधाभासपूर्ण बात होगी।

2. विशेष रूप से देखिए उनकी पुस्तकें Data of Ethics, अध्याय 9; और Principles of Ethics, भाग 3। तुलना कीजिए Clark Murray की पुस्तक Introduction to Ethics, भाग 2, खण्ड 2, अध्याय 2, और Adler की पुस्तक Moral Institution of Children, बारहवाँ भाष्य।

व्यक्ति का उपयोग अपनी सिद्धि के साधन-रूप में किया जाए। यह और इसके पहले-वाला धर्मदेश एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। वास्तव में दोनों को एक माना जा सकता है; क्योंकि किसी दूसरे का जीवन नष्ट करना, उसके स्वतन्त्र विकास में हस्तक्षेप करनेवाली प्रक्रिया का ही अन्तिम चरण है। एक और धर्मदेश है जो इन दोनों से मिला हुआ है; उसकी चर्चा हम अब करेंगे।

4. चरित्र का सम्मान

यह धर्मदेश चरित्र का सम्मान करने का आदेश देता है। पिछले दोनों जिसके निषेध-पक्ष हैं, यह उसी बात का विधि-पक्ष है। इसके द्वारा अपने पड़ोसी को हानि पहुँचाने से, या उसके स्वतन्त्र विकास में बाधा डालने वाला कोई काम करने से हमें रोका ही नहीं जाता बल्कि यथासम्भव ऐसा करने का आदेश दिया जाता है जिससे उसका विकास आगे बढ़े। 'मेरे लिए सभी बातें बंध हैं, पर सभी बातें कार्य-साधक नहीं हैं'—सन्त पाल ने जब यह बात कही थी तब वह इसी धर्मदेश के सम्बन्ध में सोच रहे थे। सामान्य निषेधात्मक विधान उन्हें हर ऐसा कार्य करने की अनुमति देता था जिससे किसी को हानि न पहुँचती हो; पर वह यह भी सोचते थे कि इसके साथ-साथ उन्हें ऐसा भी कोई काम नहीं करना चाहिए जो किसी दूसरे के विकास में बाधा डालनेवाला हो।

बेशक, इस सिद्धान्त को हम स्वाधीनता का सम्मान करने का आदेश देनेवाले निषेधात्मक सिद्धान्त का ही विस्तार मान सकते हैं। किन्तु अच्छा यही है कि हम इसे विधायक सिद्धान्त मानें; क्योंकि जब हमें किसी व्यक्ति के विकास की विन्ता होगी, तब न केवल ऐसे कामों के करने से हम बचेंगे जिनसे उसे हानि होती हो, बल्कि ऐसे काम करना भी चाहेंगे जिनसे उसे सहायता मिले। इस धर्मदेश का सार-तत्त्व सम्भवतः हेगेल¹ के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—“मनुष्य बनो, और दूसरों को मनुष्य समझकर उनका सम्मान करो।”

5. सम्पत्ति का सम्मान

अगला धर्मदेश है : चोरी मत करो। पिछले धर्मदेश का ही विस्तार है यह। यह धर्मदेश किसी दूसरे व्यक्ति के विकास के साधनों को हथियाने से रोकता है, वे साधन चाहे भौतिक साधन हों और चाहे ऐसी चीजें हों, जैसे समय, रूपाति आदि। प्रत्येक व्यक्ति के विकास में इन साधनों की आवश्यकता होती है। प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है कि अपने विकास के साधनों को प्राप्त करे; और इस अधिकार में दूसरों का यह आबन्ध निहित है कि इन साधनों पर उसके अधिकार का उल्लंघन न करें। इस प्रकार, जैसा मैंने पहले कहा, इस धर्मदेश को हम पिछले धर्मदेश में निहित मान सकते हैं। किन्तु सम्पत्ति का सम्मान करने का आदेश देनेवाले इस धर्मदेश में केवल चोरी की निन्दा ही नहीं है, और भी कुछ है। इसमें दूसरों की सम्पत्ति के समान ही अपनी सम्पत्ति का सम्मान भी निहित है। इसलिए विकास के जिन साधनों की उपलब्धि किसी को हुई हो उनकी उपेक्षा या उनके दुरुपयोग की भी वर्जना-निन्दा इसमें की गई है। ऐसे हर प्रकार के आलस्य की भी निन्दा इसमें निहित मानी जा सकती है, जिसके कारण कोई व्यक्ति दूसरों के श्रम पर अपना जीवन काट रहा हो, और इस प्रकार, जो दूसरों का है उसे खुद हथिया रहा हो।

1. देखिए Philosophie des Rechts, अनु० 36।

6. सामाजिक व्यवस्था का सम्मान

अनावश्यक विवरणों से बचने के लिए अब हम उस पर विचार करेंगे जिसे कोई एक नियम नहीं, बल्कि धर्मदेश का एक गुट कहा जा सकता है, अर्थात् वे धर्मदेश जो सामाजिक संस्थाओं और विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं का सम्मान करने से सम्बन्धित हैं। यूनानी लोग जिसे लज्जा या समादर¹ कहते थे, उसी का समानार्थी यह सम्मान है। प्रतिष्ठित संस्थाओं में अनावश्यक हस्तक्षेप करने से यह भावना हमें रोकती है। उदाहरण के लिए यह भावना परिवार की पवित्रता भंग करने का निषेध करती है; यह आदेश देती है कि समस्त विधि-सम्मत अधिकारियों का और 'राजा का सम्मान करो,'² आदि।

जिस समाज में हम हैं उसकी सामाजिक व्यवस्था कायम रखने की आवश्यकता और महत्ता ही इस गुट के धर्मदेशों के आस्तव्य का आधार है। यह जानते हुए भी कि 'किसी ने भयंकर भूल की है' प्रत्येक सिपाही अपने उच्च अधिकारी के आदेशों का पालन करना ही अपना कर्त्तव्य मानता है; इसी प्रकार, यह जानते हुए भी कि राज्य के कानून सोलहों आने बुद्धिमतापूर्ण नहीं हैं, सामान्यतः नागरिक राज्य के विधि-सम्मत अधिकारियों का समर्थन करना ही अपना कर्त्तव्य मानता है। राज-नैतिक व्यवित भी प्रायः अपने दल के साथ काम करने के लिए विवश हो जाता है, भले ही दल की पूरी नीति का वह समर्थन न करता हो। स्पष्ट है कि इस गुट के धर्मदेशों को कई नियमों में विभाजित किया जा सकता है। पर यह काम इतना आसान है कि उसका प्रयत्न करना ही व्यर्थ है।

7. सत्य का सम्मान

दूसरा धर्मदेश है : झूठ मत बोलो। इस नियम का दोहरा प्रयोग है। एक ओर तो इसका अर्थ यह लगाया जा सकता है कि हमारे कर्म हमारे वचनों के अनुकूल ही हों; उदाहरण के लिए, हमें अपने वायदों को पूरा करना चाहिए और जो संविदा या करार हमने किया हो उसका पालन करना चाहिए। दूसरी ओर इसका अर्थ यह भी लिया जा सकता है कि हमारे वचनों और विचारों में एकरूपता होनी चाहिए, अर्थात् हमें वही कहना चाहिए जो हमारा अभिप्राय हो।

स्पष्ट है कि ये दोनों निर्वचन एक-दूसरे से भिन्न हैं। कोई भी व्यक्ति ऐसा वायदा कर सकता है जिसे पूरा करने का उसका कतई मन्सा न हो। इस स्थिति में वह दूसरे प्रकार का झूठ बोलता है। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि वह पहले अर्थ में भी झूठ बोलेंगा ही; क्योंकि, वायदा कर लेने के बाद, उसे पूरा भी कर सकता है। पर दोनों ही अर्थों में विचारों की अभिव्यक्ति का सम्मान करने का आग्रह है—

1. यह पहले ही कहा जा चुका है (खण्ड 3, अध्याय 1, अनु० 14, की टिप्पणी सं० 8) कि इसका यूनानी पर्याय अन्तर्भावना का समानार्थी है। लेकिन प्राचीन यूनानियों के नैतिक आवन्ध यह कि सामाजिक नियमों और संस्थाओं से ही सम्बन्धित थे, इसलिए यह भावना भी इन्हीं से सम्बन्धित रही।

2. यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस नियम में क्रान्ति करने के अधिकार का निषेध नहीं है। आगे चलकर हम देखेंगे कि इनमें से कोई भी नियम निरपेक्ष रूप से बन्धनकारी नहीं है। एक दूरदर्शी समाज-सुधारक अपने राज्य के नियमों की अवहेलना कर सकता है, पर विशिष्ट अपवादात्मक परिस्थितियों में ही इस प्रकार का आचरण उचित माना जा सकता है।

यद्यपि दूसरे अर्थ में विचारों को व्यवस्त करने में सावधानी बरतने का आग्रह है और पहले अर्थ में व्यवस्त किये गए विचारों के अनुकूल ही कार्य करने का आग्रह है। इसका यह मतलब न समझना चाहिए कि झूठ का सम्बन्ध केवल भाषा से है। यदि हम इस ढंग से काम करें कि उसका आशय यह निकाला जाए कि हम वास्तव में जो कुछ कर रहे हैं वह नहीं, बल्कि कुछ और ही करना चाहते हैं, या यह कि हम कुछ और कर चुके हैं—जो सचमुच न तो हमने किया है और न करना चाहते हैं—तो हम अपने कार्यों से झूठ बोलते हैं।

तो, 'झूठ मत बोलो' का आदेश देनेवाले धर्मदेश का अर्थ यह है कि हमें हमेशा वही कहना चाहिए और उसी ढंग से काम करना चाहिए, जिससे यथासम्भव स्पष्ट रूप में वही व्यक्त हो जिसे हम विश्वासपूर्वक सच मानते हों या जो कुछ हम सचमुच करना चाहते हों; और अपना अर्थ व्यवस्त कर चुकने के बाद हमें अपने कार्यों को यथासम्भव उसी अर्थ के अनुरूप बनाना चाहिए।

8. प्रगति का सम्मान

अन्तिम धर्मदेश, जिस पर विचार करना आवश्यक जान पड़ता है और नैतिक संहिताओं में जिसे प्रायः भुला दिया जाता है, वह है जिसमें संसार की उन्नति में यथासम्भव योग देने का आदेश दिया गया है। इसे इन शब्दों में कहा जा सकता है—अपने विशिष्ट क्षेत्र में अपने तन, मन, धन, हृदय और आत्मा की सम्पूर्ण शक्ति से श्रम करो।¹ इस धर्मदेश की अभिव्यक्ति में अकारण ही उस रूप में नहीं कर रहा जिसमें भगवान् से प्रेम करने का समादेश देनेवाले धर्मदेश की अभिव्यक्ति की गई है। "कर्म ही उपासना है"—यह एक प्रज्ञामयी उक्ति है। भगवान् के प्रति प्रेम की सर्वाधिक स्पष्ट अभिव्यक्ति शायद मानव-प्रगति में विश्वास द्वारा होती है; और इस विश्वास की सर्वाधिक स्पष्ट अभिव्यक्ति मानव-प्रगति में तन्मय होकर जुट पड़ने से होती है।² इस म्हान् विधायक धर्मदेश के साथ हमारी यह सूची समाप्त हो जाती है।

9. किकर्त्तव्य मीमांसा

इन धर्मदेशों को किसी व्यवस्था में ढालने का कोई विशेष प्रयत्न मैंने नहीं किया। इनका और अधिक विवरणात्मक विवेचन करना और इनका पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारित करना विद्यार्थियों के लिए एक अच्छा अभ्यास-प्रश्न होगा। पर यह स्पष्ट है कि धर्मदेशों की कोई भी व्यवस्था पूर्णतः सन्तोषप्रद नहीं हो सकती। केवल एक ही निरपेक्ष नियम हो सकता है—वह नियम जिसमें हमें यह आदेश दिया गया है कि हम अपने तर्कनापरक अहम् या या तर्कनापरक जगत् को प्राप्त करें, या उन महत्तम मूल्यों को प्राप्त करें जिन्हें पा सकना हमारे वश में हो; और यदि हम किन्हीं उप-नियमों को निरपेक्ष नियम बना देते हैं तब निश्चय ही इन नियमों में टक्कर हो जाती है। नियमों की यही टक्कर किकर्त्तव्य-मीमांसा को जन्म देती है।

किकर्त्तव्य-मीमांसा में धर्मदेशों के यथार्थ अर्थ-निर्बचन का प्रयत्न किया जाता है और यह स्पष्ट किया जाता है कि नियमों में टक्कर होने पर कौनसा नियम अमान्य

1. Carlyle का धर्मदेश है : 'अपना उपयुक्त कर्म पहचानो और अपनी सम्पूर्ण शक्ति से उसे पूरा करो।' (Past and Present, भाग 3, अध्याय 11)।
2. 'सम्पूर्ण सत्य कर्म धर्म है' (Carlyle, वही—Past and Present, भाग 3, अध्याय 12)।

माना जाएगा।¹ यह तो स्पष्ट ही है कि ऐसे संघर्ष होंगे ही। यदि हमें सर्वदा जीवन का सम्मान करना है तो कभी-कभी हमें दूसरे की सम्पत्ति छीननी भी होगी—उदाहरण के लिए, आत्महत्या करने पर तत्पर व्यक्ति का छुरा। यदि हमें स्वतन्त्रता के लिए सर्वदा भरपूर प्रयत्न करना है तो कभी-कभी व्यवस्था से हमारा संघर्ष भी होगा। यही बात अन्य क्षेत्रों में भी लागू है। इस विषय पर जैकोबी के मत का उद्धरण हम पहले दे चुके हैं।² भले ही उनका कथन कुछ अत्युक्तिपूर्ण हो, फिर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि ऐसे मौके आते हैं जब किसी उच्चतर नियम का पालन करने में हमें किसी एक या अधिक धर्मदेशों का उल्लंघन करना पड़ता है।

कोई भी किकर्तव्य-मीमांसा नियमों को तोड़ने के नियम नहीं निर्धारित करती—यह नहीं निश्चित करती कि किन परिस्थितियों में हम कौनसा धर्मदेश तोड़ने के हकदार हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से ऐसा प्रयत्न जेसुइट (Jesuits) लोगों के उपदेशों में किया गया है।³ अन्तर्भावना-सम्बन्धी मामलों का विवेचन करने के कारण इसे किकर्तव्य-मीमांसा कहा गया। बाद में यह बदनाम हो गया। पैस्कल (Pascal) ने इसकी कड़ी आलोचना की। उनकी आलोचना ठीक भी थी। यही कुछ कम बुराई नहीं है कि हमें आचरण के नियमों की आवश्यकता पड़े,⁴ पर नियमों को तोड़ने के नियम तो असंभव हो जाएंगे। इतने जटिल हो जाएंगे ये नियम कि उनका समझना, पालन करना असंभव हो जाएगा; और इसका एक अवश्यम्भावी परिणाम यह होगा कि व्यवहार में एक ऐसी पद्धति चल पड़ेगी, जिसके अनुसार लोग प्रत्येक कार्य को अपने सन्तोष के लिए उचित सिद्ध कर सकेंगे।⁵

धर्मदेशों की मर्यादाओं से, उनकी सीमित व्याप्तियों से बचने का उपाय यह नहीं है कि और अधिक सूक्ष्म और गूढ़ धर्मदेश बनाए जाएँ, बल्कि इसका उपाय है उस महान् मौलिक नियम का सहारा लेना, ये विशिष्ट धर्मदेश जिसके खण्ड-रूप मात्र हैं।

10. सर्वोच्च नियम

वह मौलिक नियम क्या है? जैसा हम पहले ही देख चुके हैं, यह वह धर्मदेश है जिसमें हमें तर्कान्तरक अहम् की और उसमें निहित मूल्यों की सिद्धि का आदेश दिया गया है। यह धर्मदेश इतना व्यापक और इतना अस्पष्ट है कि व्यावहारिक उद्देश्य के लिए, आचरण के अधिक स्पष्ट और विशिष्ट नियमों द्वारा इसकी अनुपूर्ति करना

1. देखिए Dewey की *Outlines of Ethics*, पृ० 88; Muirhead की *Elements of Ethics*, पृ० 66-70; Caird की *Critical Philosophy of Kant*, भाग 2 पृ० 186-90 व 215 तथा Bradley की *Ethical Studies*, पृ० 142।
2. देखिए इस पुस्तक का खण्ड 2, अध्याय 3, अनु० 14 (ख)।
3. देखिए Sidgwick की पुस्तक *History of Ethics*, पृ० 151-4।
4. विशिष्ट नियमों के रूप में नैतिक नियम की अभिव्यक्ति हमारे नैतिक विकास की प्रारम्भिक स्थिति की बात है। यह स्थिति स्वभावतः उसके बाद आती है जिसमें नैतिकता को राज्य के कानूनों के साथ एकरूप माना जाता था। तुलना कीजिए Muirhead की *Elements of Ethics*, पृ० 71-6 के साथ।
5. किकर्तव्य-मीमांसा की सुन्दर पुष्टि के लिए देखिए Rashdall की पुस्तक *Theory of Good and Evil*, भाग 2, अध्याय 5। तुलना कीजिए Moore की *Principia Ethica*, पृ० 4-5 और अध्याय 5 से और H. L. Stewart तथा G. A. Johnston के लेखों से जो *International Journal of Ethics*, खण्ड 24 में छपे हैं। अगला अनु० 11 भी देखिए।

अच्छा होगा। किन्तु जब कभी इन नियमों में ही संघर्ष हो और हमारे सामने यह समस्या हो कि हम कौन-सा मार्ग अपनाएँ—संक्षेप में जब 'अन्तर्भावना की समस्या' खड़ी हो, तब हमें सर्वोच्च धर्मादेश का ही सहारा लेना चाहिए और अपने-आपसे यह प्रश्न करना चाहिए—जो मार्ग अपनाने का विचार हम कर रहे हैं क्या वह ऐसा है जो संसार में तर्कनापरक विधान और उसमें निहित मूल्यों की सिद्धि में सर्वाधिक सहायक सिद्ध हो सके?

निस्सन्देह यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर देना प्रायः कठिन होगा।¹ पर सामान्य रूप से यदि कोई व्यक्ति अपनी अन्तर्भावना को मलिन नहीं होने देता और इस प्रश्न पर स्पष्ट रूप से विचार करता है तो वह, किकर्तव्य-मीमांसा द्वारा किये गए विभेदों का सहारा लिये बिना ही, भूलें करने से बच जाएगा।²

11. किकर्तव्य-मीमांसा पर टिप्पणी

पर नीतिशास्त्र के कई एक प्रमुख लेखकों द्वारा किकर्तव्य-मीमांसा पर काफ़ी जोर दिया गया है। ब्रैंडले ने इसका बड़ा ही तीव्र खण्डन किया है और रशदल, प्रो० मूर, लाएर्ड तथा अन्य लोगों ने इसका योग्यता के साथ समर्थन किया है। डॉ० मूर का कहना है³ कि किकर्तव्य-मीमांसा तो नीतिशास्त्रीय विवेचन का लक्ष्य है। अध्ययन के प्रारम्भ में ही इस पर विचार नहीं किया जा सकता, इसका विवेचन केवल अन्त में ही

1. भावना के रूप में इसका उत्तर देना कभी-कभी अधिक आसान हो सकता है। जिन धर्मादेशों में यहूदी लोगों के विधान को इस प्रकार सूत्र रूप में व्यक्त किया गया था—“अपने प्रभु, भगवान् को अपने सम्पूर्ण हृदय...आदि से प्रेम करो और अपने पड़ोसी को उसी भाँति प्यार करो जैसे स्वयं अपने को करते हो...” उनमें भावना की उचित प्रवृत्ति व्यक्त की गई है। यह भावना है सर्वोच्च तर्कबुद्धि और समस्त तर्कनाशील प्राणियों के प्रति प्रेम की भावना। पर भावना के रूप में धर्मादेश की अनुविधा यह होती है कि उसमें निश्चित कर्तव्यों का कोई संकेत नहीं मिलता। इसके विपरीत तर्कनापरक जीवन की प्रगति करने के आदेश में तुरन्त उन उपायों एवं साधनों का संकेत मिलता है जिन्हें इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए अपनाया जाना चाहिए। पर साथ ही इस बात पर भी जोर देना आवश्यक है कि उचित मनः-प्रवृत्ति होने पर उचित भावनाओं की उत्पत्ति स्वतः आवश्यक हो जाती है।

इस विषय की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। (प्रथम खण्ड, अध्याय 3, अनु० 5 और द्वितीय खण्ड, अध्याय 3, अनु० 13 में)। हम यह देख चुके हैं कि Kant ने प्रेम को कर्तव्य मानने से इन्कार कर दिया था और ईसाई समादेश की व्याख्या इस प्रकार की थी कि हमें दूसरों के साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिए जैसे हम उन्हें सचमुच प्रेम करते हों। पर, जैसा Adam Smith ने कहा था (Theory of Moral Sentiments, भाग 3, अध्याय 6), इसे तो अपने पड़ोसी को स्वयं अपने ही जैसा प्यार करना नहीं कहा जा सकता; क्योंकि “स्वयं अपने-आपको तो हम अपने ही लिए, अपने मन से प्यार करते हैं, केवल इसलिए नहीं कि हमें प्यार करने का आदेश दिया गया है।” इस विषय पर जैनेट (Janet) ने सन्तपाल के कथन का अच्छा उद्धरण दिया है (Theory of Morals, पृ० 354 में), “भले ही मैं अपना सारा मलमत्ता गरीबों को खिलाने के लिए दे दूँ, भले ही मैं अपना शरीर जलाकर खाक करने के लिए दे दूँ, पर यदि मन में दया-दान की भावना नहीं है तो मेरा कोई उपकार नहीं होगा।”

2. इस विषय पर ग्रीन (Green) की पुस्तक Prolegomena to Ethics, भाग 4, अध्याय 2, देखिए।
3. देखिए Principia Ethica, पृ० 5।

लाभदायक हो सकता है। रशदल इस मत को स्वीकार करते हुए कहते हैं¹ “कि यह पूर्व-कल्पना नहीं करनी चाहिए कि हमारा लक्ष्य ऐसा है जो प्राप्त किया जा चुका है या कभी भी पूर्ण रूप से प्राप्त किया जा सकता है।” दूसरी ओर ब्रैडले का कहना है, “जैसे तर्कशास्त्र को विकृत करके उसे विवाद करने की कला बना दिया गया है, उसी प्रकार नीतिशास्त्र को विकृत करके उसे नैतिकता की कला बना दिया गया है। यदि हम प्रज्ञावान हों तो इन दोनों जुड़वाँ भ्रान्तियों को हमें एक ही क़दम में दफ़ना देना होगा।”

मैं समझता हूँ कि तर्कशास्त्र और नीतिशास्त्र को तो सन्नमुच ही सही अर्थों में कलाएँ नहीं माना जा सकता। और न सौन्दर्यशास्त्र को ही कला माना जा सकता है। सौन्दर्यशास्त्र का यह काम नहीं है कि कवियों, चित्रकारों और गायकों को यह बताए कि वे अपना काम कैसे करें। नीतिशास्त्र का सम्बन्ध चूँकि निश्चित रूप से आचरण से है, इसलिए कहा जा सकता है कि उसका लक्ष्य और अधिक व्यावहारिक है, और यह प्रश्न कि नीतिशास्त्र की पुस्तक में कितना-क्या रहे, अंशतः एक शाब्दिक विवाद-मात्र है। कार्य करने के नियम तो अधिकांशतः राज्य के कानूनों में ही निहित रहते हैं; पर यह निर्धारित करना कि कौन-कौनसे कानून लागू किये जाएँ, राजनीतिशास्त्र के भी क्षेत्र में आता है या नहीं, इसमें सन्देह है। यह तो स्पष्ट है कि जीवन और सम्पत्ति की रक्षा की जानी है और संविदाओं का पालन करना है; और समय-समय पर नागरिकों को कुछ विशेष सेवाएँ करने के लिए कहा जा सकता है। इन विषयों के सम्बन्ध में कुछ सामान्य सिद्धान्त निर्धारित किये जा सकते हैं; पर सम्यक् रूप से यह निर्धारित करना एक व्यावहारिक राजमर्मज्ञ का ही काम है कि किस विशेष समय में कौनसे कानून लागू किए जाने चाहिए।

व्यक्ति भी स्वयं अपने आचरण के लिए नियम बना सकते हैं।² अपने सोने-जगने का समय, काम के घंटे, भोजन व मनोरंजन का समय आदि वे निर्धारित कर सकते हैं; और यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है कि इस प्रकार बनाये गए नियमों का कड़ाई के साथ पालन किया जाए। पर ये नियम क्या होने चाहिए अथवा किन परिस्थितियों में इन नियमों को तोड़ना या शिथिल करना उचित होगा—आदि बातें निर्धारित करना किसी भी सैद्धान्तिक विवेचन का विषय नहीं हो सकता।

चाहे राज्य के व्यापक कार्य-कलापों का क्षेत्र हो और चाहे व्यक्ति के छोटे-से जीवन का, नियमों का होना आवश्यक है, और यह भी आवश्यक है कि सामान्यतः इन नियमों का दृढ़तापूर्वक पालन किया जाए। पर जेकोबी का यह कथन भी ठीक था कि लघुतर मूल्य की अपेक्षा हमेशा महत्तर मूल्य का वरण करने के नियम को छोड़कर ऐसा कोई भी सामान्य नियम नहीं है जिसकी कुछ परिस्थितियों में अवहेलना करना उचित न हो।

सामान्य नियमों को छोड़कर जब हम ऐसे विशिष्ट सवालों पर विचार करते हैं जिन्हें व्यक्तियों को हल करना पड़ता है, तब यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि ऐसे प्रश्नों का हल करना किसी भी शास्त्र के वश की बात नहीं है; जैसे यह प्रश्न कि मैं शादी करूँ या न करूँ? मैं वकील बनूँ या डॉक्टर बनूँ? कविता पढ़ने में मुझे कितना समय लगाना चाहिए? दान में मैं कितनी रकम दूँ? इन प्रश्नों का कुछ महत्त्व है, और इनका उत्तर सम्भवतः ऐसे अनुभवी व्यक्ति द्वारा दिया जा सकता है

1. देखिए Theory of Good and Evil, भाग 2, पृ० 418। लाईर्ड (Laird) की पुस्तक Study in Moral Theory, पृ० 62 भी देखिए।
2. इसके सम्बन्ध में कुछ रोचक टिप्पणियाँ W. D. Lamont के लेख The Notion of Duty में मिलेंगी जो जुलाई 1928 के Mind में छपा था।

जो प्रश्नकर्ता से व्यक्तिगत रूप में भली-भाँति परिचित हो। हो सकता है कि जिसने नीतिशास्त्र का विशेष अध्ययन किया हो, उस पर उस व्यक्ति की अपेक्षा अधिक भरोसा किया जा सके जिसने ऐसा अध्ययन नहीं किया; और हो सकता है कि अनुभवी व्यक्ति द्वारा दी जाने वाली सलाह पर कुछ हद तक उस विशिष्ट नैतिक सिद्धान्त का प्रभाव भी पड़ा हो जिसे उसने अंगीकार किया हो। किन्तु जहाँ तक मैं समझता हूँ, किसी भी नैतिक सिद्धान्त से इन प्रश्नों के उत्तर नहीं निकाले जा सकते। पहले प्रश्न के सम्बन्ध में सैजिनिकी (Eugenics) का अध्ययन करनेवाला कुछ व्यावहारिक सलाह दे सकता है, दूसरे और तीसरे प्रश्न के सम्बन्ध में कोई शिक्षक तथा चौथे प्रश्न के सम्बन्ध में कोई सांख्यिकीविद्।

इसमें सन्देह नहीं कि आचरण-सम्बन्धी ऐसे प्रश्न भी उठाये जा सकते हैं जिनका उत्तर नीतिशास्त्र का विद्यार्थी अधिक अच्छी तरह दे सकता है, जैसे, क्या मुझे ऐसे शब्दों का प्रयोग करना चाहिए जिनका भ्रान्त अर्थ निकल सकता हो? क्या मुझे ऐसी प्रथा अंगीकार करनी चाहिए जो स्वयं मुझे मूर्खतापूर्ण मालूम होती हो? क्या मुझे ऐसे कानून का पालन करना चाहिए जिसके बारे में मेरा विश्वास यह हो कि उसे निरस्त किया ही जाना चाहिए? क्या ऐसे वायदे को पूरा करना चाहिए जो निश्चित रूप से हित के बजाय अहित करने वाला है? मैं समझता हूँ नैतिक विचार-धाराएँ निश्चित रूप से ऐसे प्रश्नों के उत्तर देने में सहायक हो सकती हैं; पर विवरण और अधिक देने होंगे, और इस पुस्तक में ऐसे विवरणों पर विचार करने में समय लगाना उचित नहीं होगा। प्रायः हमेशा प्रत्येक कार्य या कार्य-पद्धति के पक्ष और विपक्ष में—दोनों ही ओर—तर्क होते हैं; और व्यक्ति को अपनी शक्ति-सामर्थ्य के अनुसार, सभी परिस्थितियों का ध्यान रखते हुए, शुभ और अशुभ के बीच सोच-समझ-कर रास्ता निकालना होता है।

इस पुस्तक में अपनाया गया दृष्टिकोण यदि सही है तो व्यापक अर्थ में पूर्ण श्रेय की सिद्धि का प्रयत्न ही नैतिक शुभ है। जिन उपायों—साधनों से उस शुभ की सिद्धि या अभिवृद्धि हो सकती है उनका ज्ञान हमें धीरे-धीरे ही होता है। पर कुछ हद तक नियमों के रूप में उन्हें व्यक्त किया जा सकता है। प्रेम या परहितपणा ही सामान्य सिद्धान्त है; पर इसकी व्यावहारिक प्रयोग-पद्धतियों को, कुछ हद तक, नियमों में व्यक्त किया जा सकता है, जैसे जीवन का सम्मान, सम्पत्ति का सम्मान, स्वाधीनता का सम्मान, सत्य का सम्मान आदि नियम। पर इनमें से किसी से भी उस अर्थ में निरपेक्ष आदेश की उपलब्धि नहीं होती जिस अर्थ में कांट ने इसकी धारणा की थी। इन नियमों की ऊपरी या दिखावटी निरपेक्षता किन अर्थों में किस प्रकार सीमित है, यही दिखाना कर्तव्य-मीमांसा का काम है।

यह तो बिल्कुल साफ़ बात है कि मनुष्यों को स्वाधीनता, सम्पत्ति या ज्ञान का निरपेक्ष अधिकार नहीं मिल सकता। मानव-समाज के सीमित संगठन में जितना सम्भव है उसी हद तक उन्हें ये अधिकार दिये जा सकते हैं। पर यह निर्धारित करने के लिए कि ठीक-ठीक किस हद तक ये अधिकार किसी समाज-विशेष में दिये जा सकते हैं, उस समाज के गठन का ब्योरेवार अध्ययन करना होगा; और यही बात व्यक्तियों द्वारा मंगि जाने वाले अधिकांश अधिकारों पर—जिनमें जीवन का अधिकार भी शामिल है—लागू होती है।

पर उन प्रमुख तरीकों की ओर ध्यान आकर्षित किया जा सकता है जिनके द्वारा विशिष्ट अधिकारों और उनके अनुरूपी आबन्धों को सीमित किया जाता है। स्वाधीनता पर लगाई जाने वाली पाबन्दियाँ इतनी स्पष्ट हैं कि उन पर विशेष विचार

करना अनावश्यक है। यही स्थिति सम्पत्ति के अधिकार पर लगनेवाली पाबन्दियों की है। जिस जगत् में हम रहते हैं उसके सम्बन्ध में सम्पूर्ण सत्य का ज्ञान प्राप्त कर सकने की आशा कोई नहीं कर सकता, और इस दृष्टि से सत्य का अधिकार भी स्पष्टतः सीमित है। यह भी स्पष्ट ही है कि माता-पिता या शिक्षकों को सत्य का जितना ज्ञान प्राप्त है वह भी बच्चों को सबका-सब एक साथ नहीं बताया जा सकता। ऐसे मामलों में यह स्पष्ट है कि सामान्यतः जितने सत्य का ज्ञान प्राप्त है वह सबका-सब नहीं बताया जा सकता। फिर भी कुछ ऐसे मामले हैं जिनमें सत्य-सम्बन्धी यह मितव्ययिता इतनी स्पष्ट नहीं है; और इन्हीं के सम्बन्ध में किकर्तव्य-मीमांसीय प्रश्न उठाये गए हैं। किस प्रकार के प्रश्न पैदा होते हैं—इसके कुछ उदाहरण देने के अलावा शायद हम यहाँ कुछ और अधिक विवेचन नहीं कर सकेंगे।

कुछ तो बहुत ही स्पष्ट हैं। यदि कोई मित्र बीमार है, और यदि उसे बता दिया जाए कि वह कितने खतरे में है, तो शायद उसकी हालत और भी खराब हो जाए। ऐसी स्थिति में जीवन का सम्मान सत्य के सम्मान के आड़े आएगा। अधिकांश लोग उसे नहीं बताएँगे कि वह कितने खतरे में है; और यदि वह जानने के लिए हठ करेगा तो सत्य को छिपाने या बदल देने में उन्हें संकोच न होगा। दूसरी ओर यदि यही बात हमेशा की जाए तो उसका प्रभाव ही खतम हो जाए। बीमार जान जाए कि उसे धोखा दिया जा रहा है। इसलिए धोखा भी बड़ी सावधानी के साथ दिया जाना है; और जो लोग हमेशा धोखा देते रहते हैं उनके लिए तो यह एक ललित कला के समान हो जाता है। इसी तरह यदि कोई मानव-वध का उन्मादी अपने शिकार का पता पूछे तो शायद ही कोई उसे धोखा देने से हिचके, यद्यपि यहाँ भी बड़ी सावधानी से धोखा देना होगा। कुछ ऐसे भी मामले हैं जिनमें कठिनाई बहुत अधिक होती है। मैं एक हाल ही के ऐसे विवाद का जिक्र करना उपयुक्त समझता हूँ जिसमें इस प्रकार की कुछ कठिनाइयाँ सामने आई थीं।

सिजविक ने, जो कि एक बहुत ही विवेकी लेखक है, एक छोटी-सी पुस्तक लिखी—'Practical Ethics' जिसमें इन कठिनाइयों में से कुछ की चर्चा की गई। उन्होंने एक लेख भी लिखा, जो International Journal of Ethics में छपा, जिसमें उन्होंने धार्मिक मामलों में सत्य को छिपाने के अधिकार का विरोध किया। कुछ हद तक यह मामला बच्चों, बीमारों या उन्मादियों के मामले से मिलता-जुलता है। धार्मिक विश्वास उन सबलतम शक्तियों में से है जो अनेक लोगों को उनके जीवन में सहारा देती हैं; और इन विश्वासों को शिथिल बनानेवाली प्रत्येक बात उतनी ही आपत्ति-जनक है जितनी किसी सख्त बीमार आदमी को उसकी बीमारी की सच्चाई बताना। इसीलिए प्रायः सामान्य रूप से यह बात मानी जाती है कि जब तक हम उतनी ही या उससे प्रबल शक्तिवाला कोई दूसरा विश्वास न दे सकें, तब तक किसी भी व्यक्ति के धार्मिक विश्वासों को छेड़ना नहीं चाहिए। दूसरी ओर दृढ़ धार्मिक विश्वासवाले स्त्री-पुरुष प्रायः भिन्न धार्मिक विश्वासवाले लोगों के विरोधी हो जाते हैं और उनका धर्म-परिवर्तन कराने के लिए उत्सुक रहते हैं। इसीलिए उदार लोग, विशेषकर जिनके नैतिक विचार कुछ सुखवादी होते हैं, अपने विश्वासों का कुछ अंश प्रायः छिपाए ही रहते हैं।

कुछ ऐसा हुआ कि रशदल भी उन्हीं लोगों में से थे जो इस प्रकार का दुराव-छिपाव रखते थे; और निस्सन्देह कुछ इस कारण भी वह किकर्तव्य-मीमांसा-सम्बन्धी प्रश्नों में इतनी अधिक रुचि रखते थे। स्थितियों थी—रशदल इंगलैण्ड के चर्च के एक पादरी थे; और उनकी कुछ ऐसी धारणा थी कि अपने देश के नैतिक जीवन

की सर्वोत्तम सेवा वे चर्च के पादरी के कार्य द्वारा कर सकेंगे। किन्तु चर्च एक प्राचीन मत को मानता था और आज भी मानता है, जिसे कई अवसरों पर निष्ठापूर्वक दोहराना होता है। इस प्रकार भगवान् को सर्वशक्तिमान कहना था; और रशदल इस बात को नहीं मानते थे कि भगवान् को सर्वशक्तिमान कहना उपयुक्त है। उन्हें यह भी मानना-कहना था कि ईसा का जन्म एक कुमारी कन्या से हुआ था; जबकि उनकी अपनी राय में ईसा का जन्म बिलकुल सामान्य प्राकृतिक ढंग से हुआ था। अन्य अनेक बातें उस मत में ऐसी थीं जिन्हें रशदल शुद्ध रूपक के ही रूप में स्वीकार करते थे। सिजविक की राय में, इन परिस्थितियों में, रशदल को चर्च से इस्तीफा दे देना चाहिए था, जैसे खुद सिजविक ने तथा कुछ और लोगों ने, ऐसे ही कारणों से, कालेज की शिक्षावृत्ति से इस्तीफा दे दिया था। स्पष्ट है कि यह एक मुश्किल मामला था, और रशदल ने, सिजविक के तर्क के जवाब में, एक रोचक लेख लिखा।¹

रशदल का सामान्य तर्क यह था कि मानव-व्यवहार में प्रायः शब्दों का प्रयोग उन अर्थों में करना होता है जो परिशुद्ध अर्थ नहीं कहे जा सकते। यह तथ्य केवल ऊपर कहे गए मुश्किल मामलों के सम्बन्ध में ही सही नहीं है; सामान्य शिष्टाचार में भी ऐसी शब्दावली का प्रयोग करना पड़ता है जिसका शाब्दिक अर्थ अभिप्रेत नहीं होता।

उदाहरण के लिए, पत्र का प्रारम्भ 'प्रिय महोदय' सम्बोधन के साथ करना एक प्रथा बन गई है, भले ही जिस व्यक्ति को पत्र लिखा जा रहा हो वह लेखक के लिए केवल प्रिय ही न हो बल्कि, शायद, पुराना दुश्मन ही क्यों न हो। इस उदाहरण के विरुद्ध यह तर्क दिया जा सकता है कि कम-से-कम ईसाई मत माननेवालों के लिए यह बिलकुल उपयुक्त है, क्योंकि ईसाई धर्म शत्रु से भी प्रेम करने का आदेश देता है। कुछ भी हो, बहुतेरे लोग यही सोचेंगे कि इस प्रकार की परिपाटी-गत शब्दावली² को ऐसे सिद्धान्तों पर विश्वास की निष्ठापूर्ण घोषणा के समानान्तर नहीं रखा जा सकता, जिन पर स्पष्ट रूप से विश्वास न किया जाता हो। फिर भी यह तो कहा ही जा सकता है कि यह मामला भी एक बीमार मित्र से खतरनाक सच्चाई छिपाने जैसा ही है।

यह तो एक स्पष्ट बात है कि तत्त्वमीमांसीय सत्य सभी प्रकार के और सभी सिद्धान्तों के व्यक्तियों को निश्चय ही नहीं समझाए जा सकते। और यदि उनके सम्बन्ध में कोई सार्वजनिक वक्तव्य देना हो तो उसमें किसी हद तक कुछ भूलें या छद्मावरण रखना ही होगा। हाँ, यह प्रश्न जरूर पूछा जा सकता है कि ऐसा सार्वजनिक वक्तव्य दिया भी जाना चाहिए या नहीं। और इस पर मतभेद हो सकता है, यहाँ इसका विवेचन उपयुक्त भी नहीं है। इतना कह देना, मेरी समझ में, अच्छा होगा कि जिस प्रथा की निरन्तरता की चर्चा रशदल ने की है वह अंग्रेजों के परम्परा-प्रेम के कारण है। धर्म के मामलों में भी अधिकांश अंग्रेज अपने अम्यस्त तरीकों को ही अपना पसन्द करते हैं। इसी प्रवृत्ति को विदेशी पर्यवेक्षक अंग्रेजों का 'मिथ्याचार'

1. देखिए, जनवरी, 1897 का International Journal of Ethics।

2. मेरा खयाल है कि 'भगवन् रक्षा करो राजा की' (God Save the King) गीत के गाने में सहयोग देने के कारण किसी निरीश्वरवादी, नास्तिक, गणतन्त्रवादी अथवा शान्तिवादी पर मिथ्याचार का दोषारोपण लगाने के लिए शायद ही कोई गम्भीरतापूर्वक तैयार हो। इस गीत का गाना या अन्य ऐसा ही काम तो देशभक्ति की भावना की अभिव्यक्ति मात्र माना जाएगा। किन्तु जिस धार्मिक मत पर विश्वास न हो उसे निष्ठापूर्वक दोहराना निश्चय ही अधिक आपत्तिजनक मालूम होता है।

कहते हैं। इस सम्बन्ध में देखिए प्रो० ई० बार्कर (Prof. E. Barker) की पुस्तक 'National Character' और काउण्ट केसरलिंग (Count Keyserling) की पुस्तक 'Europe'।

नीतिशास्त्र के आधार के सम्बन्ध में हमने जो मत स्वीकार किया है वह यदि ठीक है तो इस प्रकार के सभी मामलों में हमें यह प्रश्न पूछना चाहिए कि हम जो कुछ कर रहे हैं वह, हमारे ज्ञान के अनुसार जो शुभ है उसकी अभिवृद्धि के लिए सर्वोत्तम है या नहीं। ऐसा लगता है कि उस दृष्टिकोण से सम्भवतः सिजविक और रशदल दोनों ही ठीक थे। सिजविक के सम्बन्ध में तो कोई सन्देह हो ही नहीं सकता। रशदल के सम्बन्ध में कम-से-कम इतना तो कहा जा सकता है कि यद्यपि उन्होंने एक ऐसे मत को दोहराया जिस पर उन्हें विश्वास नहीं था, फिर भी इसके सम्बन्ध में उन्होंने अपने विचार स्पष्ट अवश्य कर दिए, और जिस चर्च में वह थे उसके अधिकारियों ने उनके विचारों को स्पष्टतः आपत्तिजनक नहीं माना। सम्भव है कि उसके प्रायः सभी सदस्य इस मत की व्याख्या न्यूनाधिक मात्रा में रूपकात्मक ही करते रहे हों। जब तक हम कांट के अतिशय कठोरतावाद को नहीं स्वीकार कर लेते, तब तक ऐसा नहीं लगता कि कोई भी नीति-तन्त्र और अधिक निर्णायक मत व्यक्त करने में हमारी मदद कर सकेगा। इस बात की प्रसन्नता हमें अवश्य है कि इन दोनों विरोधी मतों के सिजविक और रशदल-जैसे दो खरे व्याख्याता हमें मिले।

यह सारा प्रश्न एक और महत्तर समस्या की ओर ले जाता है—जिन सामाजिक गुटों (जैसे राजनीतिक दलों) के साथ पूर्ण एकमत न हो उनके साथ सहयोग करना कहाँ तक किसी व्यक्ति के लिए उचित है। पर यह उदाहरण बेशक इस समस्या का एक कठिन और कुछ पराकोटि का उदाहरण है।

जब तक नीतिशास्त्र के अध्ययन को नैतिक साध्य के सामान्य विवेचन से ही सम्बन्धित माना जाता है, तब तक इसका चाहे जितना विकास हो, पर इस प्रकार की विवरणात्मक समस्याओं का कोई सन्तोषप्रद विश्लेषण इसमें नहीं किया जा सकता। मूल्यों के और अधिक व्यापक अध्ययन से तथा सामाजिक जीवन के सामान्य सिद्धान्त से हमें इन समस्याओं का निर्णायक विवेचन करने में सहायता मिल सकती है। पर ये बहुत विस्तृत और कठिन अध्ययन हैं और इनका विकास भविष्य के लिए छोड़ देना होगा।

सम्यक् रूप से, मुझे ऐसा लगता है, कि किकर्तव्य-मीमांसा के किसी परिपूर्ण-तन्त्र को नीतिशास्त्र का लक्ष्य बताना एक बिलकुल गलत बात है; ठीक वैसे ही जैसे यह कहना गलत होगा कि तर्कशास्त्र का लक्ष्य है समस्त विज्ञानों का विश्वकोष। अरस्तू के तर्कशास्त्र और नीतिशास्त्र का आज भी पर्याप्त मूल्य है; पर यदि उन्होंने विज्ञानों का एक विश्वकोष और एक किकर्तव्य-मीमांसा-तन्त्र तैयार किया होता तो वे दोनों ही निश्चित रूप से आज पुराने पड़ चुके होते—शायद दोनों का पुरानापन एक-सा न होता; क्योंकि मानव-जीवन की परिस्थितियाँ उतनी जल्दी और उसी मात्रा में नहीं बदलतीं जैसे संसार के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान बदलता है। कुछ ऐसी नैतिक समस्याएँ हैं जो समय के साथ बहुत अधिक नहीं बदलतीं—जैसे, स्त्री-पुरुष के बीच के सामान्य सम्बन्धों और जानवरों के प्रति व्यवहार की समस्याएँ; पर इनके सम्बन्ध में भी जो कुछ अरस्तू ने लिखा होगा उसका, शुद्ध ऐतिहासिक महत्त्व के अलावा, अब शायद और कोई उपयोग न रह गया होगा। दिशिष्ट सद्गुणों के सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ लिखा उस पर भी यही बात बहुत-कुछ लागू होती है।

फिर भी किकर्तव्य-मीमांसा अध्ययन का एक उपयुक्त विषय है। रशदल के

व्यापक विवेचन में इसके सम्बन्ध में बहुत काफ़ी लिखा गया है।¹ जो कुछ रशदल ने किकर्तव्य-मीमांसा के सम्बन्ध में लिखा है वह बेशक बहुत मूल्यवान् है। वटलर की भाँति उन्हें एक साथ ही पादरी और दार्शनिक होने का सोभाग्य प्राप्त था; और पादरी की हैसियत से उनका यह काम था कि लोगों की कम-से-कम कुछ व्यावहारिक समस्याओं का ज्ञान रखें। इसमें सन्देह नहीं कि नैतिक सिद्धान्त-सम्बन्धी उनके ज्ञान ने इन समस्याओं को सुलझाने में उनकी मदद की; पर मुझे ऐसा नहीं लगता कि इन समस्याओं के सुलझाने की नीतिशास्त्र का लक्ष्य तो क्या, एक अंग भी कहा जा सकता हो। इनमें से कुछ समस्याओं को तो इब्सन, जार्ज इलियट, हार्डी और अन्य अनेक नाटककारों और उपन्यासकारों ने हल किया है। यूनानी नाटक और एलिजाबेथ-युगीन नाटक बहुधा ऐसी समस्याओं का विवेचन करते थे; और इसमें सन्देह नहीं कि इनका व्यवस्थित विवेचन सम्भव है। पर यह एक विस्तृत विषय है और समय, स्थान और परिस्थितियों के विशिष्ट विवरणों की निरन्तर आवश्यकता पड़ती रहती है। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा शिष्टाचार के नियमों पर भी यही बात लागू होती है। इन सबमें नैतिक विचारधाराएँ निहित हैं, पर नीतिशास्त्र के आधार का सामान्य अध्ययन करते समय इनका विवेचन उपयुक्त नहीं हो सकता। मनुष्य का जीवन जटिल होता है, और एक समय हम उसके एक ही पक्ष का विवेचन कर सकते हैं।

12. प्रथागत नियम (Conventional Rules)

धर्मदेशों अथवा कठोर नैतिक नियमों के अलावा प्रत्येक समाज में हमें आचरण के तमाम ऐसे उपनियम मिलते हैं जो आप्तत्व की दृष्टि से अवर-कोटि के होते हैं, किन्तु जिनका पालन प्रायः अधिक हृदय के साथ किया जाता है। उदाहरण के लिए, विनयशीलता के नियम, 'शिष्टाचार संहिता' के नियम, विशिष्ट व्यवसायों और समाज के विशिष्ट वर्गों के शिष्टाचार के नियम² इस कोटि में आते हैं। प्रायः इन नियमों में एक प्रकार का बेतुकापन भी होता है और उनमें से कुछ की प्रायः हँसी भी उड़ाई जाती है। इन नियमों के प्रति एक अन्धविश्वासमूलक निष्ठा की—ऐसी निष्ठा की जो अधिक महत्त्वपूर्ण कर्तव्यों की पूर्ति में अथवा चरित्र की स्वतन्त्रता के विकास में बाधक बने—कभी भी प्रशंसा नहीं की जा सकती।

फिर भी, कभी-कभी ऐसे नियम भी कारण-हीन नहीं होते। अपनी पुस्तक 'Wallenstein'³ में एक स्थान पर शिलर (Schiller) ने कहा है कि "हमें संकीर्ण प्रथागत नियमों की अवहेलना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि प्रायः अनौचित्य और अन्याय के विविध रूपों के विरुद्ध सुरक्षा के लिए ही ये नियम बनाये गए थे। मनुष्य के हृदय के आवेगों का सामान्यतः समझी-बूझी प्रथाओं द्वारा रोका जाना प्रायः अच्छा ही होता है।⁴ यदि किसी अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का उल्लंघन न होता हो तो, सामाजिक व्यवस्था के सम्मान का नियम हर सूरत में व्यक्ति को प्रतिष्ठित प्रथा का अनुगमन

1. इसका बहुत अच्छा विवेचन प्रो० लायर्ड (Prof. Laird) की हाल में प्रकाशित पुस्तक 'Study of Ethical Theory' में किया गया है।

2. कभी-कभी इन्हें 'उपचर्या' कहा गया है।

3. 'Die Piccolomini', पहला अंक, चौथा दृश्य।

4. वास्तव में ऐसे नियम बड़े मामलों की अपेक्षा छोटे मामलों में अधिक उपयोगी होते हैं, क्योंकि छोटे मामलों में हमारी दिलचस्पी कम होती है। तुलना कीजिए आगे अनु० 14 की टिप्पणी 3 से।

करने के लिए प्रेरित करता है। पर यह कोई चरम महत्त्व का मामला नहीं है। मामूली नियमों का बड़ी दृढ़ता के साथ पालन करना उतना ही मूर्खतापूर्ण है जितना उनकी एकदम अवहेलना करना। नैतिक जीवन में सनक का भी अपना स्थान है; और बेशक ऐसी तमाम प्रथाएँ हैं जिनका सम्मान उनका पालन करने के बजाय उल्लंघन करके किया जाता है।”

सम्भवतः आधुनिक समय में, व्यक्तिवादी विचारों के परिणामस्वरूप, जीवन के सामान्य नियमों को बहुत कम महत्त्व देने की प्रवृत्ति है। पर, कन्फ्यूशियस के प्रभाव के कारण, चीनी लोग दूसरे छोर पर पहुँच गए लगते हैं।

13. पूर्ण और अपूर्ण आबन्ध के कर्त्तव्य

चूँकि कर्त्तव्यों की कोई निरपेक्ष संहिता बना सकना असम्भव है, इसलिए जो आबन्ध निश्चित रूप से संहिताबद्ध किए जा सकते हैं उन्हें कुछ लेखकों ने उन शेष आबन्धों से पृथक् करना चाहा है जिन्हें अपेक्षाकृत रूप में अस्पष्ट ही छोड़ना पड़ता है। यह विभेद विविध रूपों में व्यक्त किया गया है। जिन आबन्धों की सटीक परिभाषा दी जा सकती है उन्हें कभी-कभी-कर्त्तव्य कहा जाता है; और सदाचरण के जिस अंग की ऐसी परिभाषा नहीं दी जा सकती उसे सद्गुणों की कोटि में रखा जाता है—मानो सद्गुणी व्यक्ति वह है जो अपने कर्त्तव्य से कुछ अधिक करता है—जो कुछ करने की उससे अपेक्षा की जा सकती है उससे अधिक करता है।¹ उधर मिल भी कठोर कर्त्तव्यों को न्याय की श्रेणी में रखते हैं;² उनका कहना है, “इसके विपरीत कुछ ऐसी चीजें हैं जिन्हें हम चाहते हैं कि लोग करें, जिनके करने पर हम लोगों की प्रशंसा करते हैं, फिर भी यह स्वीकार करते हैं कि उन्हें करने के लिए लोग विवश नहीं हैं; वे

1. इसमें कोई सन्देह नहीं कि सामान्य भाषा में ‘सद्गुण’ शब्द का यही सामान्य प्रयोग है। शायद इस शब्द का मूल अर्थ भी यही है। यह तो निश्चित ही है कि प्रारम्भ में इस शब्द का प्रयोग उन गुणों के लिए किया जाता था जो अत्यन्त प्रमुख और प्रशंसनीय मालूम होते थे। देखिए Alexander की पुस्तक *Moral Order and Progress*, पृ० 243। “सद्गुण की विशिष्टता वह है जो कर्त्तव्य से परे है, किन्तु प्रत्येक कार्य उन विशिष्ट परिस्थितियों पर निर्भर करता है जिनमें वह किया जाता है। कर्त्ता को ही उन परिस्थितियों का निर्णायक मानना पड़ता है। वह उसी का कर्त्तव्य है कि जो कुछ उत्तम हो, करे।” तुलना कीजिए Muirhead की *Elements of Ethics*, पृ० 206 से। Adam Smith की *Theory of Moral Sentiments*, भाग 1, अनुभाव 2, अध्याय 4, सिजविक की *Methods of Ethics* भाग 3, अध्याय 2, और Richaley की *Moral Philosophy*, पृ० 70 भी देखिए।
2. देखिए Utilitarianism, अध्याय 5। कुछ लेखकों ने ‘न्याय’ शब्द का प्रयोग उन कार्यों तक ही सीमित माना है जो राष्ट्रीय विधान द्वारा लागू किए जा सकते हैं। इस प्रकार ऐडम स्मिथ कहते हैं, “जो व्यक्ति अपने पड़ोसियों के शरीर, उनकी सम्पत्ति अथवा उनकी प्रतिष्ठा पर आघात मात्र नहीं करता, उसमें निश्चय ही बहुत ही कम वास्तविक गुण हैं। फिर भी जिसे न्याय कहा जाता है उसके सभी नियमों को वह पूरा करता है और उसके बराबरवाले जो कुछ करने के लिए उसे विवश कर सकते हैं या जो कुछ न करने पर उसे सजा दे सकते हैं, वह सभी कुछ वह करता है। न्याय के सभी नियमों को हम प्रायः चुपचाप बैठे रहकर, एकदम निष्क्रिय रहकर भी पूरा कर सकते हैं।” *Theory of Moral Sentiments*, भाग 2, खण्ड 2, अध्याय 1। चौथे अध्याय के अन्त में दी गई टिप्पणी से तुलना करें।

नैतिक आबन्ध नहीं हैं।" किन्तु यह तो निश्चित रूप से हमारा नैतिक आबन्ध है कि हम यथासम्भव सर्वोत्तम आचरण करें।

पूर्ण और अपूर्ण आबन्ध के कर्त्तव्यों के बीच एक दूसरा विभेद कांट ने किया है।¹ इस वर्गीकरण के अनुसार पूर्ण आबन्ध के कर्त्तव्य वे हैं जिनमें बिना किसी शर्त के ही हमसे कोई अपेक्षा या माँग की जाती है, जैसे, हत्या मत करो, झूठ मत बोलो, चोरी मत करो। अधिकांशतः ये कर्त्तव्य निषेधात्मक हैं। दूसरी ओर हमारे अधिकांशतः विधायक आबन्ध इस प्रकार निरपेक्ष रूप में नहीं व्यक्त किए जा सकते। उदाहरण के लिए, परोपकार करने का कर्त्तव्य समय, स्थान और परिस्थिति सापेक्ष होता है। किसी भी व्यक्ति पर यह आबन्ध लागू नहीं हो सकता कि वह सभी प्रकार सबकी भलाई करे; केवल किसी विशिष्ट ढंग से ही वह ऐसा कर सकता है और अपना ढंग प्रायः उसे स्वयं ही खोजना होता है। इसलिए इसे एक अपूर्ण आबन्ध कहा जा सकता है, क्योंकि इसे कोई निश्चित रूप नहीं दिया जा सकता।

इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार का विभेद है। वास्तव में, विभिन्न प्रकार के कर्त्तव्यों में तिहरा विभेद है। एक प्रकार के कर्त्तव्य तो वे हैं जिन्हें एक निश्चित रूप दिया जा सकता है और राज्य के विधानों में सम्मिलित किया जा सकता है² और उनका उल्लंघन करने वालों पर दण्ड की व्यवस्था की जा सकती है। दूसरे प्रकार के कर्त्तव्य वे हैं जिन्हें राज्य के विधानों का रूप नहीं दिया जा सकता या, जिन्हें विधानों का रूप देना बहुत ही असुविधाजनक होगा; फिर भी जिनका पालन करने की आशा प्रत्येक भले नागरिक से की जाती है। तीसरे प्रकार के कर्त्तव्य वे हैं जिनका पालन करने की माँग कुछ लोगों से की जा सकती है, औरों से नहीं; या फिर जिनका पालन अलग-अलग व्यक्ति अलग-अलग मात्रा में करते हैं।³

पर विभिन्न वर्गों के इन कर्त्तव्यों का विभेद कोई रूढ़ विभेद नहीं है। जो कर्त्तव्य विधान द्वारा अनिवार्य बनाए जा सकते हैं वे भी देश, काल, सम्बन्धित राज्य के संविधान और उस राज्य के निवासियों की सम्यता के स्तर के अनुसार भिन्न प्रकार के होते हैं। यही बात उन कर्त्तव्यों पर भी लागू होती है जिनका पालन करने की आशा प्रत्येक भले नागरिक से की जाती है। फलतः यद्यपि यह सम्भव है कि किसी भी निश्चित समय और स्थान के लिए पूर्ण आबन्ध के कर्त्तव्यों की एक सूची तैयार कर ली जाए और उन्हें धर्मदोषों की संहिता का रूप दे दिया जाए, पर इन संहिताओं को समय-समय पर बदलना पड़ेगा। और किसी भी व्यक्ति-विशेष के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य फिर भी निर्धारित करने को रह ही जाएँगे।

फिर भी, यह कोई पर्याप्त कारण नहीं है कि हम यथासम्भव इन कर्त्तव्यों को निर्धारित न करें। जैसे हेगेल ने कहा है,⁴ "सार्वत्रिक विधान (Universal law)

1. देखिए *Metaphysics of Morals*, खण्ड 2, (Abbot) पञ्चाट-कृत अनुवाद, पृ० 39। एबाट ने टिप्पणी में जो कहा है उस पर ध्यान दीजिए। तुलना कीजिए Caird की *Critical Philosophy of Kant*, भाग 2, पृ० 2-3 से।
2. पूर्ण आबन्ध के कर्त्तव्यों का मूल-अर्थ यही था। कांट ने इस शब्द का प्रयोग उलट दिया। नीतिशास्त्र और न्यायशास्त्र के बीच के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में Adam Smith की *Theory of Moral Sentiments*, भाग 6, खण्ड 4 में कुछ बातों का अच्छा विवेचन किया गया है।
3. एक विरिष्ट मात्रा में इन्हीं की पूर्ति को सदगुण कहा जा सकता है जो, ऊपर स्पष्ट किए अर्थ के अनुसार, कर्त्तव्य से भिन्न माना जाता है। पर सम्यक् रूप से यह प्रयोग असुविधाजनक है।
4. देखिए *Philosophy of Right*, अनु० 216।

हमेशा के लिए दस धर्मदेशों के रूप में ही तो नहीं रह सकता। किन्तु यह तो एक बेतुकी बात होगी कि "हून्या मत करो"। इस नियम को विधान में रखने से इस आधार पर इन्कार कर दिया जाए कि कोई भी अधिनियम-ग्रन्थ परिपूर्ण नहीं बनाया जा सकता। इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्येक अधिनियम-ग्रन्थ अपूर्ण होता है, उसमें सुधार किया जा सकता है। जरा-सा सोचने पर ही यह बात समझ में आ सकती है कि जो अतिशय प्रकर्षमान, अच्छा और सुन्दर है उसकी भी कल्पना उससे अधिक प्रकर्षमान, अच्छे और सुन्दर रूप में की जा सकती है। एक बड़े पुराने पेड़ में नई-नई शाखाएँ निकलती जाती हैं, पर वह पेड़ इससे नया नहीं बन जाता; फिर भी यह मूर्खता होगी कि नया पेड़ इस कारण न लगाया जाए कि समय आने पर उसमें नई शाखाएँ फूटेंगी।"

14. व्यक्ति का स्थान और उसके कर्त्तव्य

इस प्रकार व्यक्ति के कर्त्तव्यों का निर्धारण बहुत-कुछ उसकी अपनी अन्तर्दृष्टि पर ही छोड़ देना चाहिए। कर्म-क्षेत्र में व्यक्ति की सामान्य अभिवृत्ति से सम्बन्धित कुछ धर्मदेश निर्धारित कर देने के अलावा नीतिशास्त्र कुछ अधिक नहीं कर सकता। फिर भी, कर्म के विवरण के सम्बन्ध में भी, व्यक्ति को विलकुल अंधेरे में बिना किसी पथ-प्रदर्शक के नहीं छोड़ दिया गया। आखिर मनुष्य आसमान से नहीं टपकता। प्रत्येक व्यक्ति कुछ खास रक्षान लेकर कुछ खास पर्यावरण में पैदा होता है, और सामान्यतः उसे अपना कर्म-क्षेत्र संकीर्ण सीमाओं में निर्धारित मिलता है। वह अपने-आपको एक स्थान-विशेष में नियत-सा पाता है, जिसमें वह जीवन की सामान्य व्यवस्था को आगे बढ़ाने में सहायक होता है। उसके प्रधान कर्त्तव्य उसके अपने कार्यों के सफल सम्पादन से ही सम्बन्धित होते हैं। इसी आधार पर कार्लाइल के इस महान् सिद्धान्त में इतना बल है—“तुम्हारे सर्वाधिक समीप तुम्हारा जो कर्त्तव्य है उसे पूरा करो।”¹

किसी प्रकार का भी काम करनेवाले प्रत्येक व्यक्ति का प्रधान कर्त्तव्य है अपना काम अच्छी तरह करना, एक अच्छा कामगार बनना।² बेशक पहले उसे यह निश्चित

1. देखिए Sartor Resartus, भाग 2, अध्याय ६ : “मनुष्य कभी भी ऐसे स्थान पर नहीं रहा जिसका कोई कर्त्तव्य न हो, कोई आदर्श न हो।” ‘व्यक्ति का स्थान और उसके कर्त्तव्य’ विषय पर Bradley का लिखा प्रशंसनीय अध्याय (Ethical Studies, निबन्ध 5) भी देखिए। तुलना कीजिए Dewey की Outlines of Ethics, भाग 2 : “मनुष्य का नैतिक प्रयास इस बात में व्यक्त नहीं होता कि उचित और अनुचित के सम्बन्ध में अपनी ऐकान्तिक कल्पनाएँ करे, अपने लिए एक नई नैतिकता तैयार करे या कोई ऐसा प्रशंसनीय आदर्श प्रतिष्ठित करे जिसकी सिद्धि पहले कभी नहीं हो सकी; बल्कि जिस नैतिक संसार का वह एक सदस्य है उसी को कायम रखने और आगे बढ़ाने में ही उसका नैतिक प्रयास व्यक्त होता है। इस प्रकार, आखिरकार, डॉक्टर जॉनसन के इस विचार से हम सहमत हैं कि शुभ कार्य वह है जो “जीवन-पद्धति पर आगे बढ़ रहा हो।” हाँ, अब इस मत का एक तर्कान्तरक औचित्य भी मिल गया।
2. तुलना कीजिए Muirhead की Elements of Ethics, पृष्ठ 49 से : “ऐसा कारीगर या कलाकार या लेखक, जो अपना काम अपनी क्षमतानुसार ‘सर्वोत्तम’ ढंग से नहीं करता, वह न केवल एक बुरा कामगार है बल्कि बुरा आदमी भी है।” प्रोफेसर म्यूरहेड ने कार्लाइल के इस कथन को उद्धृत किया है कि एक बुरा लोहार “अपने हथौड़े की चोट से दसों धर्म-देशों को चूर-चूर कर देता है।” Dewey की पुस्तक Outlines of Ethics, पृ० 112

कर लेना चाहिए कि जो काम वह करने जा रहा है वह मूल्यवान काम है और उस काम को करने की योग्यता उसमें है। इस प्रकार जीवन में अपना स्थान पा लेने के बाद सामान्यतः यह निश्चित करने में उसे कोई अधिक कठिनाई नहीं होगी कि उसके क्षेत्र में कौन-कौनसे धर्मदेश लागू होते हैं।

इसलिए सम्यक् रूप से कार्य के नियमों को जान लेना महत्वपूर्ण नहीं है, महत्वपूर्ण है यह जान लेना कि किस प्रकार का चरित्र हमारे अन्दर विकसित होना है। एक सुविकसित चरित्र, किसी भी स्थिति-विशेष में, अपने लिए उपयुक्त नियम स्वयं ही खोज लेता है।

इस बात पर भी ध्यान देना आवश्यक है कि सामान्यतः आचरण के नियम उसी अनुपात में मूल्यवान होते हैं जिस अनुपात में किसी भी विषय-विशेष में हमारी रुचि कम होती है। जो काम किसी के दिल में बसा हुआ हो उसे पूरा करने के लिए नियमों की आवश्यकता उसे नहीं होती। एक दत्तचित्त विद्यार्थी को अध्ययन के नियमों की आवश्यकता नहीं होती। उसकी अपनी तन्मयता ही पर्याप्त है। पर अध्ययन जिसका प्रधान कार्य नहीं है और जो जब-तब कुछ घण्टों का समय पढ़ने के लिए निकाल पाता है, उसके लिए अध्ययन के निश्चित नियम लाभदायक हो सकते हैं। सामान्य जीवन में भी यही बात लागू है। कार्य में रुचि ही विश्वसनीय पथ-प्रदर्शक है। पर जब तक ऐसी रुचि न हो तब तक विशिष्ट नियमों का कुछ सापेक्ष मूल्य रहता है।¹

इस प्रकार अब धर्मदेशों पर विचार करना छोड़कर हम स्वभावतः सद्गुणों का विवेचन करने के लिए प्रेरित होते हैं।²

15. आचरण के नियम

इसमें मुझे कोई सन्देह नहीं है कि इस अध्याय के निष्कर्षों से कुछ पाठकों को बहुत निराशा होगी। नीतिशास्त्र का अध्ययन करनेवालों में से बहुतों की यह आशा होती है कि दैनिक जीवन में पथ-प्रदर्शन के लिए उन्हें कुछ बने-बनाए सूत्र मिल जाएंगे। जैसा मैंने एक बार कुछ लोगों को कहते सुना था, नीतिशास्त्र के दार्शनिक से

भी देखिए : “अच्छा कारीगर अपने काम में तन्मय होता है। उसके आत्म-सम्मान के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी तकनीकी या कलात्मक क्षमता का मान रखे और अपनी क्षमता भर सर्वोत्तम ढंग से अपना काम करे।”

1. इस विषय पर कुछ बहुत ही विचारोत्तेजक विवेचन Adam Smith की Theory of Moral Sentiments, भाग 3, अध्याय 6 में मिलेगा। वहाँ उन्होंने कुछ ऐसे कार्यों के रोचक उदाहरण दिए हैं जो स्वभावतः नियमों का पालन करने के लिए किए जाते हैं, क्योंकि उनमें हमारी रुचि बहुत ही कम होती है; कुछ अन्य कार्यों के उदाहरण दिए हैं जिन्हें स्वभावतः अपने-आपे इसलिए किया जाता है कि प्राप्य लक्ष्य में हमारी रुचि होती है।
2. प्रोफेसर ड्यूई का कथन है (Outlines of Ethics, पृ० 231) : “यह एक सामान्य उक्ति है कि नैतिक संहिताएं ‘मत करो’ (निषेध) से ‘करो’ (विधि) में बदलती रहती हैं, और ‘करो’ से ‘हो जाओ’ या ‘बनो’ में। विविध विशिष्ट उचित कार्यों की आधानत तालिका बनाने का प्रयत्न व्यर्थ है। किन्हीं भी दो व्यक्तियों के उचित कार्य एक ही नहीं होते; और एक ही व्यक्ति के उचित कार्य निरन्तर बदलते रहते हैं। ईसाई धर्म कहता है, ‘पूर्ण बनो’; और इन शब्दों का अर्थ ही यह बताता है कि किसी विशिष्ट कार्य में सद्गुण नहीं होते, बल्कि आचरण के पीछे जो भावना होती है उसमें सद्गुण होते हैं।” तुलना कीजिए Muirhead की Elements of Ethics, पृ० 75 की टिप्पणी से।

वे लोग इस बात का स्पष्टीकरण चाहते हैं कि हर दूसरे दिन जगकर उन्हें क्या करना चाहिए। और बेशक एक अर्थ में यह बात सच है कि नीतिशास्त्र का कोई भी सच्चा दार्शनिक इसका स्पष्टीकरण कर भी देगा। वह यह स्पष्ट कर देगा कि कल प्रातः जो विशिष्ट परिस्थिति उनके सामने आए उसका सामना वे किस भावना के साथ करें। पर अधिकांश लोगों को, और खासतौर से अधिकांश अंग्रेज लोगों को, इतने से ही सन्तोष नहीं होता। इस असन्तोष का कारण अंगतः यह जरूर है कि अपनी युवा-वस्था में हम अधिकांश अंग्रेज दस धर्मादेशों की संहिता के अभ्यस्त हो जाते हैं, और इनके साथ इन्हीं के कुछ उप-नियम भी लगे रहते हैं। एक आंशिक कारण यह भी है कि नीतिशास्त्र के अधिकांश अंग्रेजी सिद्धान्तों का न्यायशास्त्र के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध जोड़ा गया है, और इससे इस धारणा को बल मिला है कि जैसे राज्य के कानून बनाए जाते हैं उसी प्रकार नैतिक नियम भी बनाए जा सकते हैं। मैं इस बात को तो मानता हूँ कि जीवन की परिस्थितियों और मानव-जीवन के सामान्य स्वरूप के आधार पर आचरण के कुछ नियम बनाए जा सकते हैं; और यह कि इन नियमों के सामान्य स्वरूप को स्पष्ट करना और जीवन के व्यवहार में उनका स्थान बताना भी नैतिक दार्शनिक का काम है। इसका मैंने प्रयत्न किया है। पर यह सोचना तो मुझे बड़ी ही खतरनाक भूल मालूम होती है कि नीतिशास्त्र को इससे अधिक कुछ और करना चाहिए। जीवन को नियम में नहीं समेटा जा सकता। एक नैतिक प्रतिभाशाली व्यक्ति 'अपने सूत्रों को पचाकर' नए सिरे से आगे बढ़ता है। कोरा पाण्डित्य न तो जीवन में ही¹ अधिक सहायक हो सकता है और न साहित्य में ही।

पर इस बात पर जोर देते हुए भी, मैं दूसरे विरोधी छोर पर नहीं जाना चाहता। पिछले जमाने में एक बड़ी प्रबल प्रवृत्ति रही है कि नीतिशास्त्र में एक निरपेक्ष इतिकर्तव्य निर्धारित किया जाए, जिसके साथ रूढ़ आबन्धों की शृंखला जुड़ी हो; अब उसकी प्रतिक्रिया, जो अस्वाभाविक नहीं है, यह हुई है कि नीतिशास्त्र के अधिकांश लेखक यह कहते हुए भी सकुचाते हैं कि कर्त्तव्य-जैसी कोई चीज भी होती है, 'इति-कर्त्तव्य' शब्द के प्रयोग के लिए भी माफ़ी माँगते हैं और बड़ी नम्रता से स्वीकार करते हैं कि नीतिशास्त्र का कोई व्यावहारिक मूल्य नहीं है। यह छोर भी मुझे उतना हानिकारक मालूम होता है जितना पहला। नीतिशास्त्र के दार्शनिक का यह कर्त्तव्य है कि वह जीवन के परम साध्य का अन्वेषण करे, उसकी व्याख्या करे। प्लेटो और अरस्तू से लेकर स्पिनोजा, काण्ट, हेगेल और ग्रोन तक सभी महान् नीतिशास्त्रीय लेखकों ने यही किया है। यह साध्य रूप से सामने आते ही इसकी सिद्धि के लिए आगे बढ़ना एक निरपेक्ष कर्त्तव्य बन जाता है जिससे कोई बचाव नहीं है। इस साध्य को लक्ष्य-मानने से हमारा सारा जीवन एक निश्चित रूप ग्रहण कर लेता है। इसलिए, जैसा अरस्तू ने कहा है, "व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है कि हम इस शुभ या लक्ष्य को जानें; क्योंकि इसे जान लेने पर यह सम्भावना बढ़ जाती है कि, एक निश्चित लक्ष्य पर निशाना लगानेवाले तीरंदाजों की तरह, हम अपना लक्ष्य सिद्ध कर सकें।" इस दृष्टि से निस्सन्देह नीतिशास्त्र का व्यावहारिक मूल्य सबसे अधिक है। इस तथ्य से भी नीतिशास्त्र का मूल्य नहीं घटता कि नैतिक प्रतिभाशाली व्यक्ति या सामान्यतः शुभ भावनावाला व्यक्ति, नीतिशास्त्र को बिना जाने हुए भी शुभ आचरण कर सकता है। मनुष्य का साध्य तो मनुष्य के अस्तित्व में ही निहित है। उसका कुछ-न-कुछ बोध हुए बिना किसी भी मनुष्य का अस्तित्व ही नहीं रह सकता। नैतिक

1. इस विषय पर Adler की पुस्तक *Moral Instruction of Children*, पृ० 19-23 में अच्छा विवेचन किया गया है।

दार्शनिक का काम केवल इतना है कि उस बोध को वह स्पष्ट चेतना का रूप दे दे। बस, केवल इतना ! इसी प्रकार कवि का काम केवल इतना ही है कि हमारे चारों ओर बिखरे हुए सौन्दर्य को हमारे लिए स्पष्ट कर दे। तत्त्वमीमांसा-शास्त्री का काम केवल इतना है कि शास्त्रों में प्रयुक्त सिद्धान्तों के पारस्परिक सम्बन्धों और अर्थों को स्पष्ट कर दे। इस सम्बन्ध में 'केवल' शब्द कुछ अनुपयुक्त है।

तो इस प्रकार, जहाँ एक ओर हमें इस बात पर जोर देना है कि जीवन में पथ-प्रदर्शन के लिए विवरणात्मक तालिका देना नीतिशास्त्र का काम नहीं है, वहाँ दूसरी ओर इस बात पर भी बराबर जोर देना चाहिए कि व्यावहारिक सिद्धान्त निर्धारित करना, परमशुभ या परमश्रेयस् का स्वरूप स्पष्ट करना, और जिन साधनों एवं उपायों से उसकी सिद्धि हो सकती हो उनके सामान्य स्वरूप का निर्देश करना निश्चित रूप से नीतिशास्त्र का काम है। इस प्रकार नीतिशास्त्र निश्चय ही ऐसे विशिष्ट नियम नहीं बताता जिनसे जीवन में हमें पथ-निर्देश मिले, पर वह भावना अवश्य स्पष्ट करता है जिसके अनुसार हमें जीवन जीना चाहिए, और इसका व्यावहारिक महत्त्व कहीं अधिक है।

मुझे भलीभाँति मालूम है कि बहुतों को यह सब असन्तोषजनक जान पड़ेगा। मनुष्य की प्रकृति में सैनिक भावना बहुत गहरी जड़ें जमाये हुए हैं। आदेश सुनने, पालन करने के लिए लोग बहुत उत्सुक रहते हैं, और उन्हें बहुत ही असन्तोष होता है जब उनसे केवल यह कहा जाता है, जैसा ईसा मसीह ने कहा था कि 'एक-दूसरे को प्यार करो,' या, जैसे हेगेल ने कहा था कि 'मनुष्य बनो,' या, जैसा दांते (Dante) ने कहा था कि 'अपने लक्ष्य का अनुगमन करो।' और, जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, नीतिशास्त्र निश्चित रूप से हमें इससे कुछ अधिक देता है। कुछ अधिक विशिष्ट नियमों के अर्थ और महत्त्व की वह व्याख्या करता है। पर यह निश्चित है कि नीति-शास्त्र ही नहीं, कोई भी अन्य शास्त्र किसी व्यक्ति को यह नहीं बताएगा कि विशेष रूप से उसे क्या करना चाहिए। यदि इस प्रकार की जानकारी हासिल हो सके तो जीवन की सारी सार्थकता ही समाप्त हो जाएगी। प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कार्य कुछ ठोस स्थितियों से सम्बन्ध रखता है, और विश्लेषण की सूक्ष्म पद्धतियों से इन सम्पूर्ण स्थितियों की आद्यन्त विवेचना असम्भव है। यह तो प्रत्येक व्यक्ति का विशिष्ट कर्तव्य है कि उसे क्या करना है—यह स्वयं मालूम करे और उसे पूरा करे। नीतिशास्त्र उसे केवल यह शिक्षा देता है कि अपना कर्तव्य वह कहाँ खोजे और यह समझने में उसकी मदद करता है कि कर्तव्य को खोजना और उसे पूरा करना क्यों महत्त्वपूर्ण है। अन्य सभी शास्त्रों की भाँति नीतिशास्त्र भी अपने सिद्धान्तों को अन्ततः मानव-जाति की शिक्षित शुभ-भावना द्वारा प्रयोग में लाए जाने के लिए छोड़ देता है।²

1. देखिए Ethics, 1, 2, 2।

2. शायद ऐसा लग सकता है कि इस बात पर कुछ अधिक जोर दे दिया गया है। पर मेरे विचार से यहाँ सचमुच भ्रान्त धारणा बना लेने का खतरा है और मैं उससे बचने के लिए सतर्क रहा हूँ। जो सामान्य प्रश्न इस विवेचन का विषय है उसके सम्बन्ध में ऊपर जिन अधिकारी लेखकों का उल्लेख किया गया है उनके अलावा Mill की System of Logic, भाग 6, अध्याय 12; Sidgwick की Methods of Ethics, भाग 4, अध्याय 4 और 5, Green की Prolegomena to Ethics भाग 4; Hegel की Philosophy of Rights की भूमिका, Bosanquet की Civilisation of Christianity, पृ० 160 व आगे और Americal Journal of Sociology के नवम्बर 1896 के अंक में प्रकाशित Prof. Muirhead का लेख Abstract and Practical Ethics भी देखिए।

सद्गुण

1. सद्गुणों और धर्मदेशों का सम्बन्ध

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण धर्मदेशों का निर्धारण करते समय काफ़ी हद तक यह भी निश्चित हो चुका है कि सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सद्गुण क्या है।¹ सम्यक् रूप से देखने पर सद्गुणी व्यक्ति वही होगा जिसे धर्मदेशों का निरन्तर पालन करने की आदत पड़ गई हो। फिर भी अनेक सद्गुण ऐसे हैं, जो किसी भी निश्चित रूप से निर्धारित किए जा सकनेवाले धर्मदेश के अनुरूप नहीं हैं।² और फिर चूँकि सद्गुण मुख्य रूप से मन की आन्तरिक आदतों से सम्बन्धित होते हैं, जबकि धर्मदेशों का सम्बन्ध बाह्य कार्यों से है,³ इसलिए सद्गुणों के विवेचन की पद्धति स्वभावतः धर्मा-

1. सद्गुण का अंग्रेजी समानार्थक virtue (लैटिन के vir से बना, जिसका अर्थ है पुरुष या नायक) शब्द का मूल अर्थ था पुरुषत्व या वीरता। यूनानी भाषा का इसका समानार्थक शब्द (जो उसी धातु से बना जिससे arcs शब्द, जो बुद्ध के देवता का नाम है) और जर्मन भाषा का शब्द tugend लगभग एक ही मूल से बने हैं। अंग्रेजी में tugend से सम्बन्धित शब्द है doughty—शूरवीर। यहाँ सद्गुण (virtue) शब्द का प्रयोग चरित्र की एक अच्छी आदत के अर्थ में किया गया है जो कर्त्तव्य से भिन्न होती है, क्योंकि कर्त्तव्य से एक ऐसे कार्य का बोध होता है जो हमें करना ही चाहिए। इसीलिए व्यक्ति को कर्त्तव्य-पालक कहा जाता है; और सद्गुण-सम्पन्न या सद्गुणी कहा जाता है। जिस दूसरे अर्थ में सद्गुण शब्द का प्रयोग किया गया है वह पहले ही (पिछले अध्याय अनु० 13 की टिप्पणी 5 में) स्पष्ट किया जा चुका है।
2. अपनी पुस्तक Moral Order and Progress, पृ० 253 में Prof. Alexander ने सद्गुणों तथा कर्त्तव्यों—दोनों को सामाजिक संस्थाओं के साथ सम्बन्धित सिद्ध किया है। दोनों ही मामलों में कुछ अत्युक्ति जान पड़ती है। तुलना कीजिए Muirhead की Elements of Ethics, पृ० 203-5 से।
3. यहूदी धर्मदेशों की जैसी व्याख्या ईसाई विचार-पद्धति में (Sermon on the Mount में और आधुनिक विचारकों द्वारा) की गई है उसके अनुसार निश्चय ही उनका सम्बन्ध हृदय से भी है और बाह्य कार्यों से भी। धर्मदेशों के सार-रूप प्रेम का सम्बन्ध पूर्णरूप से मन की आन्तरिक प्रवृत्ति से है। पर इस प्रकार धर्मदेशों का सार निकालने पर वे विशिष्ट नियम तो रहते ही नहीं, क्योंकि विशिष्ट नियमों का सम्बन्ध तो विशिष्ट प्रकार के कार्यों से होता है। तुलना कीजिए Muirhead की पुस्तक Elements of Ethics, पृ० 74-5 से। सद्गुण और कर्त्तव्य के सम्बन्ध का विवेचन Sidgwick की पुस्तक Methods of Ethics, भाग 3, अध्याय 2 में देखिए। उसी पुस्तक के बादवाले अध्यायों में अधिकांश विशिष्ट सद्गुणों का रोचक विश्लेषण किया गया है। तुलना कीजिए Rickaby की पुस्तक Moral Philosophy, भाग 1, अध्याय 5 से।

देशों के विवेचन की पद्धति से कुछ भिन्न होती है। इसलिए सद्गुणों के विवेचन के लिए एक अलग अध्याय देना उचित जान पड़ता है।

2. सामाजिक स्थितियों से सद्गुणों का सम्बन्ध

मनुष्य के लिए बांछनीय सद्गुण देश-काल के अनुसार बदलते रहते हैं। धर्मा-देशों की अपेक्षा सद्गुण अधिक परिवर्तनशील होते हैं;¹ क्योंकि धर्मादेश आचरण के उन्हीं व्यापक सिद्धान्तों तक सीमित रहते हैं, जो जीवन की प्रायः समस्त सम्भव स्थितियों पर लागू हो सकते हैं। साथ ही, सद्गुण भी उतने परिवर्तनशील नहीं होते जितने वे पहले-पहल मालूम होते हैं। यूनानी सद्गुण साहस प्रायः पूर्णरूप में युद्ध-क्षेत्र की वीरता तक ही सीमित था; और आधुनिक समाजों के सामान्य जीवन में जो कुछ भी परम महत्त्वपूर्ण है उसके साथ उगकी कोई अनुरूपता नहीं है। किन्तु जो मनःप्रवृत्ति इससे परिलक्षित होती है उसकी आज भी उतनी ही आवश्यकता है जितनी पहले थी।² और अन्य अधिकांश सद्गुणों के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है। उनके प्रयोग की स्थितियाँ बदलती रहती हैं; पर मनःप्रवृत्ति आन्तरिक दृष्टि से वही रहती है।

फिर, मनःप्रवृत्ति में भी कुछ परिवर्तन होता ही है। युद्ध-क्षेत्र की वीरता के लिए जिस प्रकार के धैर्य की आवश्यकता होती है, वह अत्यन्त आन्तरिक दृष्टि से भी उस धैर्य से कुछ भिन्न ही होता है, जिसकी आवश्यकता आधुनिक वैज्ञानिक, राज-नीतिज्ञ, विद्वान् या लोकहितैषी को होती है। इसीलिए नीतिशास्त्र के अध्ययन का यह पक्ष ऐसा है जिसके ऊपर प्रत्येक पीढ़ी के लेखकों को अपने ढंग में सोचना पड़ता है। अरस्तू का महान् ग्रन्थ भी इस विषय में चाहे कितना ही शिक्षाप्रद क्यों न हो (और नीतिशास्त्र के सम्पूर्ण साहित्य में शायद कोई भी पुस्तक अधिक शिक्षाप्रद नहीं है।) फिर भी आधुनिक जीवन की स्थितियों में वह प्रत्यक्षतः व्यावहारिक नहीं है। यह समझने के लिए कि आधुनिक जीवन में कौनसे सद्गुण हमारे लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं, आधुनिक समाज के गठन और उसकी आवश्यकताओं के सन्दर्भ में उन पर विचार करना होगा।

3. लोकाचार

इसीलिए, एक नैतिक दृष्टिकोण से, उस चीज का सतर्कतापूर्वक अध्ययन करना इतना महत्त्वपूर्ण है जिसे जर्मनी के लोग विभिन्न समयों और लोगों का *Sitten*³ (विचार और कार्य की नैतिक प्रवृत्ति) कहते हैं। इस विचार को सही-सही व्यक्त करनेवाला शब्द अंग्रेजी में कोई नहीं है; पर जर्मन भाषा का सहारा लेने के बजाय यूनानी भाषा के एक शब्द *Ethos*⁴ (लोकाचार) का प्रयोग प्रचलित हो गया है।

1. केवल उसी व्यापक अर्थ में जिसमें 'सार्वत्रिक सार्थकतावाले धर्मादेश निर्धारित किए जा सकते हैं।
2. देखिए, Green की *Prolegomena to Ethics*, भाग 3, अध्याय 5।
3. अंग्रेजी का शब्द *Manners* किसी समय इससे काफी मिलता-जुलता अर्थ देता था; पर अब वह अर्थ-व्युत्पन्न हो चुका है। देखिए *International Journal of Ethics*, खण्ड 7, सं० 1।
4. तुलना कीजिए Bradley की पुस्तक *Ethical Studies*, अध्याय 5, विशेषकर पृष्ठ 178 से, जिस पर हेगेल का यह उद्धरण दिया गया है : "एक नैतिक व्यक्ति की सम्भावना के रूप में एक बच्चे का चरित्र व्यक्तिनिष्ठ या अभावपरक होता है; मनुष्य के पुरुषत्व में जब उसका

किसी भी जाति का लोकाचार अंशतः कुछ निश्चित नियमों या उपदेशों से बनता है। दस धर्मदेश यहूदियों के लोकाचार का एक महत्वपूर्ण अंश थे। कुछ संशोधनों और परिवर्तनों के साथ वही धर्मदेश आधुनिक यूरोपीय जातियों के लोकाचार का एक महत्वपूर्ण अंग बने हुए हैं। कुछ उपदेश ऐसे हैं (जैसे Sermon on the Mount) जो किसी भी जाति के लोकाचार का अंग नहीं बन सके; पर जिन्होंने प्रायः समस्त सभ्य जातियों के लोकाचार पर बड़ा गहरा प्रभाव डाला है।

तो इस प्रकार प्रत्येक जाति का लोकाचार आंशिक रूप में निश्चित आदेशों और उपदेशों में व्यक्त होता है, पर अंशतः वह उन स्वीकृत कार्य-वृत्तियों और निर्णय के मानकों में भी व्यक्त होता है जिनका कभी भी कोई स्पष्ट रूप निर्धारित नहीं किया गया। इस प्रकार इंग्लैंड में एक 'भद्रपुरुष' के उपयुक्त आचरण की एक सामान्य धारणा है; और यद्यपि इस मानक को निश्चित नियमों का रूप दे पाना कठिन हो सकता है, फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं है, कि हमारी जाति का लोकाचार निर्मित करने में इसका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है।

तो हम यह कह सकते हैं कि किसी जाति का लोकाचार वह वातावरण है जिसमें जाति के सर्वोत्तम लोग स्वभाववश रहते हैं; या अपनी पूर्व प्रयुक्त भाषा में हम कह सकते हैं कि लोकाचार जाति के सर्वोत्तम लोगों के नैतिक कार्य-कलापों का जगत् है। वह हमारे जगत् की नैतिकता है, और सभ्य रूप से जो व्यक्ति उस जगत् की नैतिकता के अनुरूप है वह शुभ व्यक्ति है, अच्छा आदमी है और जो व्यक्ति उसका उल्लंघन करता है वह बुरा आदमी है।

ब्रैडले ने बड़े जोरदार शब्दों में यहाँ तक कहा है¹ कि जो व्यक्ति अपने संसार की नैतिकता से ऊँची नैतिकता हासिल करने का प्रयत्न करता है वह अनैतिकता की ही

विकास होता है तो चरित्र का यह अभावपरक स्वरूप समाप्त हो जाता है; उसकी शिक्षा इस पुरुषत्व का अनुशासन है; उसकी बाध्यता है। भावपरक तत्त्व यह है कि उसे सार्वभौम लोकाचार का दूध पिलाकर पুষट किया जाता है।" इसी प्रकार पृ० 137 पर: "पुराकाल के सर्वोपरि प्रभावान लोगों ने यह निर्णय दिया है कि अपनी जाति के लोकाचार के अनुकूल रहने में ही बुद्धिमानी और सद्गुण है।"

1. देखिए, *Ethical Studies*, पृ० 199। इसी प्रकार पृ० 200 पर वह कहते हैं: "हमें इस बात पर विचार करना चाहिए कि किसी भी ऐसे व्यक्ति द्वारा, जो भगवान् का भेजा पैगम्बर नहीं है, नैतिक मामलों में सारे संसार से भिन्न अपना अलग मत रखना क्या कोरी अहं-मन्यता नहीं है।" पर इस कथन में कुछ विरोधाभास है। 'भगवान् का भेजा पैगम्बर' न होते हुए भी कोई व्यक्ति अपने सीमित ढंग से एक नैतिक सुधारक हो सकता है। उदाहरण के लिए, किसी विशेष प्रकार का अन्याय सहकर या होते देखकर किसी व्यक्ति के मन में किसी बुराई के प्रति विरोध की भावना जग सकती है, जबकि अधिकांश लोग उसकी ओर से उदासीन हों। और फिर 'भगवान् के भेजे पैगम्बर' के शिष्य भी कुछ समय तक संसार के शेष लोगों से भिन्न मत ही रखेंगे। पर ब्रैडले का आशय केवल इतना था—“पहले उतने अच्छे बने जितना अच्छा तुम्हारा जगत् है, उसके बाद उसे सुधारने का प्रयत्न कर सकते हो।” उनका आशय वही है जो Burke का है: “प्रत्येक व्यक्ति को उसकी अपनी ही तर्बुद्धि के सहारे रहने और कार्य करने के लिए छोड़ देने में हमें डर लगता है; क्योंकि हमें सन्देह है कि प्रत्येक व्यक्ति का बुद्धि-भण्डार सीमित है। जातियों और युगों के संचित भण्डार से लाभ उठाने में ही व्यक्तियों की भलाई है,” (*Reflections on the Revolution in France*)।

सीढ़ी पर खड़ा है; पर यह अत्युक्ति है, क्योंकि किसी भी जाति का लोकाचार स्थायी नहीं होता।¹ सामान्य सामाजिक जीवन की भाँति उसका भी विकास होता है और यह विकास उस जाति के सर्वोत्तम व्यक्तियों द्वारा अपने चतुर्दिक् वर्तमान जीवन से उच्चतर जीवन-स्तर प्राप्त करने के निरन्तर प्रयत्न का ही फल होता है। यूनानियों का आदर्श नागरिक कभी-कभी ऐसे अनेक काम कर सकता था या ऐसी अवहेलना कर सकता था जो एक आधुनिक भद्र-पुरुष के लिए अशोभन ही माने जाएँगे। दूसरी ओर ईसाई धर्म में जीवन का एक ऐसा आदर्श है जो अभी तक संसार की प्रचलित नैतिकता में अपनाया ही नहीं जा सकता। इसलिए, जहाँ एक ओर यह सच है कि हमारी अपनी जाति का लोकाचार हमारे लिए नैतिक मानक निर्धारित करता है, वहाँ दूसरी ओर यह भी स्मरण रखना होगा कि मूल्य-सम्बन्धी अपनी धारणा को और अधिक विकसित करके उस मानक को ही और ऊँचे उठाना प्रायः वांछनीय होता है।²

किसी भी जाति में किसी विशिष्ट युग में जो सद्गुण प्रचलित या मान्य होते हैं वे उस जाति के लोकाचार को ही विशिष्ट रूपों में व्यक्त करते हैं। उनकी सार्थकता उस युग के सामान्य जीवन के सन्दर्भ में ही आँकी जा सकती है।

4. सामाजिक कार्यों से सद्गुणों का सम्बन्ध

सद्गुणों का सम्बन्ध केवल विभिन्न समयों और विभिन्न सामाजिक स्थितियों से नहीं है; उनका सम्बन्ध उन विभिन्न कार्यों से भी है जो विभिन्न व्यक्तियों को समाज में पूरे करने होते हैं। और यहाँ भी यही बात सच है कि ये अन्तर उतने बड़े नहीं हैं जितने बड़े मालूम पड़ सकते हैं। हम स्वभावतः कह सकते हैं कि एक गरीब आदमी उदारता के सद्गुण को व्यवहार में नहीं ला सकता, या कि जो धनी और समृद्ध है उसके लिए धैर्य के सद्गुण की आवश्यकता ही नहीं है। काफ़ी हद तक यह बात सच है, किन्तु जो मनःप्रवृत्ति धनी व्यक्ति को उदार बनाती है वही एक गरीब व्यक्ति में भी समान रूप से विद्यमान हो सकती है, और समान रूप से प्रशंसनीय होगी। यही बात अन्य सद्गुणों के विषय में लागू होती है।

फिर भी, सम्यक् रूप से यह बात सच है कि पुरुष के सद्गुण ठीक वही नहीं होते, जो स्त्री के होते हैं; धनी व्यक्ति के सद्गुण ठीक वही नहीं होते जो एक गरीब व्यक्ति के होते हैं; एक वृद्ध व्यक्ति के सद्गुण ठीक वही नहीं होते जो एक युवक के होते हैं; माता-पिता के सद्गुण ठीक वही नहीं होते जो बालक के होते हैं; एक स्वस्थ व्यक्ति के सद्गुण वही नहीं होते जो एक बीमार के होते हैं; एक व्यापारी के सद्गुण ठीक वही नहीं होते जो एक वैज्ञानिक के होते हैं। यही बात अन्य लोगों पर भी लागू होती है। इसलिए सद्गुणों पर वर्णन करते समय यह आवश्यक है कि या तो हम जीवन की विभिन्न परिस्थितियों का और इन बदलती हुई स्थितियों के लिए

1. कभी-कभी यह लोकाचार एक अत्यन्त दिखावटी चीज हो जाता है; ऐसा किसी समय और स्थान-विशेष की आकस्मिक परिस्थितियों के कारण होता है। Adam Smith ने अपनी पुस्तक *Theory of Moral Sentiments*, भाग 5, अनु० 2 में लिखा है: “चार्ल्स द्वितीय के शासन-काल में कुछ हद तक लम्पटता को उदार शिक्षा-दीक्षा की एक विशेषता माना जाता था। उस समय की धारणाओं के अनुसार लम्पटता को उदारता, सत्यनिष्ठा, महाशयता और वफ़ादारी से सम्बन्धित माना जाता था; और किसी व्यक्ति का लम्पट व्यवहार यह सिद्ध करता था कि वह कट्टर शुद्धिवादी न होकर एक भद्रपुरुष है।”

2. तुलना कीजिए अगले अध्याय 7 से।

सर्वाधिक वांछनीय गुणों का कुछ सूक्ष्म विवेचन करें; या फिर अत्यन्त-सामान्य और अस्पष्ट विवरण देकर ही सन्तोष कर लें। स्थानाभाव और विषय की दुरुहता—दोनों ही कारणों से हम दूसरा ही रास्ता अपनाने के लिए विवश हैं।

5. सद्गुण का स्वरूप

जैसाकि अरस्तू ने कहा था, सोच-समझकर चयन करने का अभ्यास ही सद्गुण है। सद्गुणी होने का अर्थ यही है कि हमारा चरित्र इतना विकसित हो कि हम अभ्यासवश उचित कार्य का ही वरण करें। चूँकि उचित कार्य हमेशा दो सम्भव बुरे कामों के बीच में रहता है—एक जो अति के कारण अनुचित होता है, और दूसरा जो त्रुटि के कारण अनुचित होता है; इसलिए अरस्तू का कहना था¹ कि तत्त्वतः सद्गुण मध्यम-मार्ग चुनने में है। पर यह शर्त उन्होंने अच्छी लगा दी कि मध्यम-मार्ग का यह वरण सापेक्ष माध्य का वरण है—अर्थात् उस विशिष्ट मध्यम-मार्ग का वरण जो सम्बन्धित व्यक्ति-विशेष के लिए और उसकी विशिष्ट परिस्थितियों के लिए उपयुक्त हो। प्रत्येक मामले में इस मध्यम मार्ग का निर्धारण इस कसौटी पर किया जाना चाहिए कि सामाजिक जीवन के सामान्य विकास में वह कितना सहायक होता है। इसका ठीक-ठीक निर्धारण करना प्रायः व्यक्ति की व्यवहार-कुशलता और अन्तर्दृष्टि के लिए एक समस्या बन जाता है। किसी भी स्थिति में, आचरण का सर्वोत्तम मार्ग निर्धारित करने में मानव-इतिहास के महानतम उदाहरणों का अध्ययन प्रायः अत्यधिक लाभदायक होता है।

6. मुख्य सद्गुण

नैतिक विचारणा के आदिम युग से ही सद्गुणों के विविध रूप निर्धारित करने के प्रयत्न किये गए हैं। सद्गुणों की सर्वाधिक प्रशंसित तालिकाएँ प्लैटो और अरस्तू ने दी हैं। प्लैटो द्वारा दी गई तालिका यूनानी नीतिशास्त्रियों में स्वयं प्लैटो के समय से पहले ही प्रचलित थी। कम-से-कम एक गुण उसमें है—सरलता; केवल चार मुख्य सद्गुण हैं² उसमें—प्रज्ञान (अथवा दूरदर्शिता), साहस (अथवा धैर्य), मिताचार (अथवा आत्मसंयम), और न्याय (अथवा नीतिपरायणता)। यह वर्गीकरण सरल तो था, पर बहुत जल्दी इससे काफ़ी कठिनाइयाँ पैदा हो गईं। उदाहरण के लिए, यह समझा जाने लगा कि अन्य सभी सद्गुण पहले सद्गुण में ही शामिल हैं; क्योंकि कुछ विशिष्ट सम्बन्धों के सन्दर्भ में प्रज्ञापूर्वक काम करने में ही प्रत्येक सद्गुणमूलक कार्य सम्मिलित है। फिर जब न्याय (या नीतिपरायणता) में सभी सामाजिक सद्गुण सम्मिलित मान लिए जाते हैं, तब तो उसके अर्थ को बहुत ही व्यापक बना दिया जाता है।

सद्गुणों की तालिका में इन तथा अन्य त्रुटियों को देखकर, अरस्तू को इस सूची का काफ़ी विस्तार करना पड़ा।³ पर तत्कालीन एथेन्स के नागरिक से जिन

1. देखिए Ethics, भाग 2, अध्याय 6-9। तुलना कीजिए Sidgwick की History of Ethics, पृ० 59 से।
2. मुख्य सद्गुण वे माने गए हैं जिन पर अन्य सद्गुण आधारित हों। तुलना कीजिए Roman Catholic Church के Cardinals से।
3. पर यह कहा जा सकता है कि प्लैटो व अरस्तू वास्तव में दो भिन्न समस्याओं पर विचार कर रहे थे। प्लैटो का उद्देश्य था, मुख्य सद्गुणों का एक विवरण देना—अर्थात् समस्त सद्गुण-मूलक कार्यों में निहित सामान्य तत्त्वों का विवरण देना; जबकि अरस्तू उन विशिष्ट सद्गुणों

सद्गुणों की आश की जाती थी उनकी इतनी अधिक और निरन्तर चर्चा उन्होंने की है कि आधुनिक जीवन के लिए उसकी प्रत्यक्ष उपयोगिता अपेक्षाकृत रूप से बहुत कम रह गई है। और आधुनिक युग की जटिल समस्याओं और विविध प्रकार के सम्बन्धों के लिए विशिष्ट रूप से उपयुक्त, इसी प्रकार की दूसरी कोई तालिका बनाने का प्रयत्न व्यर्थ ही होगा।¹ फिर भी इस सम्बन्ध में कुछ सुझाव उपयोगी हों तो आइए, हम प्रारम्भ करें उस विभेद के विवेचन से जो साधारणतः आत्मनिष्ठ सद्गुणों और पदार्थनिष्ठ या पर-कल्याणमूलक सद्गुणों के बीच किया जाता है। यह विभेद भ्रान्ति पैदा करनेवाला है। अपने सामाजिक सम्बन्धों से स्वतन्त्र व्यक्ति का अपना अलग कोई जीवन नहीं होता; और जिस किसी भी सद्गुण का सम्बन्ध व्यक्ति के अपने कल्याण से है उसका सम्बन्ध समाज के कल्याण से भी अवश्य होगा। फिर भी, इसका यह अर्थ नहीं है कि व्यक्ति के जीवन से हम उस व्यापक संसार का कोई विभेद मान ही नहीं सकते जिससे वह सम्बन्धित है। यह कहा जा सकता है कि कुछ सद्गुणों का प्रभाव विशेष रूप से व्यक्ति के जीवन पर पड़ता है; और कुछ अन्य सद्गुणों का प्रभाव विशेष रूप से समाज के जीवन पर पड़ता है। सद्गुणों के इन दोनों वर्गों पर अलग-अलग विचार करना सुविधाजनक होगा।

(क) प्लैटो द्वारा गिनाये गए चारों सद्गुणों से प्रारम्भ करने में सुभीता रहेगा। यह तो स्पष्ट ही है कि साहस और मिताचार दो ऐसे सद्गुण हैं जिनका सर्वाधिक प्रत्यक्ष प्रभाव व्यक्ति के जीवन पर पड़ता है। यदि हम साहस (या धैर्य) का व्यापक अर्थ—पीड़ा के भय का प्रतिरोध और मिताचार का व्यापक अर्थ—सुख, के प्रलोभनों का प्रतिरोधस्वीकार कर लें तो व्यक्ति के जीवन में आनेवाले समस्त प्रलोभनों का सभी प्रकार का विरोध इन दोनों सद्गुणों में आ जाता है। प्रलोभन दो रूपों में आता है; या तो किसी पीड़ा के रूप में, जिससे बचने की कामना होती है; या किसी सुख के रूप में, जिसे प्राप्त करने की कामना होती है। जिस पर इनका असर नहीं हो पाता वह अपने खुदे हुए मार्ग पर दृढ़तापूर्वक चलता रहता है।

की तालिका बनाना चाहते थे जो समस्त सद्गुण-मूलक कार्यों में नहीं, बल्कि केवल कुछ विशिष्ट प्रकार के सद्गुणमूलक कार्यों में दिखाई देते हैं। पर मुझे यह मत ठीक नहीं जान पड़ता। जिस विभेद की यहाँ चर्चा की गई है उसे प्रो० Dewey ने भी *Outlines of Ethics*, पृ० 230 में स्पष्ट किया है। पर मुझे सन्देह है कि 'मुख्य सद्गुण' की यह व्याख्या प्रयोग-सम्मत है भी या नहीं। 'मुख्य सद्गुण' से उनका आशय है सद्गुण-मूलक अभिवृत्ति की उन सामान्य विशेषताओं से जो वास्तव में सद्गुण के तत्त्व हैं, जैसे हृदय की शुद्धता निःस्वार्थता, अन्तर्विवेकशीलता आदि। सद्गुणों के साथ 'आन्तरिक जीवन' के ऐसे गुणों का जो सम्बन्ध है उसकी कुछ विवेचना अगले अध्याय में की गई है। 'मुख्य सद्गुण' (Cardinal Virtues) शब्द की उत्पत्ति के लिए देखिए Sidgwick की पुस्तक *Moral Philosophy*, पृ० 133। तुलना कीजिए Rickaby की पुस्तक *Moral Philosophy*, पृ० 84 से।

1. अपनी पुस्तक *Elements of Ethics*, (पृ० 207-25) में Prof Muirhead ने प्लैटो और अरस्तू की तालिकाओं के आधार पर, सद्गुणों की एक रोचक सूची दी है। आधुनिक जीवन के लिए आवश्यक विशिष्ट सद्गुणों के सम्बन्ध में कुछ विचारोत्तेजक विवेचन Adler की पुस्तक *Moral Instruction of Children*, भाषण 11-15 में मिलेगा। *Moral Education League* द्वारा प्राथमिक और माध्यमिक स्कूलों के लिए बनाई गई पाठ्य-क्या भी इस सम्बन्ध में काफ़ी शिक्षाप्रद है।

फिर भी, यह स्पष्ट है कि अपने जीवन में साहसी और मिताचारी होते हुए भी, मनुष्य मूर्खतापूर्ण जीवन बिता सकता है। सबसे पहली आवश्यकता तो है बुद्धिमान-पूर्वक जीवन का मार्ग चुनना। प्लेटो द्वारा गिनाये गए सद्गुण प्रज्ञा (या दूरदर्शिता) को यदि हम इस अर्थ में ग्रहण करें तो एक प्रकार से उन सद्गुणों की सूची पूरी हो जाती है जो व्यक्ति के सफल जीवन-यापन के लिए आवश्यक हैं।

पर यह स्पष्ट है कि इनमें से प्रत्येक सद्गुण में उन अनेक और विविध विशेषताओं को समाहित मानना होगा जो इकट्ठा किसी भी एक व्यक्ति में हमेशा नहीं पाई जातीं। इस प्रकार यह मानना होगा कि सतर्कता, दूरदर्शिता, चतुराई और कुछ निर्णायक विवेक—ये सब प्रज्ञा में सम्मिलित हैं। इसी प्रकार साहस में वीरता और धैर्य, अर्थात् सक्रिय साहस, जो पीड़ा की सम्भावना के बावजूद अपने निश्चित मार्ग पर आगे बढ़ता है, और निश्चेष्ट साहस, जो अविचलित भाव से अनिवार्य पीड़ा को सहन करता है¹—दोनों ही शामिल हैं। पर ये एक ही सद्गुण नहीं हैं; और वास्तव में किसी पर्याप्त मात्रा में एक साथ प्रायः नहीं पाए जाते। फिर साहस में प्रसन्न (Perseverance) को भी सम्मिलित मानना होगा; पर यह साहस के अर्थ को अस्वाभाविक रूप से विस्तृत करता होगा, जैसे निर्णायकता को प्रज्ञा में सम्मिलित मानना अस्वाभाविक मालूम होता है।

निर्णायकता, श्रमशीलता और प्रयत्न के गुणों को सम्भवतः एक अलग कोटि में रखना सबसे अधिक स्वाभाविक होगा। इन गुणों का सम्बन्ध सुख और पीड़ा के प्रलोभनों का प्रतिरोध करने से उतना नहीं है जितना मानव-प्रकृति की स्वाभाविक जड़ता या निश्चेष्टता का प्रतिरोध करने से है। ईसाई मत में प्रतिष्ठित विश्वास और आशा के गुण वीरता और धैर्य की आन्तरिक पृष्ठभूमि तैयार करते हैं और इस प्रकार इनका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। साहस के सर्वोत्तम रूपों में जीवन का विश्वास-मूलक प्रसन्न दृष्टिकोण पूर्व-स्वीकृत ही जान पड़ता है।² मिताचार में भी सुखों के सभी प्रकार के प्रलोभनों का प्रतिरोध शामिल मानना होगा; चाहे विषय-सुख के प्रलोभन हों या बौद्धिक सुख के, जिस हद तक चुने हुए मार्ग पर जीवन के विकास में वे बाधा डालते हैं उस हद तक उनका प्रतिरोध मिताचार में शामिल है।

तो इस प्रकार व्यक्ति के जीवन पर सीधा या प्रत्यक्ष प्रभाव डालनेवाले सद्गुणों के चार स्पष्ट वर्ग हमें स्वीकार करने पड़ते हैं—जीवन का सामान्य पथ चुनने में प्रज्ञा, चुने हुए पथ पर आगे बढ़ने में निश्चयात्मकता, और पीड़ा तथा सुख के

1. अपनी पुस्तक *Educational Ends* (पृ० 71-72) में Mrs. Bryant ने सक्रिय साहस की अपेक्षा धैर्य को उच्चतर सद्गुण माना है; क्योंकि सक्रिय साहस केवल पीड़ा के भय का सामना करता है जबकि धैर्य वास्तविक पीड़ा को बर्दाश्त करता है। यहाँ तक तो यह सच है। धैर्य की अपेक्षा साहस अन्ध सद्गुण है। साहसी व्यक्ति पीड़ा को अलग फेंक उसे भूल जाता है, पर धैर्यवान व्यक्ति तो वह है जो वास्तविक पीड़ा को, जो अलग फेंकी नहीं जा सकती, सहन करता है। पर दूसरी ओर धैर्य की अपेक्षा साहस अधिक स्वेच्छाजन्य और अधिक सक्रिय सद्गुण है। यह पीड़ा को सहन नहीं करता, बल्कि एक उद्देश्य की सिद्धि के लिए उसका सामना करने को आगे बढ़ता है। इस दृष्टि से धैर्य की अपेक्षा साहस ही उच्चतर सद्गुण जान पड़ता है।
2. कवि Browning ने Balaustion's Adventure में हरकुलिस का जो चित्र खींचा है उसमें सक्रिय साहस के सर्वोत्तम रूपों में निहित गुण प्रदर्शित किये गए हैं।

प्रलोभनों का प्रतिरोध करने में साहस और मिताचार।¹

(ख) अपने साथ के लोगों के साथ व्यक्ति के व्यवहारों से सम्बन्धित सद्गुण सम्भवतः न्याय के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। पर न्याय शब्द का सामान्यतः प्रचलित अर्थ इतना संकीर्ण है कि इन व्यवहारों व सम्बन्धों से उत्पन्न समस्त सद्गुण उसमें शामिल नहीं किए जा सकते। उदाहरण के लिए, न केवल संविदाओं का पूरा करना तथा व्यक्ति जिस समुदाय का सदस्य हो उसके व्यक्त या अव्यक्त नियमों का पालन करना ही इसमें शामिल है, बल्कि दूसरों के साथ अपने सम्बन्धों में व्यक्ति की पूर्ण निष्ठा और निष्कपटता भी शामिल माननी होगी। रस्किन ने तो कलात्मक अभिव्यक्तियों में भी निष्ठा की माँग की है; और यदि हमारे सामाजिक आवन्धों से सम्बन्धित समस्त सद्गुणों को न्याय की धारणा में सम्मिलित करना हो तो निष्ठा के अन्य प्रकारों के साथ इस प्रकार की निष्ठा को भी उसमें शामिल करना होगा।²

फिर जीवन के ईसाई आदर्श के मतानुसार, अपने साथ के लोगों से अपने व्यवहार में केवल आवन्धों की पूर्ति की ही नहीं बल्कि इससे कुछ और अधिक की आशा व्यक्ति से की जाती है; और यूनानियों की नैतिक चेतना भी इस 'अधिक' की आशा करती थी। हम सामान्यतः कहते हैं कि न्याय के साथ-साथ उदारता की भी आशा की जाती है; और ईसाई समाजों में प्रेम की भी आवश्यकता मानी जाती है। फिर भी, एक अर्थ में हम यह कह सकते हैं कि इस सबको न्याय की धारणा में शामिल किया जाना चाहिए।³ क्योंकि किसी भी व्यक्ति के प्रति हमारे कर्तव्य का ही एक अंश यह है कि हम उसे मात्र ऐसा एक पदार्थ न मानें जिसके प्रति हमारे कुछ विशेष आवन्ध हैं, बल्कि उसे भी एक मनुष्य मानें, जो स्वतः एक परम साध्य है और जिसके अपरिमित दावे हैं। यह सच है कि सामान्यतः इस प्रकार के आदर्श सम्बन्ध केवल आंशिक रूप में ही प्राप्त किए जा सकते हैं; पर एक पूर्णतः न्यायप्रिय व्यक्ति यथा-सम्भव उनकी प्राप्ति का प्रयत्न करेगा, और जब कभी भी केवल संविदा-मूलक बाह्य

1. अपनी पुस्तक *Elements of Ethics* (दूसरा संस्करण, पृ० 198-9) में Muirhead कहते हैं कि साहस और मिताचार के सद्गुण एक-दूसरे में शामिल हैं। मिताचारी होने के लिए व्यक्ति को साहसी होना ही चाहिए; सुख के प्रलोभनों का प्रतिरोध करने में समर्थ होने के लिए उसे उस पीड़ा को सहन करने के लिए तैयार होना चाहिए जो इस प्रतिरोध में निहित है। इसी प्रकार, साहसी होने के लिए उसे मिताचारी होना ही चाहिए। पर यह बारीकी शायद अनावश्यक है। जो मिताचारी शराब की बोतल से अपने को रोकता है उसमें शराब न पीने से होनेवाली कठिनाइयों और खतरों का सामना करने का साहस होना ही चाहिए। पर क्या इसका यह अर्थ नहीं है कि मिताचार एक प्रकार का निष्क्रिय साहस है? और इस प्रकार सक्रिय और निष्क्रिय का भेद क्या कायम नहीं रहता?
2. मात्र सच्चाई से आगे जानेवाली निष्ठा के अन्य उदाहरण भी दिए जा सकते हैं। इस प्रकार जो विद्यार्थी केवल परीक्षा पास करने के उद्देश्य से रटता है उसे निष्ठाहीन या वैदमान कहा जा सकता है, क्योंकि उसका ज्ञान यथार्थ नहीं है। और भी, Prof Bosanquet अपनी पुस्तक *History of Aesthetic* (पृ० 13) में जैसा कहते हैं, "विद्वानों का यह सुनहरा नियम कि जिस पुस्तक का प्रत्येक पृष्ठ पढ़ नहीं लिया उससे कभी भी उद्धरण न देना" निष्ठा के अर्थ-विस्तार का एक सुन्दर उदाहरण है। पर यह तो शायद 'पूर्णत्व-प्राप्ति की सलाह' है।
3. जैसा Prof. Muirhead कहते हैं (*Elements of Ethics*, पृष्ठ 209), उदारता इस दृष्टि से "पूर्ण अर्थों में गृहीत न्याय ही है।"

सम्बन्धों को मैत्री या प्रेम के सम्बन्धों में बदला जा सकेगा, तभी उसे प्रसन्नता होगी।¹

इसीलिए सामाजिक व्यवहार में सौजन्य और प्रसन्नता तथा सौमनस्यपूर्ण विचार; जहाँ तक सम्भव हो, सबके लिए सब-कुछ बनने का प्रयत्न—बुराई के समस्त रूपों से बचने, और जो कुछ कार्य-साधक न होने पर भी कानून-संगत है उससे भी परे रहने का प्रयत्न, और सामान्यतः सभी प्रकार का शौर्य-औदार्य, न्याय की धारणा से बाहर नहीं है। मनुष्यों के रूप में तथा परम साध्यों के रूप में हमारे जो कर्त्तव्य परस्पर एक-दूसरे के प्रति हैं, ये सब उन्हीं के अंग हैं।

तो इस प्रकार हमने देखा कि प्रत्येक शब्द की एक व्यापक व्याख्या करने पर, हम सद्गुणों के प्राचीन यूनानी वर्गीकरण को ही कुछ हल्के-से संशोधनों के साथ स्वीकार कर सकते हैं। केवल एक ही नया सद्गुण उस सूची में हमें जोड़ना पड़ेगा—निर्णायकता और प्रसक्ति का सद्गुण। यूनानियों द्वारा इस सद्गुण का छोड़ दिया जाना शायद स्वाभाविक ही था, कुछ तो इसलिए कि उनके लिए पहले से ही उनका जीवन हमारी अपेक्षा कहीं अधिक सुनिश्चित व सुनियोजित बन चुका था, और कुछ इसलिए कि उनकी सरल जीवन-पद्धति में किसी विशिष्ट पथ पर प्रसक्ति की आवश्यकता कम थी। एथेन्सवासियों के चरित्र की हलकी अस्थिरता, उनकी चिर-किशोरता के कारण भी सम्भवतः इस कठोर सद्गुण का छूट जाना आसान हो गया होगा। एक रोम का निवासी अनुशासनपूर्ण व्यवहार की धारणा शायद ही भूल पाता;² “एक अंग्रेज स्वभावतः चरित्र का निर्माण कभी नहीं भूलेगा; एक जर्मनी-वासी प्रसक्ति अवश्य याद रखेगा।³ इसके अलावा यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इन चार यूनानी सद्गुणों का अर्थ-विस्तार करते हुए हम उन भावनाओं तक ले गए हैं जिन्हें यूनानियों ने स्वयं कभी स्वीकार न किया होता।⁴ पर संसार की प्रगति के साथ-साथ कर्त्तव्य की धारणा का ऐसा विस्तार होना अनिवार्य है।

यह वर्गीकरण कर चुकने के बाद अब हमें यह अवश्य कह देना चाहिए कि इस तरह की सूची बनाने का महत्त्व उसी प्रकार बहुत कम है जैसे धर्मदेशों की सूची तैयार करने का। जैसे तात्त्विक दृष्टि से केवल एक ही धर्मदेश है, उसी प्रकार तत्त्वतः केवल एक ही सद्गुण है (जिसे यदि हम चाहें तो व्यावहारिक प्रज्ञा कह सकते हैं)।⁵

1. यहाँ हम कार्लाइल के साथ एकमत हैं। तुलना कीजिए इस पुस्तक के तृतीय खण्ड, अध्याय 2, अनुच्छेद 7 से। हमें केवल यही सन्देह है कि केवल संविदाओं के उन्मूलन से ही यह वांछनीय परिणाम उत्पन्न भी हो सकता है या नहीं। सम्यक् रूप से न्याय उदारता से पहले आता है।
2. उदाहरण के लिए सीजर जैसे व्यक्ति की निर्णायकता (तुलना कीजिए इस पुस्तक के तृतीय खण्ड, अध्याय 5, अनु० 11 की टिप्पणी से) एक ऐसा सद्गुण मालूम होती है जिसे प्रज्ञा, साहस या मिताचार में से किसी के भी साथ एकरूप नहीं माना जा सकता।
3. तुलना कीजिए विशिष्ट जर्मन सद्गुण भक्ति-व्रत (True—fidelity) से। एथेन्सवासियों के चरित्र के लिए ये सभी सद्गुण कुछ अनजाने-से थे।
4. प्रारम्भिक ईसाई नीतिज्ञ, जो प्लेटो द्वारा किये गए वर्गीकरण को स्वीकार करते थे, प्रायः यही करते थे। देखिए Sidgwick की History of Ethics, पृ० 133।
5. यह बात, बेशक, जोर देकर कही जा सकती है कि जिसे वेकन ‘व्यक्ति की आत्म-निष्ठ प्रज्ञा’ कहते हैं उसमें और दूसरों के उचित हित-साधन में व्यक्त प्रज्ञा के बीच बड़ा अन्तर है। पर स्वार्थपूर्ण चतुराई के अर्थ में तो आत्म-निष्ठ प्रज्ञा सद्गुण है ही नहीं। और व्यक्ति द्वारा अपने हितों की प्रशार्थ चिन्ता किया जाना तो बही गुण है जो विकसित रूप में

विशिष्ट धर्मदेशों की भाँति, विशिष्ट सदगुण भी, उचित मनःप्रवृत्ति के ही विशिष्ट रूप हैं। इन रूपों की सूची बनाने का प्रयत्न एक निरर्थक बात है। इस विषय पर मैंने इतना सब केवल यह स्पष्ट करने के लिए कहा कि ऐसे प्रयत्न का परिणाम क्या हो सकता है। सम्भवतः सर्वोत्तम बात यह होगी कि सदगुणों को व्यक्ति के चरित्र का वह रूप माना जाए जो धर्मदेशों या कर्तव्यों की पूर्ति में निहित रहता है। और ये कर्तव्य या धर्मदेश सामाजिक एकता में निहित सत्त्वों पर निर्भर रहते हैं।

7. चरित्र की शिक्षा

यह निश्चित कर लेने के बाद कि किस-किस प्रकार के चरित्र की उपलब्धि हमें अभीष्ट है, अब अगला कदम यह है कि उसके विकास के साधनों—उपायों का विवेचन किया जाए। ऐसा करने में मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी कदम रखना होगा, विशेषकर शिक्षा-सिद्धान्त-सम्बन्धी मनोविज्ञान के क्षेत्र में।

यह विषय अभी तक कुछ अविकसित रूप में ही है;¹ और हमारे लिए केवल एक या दो ऐसी बातें स्पष्ट कर देना ही काफ़ी होगा जिनका इस विषय में कुछ व्यावहारिक महत्त्व है। चरित्र के विकास में उदाहरण का महत्त्व प्रत्येक नीतिज्ञ ने माना है। 'जैसे लोहा इस्पात को तेज बनाता है वैसे ही एक व्यक्ति अपने मित्र की आकृति को तेजोमय बनाता है।' पर सभी प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों का महत्त्व ऐसा ही है। सामान्य रूप से शायद ऐसा कहा जा सकता है कि किसी स्वतःपूर्ण संगठन से अपना सम्बन्ध जोड़ने पर जो प्रभाव अपने ऊपर पड़ता है वही, इस दृष्टि से, अधिक महत्त्वपूर्ण है।

दूसरों के उचित हितों की प्रशार्पूर्व चिन्ता करना सिखाता है। जो अन्तर है वह केवल अपने जगत् का विस्तार करने में है।

1. फिर भी, Herbart की पुस्तक *Science of Education* का उल्लेख किया जा सकता है। Guyau की *Education and Heredity* में भी कुछ अच्छी बातें मिल जाएँगी, जैसे Fougère की पुस्तक *L'Enseignement au Point de Vue National*, Mrs. Bryant की *Educational Ends*, Rosenkranz की *Philosophy of Education* में भी अच्छा विवेचन है। हर्बर्ट की मुख्य स्थापना यह है कि शिक्षा का महान् उद्देश्य है 'विचार-क्षेत्र' की अभिवृद्धि। 'विचार-क्षेत्र' से उनका लगभग वही आशय है जिसे इस पुस्तक में हमने जगत् कहा है।

पिछले कुछ वर्षों में, *Moral Education League* के प्रयत्नों से विशेष रूप में, शिक्षा के नैतिक पक्ष पर काफ़ी महत्त्वपूर्ण कार्य किया गया है। Prof. M. E. Sadler द्वारा सम्पादित पुस्तक *Moral Instruction and Training in Schools* में संग्रहीत महत्त्वपूर्ण सामग्री का उल्लेख किया जा सकता है। श्री F. J. Gould की पुस्तक *Moral Education: its Theory and Practice*, Prof. MacCunn की पुस्तकें *Youth's Noble Path* व *The Making of Character*, Edmond Holmes की *What is and What Might Be* तथा *In Defence of What Might Be*, J. और E. Dewey की पुस्तक *Schools of Tomorrow* तथा Dr. F. Adler की पुस्तक *Moral Instruction of Children* आदि भी देखिए। बालचरों और गर्ल गाइडों के आन्दोलनों को हम इस विषय में ली जानेवाली नई अभिवृत्ति का ही सक्रिय फल मान सकते हैं। Prof. E. B. Holt की पुस्तक *The Freudian Wish and its Place in Ethics* का भी उल्लेख किया जा सकता है; मुझे लगता है कि नीतिशास्त्र की अपेक्षा नैतिक शिक्षा के विषय पर इस पुस्तक में अधिक महत्त्वपूर्ण विवेचन किया गया है।

गोथे (Goethe) ने कहा था कि व्यक्ति को या तो स्वयं पूर्ण होना चाहिए या फिर किसी पूर्ण में सम्मिलित हो जाना चाहिए। इस पर ब्रैंडल की उक्ति है,¹ 'किसी पूर्ण में सम्मिलित हुए बिना आप पूर्ण नहीं हो सकते।' दूसरों के साथ सहयोग करते हुए किसी महान् साध्य की सिद्धि में तन्मय होकर ही चरित्र का पूर्ण विकास प्राप्त किया जा सकता है। यह तन्मयता भिन्न व्यक्तियों को भिन्न मार्गों से प्राप्त होती है। कुछ लोगों को यह तन्मयता विज्ञान के अनुशीलन में मिलती है, कुछ को किन्हीं विशिष्ट व्यावहारिक अभिरुचियों में, कुछ अन्य लोगों को राज्य के राजनैतिक जीवन में, कुछ औरों को काव्य या धर्म में। तन्मयता का कोई भी रूप हो, पर जब तक कोई व्यापक मानव-हित किसी भी रूप में व्यक्ति का लक्ष्य नहीं है, जो उसे संकीर्ण अहंता से ऊपर उठा ले जाए, तब तक उसका जीवन खण्डित ही बना रहता है और सद्गुणों के पनपने के लिए उपयुक्त क्षेत्र नहीं बन पाता। तो इस प्रकार, सद्गुणों के विकास के लिए पहली जरूरत यह है कि हम किसी ऐसे साध्य या आदर्श की सिद्धि के लिए दूसरों के साथ एक हो जाएँ जिसका वास्तविक मूल्य हो, यह मूल्य चाहे आन्तरिक मूल्य हो और चाहे साधन मूल्य हो।

दूसरी बात यह है कि कुछ मात्रा में यतियों का-सा अनुशासन कभी-कभी बहुत मूल्यवान् सिद्ध होता है। जैसा कि अरस्तू ने कहा था,² जब किसी व्यक्ति का चरित्र किसी एक दिशा में मोड़ दिया गया हो तब उसे दूसरी ओर मोड़कर सीधे मार्ग पर लाया जा सकता है। और इसके अलावा भी, व्यक्ति की सहज-प्रवृत्तियों की तुष्टि पर कुछ नियंत्रण लगने से उसकी संकल्प-शक्ति जाग्रत होती है³ : यह अभ्यासवश जीवन बिताने की प्रवृत्ति को रोकता है, और इस प्रकार चरित्र के विकास में सहायक होता है, ताकि रबी बेन एजरा (Rabbi Ben Ezra) की भाँति हम कह सकें :

“हादिक स्वागत हर ऐसे प्रतिघात का
जो धरती के समरस जीवन को उद्वेलित कर चले !

1. देखिए Ethical Studies, पृ० 79।
2. देखिए Ethics, 2, 9, 5।
3. तुलना कीजिए James की पुस्तक Principles of Psychology, भाग 1, पृ० 126 से। प्रो० जेम्स की उक्ति है, 'प्रतिदिन थोड़ा-सा निष्काम कर्म करके अपनी प्रयत्न-शक्ति को चैतन्य रखो।' वह और कहते हैं, 'छोटा-छोटी अनावश्यक बातों में व्यवस्थित ढंग से यती या वीर बनो; हर दिन या दूसरे दिन कुछ ऐसा काम महज इसलिए करो कि तुम उसे करना नहीं चाहते।' मुझे इस कथन की बुद्धिमत्ता पर सन्देह है। मेरे विचार से जो व्यक्ति गम्भीर साध्यों को अपना लक्ष्य मानकर जीवन व्यतीत कर रहा है उसे यतियों का-सा अनुशासन अपनाने के लिए हमेशा पर्याप्त अवसर मिलते रहेंगे—

‘अवसर सबको स्वार्थ-त्याग का, आत्म-त्याग का,
मार्ग—ले चले निकट, निकटतर जो भगवन् के।’

और कृत्रिम ढंग से इन अवसरों को खोजना नहीं पड़ेगा (शायद अरस्तू द्वारा निर्दिष्ट ढंग को छोड़कर)। Muirhead की पुस्तक Elements of Ethics, पृ० 136-7 में जेम्स का पूरा सम्बन्धित अंश उद्धृत किया गया है। International Journal of Ethics, भाग 2, सं० 3 (अप्रैल, 1892) के पृ० 303-4 पर श्रीमती Gilliland Husband के लेख Pleasure and Pain in Education से तुलना कीजिए।

4. “welcome each rebuff
That turns earth's smoothness rough,
Each sting that bids nor sit nor stand but go.”

स्वागत उस अंकुश का: हर उस डंक का जो न बैठने या रुकने दे व्यक्ति को प्रत्युत् प्रतिपल आगे ही बढ़ने को जो कहे।”

फिर भी सर्वोत्तम यही है कि इस प्रकार का प्रतिघात सामान्यतः प्राकृतिक ढंग से ही आए। जब जान-बूझकर ऐसी चोट की जाती है तब सम्भावना इस बात की रहती है कि हम अपने आन्तरिक विकास के प्रति अत्यधिक सचेत हो जाएँ; और इससे प्रायः हमेशा एक विकृत मनःप्रवृत्ति पैदा होती है।¹ सामान्यतः यह ज्यादा अच्छा है कि अपने दोषों से बचने के लिए हम उनके बारे में सोचते रहने और धोखे से उनसे बच निकलने का प्रयत्न करने के बजाय अपना ध्यान उनके विरोधी गुणों पर केन्द्रित करें। डॉक्टर कैमर्स प्रायः ‘नये भाव की बहिष्करण-शक्ति’² की बात कहा करते थे और अपनी दुष्प्रवृत्तियों को सीधे-सीधे कुचलने का प्रयत्न करने के बजाय सद्प्रवृत्तियों का विकास करके दुष्प्रवृत्तियों को निकाल बाहर करने का प्रयत्न निश्चित रूप से अधिक प्रभावपूर्ण उपाय जान पड़ता है।

साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा कि एक फूल की भाँति, विकास की एक सरल निर्बाध प्रक्रिया से नैतिक जीवन का विकास शायद ही सम्भव हो पाता हो। आन्तरिक जीवन के प्रति कुछ ध्यान देना प्रायः आवश्यक होता है; और प्रायः मनुष्य को ऐसे संकटों या संक्रांति-कालों से गुजरना पड़ता है जिन्हें धर्म की भाषा में संपरिवर्तन या नया जन्म कहते हैं और जिसमें मनुष्य का ध्यान अन्तर्मुखी हो जाता है और वह जैसे अपनी ही नाड़ी टटोलने में, अपने ही आचरण के प्रेरक हेतु को परखने में व्यस्त हो जाता है। यह एक ऐसी अभिवृत्ति है जिससे, जितनी जल्दी सम्भव हो सके, छुटकारा लेना चाहिए; पर नैतिक जीवन के विकास का यह एक इतना विशिष्ट लक्षण है कि इसकी विवेचना एक अलग अध्याय में करना उचित जान पड़ता है— इस कारण और भी, कि इस विवेचन से हमें सद्गुण के तथाकथित आन्तरिक पक्ष का और अधिक अध्ययन करने का अवसर मिलेगा।³

1. खण्ड 3, अध्याय 5, अनु० 11।

2. कुछ ऐसी ही बात श्रीमती हम्फ्री वार्ड (Humphry Ward) भी Robert Elsmere में कहती हैं: ‘वास्तव में किसी मत के सचमुच परिवर्तित होने का यही एक रास्ता है—एक मानसिक चित्र के स्थान पर दूसरे मानसिक चित्र का प्रतिष्ठित होना।’ और भी: ‘किसी भी विचार को बाहर से नहीं मारा जा सकता—उसे केवल हटाया जा सकता है, रूपान्तरित किया जा सकता है; और वह भी केवल समान सद्गुण और शक्तिवाले किसी विचार द्वारा।’

3. नैतिक शिक्षा के सम्बन्ध में यहाँ यह बात समझ लेनी चाहिए कि नैतिक संस्कृति तथा नैतिक ज्ञान की उपलब्धि के बीच लोगों को प्रायः भ्रम हो जाता है। नैतिक संस्कृति तो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, पर नैतिक ज्ञान की उपलब्धि से प्रायः केवल एक प्रकार का कोरा आध्यात्मिक गर्व उत्पन्न होता है जिसे ‘रोखी’ कहते हैं। नैतिक संस्कृति के अर्थों में तो सम्पूर्ण वास्तविक शिक्षा नैतिक शिक्षा ही है। इसी अर्थ में Herbart अपनी पुस्तक ‘Science of Education’, पृष्ठ 57 में कहते हैं, ‘शिक्षा का एकमात्र और सम्पूर्ण साध्य है—नैतिकता।’ इसके विपरीत दूसरे अर्थ में नैतिक शिक्षा सामान्यतः बुरी शिक्षा होगी, उसका परिणाम आत्मसंकोचमूलक आत्म-परीक्षण के अलावा और कुछ नहीं होता। तुलना कीजिए International Journal of Ethics; भाग 1, सं० 1 (अक्टूबर, 1890); पृ० 86 पर प्रकाशित Dr. Bosanquet के लेख The Communication of Moral Ideas में ‘नैतिक विचारों’ और ‘नैतिकता-सम्बन्धी विचारों’ के बीच किये गए विभेद से; Mrs. Husband के loc. cit., पृष्ठ 294-5 भी देखिए।

8. नैतिक हेतुनुमान

इस अध्याय को समाप्त करने से पहले यह सुविधाजनक होगा कि अरस्तू की एक अत्यन्त सार्थक धारणा पर कुछ विचार कर लें, जो यहाँ उपयुक्त जान पड़ती है। इस अध्याय में और पिछले दो अध्यायों में हम संक्षेप में यह दिखला चुके हैं कि व्यक्ति की चेतना या नैतिक वातावरण का प्रभाव कितने विविध रूपों में पड़ता है। सामाजिक जीवन में निहित नैतिक आदर्श व्यक्ति के सामने तीन रूपों में आता है : वे संस्थाएँ, जिन्हें कायम रखना होता है; कर्त्तव्य, जिन्हें पूरा करना होता है; और जीवन का वह रूप जिसे प्राप्त करना होता है। सामाजिक विकास की विभिन्न स्थितियों में और विभिन्न जातियों में यह आदर्श इन्हीं तीनों में से किसी एक रूप में अधिक स्पष्ट होता है। इस प्रकार यहूदी लोगों ने मुख्य रूप से धर्मादेशों का विचार किया, यूनानियों ने सद्गुणों का विचार किया और रोम-वासियों ने सामाजिक संस्थाओं की प्रतिष्ठा को सर्वाधिक महत्ता प्रदान की।

पर, नैतिक जीवन की धारणा किसी भी रूप में क्यों न की जाए, इन सामान्य धारणाओं से ही एक अच्छा नागरिक उन सिद्धान्तों को ग्रहण करता है जो उसके जीवन का पथ-प्रदर्शन करते हैं। और तब इन सिद्धान्तों का विवरणात्मक प्रयोग उसी का काम होता है। इसी प्रक्रिया को अरस्तू ने व्यावहारिक हेतुनुमान कहा था। इसका मुख्य आधार-वाक्य यह उक्ति है कि एक विशिष्ट सामाजिक संस्था को प्रतिष्ठित रखना है, कि एक विशिष्ट धर्मादेश का पालन करना है, कि एक विशिष्ट प्रकार का जीवन प्राप्त करना है, कि एक विशिष्ट मूल्य की उपलब्धि करनी है। यह बोध कि एक विशेष प्रकार का कार्य इन सभी शर्तों को पूरा करेगा, इस हेतुनुमान का गौण आधार है। और तब ऐसे कार्य को पूरा करना ही इसका निष्कर्ष होगा।

जीवन में पालन किए जानेवाले सामान्य सिद्धान्तों को इस प्रकार समझ पाने, और उसके अधीन विशिष्ट कार्य निर्धारित कर पाने की शक्ति को ही अरस्तू ने व्यावहारिक प्रज्ञान कहा था; और जिस व्यक्ति में यह गुण हो उसे एक प्रज्ञावान या दूरदर्शी व्यक्ति कहा था। एक अच्छे नागरिक का यही प्रकर्ष है। और अब, विवेचन की इस स्थिति में, अरस्तू द्वारा दी गई एक अच्छे नागरिक के सद्गुण की परिभाषा स्पष्ट करना सुविधाजनक होगा। इस परिभाषा की अधिकांश बातें हमारे विवेचन में पहले ही आ चुकी हैं; और अब अरस्तू द्वारा दी गई पूरी परिभाषा को ही सामने रखना अच्छा होगा। अरस्तू कहते हैं¹, “तर्कबुद्धि द्वारा निर्धारित, और जिसे व्यावहारिक प्रज्ञाशील व्यक्ति निर्धारित करता, ऐसे सापेक्ष मध्यमार्ग को अपनाने की प्रवृत्ति ही सद्गुण है।”

शुरू में तो हमें यह एक चक्करदार परिभाषा मालूम होगी। पर यह परिभाषा हमें चक्करदार मालूम होने के बजाय एक गम्भीर सत्य को व्यक्त करने वाली मालूम होगी, यदि हम यह स्मरण रखें कि व्यावहारिक प्रज्ञाशील व्यक्ति का अर्थ है वह व्यक्ति जो अपने नैतिक पर्यावरण की भावना में प्रवेश कर चुका है, और यदि हम यह भी न भूलें कि नैतिक पर्यावरण की भावना भी मानव-आदर्श—अर्थात् अब तक अभिव्यक्त तर्कबुद्धि का ही फल है।

फिर भी इस परिभाषा में एक अच्छे नागरिक के सद्गुण का ही वर्णन किया गया है; और, यद्यपि यह एक भले आदमी के जीवन का एक महत्वपूर्ण तत्त्व है, फिर भी यही उसका सारा जीवन नहीं है। इसलिए, एक प्रज्ञाशील व्यक्ति के सद्गुण पर विचार करने के बाद अरस्तू परिकल्पी प्रज्ञाशील व्यक्ति (Man of speculative

wisdom) के सद्गुण की विवेचना करते हैं, और उसे उच्चतर सद्गुण घोषित करते हैं। इस विवेचना से एक सामान्य प्रश्न यह उठता है कि किस हद तक व्यक्ति का सर्वोच्च जीवन, समुदाय के जीवन से पृथक् रहकर भी, सिद्ध किया जा सकता है; अथवा यों कहें कि व्यक्ति के सर्वोच्च जीवन को किस हद तक ऐसे तत्त्वों से निर्मित माना जा सकता है जिनकी पर्याप्त अभिव्यक्ति उस सामाजिक एकता के साथ व्यक्ति के अपने सम्बन्धों में नहीं होती, जिसका कि वह एक सदस्य है। अब हमें इसी प्रश्न का उत्तर देना है।

सद्गुणों के वर्गीकरण पर टिप्पणी

जो विद्यार्थी सद्गुणों का और अधिक व्यापक वर्गीकरण करना चाहते हों उनके लिए सद्गुणों का उत्पत्ति-क्रम से अध्ययन करना लाभदायक होगा; अर्थात् उन्हें इस पर विचार करना चाहिए कि सद्गुण कैसे उत्पन्न होते हैं और कैसे मानव-जीवन के विकास में वे प्रतिष्ठित होते हैं।

इस दृष्टि से सम्भवतः यह स्वीकार करना होगा कि सर्वप्रथम स्वीकार किए जानेवाले सद्गुण हैं साहस और निष्ठा, जो क़बीले को कायम रखने के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण थे। शुरू में साहस का अर्थ था केवल युद्ध-क्षेत्र की वीरता; पर धीरे-धीरे उसमें धैर्य और आशावादिता आदि भी शामिल हो गए। अरस्तू ने साहस का जो विवेचन किया है उसमें इस अर्थ-विस्तार की प्रक्रिया का प्रारम्भ दिखाई देता है। इसी प्रकार निष्ठा का अर्थ शुरू में केवल क़बीली एकता के प्रति निष्ठा था, पर धीरे-धीरे, हाथ में लिये गए किसी भी कार्य के प्रति प्रसवित और उत्साह भी उसमें शामिल हो गए।

जैसे-जैसे क़बीली चेतना को पार कर हम उससे आगे बढ़ते हैं और उस स्थिति में पहुँचते हैं जिसमें व्यक्तिगत जीवन को और अधिक निश्चित प्रतिष्ठा प्राप्त होती है, वैसे-वैसे मिताचार और दूरदर्शिता के सद्गुण प्रकट होते हैं, और क्रमशः ये भी अधिकाधिक व्यापक होते जाते हैं। व्यक्तिगत चेतना का विकास होने पर व्यक्तियों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित होते हैं; और इन सम्बन्धों के साथ-साथ न्याय और मैत्री के सद्गुणों को बहुत शीघ्र महत्त्व प्राप्त हो जाता है। व्यक्तिगत चेतना के गम्भीर होने पर आत्म-सम्मान और पर-सम्मान के विविध रूपों में व्यक्त होनेवाले सद्गुण समादर की प्रतिष्ठा होती है। और अन्त में यह स्वीकार किया जाता है कि प्रज्ञान एक ऐसा सद्गुण है जो इन सबके मूल में है। तो इस प्रकार, इस दृष्टिकोण के अनुसार, प्रधान सद्गुण होंगे : साहस, निष्ठा, मिताचार, दूरदर्शिता, न्याय, मैत्री, समादर और प्रज्ञान।

पर भिन्न दृष्टिकोण अपनाने पर भिन्न परिणाम भी निकल सकते हैं। पर सद्गुणों का वर्गीकरण करना महत्त्वपूर्ण नहीं है, बल्कि विशिष्ट परिस्थितियों में उचित कार्य करने की प्रवृत्ति के रूप में सद्गुण की सार्थकता को समझना, और तब विकास के विभिन्न स्तरों पर समुदायों में उत्पन्न होने वाली स्थितियों का एक परिपूर्ण चित्र ध्यान में रखना ही महत्त्वपूर्ण है। अरस्तू ने Nicomachean Ethics में सद्गुणों की जैसी सूची दी है उसे ज्यादा-से-ज्यादा उनके देश और काल के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सद्गुणों का नमूना-संग्रह मात्र माना जा सकता है। सूची के सम्बन्ध में पूर्णता का प्रयत्न ग्रन्थ का आकार बढ़ा सकता है, ज्ञान का नहीं।

दूसरी ओर नैतिक जीवन जिन विभिन्न दिशाओं में विशिष्टता प्राप्त करता जा रहा है उनका यदि केवल एक सामान्य वर्गीकरण मात्र कर दिया जाए, जैसा

प्रमुख सद्गुणों की सूची से समझा जाता है, तो विभाजन का एक सन्तोषप्रद सिद्धान्त बना सकना ही असम्भव हो जाता है। प्लेटो की चार-सूत्री सूची में यह स्पष्ट है कि प्रज्ञान शेष तीन सद्गुणों से भिन्न स्तर पर है, क्योंकि वह सभी के मूल में स्थित सिद्धान्त है, न कि विशिष्ट प्रयोग का सिद्धान्त; और फिर, मिताचार और न्याय के बीच कोई स्पष्ट विभेद नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार सद्गुणों को आत्मनिष्ठ और परनिष्ठ कोटियों में विभाजित करना भी सन्तोषजनक नहीं है; और यही बात अरस्तू द्वारा किये गए नैतिक और बौद्धिक सद्गुणों के विभेद पर भी लागू होती है। सब ले-देकर सद्गुणों का उत्पत्ति-क्रम से अध्ययन ही सर्वाधिक सन्तोषप्रद जान पड़ता है। सद्गुणों के विषय में प्रो० सोर्ले (Prof. Sorley) की छोटी-सी पुस्तक *The Moral Life* बड़ी उपयोगी सिद्ध होगी।

व्यक्तिगत जीवन

1. व्यक्तिगत और सामाजिक नैतिकता

जहाँ एक ओर यह सच है कि व्यक्ति का सारा जीवन आदि से अन्त तक उस सामाजिक एकता का सापेक्ष बना रहता है जिसका वह व्यक्ति सदस्य होता है, वहाँ दूसरी ओर यह भी उतना ही सच है कि व्यक्तियों के अपने व्यक्तित्व में ही सामाजिक एकता की सिद्धि हो पाती है। फलतः यद्यपि यह सोचना भूल है कि समाज से स्वतन्त्र किसी भी व्यक्ति का अपना पृथक् जीवन होता है, फिर भी यह सोचना गलत नहीं है कि (सामाजिक एकता में ही उपलब्ध किया गया) व्यक्तिगत जीवन स्वयं अपने-आप में ही एक निरपेक्ष और परम साध्य है। इसलिए गोथे (Goethe) जैसा व्यक्ति यदि अपनी प्रकृति का उच्चतम संस्कार करने का प्रयत्न करता है तो उसे स्वार्थमूलक प्रयत्न नहीं करना चाहिए (जैसा पिछले किस्म के आलोचकों ने कभी-कभी किया है)। इस प्रकार के व्यक्तित्व का विकास स्वयं अपने में ही एक शुभ बात है और, साथ ही, पूरी मानवता के लिए भी कल्याणकारी है।

कम व्यापक और कम सार्थक व्यक्तित्व के सम्बन्ध में भी यह बात उतनी ही सच है, यद्यपि उससे मानवता का कल्याण कम होता है। संसार का महानतम उद्योग वही है जिसे रस्किन 'आत्माओं का निर्माण'¹ कहा करते थे। पर यह एक ऐसा काम है जिसमें व्यक्ति जितना ही अधिक सचेष्ट होगा उतनी ही अधिक असफलता उसके हाथ लगेगी। अत्यधिक सचेष्ट आत्म-संस्कार के कारण, लगता है, गोथे को भी कुछ हानि पहुँची थी। कार्लाइल का कहना है कि "एकमात्र अचेतन ही पूर्ण होता है।" कारण यह है कि एक पूर्ण चरित्र वह होता है जो वस्तुनिष्ठ—जगन्निष्ठ होता है, जो अपने-आपको अपने चतुर्दिक् संसार में ही खो देता है, जिसका ज्ञान अपार है, जिसका प्रेम असीम है; न कि वह जो अपने चिन्तन में ही खोया रहता है।"² फिर भी, ऐसा वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण उत्पन्न किया जा सकता है, अर्जित किया जा सकता है;

1. डॉक्टर Adler द्वारा अपनी पुस्तक *Moral Instruction of Children*, पृ० 270 में उद्धृत वाल्ट व्हिटमैन के इस प्रश्न से तुलना कीजिए, "क्या ये मनुष्यों का निर्माण करते हैं?"
2. पहले (प्रथम खण्ड, अध्याय 2, अनु० 7) जिसप्रकार के सुख के विरोधाभास की चर्चा की गई है, वास्तव में उसी प्रकार का, एक कर्तव्य का भी विरोधाभास होता है। जैसे सुख की प्राप्ति के लिए व्यक्ति को अपने भावों के बजाय किसी वस्तु-विशेष में रुचि लेना अनिवार्य होता है; ठीक उसी प्रकार उचित ढंग से काम करने के लिए यह आवश्यक होता है कि व्यक्ति उस लक्ष्य में रुचि ले जिसे पूरा करना हो, न कि इस चिन्तन में कि उसकी पूर्ति के प्रति उसका अपना दृष्टिकोण क्या हो। हमारे आन्तरिक जीवन की समृद्धि भी हमारे आत्म-चिन्तन की गहनता पर नहीं, बल्कि हमारी वस्तुनिष्ठ अभिरुचियों की व्यापकता पर निर्भर करती है।

और ऐसा करने में कुछ-न-कुछ आत्म-चिन्तन करना ही होता है। इसलिए इस सम्बन्ध में अब कुछ विचार कर लेना चाहिए।

2. ब्रैडले का विरोधाभास

एफ० एच० ब्रैडले की इस प्रसिद्ध उक्ति का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं¹ कि "संसार-भर से अधिक अच्छा बनने का प्रयत्न तो अनैतिकता की पहली सीढ़ी है।" इसके विरुद्ध रशदल का तर्क है² कि "यह कहना अधिक सच होगा कि जो व्यक्ति अपने पड़ोसियों जैसा ही नैतिक होने से सन्तुष्ट है वह अनैतिकता की इस सीढ़ी को पहले ही पार कर चुका है।" मेरे विचार से इस आलोचना में कुछ भ्रान्ति है। ब्रैडले का तात्पर्य अगले कुछ वाक्यों के बाद इस प्रकार स्पष्ट हुआ है³ : "हमें इस बात पर विचार करना चाहिए कि जो व्यक्ति भगवान् का भेजा हुआ पैगम्बर न हो, उसका नैतिक विषयों में सारे संसार से अलग अपना एक भिन्न मत रखना कोरी अहंम्यता है या नहीं।"

ब्रैडले का आशय हेगेल के इस उद्धृत कथन⁴ में अधिक स्पष्ट हुआ है कि "पुरा-काल के सर्वाधिक प्रजावान लोगों ने यह निर्णय दिया है कि अपनी जाति के लोकाचार के अनुकूल रहने में ही सद्गुण और बुद्धिमानी है।" इसके विरोध में रशदल प्रश्न करते हैं : "जो व्यक्ति सचमुच यह स्वीकार कर लेता है कि 'अपनी जाति के लोकाचार के अनुकूल रहने में ही सद्गुण और बुद्धिमानी है', वह क्या अनिवार्य रूप से सुकरात को दोषी ठहराने और 'सुकरात को सूली पर लटका दो, 'सूली पर लटका दो' चिल्लाने में लोगों का साथ न देता?" मैं नहीं समझता कि ब्रैडले के कथन का ऐसा अर्थ निकालना उचित भी है। 'भगवान् के भेजे हुए पैगम्बर' के लिए उन्होंने जो अपवाद रखा है वह सुकरात और ईसामसीह जैसे लोगों पर ही लागू होता है।

इसके अलावा 'सारे संसार से अधिक अच्छा बनने' की बात से ब्रैडले का तात्पर्य या संसार के स्वीकृत मानकों से अच्छा बनना। और इस कथन का, कि सामान्य नागरिक को संसार के स्वीकृत मानकों से अच्छा बनने की इच्छा नहीं करनी चाहिए, यह अर्थ नहीं लिया जाना चाहिए कि उसे 'अपने पड़ोसियों जैसा नैतिक बनने से ही सन्तुष्ट होना चाहिए।' क्योंकि हो सकता है कि पड़ोसी स्वीकृत मानकों से काफ़ी पीछे या नीचे हों। पर ब्रैडले के कथन और रशदल की टीकाओं से एक रोचक समस्या यह उठ खड़ी होती है कि नैतिक सुधारक का समाज में क्या स्थान है।

3. नैतिक सुधारक का स्थान

मेरे विचार से ब्रैडले ने कभी भी इस बात को अस्वीकार न किया होता कि नैतिकता प्रगतिशील होती है और समाज में सुकरात जैसे नैतिक सुधारकों की आवश्यकता है; पर सम्भवतः उन्होंने इस बात पर जोर दिया होता कि सम्यक् रूप से कुछ सोफिस्टों (Sophists) की अपेक्षा सुकरात की अभिवृत्ति रूढ़िवादी थी और सुकरात उनका विरोध करते थे। अपने देश के स्वीकृत प्राधिकारियों के सम्मुख आत्म-समर्पण करने के लिए सुकरात हमेशा प्रस्तुत थे। अपने युग के नैतिक मानकों में वे

1. देखिए Ethical Studies (दूसरा संस्करण), पृ० 199।

2. देखिए Theory of Good and Evil, दूसरा खण्ड, पृ० 158।

3. खण्ड 2, अध्याय 5।

4. देखिए Ethical Studies, पृ० 187।

किसी प्रकार तोड़-मोड़ नहीं करना चाहते थे, बल्कि उन मानकों को विमर्श-मूलक सिद्धान्तों के आधार पर दृढ़ता के साथ स्थापित करना चाहते थे। और यह कहना भी सच है कि उनके अनुयायियों ने—प्लेटो और अरस्तू ने—भी यही करने की कोशिश की। रशदल ने ईसा का उल्लेख किया है, उस पर भी आपत्ति उठाई जा सकती है। कहा जा सकता है कि ईसा ने अपने अनुगामियों को अपने युग की नीति-परायणता से आगे बढ़ने का उपदेश अवश्य दिया, पर उसे त्याग देने की सलाह नहीं दी; और यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि उस नीतिपरायणता में लोगों पर नए आबन्ध लागू करने का उत्साह बहुत अधिक था।

ब्रूडले जिस बात पर जोर दे रहे थे उसे मेरे विचार से इस आदेश में व्यक्त किया जा सकता है: "पहले तो इसका निश्चय कर लीजिए कि जिस 'स्थान' पर आप हैं उसकी सारी आवश्यकताओं को आप पूरा कर लेते हैं। और तब आप वह कुछ करने के लिए आगे बढ़ सकते हैं जिसकी अपेक्षा आपसे नहीं की जाती।" किन्तु यह प्रश्न फिर भी किया जा सकता है कि जिस समुदाय में आप-हम रहते हैं वह जिस किसी बात की भी आशा हमसे करे, वह सब क्या हमें हमेशा करना ही चाहिए? अधिकांश लोग स्वीकार करेंगे कि नहीं, इसके भी कुछ अपवाद हैं। भारत में सामान्यतः लोगों से आशा की जाती है कि वे छोटी उम्र में ही शादी करें और यथासम्भव शीघ्र बच्चे पैदा करें। इसके विरुद्ध स्पष्ट आपत्तियाँ हैं; और शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति पश्चिमी देशों में हो जो विचारशील हिन्दुओं द्वारा इसे दूर करने के प्रयत्न को गलत कहे। इस सम्बन्ध में नैतिक और बौद्धिक परम्पराओं में कोई बहुत अन्तर नहीं दिखाई देता। हमारे देश में, हमारे समय में किसी भी महत्त्वपूर्ण विषय पर लोगों की जो सामान्य रायें हों उनका ज्ञान निश्चय ही अच्छा है, और लापरवाही के साथ उनकी अवहेलना करना अच्छा नहीं है।

पर साथ ही नए प्रकाश के लिए मन के द्वार खुले रखना भी अच्छा है। सामान्य रूप से सही न मानी जाने वाली रायें कायम करने की अपेक्षा जिन सिद्धान्तों को सामान्यतः गलत माना जाता है उनके अनुसार कार्य करने में निश्चित रूप से अधिक खतरा है, चाहे सिद्धान्त की बात हो, चाहे व्यवहार की, उसके बारे में किसी भी व्यक्ति के लिए ऐसे व्यक्तिगत निर्णय स्थिर कर लेना तब तक हमेशा एक नासमझी की बात होगी जब तक कुछ अन्य विश्वसनीय लोग उसके साथ सहमत न हों। अद्वितीय प्रतिभाशाली व्यक्तियों के विरोधाभासों की भी मर्यादा प्रायः सर्वदा निर्धारित करनी होती है। पर सिद्धान्त या व्यवहार के सम्बन्ध में असाधारण मत रखने वाले गुट—जैसे सोसाइटी ऑफ़ फ्रेण्ड्स—कभी-कभी समुदाय में बौद्धिक विक्षोभ उत्पन्न करने में महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं। उनके मतों को सर्व-सामान्य स्वीकृति भले ही न मिले, फिर भी उनके उपदेश या आदर्श प्रगति का कारण बन सकते हैं।

फिर भी, यह बात प्रायः उसी स्थिति में सच होती है जब परम्परा को छोड़कर शिथिलता अपनाने के बजाय वे और अधिक कठोरता की ओर आगे बढ़ते हैं। उदाहरण के लिए, बाल-विवाह प्रायः अनिवार्य रूप से, किसी प्रकार की संगति का कोई अधिक विचार किए बिना ही, करना होता है। यदि विवाह स्थगित कर दिया जाए, सयाने हो जाने पर किया जाए तो विवाह द्वारा जिन मूल्यों की सिद्धि होनी है उन्हें अच्छी तरह समझकर सम्बन्ध जोड़ने में सहायता मिलती है; और यदि हमारा यह विचार सही हो कि मूल्यों की सिद्धि ही परम नैतिक साध्य है तो निश्चय ही यह विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

यह तो बेशक सच है कि आचरण के विषय में जब कभी कोई नई बात करने

के लिए प्रेरित होता है तब कुछ-न-कुछ खेदजनक बात होती है। बौद्धिक तथा कला-विषयक मामलों में तो यह एक स्वीकृत तथ्य है कि इन क्षेत्रों में जो भी व्यक्ति सच-मुच कुछ करता है वही एक नई परिपाटी चलाने वाला होता है। जिसे कुछ नया देना—कहना न हो, जिसके पास देने के लिए कुछ नया न हो, उसे इन क्षेत्रों में काम करने का कोई हक नहीं है किन्तु नैतिक दृष्टि से जो उचित है वह करने का हक तो प्रत्येक व्यक्ति को है, प्रत्येक को उसका प्रयत्न करना है; और काफ़ी हद तक यह भी सही है कि जो कुछ एक के लिए उचित है वह सबके लिए भी उचित है; और जो व्यक्ति यह सोचता है कि उचित-अनुचित का ज्ञान उसे औरों से अधिक है, वह सहज ही मिथ्याभिमान की मालूम होगा। पर जिस देश में गुलाम रखने की परिपाटी रही हो उसमें उन गुलामों को थोड़ी-सी आजादी देने के प्रयत्न में बेशक कुछ भी मिथ्याभिमान नहीं होगा। इसी प्रकार भोजन-भट्ठों के समाज में भिताचार की प्रथाएँ अपनाने में कोई खास नुकसान नहीं होगा। ऐसे उदाहरण और भी दिए जा सकते हैं।

मेरे विचार से ब्रैंडले के कथन का तर्क यह है कि जो व्यक्ति किसी एक सर्व-स्वीकृत नियम को तोड़ने की छूट अपने-आपको देता है वह अन्य अधिक महत्वपूर्ण नियमों को भी तोड़ सकता है। पर क्या यह सच है? क्या यह अधिक सम्भव नहीं है कि जो व्यक्ति अपने देश-काल की नैतिकता पर विचार-विमर्श करता है वह अपने पड़ोसियों के व्यवहार में वास्तव में क्या शुभ है और क्या अल्प-शुभ है, इसका विभेद भी सीख लेगा? जो लोग, किसी भी दृष्टि से, अपने जगत् से अच्छा बनने का प्रयत्न करते हैं वे कम-से-कम लोगों को सोचने के लिए तो बाध्य करते हैं; और इसका परिणाम तो लाभदायक ही होगा।

मुझे तो ऐसा लगता है कि ब्रैंडले के विरोधाभास इसी उद्देश्य से प्रेरित हैं, और अंशतः उचित भी सिद्ध हुए हैं। इसी एक विरोधाभास पर थोड़ा विचार करना शायद उचित ही सिद्ध हुआ है, यद्यपि इस विवेचना में कुछ ऐसी बातें कहनी पड़ीं जो स्वतः इतनी स्पष्ट हैं कि उनका उल्लेख अनावश्यक ही था। तत्त्व की बात तो यह है कि यद्यपि हम एक सामाजिक गुट के सदस्य हैं और गुट में अपनी स्थिति के आधार पर हमारा अपना 'स्थान' और उस स्थान के कर्तव्य भी बहुत-कुछ निर्धारित हो हैं, फिर भी व्यक्ति-रूप में हमारी मानवीय सत्ता समाप्त नहीं हो जाती, 'हम आगा-पीछा सोचते हैं', 'हम विभेद करते हैं, परखते हैं, चुनते हैं, निर्णय करते हैं,' कभी अपने पड़ोसियों की अपेक्षा बुरा काम करते हैं, पर कभी-कभी सम्भवतः उनसे अच्छा भी करते हैं; हम गिरोह के गुलाम नहीं हैं, विचार-विमर्श करने वाले व्यक्ति हैं। पर हाँ, यह भी स्मरण रखना अच्छा होगा कि हम एकाकी नहीं हैं, बल्कि समाज के पथ-प्रदर्शन के और, आवश्यकता पड़े तो, समाज के नियन्त्रण के अधीन हैं।

निस्सन्देह मुझे ऐसा लगता है कि जाति के लोकाचार-सम्बन्धी अपने वक्तव्यों में ब्रैंडले ने कुछ अत्युक्ति की है। किसी जाति के जीवन की अविच्छिन्न धारा पर जोर देने की प्रवृत्ति कभी-कभी होती ही है। वर्ड्सवर्थ अपने सर्वोत्तम कोटि के एक सुनृत (sonnet) में कहते हैं—

‘हम, शेक्सपियर की भाषा बोलने वाले
हम, मिल्टन की श्रद्धा को संजोने वाले
हम, उनके नैतिक आदर्शों में पलने वाले।’

हम या तो स्वाधीन रहेंगे, या मिट जाएँगे, पर यह बात छिपी नहीं रह सकती

1. ‘We must be free or die, who speak the tongue
That Shakespeare spake; the faith and morals hold
Which Milton held.’

कि जिस परिचय का उल्लेख इसमें किया गया है वह भेदों से—अन्तरों से मुक्त नहीं है। यह पूर्णतः सच नहीं है कि हम वही भाषा बोलते हैं जो शेक्सपियर बोलते थे; और यह कहना तो शायद और भी सच नहीं है कि मिल्टन की श्रद्धा अपरिवर्तित रूप में ही बनी हुई है। यह हो सकता है कि उनके नैतिक विश्वास अधिक दृढ़ता से कायम रहे हों; पर कम-से-कम स्वयं मिल्टन के जीवन-काल में वे विश्वास किसी प्रकार भी सर्वस्वीकृत नहीं हो सके थे। अधिक-से-अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि कम-से-कम कहने-भर के लिए जिस ईसाई परम्परा से लोग चिपके हुए थे उसमें वे विश्वास भी निहित थे।

मेरे विचार से ब्रैडले और रशदल—दोनों ने ही इन सब बातों को स्वीकार कर लिया होता। अन्तर शायद केवल जोर देने का है। दोनों ही ओर अत्युक्ति की जा सकती है; इतना स्पष्ट है कि आधुनिक युग में किसी जाति के लोकाचार की व्याख्या शुद्ध राष्ट्रीय अर्थ में नहीं की जा सकती। एक अंग्रेज़—जो भगवान् का भेजा पैगम्बर नहीं है—फ्रांसिसियों, जर्मनी वालों, इटली वालों, भारतीयों अथवा चीनियों से भी कुछ सीख सकता है। स्वयं ब्रैडले ने ही अपनी जाति के लोकाचार की धारणा प्रधानतः हेगेल से प्राप्त की थी। यह हिसाब लगाना सचमुच बहुत कठिन होगा कि इस देश (इंग्लैंड) के अधिकांश शिक्षित लोगों ने यूनानियों, रोमवासियों और यहूदियों से कितना-कुछ सीखा है। बेशक यह कहा जा सकता है कि यह हमारी जाति के लोकाचार का ही एक अंग है कि हम ज्ञान की खोज इन विदेशी क्षेत्रों में भी करते हैं। किन्तु इस प्रकार लोगों को जिस शिक्षा की उपलब्धि होती है उसे उनकी जाति का लोकाचार-मात्र नहीं कहा जा सकता।

जिस देश में व्यक्ति रहता है उसकी सर्वोत्तम परम्पराओं पर जोर देना—विशेषकर नैतिक विक्षोभ के दिनों में—उपादेय हो सकता है; पर लगता है ब्रैडले ने उस पर आवश्यकता से अधिक जोर दे दिया है।¹ सभी व्यक्तियों की प्रज्ञा उचित होती है; और जिन्हें आज सर्वाधिक प्रज्ञावान और सर्वोत्तम माना जाता है वे सब सर्वदा अपनी जातीय परम्पराओं के प्रति सर्वाधिक निष्ठावान नहीं रहे। फिर भी, यह उचित ही है कि नए पैगम्बरों की सतर्कतापूर्वक आलोचना की जाए; और यह भी उचित ही है कि सामान्यतः हम इस बात को स्वीकार करें कि “हमारा यह प्रज्ञावान संसार मुख्यतः ठीक ही है।”

4. मत-परिवर्तन

धार्मिक क्षेत्र में जिसे मत-परिवर्तन कहा जाता था वह हमारे नैतिक विकास की प्रक्रिया में एक सामान्य घटना है। लेखक बनियन की रचना *Pilgrim's Progress* पाठकों के लिए फिर पहले ही जैसी रोचक हो गई है। जिस सभ्यता में हम रह रहे हैं उसे ‘विनाश की नगरी’ मानना कुछ हद तक हम सीख गए हैं; और कवि ब्लेक (Blake) की इस सीख को विश्व-युद्ध ने और भी अधिक जोरदार बना दिया है कि अकलमन्दी के साथ हमें एक नया संसार बनाना है।²

1. यह स्मरण रखना सम्भवतः अच्छा ही होगा कि स्वयं ब्रैडले का अपना ‘स्थान’ जन्म से ही निर्धारित था। और वैसे ही हेगेल का भी स्थान निर्धारित था। पर अधिकांश लोगों को, कम-से-कम आधुनिक पश्चिमी संसार में, अपना उचित स्थान खोजना पड़ता है; और उस स्थान पर उनके विशिष्ट कर्तव्य भी हमेशा स्पष्ट नहीं होते।
2. यूरोप पर लिखी अपनी हाल ही में प्रकाशित पुस्तक ‘Europe’ में Count Keyserling ने इस तथ्य पर बहुत जोर दिया है।

अभिव्यक्ति के अपने परिचित ढंग में हम कह सकते हैं कि यह भावना तब उत्पन्न होती है जब व्यक्ति को इस बात का एहसास होता है कि जिस जगत् में वह रह रहा है उससे उच्चतर जगत् है और उसे उसी जगत् में रहना चाहिए। यह अनुभूति गहनतम तब होती है जब यही उच्चतर जगत् हमारे सामने उच्चतम जगत् के रूप में आता है—अर्थात् यह अनुभूति मुख्य रूप से धार्मिक जीवन में होती है। पर इस अनुभूति के अलावा भी नैतिक जीवन में प्रायः क्रान्ति की स्थिति आया करती है, जिसके फलस्वरूप हम निम्नतर जगत् से एक उच्चतर जगत् में प्रवेश करते हैं। उदाहरण के लिए, ऐसी स्थितियों के क्षण प्रायः वे होते हैं जब व्यक्ति काव्य, या कला, या विज्ञान, या दर्शन के अध्ययन-सर्जन में अपने को न्यूँछावर करने का निर्णय करता है, अथवा जब वह किसी मित्र की मृत्यु का समाचार सुनता है, या सम्पत्ति कमाता है या खो बैठता है, या कॉलेज में प्रवेश करता है या किसी से प्रेम करता है। तब जीवन में एक नया मोड़ आता है; और जो जीवन बीत चुका है, बुद्धि उसकी आलोचना करने लगती है।

धार्मिक जीवन में प्रायः अपने अतीत जीवन के विरुद्ध एक बलवती प्रतिक्रिया होती है, पिछले कार्यों और आदर्शों तक की निन्दा की जाती है, पछतावा और अनुताप होता है। जहाँ प्रतिक्रिया इतनी बलवती नहीं होती वहाँ पिछले निम्न-जीवन के प्रति एक लज्जा का भाव होता है, जिसके साथ प्रायः उन लोगों के प्रति कुछ घृणा का भाव भी मिला रहता है जो अब भी उसी निम्नकोटि के जीवन में पड़े हुए हैं; और इस सबके साथ भविष्य में उच्चतर जीवन बिताने का दृढ़ निश्चय भी होता है। ऐसे अवसरों पर व्यक्ति अत्यधिक आत्म-चेतन होता है। वह शायद डायरी भी रखता है जिसमें अपनी आन्तरिक भावनाएँ लिखता रहता है। संसार के सामान्य व्यवहार से वह कुछ अंशों तक शायद अपने को अलग भी कर लेता है और संसार के सम्बन्ध में उसकी धारणा कुछ सनकी व्यक्ति की-सी हो जाती है।¹ वह कुछ ऐसा सोचने लगता है कि उसने एक नया संसार खोज लिया है जिसे पहले किसी ने भी नहीं खोजा था। ऐसे ही अवसरों पर व्यक्ति का आन्तरिक जीवन विशेष रूप से प्रमुख हो उठता है।

5. अन्तर्भावनाशीलता (Conscientiousness)

इस प्रकार के विशिष्ट अवसरों के अलावा भी, जो व्यक्ति अपने नैतिक आचरण के प्रति सजग रहता है उसके सामने प्रायः ऐसे मौके आते रहते हैं जब उसे अपने आन्तरिक जीवन पर विचार करना होता है—देखना होता है कि उसका आचरण उच्चतम आदर्शों के अनुरूप है या नहीं। कार्लाइल ने विचार या चिन्तन के क्षणों के विरुद्ध कर्म के क्षणों की प्रशंसा की है;² पर व्यावहारिक नैतिक जीवन में इन दोनों को बहुत देर तक अलग नहीं रखा जा सकता। काम कर चुकने के बाद हमें अपनी करतूतों पर विचार करना ही चाहिए, उनकी आलोचना करनी ही चाहिए, इसलिए कि भविष्य में हम उनसे अच्छे काम कर सकें।

अब यह भी समझ लेना चाहिए कि केवल बाह्यतः प्रकट कार्यों की आलोचना करने से ही हम आन्तरिक जीवन में प्रवेश नहीं कर सकेंगे। पर जो व्यक्ति अपने आचरण के प्रति सजग है वह केवल अपने प्रकट आचरण पर ही विचार नहीं करता बल्कि उस आचरण के प्रेरक हेतुओं पर भी विचार करता है।³ प्रेरक हेतुओं पर

1. उदाहरण के लिए देखिए कार्लाइल की *Sartor Resartus*।

2. विशेष रूप से अपने लेख 'Characteristics' में।

3. सामान्यतः हम ऐसा नहीं करते। यद्यपि, जैसा पहले कहा जा चुका है, निर्णय कर्त्ता पर

विचार करने की अभिवृत्ति को ही ग्रीन ने अन्तर्भावनाशीलता कहा है।¹ मुझे सन्देह है कि इस शब्द (Conscientiousness) का यह बिल्कुल सही प्रयोग है या नहीं।² लगता है कि अन्तर्विवेकशीलता का अर्थ केवल बाह्य आचरण के सम्बन्ध में अतिशय सावधानी-भर है। पर, चूंकि दूसरा कोई इससे अच्छा शब्द नहीं है इसलिए ग्रीन के आशय को व्यक्त करने के लिए इसी का प्रयोग हम कर सकते हैं। ग्रीन का कहना है : “व्यक्ति को अपने-आप से यह प्रश्न करना चाहिए—अमुक कार्य को करते समय क्या मेरा हृदय शुद्ध था, मेरी संकल्प-शक्ति क्या उसी लक्ष्य पर केन्द्रित थी जिस पर उसे केन्द्रित होना चाहिए, और क्या मैंने एक भले आदमी की ही भाँति काम किया है ?—अथवा यह पूछना चाहिए : यदि मैं अमुक कार्य करता हूँ तो क्या मेरा आचरण ऐसा होगा जैसा एक भले आदमी का होना चाहिए ?”

यह प्रश्न कुछ भिन्न है इस दूसरे प्रश्न से कि व्यक्ति का कोई कार्य अपने-आप में उचित था या नहीं। यह प्रश्न वास्तव में इस रूप में है कि जो कार्य अपने-आप में उचित है³ उसे करने में मेरी अभिवृत्ति उचित थी या नहीं, अथवा यह कि उसे मैंने अनुचित प्रेरणा से तो नहीं किया ?⁴ यदि कोई व्यक्ति इस प्रकार के प्रश्नों को हल करने में व्यस्त रहता है तो या तो यह उसकी मानसिक विकृति का लक्षण है या इस तथ्य का कि वह अपने जीवन की सच्ची व्यवसाय-वृत्ति नहीं खोज सका; क्योंकि जब व्यक्ति को अपने उपयुक्त कार्य मिल जाता है और वह उसमें दत्तचित्त हो जाता है तब इस प्रकार के सवालों के लिए उसके पास बक्त ही नहीं रहता।⁵ और फिर, यदि व्यक्ति का मन ईमानदार है और साफ़ है तो साधारणतः इस प्रकार के प्रश्नों का

दिया जाता है, किये गए कर्म पर नहीं, फिर भी कर्त्ता का ध्यान साधारणतः किए जानेवाले कर्म पर केन्द्रित रहता है, न कि अपने कर्त्ता-रूप पर।

1. Prolegomena to Ethics के पृ० 269-71 और 323-7 देखिए।
2. Dewey's Outlines of Ethics, पृ० 202 देखिए।
3. अर्थात् एक बाह्यतः प्रकट कार्य के रूप में उचित। कार्य करते समय व्यक्ति की प्रधान चिन्ता यह होती है कि उस कार्य से वांछनीय फल की सिद्धि हो रही है या नहीं। उसके कार्य को परखते समय हम उस प्रेरक हेतु पर विचार करते हैं जिसके कारण वह व्यक्ति उस फल की सिद्धि चाहता है। पर, कार्य करते समय, कर्त्ता सामान्यतः इसका विचार नहीं करता। वह तो केवल करने वाले काम पर नज़र रखता है और उसे पूरा करता है।
4. मुझे सन्देह है कि इस प्रकार प्रेरणाओं की परख करते समय लोग इस शब्द का प्रयोग उसी अशुद्ध अर्थ में करते हैं जिसकी चर्चा ऊपर (पृ० 50 पर) की जा चुकी है। जिन साध्यों के कारण वे कार्य करने के लिए तत्पर होते हैं उनके बजाय लोग उन भावनाओं को प्रेरक मान लेते हैं जो उनके मन में कार्य करने के साथ-साथ उत्पन्न होती हैं। पर, शब्द के शुद्ध अर्थ में भी, प्रेरक हेतुओं की शुद्धता की परख असंगत नहीं है। आगे पृष्ठ 355 की टिप्पणी। और पृष्ठ 360 देखिए।
5. Dewey's Outlines of Ethics, पृ० 201 से तुलना कीजिए। अन्य विषयों की भाँति इस विषय पर भी गोथे ने बड़ी मार्फ़े की बात कही है। एक लड़के का उल्लेख करते हुए, जो अपने एक मामूली-से दोष के कारण अपने को सान्त्वना नहीं दे पा रहा था, वह कहते हैं : “मुझे उस लड़के की स्थिति पर दुःख हुआ, क्योंकि इससे स्पष्ट है कि उसकी अन्तरात्मा छुई-मुई है; वह अपने नैतिक अहम् से इतना अधिक अभिभूत है कि किसी बात को भी क्षमा नहीं कर सकता। ऐसी अन्तर्भावना का सन्तुलन यदि महान् कार्य से न हुआ तो वह व्यक्ति को उन्मादी बना देता है। (Conversations with Eckermann)

उत्तर वह बिना खोज-परख किये ही दे सकता है। फलतः जब कभी कोई व्यक्ति इस प्रकार के प्रश्नों को लेकर उलझता है तो इनका सम्बन्ध उसके किसी एक कार्य-विशेष से नहीं, बल्कि जीवन में उसकी सामान्य अभिवृत्ति से ही होता है।

6. आत्म-परीक्षण

इस प्रकार का आत्म-परीक्षण प्रायः एक नैतिक कर्तव्य-भावना जगने के फल-स्वरूप होता है; पर इस प्रकार का भावोन्मेष न होने पर भी लोग समय-समय पर आत्म-परीक्षण कर सकते हैं। कोई भी व्यक्ति अपने-आपसे यह प्रश्न कर सकता है कि जीवन का जो आदर्श उसने माना है क्या उस आदर्श के स्तर पर ही उसका जीवन बीत रहा है? इस प्रश्न के पूछने का सामान्य अर्थ यह है कि क्या उसके बाह्यतः प्रकट कार्य वैसे ही हैं जैसे होने चाहिए—उसकी स्थिति में जो भी कार्य पूरा करने की आशा उससे थी क्या वह सब उसने पूरा किया है? पर इसका अर्थ अक्सर कुछ और भी होता है। अक्सर व्यक्ति यह भी निश्चित रूप से जानना चाहता है कि उसके आचरण के सामान्य सिद्धान्त उचित हैं या नहीं, हमेशा सर्वोत्तम भावना के साथ और सर्वोत्तम ढंग से काम करने की उसकी आदत है या नहीं—उदाहरण के लिए, वह अपने आचरण में पूर्णतः निरपेक्ष है या नहीं।¹

इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार के प्रश्न पूछना, या कोई कार्य-विशेष किस भावना से किया गया है—इसकी छान-बीन करना प्रायः विकृत बुद्धि के ही लक्षण हैं। व्यक्ति जो लक्ष्य पूरे करना चाहता हो उन्हीं पर उसका ध्यान अधिकांशतः केन्द्रित रहना चाहिए, न कि अपनी आन्तरिक स्थिति पर।² और यदि कोई व्यक्ति अपने कार्यों की परख उस भावना के आधार पर ही करना चाहता हो जिससे प्रेरित होकर कार्य किये गए हों, तो सामान्यतः इसका सर्वोत्तम ढंग यह होगा कि वह किसी आदर्श नैतिक जीवन का अध्ययन करे और उसके मार्ग का अनुसरण करने का प्रयत्न करे, न कि अपने आवेगों और प्रेरक हेतुओं का ही चिन्तन किया करे। इस प्रकार का चिन्तन प्रायः सर्वदा कार्य-शक्ति को कुण्ठित कर देता है और व्यक्ति को अहंवादी बना देता है।

फिर भी, ऐसे मौके आते हैं जब किसी विशिष्ट कार्य के सम्बन्ध में अपने प्रेरक हेतु पर विचार करना लाभदायक होता है, और जब जीवन के सम्बन्ध में अपने

1. इसी प्रकार के प्रश्नों में हमें सदगुणों के आन्तरिक पक्ष का बोध होता है। सदगुण के इस आन्तरिक पक्ष में निहित गुणों—हृदय की शुद्धता आदि—को ही प्रो० डयूरे 'मुख्य सदगुण' कहते हैं। सम्भवतः ग्रीन का यह दायन सच है कि किसी भी सदगुणी कार्य के बाह्य और आन्तरिक पक्ष एक-दूसरे के ठीक समान अनुपात में होते हैं। ग्रीन का कहना है : "इस तथ्य पर सन्देह करने का कोई वास्तविक कारण नहीं है कि किसी भी कार्य के प्रेरक हेतु में निहित शुभ और अशुभ की मात्रा ठीक वही होती है जो उस कार्य के परिणामों में प्रकट हुए और ठीक-ठीक परखे गए शुभ और अशुभ की मात्रा होती है। (Prolegomena to Ethics, चौथा खण्ड, अध्याय 1, अनु० 295 देखिए)। पर वह इस बात को स्वीकार करते हैं कि यह समानुपात केवल सर्वशानियों को ही पूरी तरह दिखाई दे सकता है। हम लोगों को तो किसी स्थिति-विशेष में किया गया कोई काम प्रत्यक्षतः उचित मालूम हो सकता है (जैसे किसी अत्याचारी का बध, संसद द्वारा किसी अधिनियम का पास किया जाना, किसी असहाय विधवा की सहायता आदि), भले ही हमें यह पता न हो कि किस प्रेरक हेतु के कारण वह काम किया गया है।

2. देखिए पृष्ठ 300, टिप्पणी नं० 3।

सामान्य दृष्टिकोण की परीक्षा करना वांछनीय होता है। यह सब आत्मज्ञान का ही अंग है, और यद्यपि, जैसा कार्मार्डल ने कहा है, किसी प्रकार का भी पूर्ण आत्मज्ञान असम्भव है, फिर भी उसकी प्राप्ति का प्रयत्न महत्त्वपूर्ण है।

इसका एक कारण यह है कि जो काम हम करते हैं उसके कारणों का पूरा-पूरा विचार कर सकना हमेशा असम्भव होता है। प्रायः यह आवश्यक होता है कि जीवन में अर्जित अन्तःप्रज्ञा के भरोसे हम आगे बढ़ें। ऐसे अवसरों पर आगे बढ़ने में हम अपने ऊपर कितना भरोसा कर सकते हैं, यह जानना बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। और यह जानने के लिए अपने 'बाधक पापों' के वास्तविक स्वरूप की अन्तर्दृष्टि आवश्यक होती है। यह अन्तर्दृष्टि बाह्य प्रकट कार्यों से नहीं प्राप्त हो सकती। पर इस प्रकार के आत्मज्ञान में गहरे पटनेवाले बहुत कम होते हैं। 'हृदय धोखेवाज होता है' और बहुत सतर्कतापूर्वक उस पर नज़र रखने वाले भी उसके गुह्य प्रकोष्ठों में प्रायः प्रवेश नहीं कर पाते। एक घनिष्ठ मित्र का परामर्श प्रायः व्यक्ति के लिए आत्म-परीक्षण से अधिक सहायक होता है; और आत्म-परीक्षण भी अपने गुप्त प्रेरक हेतुओं के अध्ययन की अपेक्षा अपने कार्यों और अपनी आदतों के अध्ययन में अधिक सफल होता है।

7. आदर्श का अध्ययन

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि अपने आन्तरिक जीवन के विकास के लिए अपने प्रेरक हेतुओं का अध्ययन करने के बजाय किसी बाहरी आदर्श पर ध्यान केन्द्रित करना अधिक लाभदायक है। इस प्रकार के आदर्श प्रायः चुनकर राष्ट्रों और जातियों के अनुकरण के लिए प्रस्तुत किये गए हैं—जैसे बुद्ध, ईसा, सुकरात तथा अनेक रोमन कैथोलिक सन्त। और, कुछ स्तर पर, अनेक वीरों के जीवन-चरित हैं जो न केवल सत्कार्य के बल्कि बुद्धि और हृदय की सद्भूति के भी आदर्श हैं। इसी साध्य की सिद्धि के लिए उपन्यासकारों और कवियों ने काल्पनिक आदर्शों की सृष्टि की है।¹ वास्तव में जिस हृद तक कविता साध्यपरक है उस हृद तक समस्त कविता का यही साध्य है। मुख्य रूप से आन्तरिक पक्ष में जीवन जैसा हो सकता है और जैसा होना चाहिए, उसके उच्च आदर्श प्रस्तुत करने में कविता वेशक 'जीवन की आलोचना' कही जा सकती है।²

8. मुनि-जीवन

आन्तरिक जीवन का अध्ययन चाहे वह प्रत्यक्ष आत्म-परीक्षण द्वारा हो और चाहे आदर्श प्रतिरूपों के चिन्तन द्वारा, कभी-कभी उसके महत्त्व की इतनी तीव्र अनुभूति होती आई है कि स्पष्टतः इसी अध्ययन के उद्देश्य से कुछ लोग अपने-आपको सबसे अलग रखते आए हैं, जैसे पूर्व के रहस्यवादी या कैथोलिक ईसाई मतावलम्बियों की मुनि-परम्परा वाले लोग। सामान्यतः इस प्रकार के श्रम-विभाजन को हमें अवांछनीय ही मानना चाहिए। अराजकता के युगों में इसका कुछ औचित्य रहा, जब अधिकांश

1. 'आदर्शों' की नैतिक और सौन्दर्यपरक सार्थकता के सम्बन्ध में विद्यार्थी को देखना चाहिए Stephen की पुस्तक *Science of Ethics*, पृ० 74-76। बैकन की पुस्तक *De Augmentis*, चौथा खण्ड, अध्याय 3 का भी उल्लेख किया जा सकता है।

2. Goethe's *Wilhelm Meister* के दूसरे खण्ड के अध्याय 2 के उस अंश से तुलना कोजिए जो इन शब्दों के साथ समाप्त होता है : "जिसने हमारे लिए सर्वप्रथम देवताओं की सृष्टि की, जिसने हमें देवत्व के असन पर प्रतिष्ठित किया और देवताओं को जो हमारी बराबरी पर उतार लाया, वह कवि के अलावा और कौन था?"

लोग हिंसापूर्ण कार्यों में इतना अधिक व्यस्त थे कि चिन्तन-मनन के लिए उनके पास समय ही न था। इन युगों में जो लोग चिन्तनशील जीवन बिताते थे वे अपने-अपने समाज के आन्तरिक जीवन का कर्त्तव्य पूरा करते थे। और कुछ पूर्वी देशों का जलवायु शायद ऐसा है कि कर्ममय और चिन्तनमय जीवन साथ-साथ बिताना कठिन हो जाता है।¹ वास्तव में एक मुनि या यति-वर्ग के अस्तित्व का वही औचित्य है जो धार्मिक उपासना के लिए एक दिन अलग निर्धारित कर देने का है।

किन्तु जिस प्रकार उपासना के दिन को सप्ताह के शेष दिनों से एकदम रूढ़ ढंग से अलग कर देने से उपासना केवल एक औपचारिक कर्त्तव्य-पूर्ति मात्र रह जाती है, जिसका वास्तविक व्यवहार से कोई सम्बन्ध नहीं होता, उसी प्रकार जब पुरोहित-वर्ग या यति-वर्ग को शेष समाज से दृढ़तापूर्वक बिल्कुल अलग कर दिया जाता है, तब आन्तरिक जीवन को उसी वर्ग का विशिष्ट क्षेत्र माना जाने लगता है और यह समझा जाता है कि शेष समाज का आन्तरिक जीवन से कोई सरोकार नहीं है।² समाज की सामान्य नैतिकता पर इसका घातक प्रभाव पड़ता है और अन्ततः स्वयं मुनिवर्ग की नैतिकता पर भी इसका दुष्प्रभाव पड़ता है। समाज का कोई भी वर्ग जीवन के केवल आन्तरिक पक्ष पर ही अपना ध्यान सीमित नहीं रख सकता; और यदि ऐसा करने का प्रयत्न किया जाता है तो बहुत जल्दी वह झूठी नैतिकता और दम्भ व मिथ्याचार का रूप ग्रहण कर लेता है। जैसे यह आवश्यक है कि उपासना के दिन भी लौकिक कर्त्तव्य बिल्कुल भुला न दिए जाएँ और न धार्मिक भावना को ही सप्ताह के शेष दिनों के लिए तिलांजलि दे दी जाय, उसी प्रकार यह भी वांछनीय है कि सामान्यतः “भगवान् के सभी बन्दे उसके पैगम्बर बनें,” या कम-से-कम पैगम्बर लोग शेष संसार से पर्याप्त सम्बन्ध बनाए रखें ताकि सांसारिक लोग भी पैगम्बरी भावना का कुछ प्रभाव तो ग्रहण कर ही सकें।

9. सुन्दर आत्माएँ

आन्तरिक जीवन के विकास के उद्देश्य से किसी विशिष्ट वर्ग के पृथक् अस्तित्व

1. देखिए, मार्शल की पुस्तक *Principles of Economics*, पृ० 12।
2. *Arcopagitica* के अनु० 55 में मिल्टन द्वारा दिए गए उस व्यक्ति के रोचक विवरण से तुलना कीजिए, जिसका धर्म ‘a dividuall movable’ बन गया है : “एक सम्पत्तिशाली व्यक्ति को... धर्म इतना उलझा हुआ और इतना निरर्थक-सा व्यापार मालूम होता है कि... इसके भरोसे वह अपनी पूँजी बढ़ाने या कायम रखने की कुशलता नहीं प्राप्त कर सकता... इसलिए इस क्षेत्र में अपना पसीना बहाने का विचार छोड़ देने के अलावा कोई दूसरा फैसला वह नहीं करता। वह ऐसे व्यक्ति को खोजने का फैसला करता है जिसकी रखवाली में और जिसकी साख के भरोसे वह अपने धार्मिक कार्य-व्यापार का सारा प्रबन्ध छोड़ सके। ऐसा व्यक्ति कोई प्रसिद्ध और श्रद्धास्पद धर्मोपदेशक ही होना चाहिए। उसके साथ वह अपनी निष्ठा जोड़ता है; अपने धर्म-व्यापार का सारा मालगोदाम, ताले-चाबियों समेत, उसके संरक्षण में सौंप देता है; और वास्तव में उस व्यक्ति के शरीर को ही अपना धर्म बना लेता है... उसका यह धर्म रात में उसके घर आता है, भगवान् की प्रार्थना करता है; बड़ी उदारता के साथ उसे भोजन कराया जाता है और बड़े आराम से उसे सुला दिया जाता है; सबेरे वह धर्म जगता है, उसे नमस्कार किया जाता है, और तेज मीठी शराब या अन्य कोई सुन्दर सत्कार स्वीकार करने के बाद... यह धर्म आठ बजे, अपने मेजबान या यजमान को दिन-भर अपनी दूकान पर धर्म से मुक्त अपना व्यापार चलाने के लिए आज़ाद छोड़कर, बाहर घूमने निकल जाता है।”

के अलावा, कभी-कभी ऐसे व्यक्ति भी दिखाई देते हैं जो अपने-आपको आन्तरिक जीवन के विकास के लिए ही औरों से अलग कर लेते हैं। ऐसे लोगों को 'सुन्दर आत्माएँ' कहने की परम्परा रही है और गोथे ने अपनी रचना Wilhelm Meister में ऐसी ही एक सुन्दर आत्मा का सुन्दर विवरण दिया है।¹ प्रायः ये ऐसे लोग होते हैं जिन्हें किसी-न-किसी प्रकार जीवन के कर्मक्षेत्र में सक्रिय भाग लेने से रोक दिया जाता है। ऐसे व्यक्तियों के जीवन में प्रायः अद्वितीय सुन्दरता होती है, और उनके प्रभाव के शुभ परिणाम कभी-कभी व्यापक क्षेत्रों पर असर डालते हैं; पर ऐसा विशेष रूप से तभी होता है जब ये लोग सक्रिय जीवन के सम्पर्क से अपने को बिल्कुल अलग नहीं कर लेते। यदि अलग कर लेते हैं तो उनका सारा चिन्तन जीवन के यथार्थ तत्त्व से हीन हो जाता है; उनकी सुन्दर भावनाएँ उन्मादमयी कल्पनाएँ बन जाती हैं; और यदि वे पागल होने से बच जाएँ तो गनीमत समझनी चाहिए।

10. यतित्ववाद (Asceticism)

आन्तरिक जीवन के अध्ययन के साथ सामान्यतः सुख के प्रति घृणा का भाव जुड़ा रहता है। कभी-कभी तो यह घृणा-भाव इस सीमा तक जाता है कि वास्तव में लोग शारीरिक आत्म-ताड़ना भी अंगीकार करते हैं, जैसे भारतीय रहस्यवादी और मध्ययुगीन ईसाई संन्यासी। इस आत्म-ताड़ना का स्पष्ट कारण प्रायः यह विश्वास होता है कि व्यक्ति की यह आत्म-ताड़ना देवताओं को प्रिय है, पर इसका मूलभूत कारण तो शारीरिक वासनाओं का—शरीर का दमन करने की इच्छा ही मालूम होती है। कुछ अंशों तक तो इस प्रकार का दमन किसी प्रकार के भी नैतिक जीवन के लिए अनिवार्य है; पर यतित्ववाद की भूल यह है कि उसमें साधन को ही साध्य बना दिया जाता है।

व्यक्ति की निम्नकोटि की इच्छाओं का दमन आवश्यक है, ताकि बिना किसी प्रकार की बाधा के हम जीवन के उच्चतम साध्यों की सिद्धि में तल्लीन हो सकें। पर यति लोग तो इच्छाओं के दमन को ही साध्य मान बैठते हैं। और तब समस्त प्राकृतिक इच्छाओं के दमन के प्रयत्न में वास्तविक उद्देश्य ही चौपट हो जाता है। व्यक्ति का सारा ध्यान इच्छाओं के विषयों पर ही केन्द्रित रहता है, और एक प्रकार से वह उन विषयों का उसी प्रकार गुलाम हो जाता है जिस प्रकार उन इच्छाओं की पूर्ति में लगा हुआ व्यक्ति उनका गुलाम होता है। जैसा हम पहले कह चुके हैं,² अपनी निम्न-कोटि की इच्छाओं से मुक्ति पाने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि हम किसी उच्चतर विषय में अपना ध्यान केन्द्रित करें। अपने उपयुक्त सजे हुए और खाली मन में ही शैतान क्रमदम रखता है, यदि मन का मन्दिर स्वच्छ और शुभ भावनाओं से भरा है तो उसकी हिम्मत नहीं पड़ती क्रमदम रखने की—“भरी सराय रहीम लखि, आपु पधिक फिरि जाय।”

11. चिन्तनशील जीवन

सब तो यह है कि आन्तरिक जीवन का अध्ययन चिन्तनशील जीवन का ही एक अंग-मात्र है जो कर्मशील जीवन से भिन्न होता है। कर्मशील और चिन्तनशील जीवन का अन्तर प्रत्येक युग में लोगों को प्रभावित करता आया है; और सदा ही विचारकों में से कोई एक को और कोई दूसरे को महत्त्व देता रहा है। अरस्तू चिन्तन-

1. 'सुन्दर आत्मा' की अभिवृत्ति के सम्बन्ध में कुछ विचारोत्तेजक टिप्पणियाँ Caird की पुस्तक Hegel, पृ० 28-31 में मिलेंगी। ब्रेडले की पुस्तक Ethical Studies, पृ० 244-45 की टिप्पणी देखना भी लाभदायक होगा।
2. देखिए खण्ड 2, अध्याय 4, अनु० 2।

शील जीवन को (जिसका अर्थ वह वैज्ञानिक और दार्शनिक सत्य का अन्वेषण मानते थे) व्यावहारिक कर्मशील जीवन की अपेक्षा, जिसमें सामान्य सामाजिक सद्वृत्तियों का व्यवहार होता है, उच्च कोटि का जीवन मानते थे।¹

पूर्व के अनेक रहस्यवादियों और मध्ययुगीन ईसाई सन्तों में भी हमें तत्त्वतः यही दृष्टिकोण दिखाई देता है।² आधुनिक युग में भी बड़े-सर्वथ जैसे लोगों का भी यही दृष्टिकोण था, जो सामान्य श्रम-संघर्ष से दूर भागते थे और प्रकृति के चिन्तन में जिन्हें एक उच्चतर जीवन और प्रसन्न प्रज्ञा की उपलब्धि होती थी। प्रकृति के सम्बन्ध में बड़े-सर्वथ कहते हैं :

“कोष प्रकृति का खुला निरन्तर

बुद्धि-हृदय के तोष के लिए,

प्रज्ञा सहज, स्वास्थ्य कृत निर्भर,

सत्य मुखर प्रसन्नताऽसब पिए;”

और यही विचार, कुछ और अधिक आम-भाषा में तथा घरेलू ढंग से वाल्ट व्हिटमैन के इस कथन में व्यक्त हुआ है, “आवारा घूमता हूँ, और अपनी आत्मा को दावत देता हूँ।” विश्राम और चिन्तन के गुण-गान रस्किन ने भी किए हैं, और विलियम मारिस को तो धरती का स्वर्ग ‘आराम के सौ वर्षों’ में ही दिखाई दिया है जबकि आधुनिक सभ्यता की सारी उखाड़-पछाड़ समाप्त हो चुकी होगी और मनुष्य को प्रकृति के सान्निध्य में अधिक गौरवमय जीवन प्राप्त होगा। इसी प्रकार के विचारों की प्रमुखता इमर्सन और थोरु में भी पाई जाती है। इन सभी का विचार कुछ ऐसा मालूम होता है कि चिन्तनशील जीवन कर्मप्रधान जीवन की अपेक्षा तात्त्विक दृष्टि से उच्चतर जीवन है और यह कि केवल कर्ममय जीवन से किनाराकशी करके ही इस उच्चतर जीवन की उपलब्धि हो सकती है।

दूसरी ओर कार्लाइल के समस्त उपदेशों का एकमात्र मन्त्र था—श्रम; और वह सोफोक्लिज के इस कथन को उद्धृत किया करते थे : “मनुष्य का साध्य कर्म है, न कि विचार”, अथवा अर्नाल्ड के इस कथन को : “विश्राम ! क्या अनन्त विश्राम की स्थिति मुझे मिलेगी नहीं ?” यह दृष्टिकोण ब्राउनिंग के पौरुषमय दर्शन से भी मेल खाता है, जो अनन्त-विश्राम के रूढ़-मत को भी स्वीकार नहीं करते, बल्कि अनन्त-प्रयाण करती हुई अपनी आत्मा को सम्बोधित करके कहते हैं :

“उन्नति करो, आगे बढ़ो, उद्यम करो,

आवाज दो—‘बढ़ते चलो, गति तेज हो,

जैसे यहाँ बसे वहाँ, कुछ कर्म हो, संघर्ष हो’ ?”

1. Ethics, चौथा खण्ड, अध्याय 7 और 8 देखिए।

2. अन्तर (और बड़ा महत्त्वपूर्ण अन्तर) यह है कि अरस्तू सामाजिक कर्तव्य के कर्ममय जीवन को चिन्तनशील जीवन की अनिवार्य आधारभूमि मानते थे। चिन्तनशील जीवन को भी वह एक उच्च-स्तर की कर्मशीलता ही मानते थे, जो एक अच्छे नागरिक के जीवन का फल है।

“She has a world of ready wealth

The mind and heart to bless,

Spontaneous wisdom breathed by health,

Truth breathed by cheerfulness”;

3. “‘Thrive and strive’ cry, ‘Speed ! Fight on, fare ever, there as here !’”

पर सचाई तो यह मालूम होती है कि एक सामान्य स्वस्थ मानव-जीवन के लिए ये दोनों ही पक्ष आवश्यक हैं। कुछ लोग ऊर्जस्वित प्रकृति के होते हैं, जैसे सीज़र या नेपोलियन, जिनमें निरन्तर कर्मशीलता की अथक शक्ति होती है; विश्राम या चिन्तन की जिन्हें बहुत ही कम आवश्यकता होती है। पर ऐसे लोगों की कर्मशीलता प्रायः सर्वाधिक प्रज्ञापूर्ण या लाभदायक नहीं होती। कुछ दूसरे ऐसे होते हैं जिनके जीवन का विशिष्ट उद्देश्य यही मालूम होता है कि वे कर्म-कोलाहल से दूर हटकर भावना और चिन्तन के अन्तर्जगत् से मानव-जाति के लिए शुभ सन्देश लाएं। पर प्रायः ऐसे लोगों के प्रज्ञान में सार्वभौम व्यावहारिकता की कमी होती है, क्योंकि यह व्यावहारिकता जीवन के व्यापक सम्पर्क से ही प्राप्त होती है। बर्ड्सवर्थ और इमर्सन-जैसे व्यक्ति शेक्सपियर और गोथे-जैसे लोगों के समान नहीं होते। पर अधिकांश लोगों के लिए तो कर्म और चिन्तन, निर्माण और मनोरंजन के क्षण, एक के बाद दूसरा, क्रमशः आते रहते हैं। निवृत्ति के समय हम अपने कर्मों की आलोचना करते हैं; कर्ममय जीवन में हम निवृत्ति-काल के विचारों की आलोचना करते हैं। कर्म और चिन्तन नैतिक संस्कृति के व्यायाम और संगीत हैं।¹

12. आन्तरिक और बाह्य जीवन का सम्बन्ध

कुछ अधिक परिकल्पनाशील दृष्टिकोण से विचार करने पर हम बाह्य जीवन के साथ आन्तरिक जीवन का सम्बन्ध नीचे लिखे ढंग से व्यक्त कर सकते हैं। चिन्तन-मुक्त कर्म का जीवन उस जगत् में चल पाता है जिसके साथ अपने-आपको हम एकरूप बना लेते हैं। चिन्तनशील जीवन में हमारा सम्बन्ध और अधिक व्यापक जगत् के साथ स्थापित होता है, वह व्यापक जगत् चाहे हमारे अन्तर्निहित नैतिक आदर्श के रूप में व्यक्त हो, चाहे हमसे बाहर किसी अनुकरणीय आदर्श के रूप में व्यक्त हो, या प्रकृति के सौन्दर्य में, उसकी संकेतात्मकता में, वैज्ञानिक विधान की खोज में या अन्य किसी रूप में व्यक्त हो।

अब चूंकि हम सबका जीवन विकासशील है, या कम-से-कम, नवीन परिस्थितियों के साथ नया सामंजस्य जीवन में हमें करना होता है, इसलिए यह असम्भव है कि जिन सिद्धान्तों पर जीवन आधारित है, समय-समय पर उनका विचार किये बिना ही सफलतापूर्वक जीवन बिताया जा सके। कालमापी यन्त्र की भांति, कुछ समय तक हम भी अपने नैतिक स्रोतों के आवेग के सहारे चल सकते हैं, किन्तु यदि हम स्थायी व्यवस्था चाहते हैं तब तो सितारों के साथ ही सामंजस्य स्थापित करना होगा। दूसरी ओर ऐसा कालमापी यन्त्र भी व्यर्थ ही होगा जिसे हमेशा ठीक ही

1. गोथे की इन पंक्तियों से तुलना कीजिए :

“प्रतिभा होती है विकसित एकान्त में,
और निखरता है चरित्र संघर्ष में।”

“A genius forms itself in solitude;

A character, in struggling with the world.”

यूनानी शिक्षा के दो तत्त्वों के नाम थे ‘संगीत’ और ‘व्यायाम’। संगीत में वह भी शामिल था जिसे ‘विनयरील साहित्य’ कहा जाता था, और भी बहुत-कुछ। प्लेटो ने Republic (खंड 3) में कहा है कि चरित्र के विकास के लिए ये दोनों तत्त्व आवश्यक हैं। देखिए “The Theory of Education in Plato’s Republic” (Hellenica के पृ० 67-180); लेखक हैं Nettleship।

किया जाता रहे और जो कभी चल ही न सके। शुद्ध चिन्तनमूलक जीवन में यथार्थ विषयवस्तु कभी आ ही नहीं सकती। ऐसे जीवन में केवल सिद्धान्त होंगे, ऐसे तथ्य न होंगे जिन पर उन सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाय; और फिर, सिद्धान्तों का विकास ही इन तथ्यों के साथ सम्पर्क होने से होता है। अनुभव द्वारा इन सिद्धान्तों की परीक्षा होती है; और परीक्षा होने पर उनमें सुधार होता है। "सर्वोत्तम व्यक्तियों का निर्माण भूलों से ही होता है"; क्योंकि हमारे आचरण की भूलें ही हमारे सिद्धान्तों के दोषों को स्पष्ट करती हैं और यह बताती हैं कि उनमें कहाँ-कहाँ सुधार किया जाना चाहिए?¹

तो इस प्रकार प्रत्येक नैतिक जीवन के ये दो पक्ष हैं। एक ओर तो यह सोचना भूल है कि जीवन का सारा महत्त्व केवल बाह्य कर्मों में ही है। केवल बाह्य कर्म तो हमारे जीवन का वह पूर्ण अंश भी नहीं है जो हमारे सम्पर्क में आनेवाले लोगों को प्रभावित करता है। इमर्सन का कथन है: "लोग कल्पना करते हैं कि केवल बाह्यतः प्रकट कर्मों से ही वे अपने सद्गुणों और दुर्गुणों का संचार करते हैं, और यह नहीं समझते कि सद्गुण और दुर्गुण प्रतिक्षण अपना संचार करते रहते हैं।" निस्सन्देह इसका वास्तविक अर्थ यही है कि बाह्यतः कर्म बिल्कुल एक ही जैसा मालूम होते हुए भी सद्गुणी व्यक्ति का कार्य दुर्गुणी व्यक्ति के कार्य से कुछ भिन्न होता है। अरस्तू की शब्दावली में कहें तो कहना होगा कि आन्तरिक जीवन का सौन्दर्य 'स्वतः प्रकाशित' होता है, इसीलिए हृदय को शुद्ध रखने की महत्ता है।

दूसरी ओर यह सोचना भी गलत है कि हमें हमेशा अपने आन्तरिक प्रेरक हेतुओं पर अँगुली उठाते रहना चाहिए। यदि हम ऐसा करेंगे तो हमेशा उनमें कुछ-न-कुछ औचित्य पाएँगे ही। क्षणिक आवेग अनन्त आदर्श की गरिमा तक कभी उठ ही नहीं सकते; और जितना ही ज्यादा उन पर नज़र रखी जाएगी, उतनी ही कम उनके ऊपर उठने की सम्भावना होती जाएगी। अगर हम इस बात का इत्मीनान कर लें कि हमारा बाह्य प्रकट कार्य बिल्कुल उचित है, तो बहुत जल्दी उचित प्रेरणा हमारी आदत बन जाएगी;² और मनुष्य के अभ्यासगत प्रेरक हेतु ही महत्त्वपूर्ण होते हैं, न कि किसी कार्य-विशेष के प्रेरक-हेतु।

1. जीवन की भूलों की आवश्यकता के सम्बन्ध में प्रचलित मत में जो सत्य का अंश है उसका मूल यही है। देखिए पृष्ठ 316।
2. तीसरे खण्ड के तीसरे अध्याय में कुछ कहा जा चुका है उसका यह अर्थ लगाया जा सकता है कि यदि हम संकल्पपूर्वक अपने-आपको शुभ कार्यों में प्रवृत्त रखते हैं तो उन कार्यों का प्रेरक हेतु भी अवश्य ही शुभ होगा। मगर यह बात केवल अंशतः सत्य है। यदि कोई राजमर्मज्ञ निरन्तर लाभदायक कानूनों को ही पास करने में लगा रहता है तो इसका कारण यही होना चाहिए कि अपने देश के कल्याण को वह अपने प्रेरक हेतु का एक अंग मानता है। पर हो सकता है कि अपनी व्यक्तिगत ख्याति की इच्छा या किसी प्रतिद्वन्दी को नीचा दिखाने की भावना भी उसे प्रभावित कर रही हो। शायद ही कभी किसी व्यक्ति को इस बात का पूरा विश्वास हो सके कि जिस कार्य को अपने-आप में ही वह स्पष्ट रूप से वांछनीय मानता है उसके करने में इस प्रकार का कोई भी निम्नकोटि का प्रलोभन उसकी प्रेरणा का अंग नहीं है। पर सर्वोत्तम व्यावहारिक मार्ग यही है कि जिन कार्यों को हम वांछनीय समझते हैं उनके करने का अपने-आपको अभ्यस्त बना लें, आदत डाल लें। ऐसा करने से हम अपने-आपको उस 'संसार' के दृष्टिकोण का अभ्यस्त बना लेते हैं जिसमें कार्य शुभ होते हैं। व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा और व्यक्तिगत द्वेष के निम्नतर संसार को हम भूल जाते हैं; और उसे भूल

13. सद्गुणी व्यक्ति और संसार

यदि हमारा जीवन कर्ममय और चिन्तनशील दोनों ही होना है तो फिर उसे एक प्रकार से सांसारिक और असांसारिक दोनों ही होना पड़ेगा। कर्ममय जीवन तो संसार और संसार के तौर-तरीकों से दूर भागनेवाला जीवन नहीं हो सकता; किन्तु जो व्यक्ति अपने चिन्तन के आधार पर अपना मार्ग निर्धारित करता है वह संसार के झोंके में नहीं बहेगा। जो व्यक्ति केवल चिन्तनशील है और कर्मरत नहीं है उसे कभी-कभी 'अतिशय अन्तर्विवेकी' कहा जाता है।¹ यह उपाधि कभी-कभी 'सांसारिक लोगों' के पूर्वाग्रह को ही व्यक्त करती है; किन्तु प्रायः यह व्यक्ति के चरित्र में निर्णायक शक्ति की वास्तविक कमी का लक्षण होती है—जैसी कमी हेमलेट के चरित्र में थी, अथवा जिन सीमाओं के भीतर हमें अपना नैतिक जीवन बिताना होता है उनको समझ सकने की कमी का संकेत करती है।² इसी प्रकार के व्यक्ति के लिए कभी-कभी कहा जाता है कि वह "इतना भला है कि किसी काम के लायक नहीं है।"

दूसरी ओर अधिकतर लोगों द्वारा की जानेवाली भूल यह है कि जिन समाज में हम अपने-आपको पाते हैं उसी की सीमाओं में अपने जीवन को बन्दी बना देते हैं और बुराई करने में भीड़ का अनुसरण करते हैं। अच्छा व्यक्ति अपने-आपको अपने पर्यावरण के अनुकूल बनाता जरूर है, पर साथ ही अपने पर्यावरण को सुधारने का, उसे और अच्छा बनाने का प्रयत्न भी करता है। वह केवल अपने-आपको 'सांसारिक कलुष से मुक्त' रखने का ही प्रयत्न नहीं करता, बल्कि संसार को भी कलुष-मुक्त करने का प्रयत्न करता है। एक अर्थ में इस प्रकार का व्यक्ति 'सांसारिक व्यक्ति' नहीं कहा जाएगा। ऐसे सिद्धान्तों के आलोक में वह अपना जीवन-पथ निमित्त करता है जो उसके चारों तरफ हो रहे कार्यों में पूरी तरह अभिव्यक्त नहीं होते। पर वह अपने-आपको संसार से विरक्त नहीं करता, अपने संसार के कार्यकलापों में भाग लेने से इन्कार नहीं करता। मिल्टन के प्रति लिखे गए अपने सुनृत (Sonnet) में बर्ड्स-वर्य ने सद्गुणी व्यक्ति की इसी अभिवृत्ति का चुटीला वर्णन किया है³ जिसमें

जाने पर हम क्रमशः उसके जीवन से भी मुक्त हो जाते हैं। अपने वस्तुनिष्ठ साध्य के शुद्ध हित-साधन में ही हम अपने-आपको खो देते हैं; और यही सर्वोच्च प्रेरक हेतु है—अर्थात् यह मान्यता कि हमारा वस्तुनिष्ठ साध्य वास्तव में वाञ्छनीय है, मानव-प्रगति का एक तत्त्व है।

1. देखिए Green की *Prolegomena to Ethics*, पृ० 323 और Dewey की *Outlines of Ethics*, पृ० 201।
2. जूलियस सीजर के सम्बन्ध में अपनी पुस्तक (Caesar, पृ० 339) में Froude कहते हैं : "तथ्यों को यथावत् स्वीकार कर लेना उसकी आदत थी और जब उसे विश्वास हो जाता था कि उसका उद्देश्य उचित है तब उसकी प्राप्ति का जो भी उपाय सामने आता, उसे अपना लेता था।" कोई भी अत्यन्त अन्तर्विवेकी व्यक्ति शायद ही कभी ऐसा करना मंजूर करेगा; और इसलिए उसमें 'संकल्प-शक्ति' की कमी होती है। चिन्तन की आदत से उत्पन्न अनिर्णय की प्रवृत्ति से डेस्कार्टेस (Descartes) इतना डरते थे कि उन्होंने अपने लिए यह एक विशिष्ट व्यावहारिक नियम बना रखा था। एक बार किसी भी आचरण को सर्वोत्तम मान लेने पर फिर वह उसे कार्यरूप में लाने से नहीं हिचकते थे। देखिए उनकी पुस्तक *Discourse on Method*, भाग 3 (Veitch कृत अनुवाद, पृ० 25)।
3. *Areopagitica* में स्वयं मिल्टन की इस जोरदार घोषणा से जुलना कीजिए : "संसार से दूर भागने वाले, एकान्त आश्रमवासी सद्गुण की प्रशंसा में नहीं कर सकता जो आचरण में

वह मिल्टन की संसार से दूर रहने की भावना और सेवा-तत्परता दोनों को व्यक्त करते हैं :

¹ "आत्मा तुम्हारी रही ज्योतिर्मय तारा-सी दूर-दूर धरती से;
..... हृदय तुम्हारा किन्तु
अंगीकार करता रहा स्वेच्छा से निम्नतम कर्त्तव्य धरती के।"

14. नैतिक सुधारक

यह दोहरी अभिवृत्ति महान् नैतिक सुधारकों के जीवन में सम्भवतः सबसे अधिक दिखाई देती है। निस्सन्देह प्रत्येक भला आदमी एक छोटे पैमाने पर नैतिक सुधारक होता है; पर जाति के इतिहास में कभी-कभी कोई ऐसा व्यक्ति उत्पन्न होता है जो नैतिक जीवन के नवीन आदर्श प्रतिष्ठित करता है और कुछ अंशों में लोगों को उन आदर्शों को अंगीकार करने के लिए प्रेरित करता है; और इस प्रकार वह मानव-जाति के सामान्य नैतिक विचारों को आगे बढ़ाता है। इस प्रकार के सुधारक हैं बुद्ध, सुकरात और ईसा।

ऐसे सुधारक प्रायः वे लोग होते हैं जिन्हें अपनी जाति के नैतिक जीवन का गम्भीर ज्ञान होता है, और उस नैतिक जीवन पर चिन्तन-मनन करके जो उसकी सीमाओं से ऊपर उठ जाते हैं। सुकरात से बढ़कर अच्छा नागरिक यूनान में नहीं था, अपनी जन्मभूमि से अन्य किसी को भी सुकरात से ज्यादा प्रेम नहीं था, नागरिक कर्त्तव्यों के पालन में उनसे अधिक उत्साही दूसरा नहीं था, जातीय रीति-रिवाजों और परम्पराओं से किसी की भी उनसे ज्यादा आत्मीयता नहीं थी।² पर वह इस सबसे भी कुछ ज्यादा थे। उनके जीवन में सूक्ष्म भाव-विमर्श की भी घड़ियाँ आती थीं; इन घड़ियों में वह अपनी जाति की नैतिक परम्पराओं की तह में पैठकर उन मूल सिद्धान्तों की परीक्षा करते थे जिन पर ये परम्पराएँ आधारित थीं। इसी विमर्शमूलक परीक्षण ने उन्हें यह शक्ति दी कि वह यूनानी नैतिकता की सीमाओं से ऊपर उठ सके तथा कर्त्तव्य-सम्बन्धी और अधिक गम्भीर अवधारणाओं का मार्ग प्रशस्त कर सके।

इसी प्रकार ईसा भी कोई यति या एकान्तवासी संन्यासी नहीं थे। वह सामान्य भूख-प्यास वाले आदमी थे और अपनी जाति के विचारों और उसकी आदतों से परिचित थे—उनके भी विचारों और अभ्यासों को जानते थे जिन्हें जाति से बहिष्कृत माना जाता था। पर ईसा की भी अपनी एकान्त की घड़ियाँ थीं, जब उन्हें जंगलों, पर्वतों का सन्देश अपने पास एकान्त में आने के लिए आकर्षित करता था। जीवन में सक्रिय सहयोग और उससे परे विमर्शमूलक एकान्त—इन दोनों के समन्वय से ही वह अपनी जाति की नैतिकता का सार-तत्त्व निकालने में समर्थ हो सके, और इस सार-तत्त्व को समझ-बूझ लेने पर उस नैतिकता को ऐसे गम्भीर-गहरे आधार पर प्रतिष्ठित कर

व्यवहृत न हो, सक्रिय जीवन में जो साँस न ले सके, सुले जीवन में बाहर आकर जो विरोधी से लोहा न ले, बल्कि उस मानव-जाति से किनाराकशी करे, जो जीवन की अमर वैजयन्ती की दौड़, धूल और धूप से भरे पथ पर दौड़ती है।" बेकन की De Augmentis खण्ड 7, अध्याय 1 भी देखिए।

1. "Thy soul was like a star and dwelt apart;

.....And yet thy heart
The lowliest duties on herself did lay."

2. जैलर Zeller, लिखित Socrates and the Socratic School, भाग 2, अध्याय 5-देखिए।

सके जिसने उसे आधुनिक सम्य संसार की नैतिकता बनने की योग्यता प्रदान की।

यही बात अधिकांश महान् नैतिक सुधारकों पर लागू होती है। एक अर्थ में वे अपने युग और अपनी जाति को सच्चा आत्म-बोध देते हैं। युग और जाति के अन्तर्विवेक में जो अस्पष्ट आलोड़न-उद्वेलन होते हैं उन्हें वे स्पष्ट कर देते हैं। कभी-कभी वे कुछ ऐसी स्थापनाएँ करते हैं जो बिल्कुल नई और युग की समूची भावना के प्रतिकूल होती हैं; और इसका परिणाम यह होता है कि उन्हें अपने विश्वासों के लिए बलिदान हो जाना पड़ता है, जैसे सुकरात और ईसा, दोनों को होना पड़ा। और प्रायः मूसा की भाँति ये लोग निस्सन्देह एक नया जीवन-विधान स्वर्ग से लाते हैं। पर यह नया विधान प्रायः सर्वदा उनके युग की प्रचलित नैतिकता में निहित रहता है। वे तो केवल उस नैतिकता की अधिक सतर्कता और दृढ़तापूर्वक व्याख्या करते हैं, आत्म-विरोधों से मुक्त करके उसके आधारभूत मूल सिद्धान्तों पर उसे फिर से प्रतिष्ठित करते हैं।¹ जब कभी वे इससे भी कुछ अधिक करने की कोशिश करते हैं तब शायद ही कभी उनका कार्य पूर्ण रूप से कल्याणकारी हो पाता है। वह इतना ज्यादा हवाई हो जाता है, वास्तविक स्थितियों में उसका इतना कम सम्बन्ध रह जाता है कि उसका कोई व्यावहारिक प्रभाव नहीं पड़ता।

आधुनिक युग के अपने महान् नैतिक सुधारकों, कार्लाइल और रस्किन को, तथा इनसे भी अधिक टालस्टाय को, हम यह दोष देने का साहस शायद कर सकते हैं कि उन्होंने अपने युग की भावना के सर्वोत्तम तत्त्वों को समझने का बहुत ही कम प्रयत्न किया, और इसीलिए उनके द्वारा की गई आलोचना और फटकार भैम के आगे बौन बजाने वाली कहावत ही सिद्ध हुई; वह सब बाहर से लगाया गया दोषारोपण ही रह गया, आन्तरिक आलोचना न बन सका। पर ऐसा कहना भी केवल आंशिक सत्य होगा। सम्यक् रूप से कार्लाइल और रस्किन नैतिक सुधारकों की सामान्य प्रकृति के अपवाद तो नहीं थे। उनके युग में जो कुछ सर्वोत्तम था उसका बहुत-कुछ अंश उनकी कृतियों में सबसे सुन्दर ढंग से व्यक्त हुआ है और उनकी आलोचनाएँ अधिकांश रूप में आलोच्य विषय पर सटीक बैठती हैं। कुछ हद तक इन आलोचनाओं को हम उस युग का आत्मालोचन कह सकते हैं। उसी युग के सिद्धान्तों की शुद्ध व्याख्या द्वारा उस युग को उन्होंने अपराधी सिद्ध किया था। सम्भवतः इसी प्रकार की आलोचना स्थायी रूप से कल्याणकारी होती है। और अधिक आधुनिक उदाहरणों की चर्चा करना शायद कुछ मनोमालिन्य उत्पन्न करे।

1. देखिए ग्रीन की पुस्तक, *Prolegomena to Ethics*, पृ० 323-30। म्यूरेड की पुस्तक *Elements of Ethics*, पृ० 253-54 और ड्यूई की पुस्तक *Outlines of Ethics*, पृ० 189-90।

नैतिक विकृति-निदान

1. नैतिक विकृति

अभी तक हमने चरित्र और सामाजिक कार्य-कलाप के शुभत्व और पूर्णत्व की ओर नैतिक जीवन के विकास पर ही विचार किया है। नैतिक जीवन का यह भावात्मक पक्ष है। हमें अब कुछ विवेचन उसके धुंधले पक्षों का भी करना चाहिए। मनुष्य का जीवन सद्गुण और पवित्रता की सिद्धि का सीधा-सरल संघर्ष मात्र नहीं है। दुर्गुण और पाप की ओर भी मनुष्य के पैर बहुत काफ़ी फिसलते हैं। अभी तक हमने जीवन के इस पक्ष की अवहेलना की है, पर अब हमें इस पर कुछ विचार करना चाहिए।

जैसा कि हम देख चुके हैं, प्रत्येक व्यक्ति के नैतिक जीवन को स्वतः एक जगत् माना जा सकता है। यह जगत् व्यापक भी हो सकता है और संकीर्ण भी। अधिकतर लोगों के सम्बन्ध में तो यह जगत् इतना संकीर्ण होता है कि अनेक मानव-हित उसके बाहर ही रह जाते हैं—उसमें समा नहीं पाते। यह संकीर्णता संघर्ष का स्रोत है। इसी के कारण व्यक्ति का शुभ मानव-जाति के सामान्य शुभ के विरुद्ध दिखाई देता है।

एक अर्थ में कोई भी व्यक्ति कभी भी ऐसी किसी चीज़ की इच्छा या खोज नहीं करता जिसे वह शुभ नहीं समझता। बुराई को बुराई के रूप में कभी कोई नहीं चाहता; उसे जब भी कभी कोई चाहता है तब विशिष्ट परिस्थितियों के अधीन शुभ मानकर चाहता है।¹ पर यह शुभ केवल उस विशिष्ट क्षण के लिए उस सम्बन्धित

1. जिन तमाम कामों को आज हम बुराई या दुर्गुण मानते हैं, किसी समय उन्हें दुर्गुण बिलकुल नहीं माना जाता था। वे कार्य सम्यता के एक ऐसे निम्नतर स्तर के—एक निम्नतर जगत् के सद्गुण हैं जिसका हम अतिक्रमण कर चुके हैं, पर जिसमें अभी तक कुछ लोग पड़े हुए हैं। इसी बात को प्रो० अलेक्जेंडर (Moral Order and Progress के पृ० 307 पर) इस प्रकार कहते हैं : “हत्या, भ्रूण और चोरी उस युग की गहिरी विरासत है जब ये सब कृत्य वैध थे; जब अपने कबीले के अलावा और लोगों की हत्या करना गौरव की बात थी, जब अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए निस्संकोच भ्रूण बोला जाता था और जब सम्पत्ति सीमित और मिली-जुली थी।”

इस सम्बन्ध में वेन्थम ने ओडिसी (Odyssey) के एक अंश (III, 70 Sq.) का उल्लेख किया है जिसमें टेलेमैकस ने सन्नतापूर्वक पूछा जाता है, “आपका पेशा क्या है? संयोगवश आप समुद्री डाकू हैं या कुछ और?” अरस्तू के ग्रंथ Politics (I, VIII, 7,8) में मछुओं, शिकारियों आदि के साथ समुद्री डाकूओं का भी उल्लेख उस मजदूर-वर्ग में किया गया है जो बिना फुटकर व्यापार के ही जीवन-यापन करता है। स्पार्टा में भी चोरी करना अपमानजनक नहीं माना जाता था, यद्यपि पकड़ा जाना अपमानजनक था। तुलना कीजिए, मूरहेड की Elements of Ethics, पृ० 232-33 से और हैस्टिंग्स की Ency-

जगत् का ही शुभ होता है। यह शुभ तो स्वयं उस व्यक्ति द्वारा अपने पूरे जीवन पर विचार करके निर्धारित किया जानेवाला उसका अपना शुभ भी नहीं हो सकता; और सामान्य शुभ के साथ उसकी एकरूपता या संगति हो तो निश्चित रूप से और भी कम होगी। यह शुभ एक अत्यन्त संकीर्ण जगत् का शुभ हो सकता है—एक ऐसे व्यक्ति के जगत् का शुभ जो उस तर्कनापरक दृष्टिकोण तक पहुँचने का कोई प्रयास ही नहीं कर रहा, जिसमें पहुँचने पर ही सच्ची स्वाधीनता प्राप्त हो सकती है, जो अपने आवेगों-आवेशों और पाशव प्रवृत्तियों का दास रहकर 'सुगम दासता को दुर्गम स्वाधीनता की अपेक्षा' अधिक पसन्द करता है।

सचमुच ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जिनमें सामान्य शुभ का विरोध अपने-आपमें व्यक्ति के लिए एक साध्य-सा बन जाता है; मिल्टन के शैतान (Satan) की भाँति, जिनमें व्यक्ति यह कहने को प्रवृत्त हो जाता है—'बुराई, तू ही मेरे लिए अच्छाई बन।' जिस व्यक्ति ने समाज के हित और शुभ को अपने हित और शुभ के साथ एकरूप बनाना नहीं सीखा उसे सामाजिक कर्त्तव्य निरन्तर एक बाधा माँसूम होते हैं; और इस प्रकार वह सामाजिक कर्त्तव्य के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए प्रेरित होता है।¹ अपने हित से भिन्न बाहरी संकीर्ण हितों को जिस आसानी से वह अलग हटा देता है उस आसानी से सामाजिक कर्त्तव्य को नहीं। समाज की व्याप्ति अधिक होती है और उसका अपना वृत्त उसी में समाया रहता है। इसलिए या तो उसे अपने-आपको समाज के साथ एकरूप बनाना होता है या फिर उससे संघर्ष करना पड़ता है। समाज के विरुद्ध यह संघर्ष जिस रूप में मिल्टन के शैतान में या शेक्सपियर के 'Timon of Athens' में चित्रित किया गया है उस रूप में तो शायद ही कभी सचमुच छिड़ता हो, पर छोटे पैमाने पर यह संघर्ष हमें बच्चों की हठभरी शैतानी में अथवा पर-अपवाद में मिलनेवाली असामाजिक प्रसन्नता में दिखाई देता है।

सामाजिक शुभ के विरुद्ध इस प्रकार के संघर्ष के अलावा भी, उत्तम कोटि के व्यक्तियों में भी कभी-कभी 'उनके गुणों की त्रुटियाँ' दिखाई देती हैं, अर्थात् जिस विशिष्ट प्रकार के जगत् में वे लोग रहते हैं उसकी सीमाएँ लक्षित होती हैं; और जितना ही अधिक सुनिश्चित वह जगत् होगा उतनी ही अधिक स्पष्ट वे त्रुटियाँ होंगी। हठ मौलिक चरित्रवाले व्यक्तियों में दिखाई देनेवाली कमियाँ प्रायः इसी कारण होती हैं। एक दुर्बल चरित्र वाले व्यक्ति की कोई निश्चित सीमाएँ होती ही नहीं। वह तो अनेक जगत् की सीमाओं पर अस्पष्ट रूप से मँडराया करता है, उसका अपना कोई स्पष्ट जगत् होता ही नहीं। उसके जीवन में विध्यात्मक कुछ है ही नहीं, इसलिए निषेधात्मक भी कुछ नहीं होता। जिस किसी भी जगत् के सम्पर्क में वह आता है,

clopaedia of Religion and Ethics में छपे 'Aryan Religion' से। इस प्रकार अन्य आधुनिक उदाहरण हैं भारत के ठग और कल्लड़, जो, लगता है, हत्या और ठगी को गौरवमय कार्य मानते हैं। पर हो सकता है कि अनतिदूर भविष्य में औद्योगिक प्रतियोगिता-सम्बन्धी हमारे कुछ तरीके और निम्नजातियों के साथ हमारा व्यवहार भी इसी प्रकार निन्दनीय माना जाय।

1. तुलना कीजिए, शेक्सपियर के किंग रिचार्ड तृतीय की इन पंक्तियों से :

“इसलिए, इन बहुप्रशंसित शुभ दिनों से प्रेम कर

जब न इनकी बन्दना-अभ्यर्थना मैं कर सका,

तब किया संकल्प—खल बनकर, अलस

सुखों से युग के घृणा करता चला ।”

गिरगिट की तरह, उसी का रंग धारण कर लेता है। इसलिए इसकी सम्भावना ही नहीं होती कि इस प्रकार का व्यक्ति अपने सामाजिक परिवेश के किसी भी नियम का कोई बड़ा गम्भीर उल्लंघन करे। वह तो अपनी 'निर्दोषिता में ही सदोष' होगा; निश्चित रूप से समय की लहरों पर तैरेगा, क्योंकि उसका अपना कोई लक्ष्य तो है ही नहीं; हवा के झोंके और काल-जलधि की लहरें जिधर ले जाएँ, उधर ही निश्चित चला जाएगा। ऐसे ही लोगों पर यह कहावत लागू होती है कि "भाग्य मूर्खों का ही साथ देता है।" पोप के शब्दों में जिस व्यक्ति का 'कोई चरित्र ही नहीं है' उसमें कोई किसी प्रकार का दोष नहीं निकाल सकता।

इसके विपरीत जिस व्यक्ति का किसी भी दिशा में एक दृढ़ चरित्र है उसमें, सामान्यतः इस दृढ़ता के साथ-साथ कोई दुर्बलता भी होती है। उसका अपना जगत् एक निश्चित दायरे में होता है और एक पूर्ण नैतिक जीवन के अनेक तत्त्व उसके बाहर रह जाते हैं। इस प्रकार कोमल भावनाओं और उच्च आकांक्षाओं वाले एक महान् कवि में दृढ़ संकल्प-शक्ति की ओर अधिक परम्परागत नैतिक नियमों का ध्यान रखने की कमी होती है। एक महान् सुधारक में दूसरों की दुर्बलताओं का ध्यान न रखने की प्रवृत्ति होती है और कभी-कभी वह अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए साधनों को चुनने में निस्संकोच अविवेकपूर्ण मार्ग अंगीकार करता है। महान् सार्वजनिक सफलताओं में लगा हुआ व्यक्ति, सुकरात की भाँति, प्रायः अपने पारिवारिक जीवन में असफल होता है। यही हालत अन्य अनेक लोगों की होती है। इसलिए व्यक्तियों के सम्बन्ध में नैतिक निर्णय देते समय यह बहुत ही जरूरी होता है कि न केवल उनकी वृत्तियों व असफलताओं पर विचार किया जाय बल्कि उनकी सफलताओं और उनके प्रयत्नों पर भी विचार किया जाय।¹ व्यक्ति के पाप उसके सद्गुणों की छाया ही होते हैं, और यद्यपि पारदर्शी स्पष्ट शुभत्व वाले जीवन की कोई छाया नहीं होती, फिर भी जब तक लोगों की पहुँच ऐसे शुभत्व तक नहीं होती, तब तक प्रबलतम सद्गुणों की छाया भी सबसे ज्यादा गहरी-काली होगी।

2. दुर्गुण

नैतिक दुर्गुणों पर या तो आन्तरिक पक्ष से विचार किया जा सकता है, या बाह्य पक्ष से—या तो उन्हें चरित्र के दोष माना जा सकता है या उन्हें बुरे कर्मों के रूप में व्यक्त होते देखा जा सकता है। आन्तरिक दृष्टि से इन दोषों को हम दुर्गुण कह सकते हैं—क्योंकि दुर्गुण² शब्द सद्गुण के वजन का है और इससे बाह्य कर्म की अपेक्षा चरित्र के आन्तरिक कलुष की ही अधिक अभिव्यक्ति होती है। बाह्य पक्ष से हम दोषों को पाप और अपराध कह सकते हैं।

बाह्य पक्ष की अपेक्षा आन्तरिक पक्ष अधिक व्यापक है; क्योंकि आन्तरिक

1. बर्न्स पर लिखे गए कार्लाइल के निबन्ध से तुलना कीजिए : "माना कि बन्दरगाह लौटकर आते हुए जहाज का पाल, रस्ने आदि सब टूट-फूट चुके हैं; माना कि मार्गदर्शक चालक दोषी है, वह सर्वश्रेष्ठ और सर्वशक्तिमान नहीं रहा; पर यह निश्चित करने के लिए कि वह कितना दोषी है यह जानना सबसे पहले जरूरी है कि वह सातों समुद्रों की यात्रा करके लौटा है या केवल शाम को सागर पर-हवाखोरी करके।"
2. दुर्गुण का समानार्थी अंग्रेजी का vice शब्द लैटिन के vitium से बना है, जिसका अर्थ है दोष या कलंक। Sin (पाप) शब्द उस धातु से बना है जिसका अर्थ है शुभत्व का उल्लंघन। समानार्थी यूनानी शब्द का अर्थ है भूल-चूक। Crime (अपराध) शब्द लैटिन के crimen से बना है, जिसका अर्थ है अनियोग या निर्णय।

चरित्र के कलुष काफ़ी हद तक छिपाए जा सकते हैं और बुरे कर्मों में वे सब निश्चित रूप से व्यक्त भी नहीं होते—यद्यपि हमारे बाह्य कर्मों पर अपनी काली छाया डालने में वे शायद ही कभी चूकते हों। बाह्य कर्मों की बुराई पर हम जितनी कड़ी नज़र रखते हैं, उतनी कड़ी नज़र हृदय में छिपी बुराई पर भी रखने की सीख हमें मुख्यरूप से ईसाई मत ने दी है।¹ दिखावटी दृष्टिकोण में केवल कर्मों की बुराई पर नज़र रखने को ही अधिक महत्त्व दिया जाता है। “जो व्यक्ति वासना की दृष्टि से किसी रमणी की ओर देखता है वह पहले ही उसके साथ मानसिक व्यभिचार कर चुका।” इस प्रकार की उक्तियों ने नैतिकता की धारणा को और अधिक व्यापक बना दिया। इसी प्रकार जब यह स्वीकार किया गया कि बाहर से शुभ होते हुए भी कोई कार्य, यदि उसका प्रेरक हेतु उच्चतम या शुभ न हो, वास्तव में अशुभ या बुरा हो सकता है, तब नैतिकता की धारणा और भी अधिक गहराई तक जा पहुँची। “जो कुछ भी निष्ठा या श्रद्धा-प्रसूत नहीं है, वह पाप है।”² इसी दृष्टिकोण से कुछ प्रारम्भिक ईसाई लेखकों ने स्वर्ग के सद्गुणों को ‘श्रेष्ठ दुर्गुण’³ कहा है।

यदि दुर्गुणों का वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया जाय तो स्वभावतः वह सद्गुणों के वर्गीकरण के अनुरूप ही होगा। इस प्रकार दुर्गुणों के भेद होंगे—सुखों की लालसा के सम्मुख आत्म-समर्पण करने से उत्पन्न दुर्गुण, या पीड़ा सहन करने में असफलता से उत्पन्न दुर्गुण, अथवा अपने चुनाव में पर्याप्त प्रज्ञावान या अपने उद्देश्यों में पर्याप्त उद्यमी न होने के कारण उत्पन्न दुर्गुण। हमारे सामाजिक सम्बन्धों की अपूर्णताओं से उत्पन्न दुर्गुण भी अनेक होंगे, पर इस प्रकार के वर्गीकरण के व्यौरों में पड़ना आवश्यक नहीं है।

3. पाप

फिर भी, यद्यपि यह ठीक है कि नैतिक दृष्टिकोण से एक अशुभ चरित्र का आन्तरिक पक्ष उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि उससे उत्पन्न होने वाले अशुभ कर्म। फिर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि हृदय में छिपे रहने वाले दुर्गुण और एक अशुभ कर्म में प्रकट होनेवाले दुर्गुण में काफ़ी अन्तर है; वैसे ही जैसे केवल एक ‘शुभ अभि-प्राय’ बने रहने वाले सद्गुण और कर्म-रूप में प्रकट होने वाले सद्गुण के बीच बहुत बड़ा अन्तर होता है। इस विषय पर प्रो० म्यूरहेड कहते हैं : “संकल्प और सम्पादित कर्म के बीच का अन्तर शुभ संकल्पों के सम्बन्ध में एक कहावत बन गया है (अर्थात्

1. पर ईसाई लेखकों ने प्रायः Vice (दुर्गुण) के बजाय Sin (पाप) शब्द का प्रयोग किया है। और इस प्रकार, यद्यपि Sin शब्द चरित्र के कलुष के बजाय बाह्य कर्म के लिए ही अधिक उपयुक्त है, फिर भी वह दुर्गुण का अर्थ देने लगा है और वास्तव में दुर्गुण के बजाय अब वह अधिक आन्तरिक अर्थ का द्योतक हो गया है। दुर्गुण तो सद्गुण के वजन का है, और चरित्र की एक सामान्य आदत व्यक्त करता है, जो विशिष्ट प्रकार के बुरे कर्मों में व्यक्त होती है; जबकि ईसाई लेखकों के प्रयोग के अनुसार, पाप (Sin) शब्द अधिकतर हृदय की आन्तरिक प्रवृत्ति को—प्रेरक हेतु में शुद्धता के अभाव आदि को—व्यक्त करता है। उदाहरण के लिए, सन्त पाल इसी अर्थ में कहते हैं : “उसके अन्दर पाप का निवास है।”
2. तुलना कीजिए सिजविक की पुस्तक History of Ethics, पृ० 114-15 से।
3. पर ग्रीन ने इस तथ्य पर ठीक ही जोर दिया है कि सर्वोत्तम यूनानी लेखकों को आन्तरिक प्रेरक हेतु की महत्ता का पूरा-पूरा ज्ञान था। उनकी पुस्तक Prolegomena to Ethics, तीसरा खण्ड, अध्याय 5, अनु० 252 देखिए।

शुभ संकल्प प्रायः संकल्प ही रहते हैं, पूरे नहीं होते)। अशुभ संकल्पों के सम्बन्ध में इसी बात का विचार करके भी हम उन लोगों के प्रति अधिक उदार या सद्य नहीं बन पाते जो बाह्य रूप से अपराध करने में तत्पर पाए जाते हैं; और यह बात मानव-जाति के लिए शायद प्रशंसनीय बात नहीं है।”²

अपनी पुस्तक (Psychology, अंग्रेजी संस्करण, पृ० 342) में हॉफ़िङ (Hoffding) ने एक महिला का उल्लेख किया है जो अपनी पड़ोसिन के घर में आग लगाने के उद्देश्य से उसकी फुलवाड़ी में दाखिल हुई; और लगभग आग लगाने के प्रयत्न में ही पकड़ी गई और जिसने अदालत में निष्ठापूर्वक शपथ खाकर कहा कि वह जानती थी कि ऐसा काम वह नहीं कर सकती थी, पर शपथपूर्वक यह कहने में उसे हिचक हुई कि जब वह पकड़ी गई तब आग लगाने का इरादा वह छोड़ चुकी थी। मार्क ट्वेन की कहानी Miriam's Schooling के उस अंश से इसकी तुलना हम कर सकते हैं जिसमें मरियम द्वारा आत्महत्या की चर्चा करते हुए वह कहते हैं: “यह विचार कि वह आत्महत्या करने के कितनी नज़दीक पहुँच चुकी थी, बाद में महीनों तक उसके लिए एक नया भय—एक नया आतंक बना रहा। उसे इस बात का पता नहीं था कि हमारे और भयानक अपराधों के बीच जितना अन्तर मालूम पड़ता है वास्तव में प्रायः उससे कहीं अधिक होता है।”³

तो फिर, यह कहने के बजाय कि नरक का मार्ग ‘शुभ अभिप्रायों से निमित्त’ है, हमें सम्भवतः यह कहना चाहिए कि स्वर्ग का मार्ग अशुभ अभिप्रायों से निमित्त है। फिर भी, इस स्थल पर यह बात याद रखनी चाहिए कि शुभ और अशुभ अभिप्रायों के बीच एक महत्वपूर्ण अन्तर है। शुभ अभिप्रायों की ही भाँति अशुभ अभिप्राय भी उद्देश्य की अस्थिरता के कारण प्रायः असफल हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में शुभ अभिप्राय उतना शुभ नहीं होता जितना कि एक शुभ कर्म होता है; जबकि अशुभ अभिप्राय अशुभ कर्म की अपेक्षा अशुभतर होता है। हत्या करने में मक़बेह को जो हिचक होती है उसके कारण मक़बेह के सम्बन्ध में हमारी राय कुछ अच्छी नहीं हो जाती; कभी-कभी तो एक संकल्पपूर्ण अपराध की हम प्रशंसा-सी ही करते हैं। दूसरी ओर यदि शुद्ध नैतिक संशय-संकोच के कारण (जो प्रायः ठीक उस समय उत्पन्न होता है जब वास्तव में कोई अशुभ कर्म करने का क्षण आता है) कोई अपराध नहीं किया जाता, तो ऐसे मौके पर उत्पन्न होने वाला संशय-संकोच आंशिक दोष-मुक्ति ही है। इसीलिए मक़बेह की पत्नी के सम्बन्ध में हमारी धारणा उसके इस उद्गार के कारण अच्छी हो जाती है :

“लगता न यदि वह पिता-तुल्य मुझको—
सोया हुआ निश्चिन्त !—हत्या कर देती मैं ।”

1. देखिए Elements of Ethics, पृ० 51 की टिप्पणी।
2. तुलना कीजिए कालाँइल की पुस्तक French Revolution, तीसरा भाग, पहला खण्ड, अध्याय 4 से : “अपराध के उद्देश्य और अपराधपूर्ण कर्म के बीच एक गहरी खाई है, जिसकी कल्पना भी आश्चर्यजनक है। अँगुली पिस्तौल के धोड़े पर है; पर इसी से व्यक्ति हत्यारा नहीं हो गया ; उलटे, हत्या हो जाने की कल्पना से, उसकी सारी प्रकृति जैसे काँप रही है, क्या यह विभ्रम-जन्य जड़ता अपराध-कर्म से बच निकलने का अन्तिम अवसर नहीं है ?” वास्तव में यह विभेद हमारे सामान्य नैतिक निर्णयों में स्वीकार किया जाता है, यद्यपि शायद इस दृष्टि से इस पर उतना अधिक विचार नहीं किया गया कि यह विभेद शुभ कार्यों से सम्बन्धित विभेद के अनुरूप ही है। ऐडम स्मिथ की पुस्तक Theory of Moral Sentiments, भाग 2, अनुभाग 3, अध्याय 2 से तुलना कीजिए।

तो, इस प्रकार, जहाँ यह एक तथ्य है कि शुभ अभिप्राय तदनुरूपी शुभ कर्म की अपेक्षा हमेशा हीन कोटि का होता है,¹ वहाँ अशुभ अभिप्राय का अशुभ कर्म की अपेक्षा अधिक अशुभ होना-न-होना परिस्थितियों पर निर्भर करता है।²

इसी प्रकार, कर्त्ता के चरित्र के विकास के दृष्टिकोण से, एक बुरा काम चरित्र के उस कलंक की अपेक्षा कम बुरा होता है जो कार्य-रूप में न व्यक्त हुआ हो। बाह्यतः प्रकट कार्य के फलस्वरूप, नियमित रूप से, प्रकट दण्ड भी मिलता है। कुछ भी हो, कार्य की दुष्टता इस प्रकार खुलकर सामने आ जाती है जिस प्रकार कोई भी अशुभ विचार खुलकर सामने नहीं आता। और जब मनुष्य अपने कार्य के परिणाम इस प्रकार स्पष्ट रूप से देखता है, तब प्रायः उसे पश्चात्ताप होता है और वह अपने जीवन का सुधार करता है। यहीं पर हमें इस सामान्य धारणा में निहित सत्य स्पष्ट दिखाई देता है कि 'यौवन की उच्छ्वलता' से भी कुछ लाभ होता है। 'पाप-भाषी'³ के सम्बन्ध में लुयर के तर्क का औचित्य भी यहाँ स्पष्ट हो जाता है। यदि मनुष्य के हृदय में बुराई है तो सामान्यतः उसका स्पष्ट रूप से बाहर आ जाना ही सर्वोत्तम

1. बेशक, इस पर भी कुछ शर्तें—कुछ सीमाएँ लगाई जा सकती हैं। एक अपेक्षाकृत निस्संकोची व्यक्ति प्रायः ऐसा काम कर सकता है जो अन्ततः शुभ हो, जब कि एक अधिक अन्तर्भावनाशील व्यक्ति उसे करने में हिचकेगा। ऐसे मामलों में हमें अन्तर्भावनाशील व्यक्ति को हमेशा दोषी नहीं मानना चाहिए। फिर भी, ऐसी स्थितियों में भी, अन्तर्भावनाशील व्यक्ति का शुभ अभिप्राय उतना शुभ नहीं होता, जितना उसका शुभ कार्य हो सकता था—यदि किसी प्रकार उसे करने के लिए वह तैयार हो सकता; यद्यपि उसके शुभ अभिप्राय को हम उतना प्रशंसनीय मान सकते हैं जितना कि एक निस्संकोची व्यक्ति के शुभ कार्य को मानते हैं।
2. मनुष्य के मन में अशुभ विचार भी निस्सन्देह आ सकते हैं और अभिप्रायों का रूप धारण किए बिना ही समाप्त हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति को नैतिक दृष्टि से दोषी नहीं कहा जा सकता। तुलना कीजिए मिल्टन की कृति *Paradise Lost*, खण्ड 5 से :

“ईश्वर की बात हो कि बात हो मनुष्य की—

मन में अशुभ भाव यों ही कभी आते हैं,

पाते नहीं स्वीकृति वे, यों ही लौट जाते हैं।

रोष नहीं रहता कलंक, दोष कुछ भी !”

(“Evil into the mind of God or man

May come and go, so unapproved, and leave

No spot or blame behind.”)

3. तुलना कीजिए ब्राउनिंग की *The Statue and the Bust* से :

“हर भग्नाश शरीरी दोषी है इस गर्हित पाप का—

कि दीप जलाया नहीं, न उसने कमर कसी संकल्प की,

साध्य भले ही उसका दुर्गुण हो !! पर उसका पाप तो—

मैं कहता हूँ—यह अकर्म है सर्वदा !!”

(“The sin I impute to each frustrate ghost

Is, the unlit lamp and the ungirt loin,

Though the end in view was a vice, I say.”)

देखिए जोन्स की पुस्तक *Browning as a Philosophical and Religious Teacher*, पृ० 111-18।

होता है। गुमसुम रहने वाले व्यक्ति की अपेक्षा खुलकर पाप करने वाले व्यक्ति के सुधार एवं उद्धार की आशा अधिक होती है।¹

4. अपराध

अपराध शब्द का प्रयोग प्रायः पाप की अपेक्षा संकीर्ण अर्थ में किया जाता है। समाज के विरुद्ध किये गए केवल वही दोष अपराध माने जाते हैं जिन्हें राष्ट्र के विधान द्वारा अपराध माना जाता है और जिनके लिए दण्ड दिया जा सकता है। सभी प्रकार के नैतिक दोषों को अपराध की कोटि में लाया जाना असम्भव है। उदाहरण के लिए, अकृतज्ञता को कानूनन दण्डनीय नहीं बनाया जा सकता; क्योंकि अकृतज्ञता की कोटि में आने वाले अपराधों को निर्दिष्ट कर पाना व्यावहारिक दृष्टि से असम्भव होगा। और फिर एक समाज के अन्तर्भावनाशील व्यक्तियों की नैतिक भावना निरन्तर समाज की सामान्य नीति-संहिता से आगे बढ़ती रहती है, और इस प्रकार ऐसे-ऐसे पाप निर्धारित करती रहती है जिन्हें अपराध नहीं माना जाता। यह भी होता है कि जब पाप के दुष्परिणाम मुख्य रूप से पापी को ही भुगतने पड़ते हैं तब उस पाप के विरुद्ध कोई खास कानून बनाना अनावश्यक समझा जाता है।

5. दण्ड

पाप अपने कुफल हमेशा देता है, और पापी पर इनकी प्रतिक्रिया किसी-न-किसी रूप में हमेशा होती है। सुकरात के उपदेशों में एक विरोधाभास यह उक्ति भी है कि अन्याय सहन करने की अपेक्षा अन्याय करना अधिक बुरा है। एक अर्थ में यह बात सही है। अन्याय सहन करने के परिणाम बाहरी होते हैं। उनकी चोट आत्मा पर नहीं पड़ती। इसके विपरीत जब व्यक्ति अन्याय करता है तब वह अपने अस्तित्व को, अपने जीवन को नीचे गिराता है और इस प्रकार दूसरा कोई उसके साथ जितना अन्याय कर सकता है उससे कहीं अधिक अन्याय वह स्वयं अपने साथ करता है। फिर भी, स्वयं अपने ऊपर किये गए अन्यायों के दुष्परिणाम उस व्यक्ति को या दूसरों को ही हमेशा स्पष्ट नहीं दिखाई देते। प्रायः ऐसा लगता है कि वह साफ बच गया।

यह बात हमारी स्वाभाविक न्याय-भावना के विरुद्ध है। हमारा यह सोचना स्वाभाविक है कि व्यक्ति को उसके कर्मों के अनुरूप फल मिलना चाहिए। और इस विचार का तर्कसंगत औचित्य भी है। सद्गुणी व्यक्ति मानव-प्रगति के लिए संघर्ष करता है, और हमारी यह आशा स्वाभाविक ही जान पड़ती है कि देवगण भी उसके पक्ष में संघर्ष करेंगे और उसका श्रम सफल होगा। इसके विपरीत दुर्गुणी व्यक्ति देवताओं के विरुद्ध, हमारे सत्-आदर्शों के विरुद्ध संघर्ष करता है; और उसके श्रम का सफल होना हमें अस्वाभाविक और असंगत प्रतीत होता है। यदि सद्गुणी व्यक्ति कुछ समय के लिए असफल भी होता है, तब भी हम यह विश्वास करने के लिए प्रायः अपने को

1. इसी प्रकार एक राज्य के जीवन में भी बुराई को सामने मैदान में ले आना प्रायः वांछनीय होता है। इसी कारण अक्सर यह बात कही गई है कि एक कुछ अच्छे, कुछ बुरे या अर्द्ध-शुभ शासक के बजाय एक पूर्ण निरंकुश शासक प्रायः अच्छा होता है। हैलम अपनी पुस्तक 'Constitutional History of England' में कहते हैं: "बार्बारा, बेचेज ऑफ वलीव-लैंड, लुइसा, बेचेज ऑफ पोर्ट्समाउथ और श्रीमती एलीनोर स्वाइन के हम कष्टी हैं..." राज्य को उसकी जड़भूत निष्ठा से मुक्त करने में उन्होंने बहुत हाथ बँटाया।" तुलना कीजिए Buckle's History of Civilization, भाग 1, पृ० 338 से, जहाँ यह उद्धरण और अधिक पूर्ण रूप में दिया गया है।

बाध्य-से महसूस करते हैं कि उसके श्रम का अन्तिम परिणाम 'धूल में मिलना' नहीं हो सकता।¹ यदि यह जगत् अन्याय पर नहीं टिका, तो उसके आदर्श की, उसके उद्देश्य की विजय होनी ही चाहिए। और यह आशा करना भी स्वाभाविक है कि इस विजय के साथ जगत् की भी विजय होगी। दूसरी ओर, यदि दुष्ट व्यक्ति पनपता है, कुछ समय के लिए उसकी विजय होती दिखाई देती है, तो बरबस हम विश्वास करते हैं कि उसकी यह विजय क्षणिक है और अन्ततः पाप का फल मृत्यु ही होगा।

कृतज्ञता और प्रतिशोध की स्वाभाविक भावनाओं को यहीं एक तर्कनापरक आधार मिल जाता है। वेशक, हमारी मान्यता यह नहीं है कि इन भावनाओं का उद्भव ऐसी किसी तर्कनापरक विचारणा से होता है। यहाँ हम इन भावनाओं के विकास-सम्बन्धी मनोवैज्ञानिक प्रश्न पर विचार नहीं कर रहे।² पर यदि इन भावनाओं को तर्कबुद्धि का आधार प्राप्त न होता तो मानव-जाति की विकसित चेतना में शायद ही ये अपना स्थान बनाए रह पातीं। अब इसी आधार की विवेचना हमें करनी है।

पारितोषिक और दण्ड—दोनों ही का मूल इन्हीं स्वाभाविक मानव-भावनाओं में है। जैसे-जैसे जाति का विकास होता है वैसे-वैसे प्रतिशोध की भावना वास्तव में, और कुछ अंशों तक कृतज्ञता की भावना भी—जहाँ तक उसका सम्बन्ध केवल व्यक्तिगत सम्बन्धों से है—कमजोर पड़ती जाती है। अपने साथ या जिनसे अपना घनिष्ठ सम्बन्ध है उनके साथ किये गए अन्याय की प्रतिक्रिया आदिम मनुष्य में बहुत तीव्र होती है, और वह जल्दी-से-जल्दी उसका प्रतिफल अन्याय करने वाले को देने का प्रयत्न करता है। जैसे-जैसे नैतिक चेतना का विकास होता है, व्यक्तिगत द्वेष की यह भावना शिथिल होती जाती है। लोग यह समझने लगते हैं कि केवल उनके व्यक्तिगत अन्याय का कोई असीम महत्त्व नहीं है; और कुछ परिस्थितियों में क्षमा करना भी सम्भव हो जाता है। लोग समझते हैं कि उनके प्रति अन्याय करने वाले ने पूरे मानव-समाज के प्रति अन्याय नहीं किया; और महत्त्व मानव-समाज के प्रति किये गए अन्याय को ही देना चाहिए।

पर जहाँ तक समाज का सम्बन्ध है, क्षति या अन्याय की भावना में ऐसी कोई कमी या शिथिलता नहीं आई। सामाजिक नियम के विरुद्ध किया गया अन्याय मानवता के विरुद्ध अन्याय माना जाता है; और अन्यायी को तब तक क्षमा नहीं किया जाता जब तक उल्लंघन किये गए नियम की गरिमा तुष्ट न कर दी जाए, अर्थात् जब तक किये गए अन्यायपूर्ण कार्य का अन्याय और उसकी तात्त्विक निरर्थकता स्पष्ट न कर दी जाए। दण्ड का यही औचित्य है।

6. दण्ड-सम्बन्धी सिद्धान्त

दण्ड के लक्ष्यों के सम्बन्ध में तीन प्रमुख सिद्धान्त प्रचलित हैं। इन्हें सामान्यतः निरोधार्य (या निवारणार्थ) दण्ड-सिद्धान्त, शिक्षार्थ (या सुधारार्थ) दण्ड-सिद्धान्त और प्रतिकारार्थ दण्ड-सिद्धान्त कहा जाता है।

पहले सिद्धान्त के अनुसार दण्ड का लक्ष्य है अन्य व्यक्तियों को उसी प्रकार का अपराध करने से रोकना। इस लक्ष्य को न्यायाधीश की इस प्रसिद्ध उक्ति में व्यक्त

1. सिजविक की *Methods of Ethics* के अन्तिम पैराग्राफ़ों को देखिए।
2. इस सिलसिले में मिल का *Utilitarianism*, अध्याय 5 देखिये। ऐडम स्मिथ का *Theory of Moral Sentiments*, भाग 2, अनुभाग 2, अध्याय 3, भी द्रष्टव्य है, जहाँ स्पष्ट रूप से प्रतिशोध के मूल की ध्वनिबीन और उसके तर्कनात्मक आधार की ध्वनिबीन के बीच भेद किया गया है।

किया गया है—“दण्ड तुम्हें भेड़ें चुराने के कारण नहीं दिया जा रहा, बल्कि इसलिए दिया जा रहा है कि भेड़ें चुराई न जाएँ।” यदि दण्ड का यही एकमात्र लक्ष्य हो, तब तो इसकी सम्भावना है कि नैतिक चेतना का विकास होने के साथ-साथ तेजी से दण्ड-व्यवस्था का उन्मूलन कर दिया जाए, क्योंकि केवल दूसरों के लाभ के लिए किसी व्यक्ति को पीड़ा पहुँचाना न्याय-संगत नहीं माना जा सकता। इसमें तो व्यक्ति को केवल एक पदार्थ मानना होगा, केवल एक साधन, न कि स्वतः एक साध्य।

दूसरा सिद्धान्त यह है कि दण्ड का लक्ष्य है स्वयं अपराधी को शिक्षा देना, उसे सुधारना। वर्तमान समय में यही दृष्टिकोण सबसे ज्यादा प्रचलित दिखाई देता है¹; क्योंकि इस युग की मानवतावादी भावनाओं के साथ इसी सिद्धान्त का मेल सबसे अधिक बैठता है। यह तो स्पष्ट ही है कि मृत्यु-दण्ड का औचित्य सिद्ध करने के लिए इस सिद्धान्त का प्रयोग नहीं किया जा सकता; दण्ड के अन्य अनेक प्रकार भी इस सिद्धान्त के अनुसार प्रभावहीन मानने पड़ेंगे। सच तो यह है कि अनेक मामलों में दण्ड की अपेक्षा दयापूर्ण व्यवहार का अच्छा प्रभाव पड़ने की सम्भावना है।

तीसरे सिद्धान्त के अनुसार दण्ड का लक्ष्य यह है कि व्यक्ति के कर्मों का प्रतिफल उसी को मिलने दिया जाए, अर्थात् यह स्पष्ट प्रदर्शित कर दिया जाए कि व्यक्ति के कर्मों के बुरे परिणाम केवल दूसरों ही के लिए बुरे नहीं हैं बल्कि स्वयं उसके लिए भी बुरे हैं।² आदिम लोगों के बीच दण्ड की उत्पत्ति का मेल इसी दृष्टिकोण के साथ ठीक-ठीक बैठता है; किन्तु बाद के युगों में, विशेषकर ईसाई देशों में, इस दृष्टिकोण का परित्याग करके शेष दोनों सिद्धान्तों में से किसी एक को स्वीकार करने की प्रवृत्ति रही है, क्योंकि इसका आधार प्रतिशोध का आवेश है जो ईसाई मत के अनुकूल नहीं है।

पर इस आपत्ति में एक भ्रान्ति छिपी दिखाई देती है। प्रतिशोध की निन्दा ईसाई मत में इसलिए की गई है कि उसमें व्यक्तिगत द्वेष-भावना निहित है। पर किसी न्यायालय द्वारा दिये गए प्रतिकारार्थ दण्ड में यह द्वेष-भावना होना जरूरी नहीं है। ऐसा न्यायालय तो मनुष्य को वही देता है जो उसने अर्जित किया है। उसने बुरा काम किया है, और यह न्याय-संगत ही है कि उसकी बुराई लौटकर उसी के सिर पर, उसके पाप के प्रतिफल के रूप में, पड़े—जो नास्ति-मूल्य उसने उत्पन्न किया है, उसी को मिले। सच तो यह है कि जो समाज दोषी को दण्ड देने से विरत होता है उसमें एक प्रकार का आन्तरिक आत्म-विरोध उत्पन्न होता है।

मान लीजिए कि किसी समाज में चोरी के विरुद्ध कोई कानून है और फिर भी वह समाज एक चोर को, चोरी की गई वस्तु वापस न लौटा सकने पर, आजाद छोड़ देता है। ऐसे समाज के कानून सामान्य विधि-विधान या नागरिकों से की गई सफ़ा-रिश से ज्यादा कुछ नहीं होंगे। अवश्यकरणीय आज्ञाओं की शक्ति उनमें नहीं होगी; अथवा यदि हुई भी तो उसमें अपवादों की गुंजाइश रहेगी। निरपेक्ष अवश्यकरणीय आज्ञाओं में या तो आदेशों का उल्लंघन रोकने की शक्ति होनी चाहिए या फिर, यदि

1. यद्यपि अधिकतर यह सिद्धान्त पहले सिद्धान्त के साथ मिले-जुले रूप में ही स्वीकार किया जाता है।
2. इस दृष्टिकोण के प्रभावपूर्ण जोरदार विवेचन के लिए देखिए कार्लाइल का *Latter-Day-Pamphlets*, संख्या 2। और भी देखिए ऐडम स्मिथ की पुस्तक *Theory of Moral Sentiment*, भाग 2, अनु० 1, अध्याय 4, टिप्पणी, और ब्रैडले की पुस्तक *Ethical Studies*, निबन्ध 1 तथा *Dubring* की पुस्तक *Cursus der Philosophie*, अनु० 4, अध्याय 2।

उनका उल्लंघन किया जाए तो, किसी-न-किसी प्रकार उन्हें अपने अधिकार की प्रतिष्ठा बरकरार रखनी चाहिए।¹ दण्ड का यही प्राथमिक या प्रधान उद्देश्य जान पड़ता है।

यह भी ध्यान देने की बात है कि एक अर्थ में दण्ड के शेष दोनों लक्ष्य भी इस लक्ष्य में शामिल हैं। यदि कानून का प्राधिकार—नियम का आप्तत्व सुरक्षित रखना ही दण्ड का लक्ष्य है, तो इस लक्ष्य की कुछ आंशिक सिद्धि तो अपराधी का सुधार करके होगी और कुछ उस प्रकार के अपराध-कर्मों का विरोध करके। और जब तक यह नहीं स्वीकार किया जाता कि कानून की रक्षा व पुष्टि ही का नाम दण्ड है—अर्थात् दण्ड इस तथ्य को प्रकट करता है कि कानून भंग भले ही किया गया हो, फिर भी वह यथावत् प्रतिष्ठित है और उसका भंग किया जाना ही निष्फल और शून्य है—तब तक दण्ड का प्रभाव न तो अपराधी के सुधार पर ही पड़ेगा और न अपराध के निरोध पर ही। अपराध के लिए दिये गए दण्ड को जब अपराधी अपने कर्म का स्वाभाविक या तर्कसंगत परिणाम समझेगा तभी उसमें पश्चात्ताप की सच्ची भावना जागेगी; और इसी तथ्य की स्वीकृति दूसरों के हृदय में अपराध-कर्म के प्रति ऐसी वास्तविक घृणा उत्पन्न करेगी जो अपराध के परिणामों से उत्पन्न होने वाले भय से भिन्न होगी। तो, इस दृष्टि से देखने पर, हम प्रतिकारार्थ दण्ड-सिद्धान्त को सर्वाधिक सन्तोषप्रद दण्ड-सिद्धान्त मान सकते हैं।²

7. उत्तरदायित्व

दण्ड का विचार करते हुए यह निश्चित कर लेना आवश्यक है कि व्यक्ति अपने कार्यों के लिए किस हद तक उत्तरदायी माना जा सकता है। व्यक्ति को दण्ड से बचाने के लिए उन्माद या पागलपन का तर्क हमेशा पेश किया जाता है। कुछ विचारक तो इससे भी बहुत आगे जाते हैं। कुछ तो सचमुच यह कहते हैं कि प्रत्येक अपराध को उन्माद या पागलपन का ही प्रमाण मानना चाहिए; और फलतः किसी को भी उसके बुरे कर्मों के लिए उत्तरदायी नहीं मानना चाहिए। इसलिए लोगों को उनके अपराधों के लिए दण्ड देने के बजाय हमें उनके इस उन्माद का इलाज करने का प्रयत्न करना चाहिए।³ इसमें सन्देह नहीं कि यह दृष्टिकोण मानव-आचरण की शुद्ध

1. इस पुस्तक के खण्ड 2, अध्याय 8, अनु० 2 से तुलना कीजिए।
2. दण्ड-सिद्धान्त का परिपूर्ण विवेचन तो विधि-शास्त्र के लेखकों के लिए छोड़ना होगा। यहाँ मैंने केवल उन्हीं बातों की चर्चा की है जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण मालूम हुईं। इस सम्पूर्ण विषय पर सबसे अधिक मौलिक और बिचारोत्तेजक विवेचन हेगेल की पुस्तक *Philosophy of Right* के अनु० 96, 103 में है। (देखिए अनु० 11)। ऊपर दण्ड-सम्बन्धी जिन सिद्धान्तों की चर्चा की गई उनके अलावा अन्य दृष्टिकोण भी सम्भव हैं। उदाहरण के लिए, एक दृष्टिकोण यह है कि दण्ड का एक प्रमुख उद्देश्य है अपराधी से छुटकारा पा लेना, ताकि आगे चलकर वह भविष्य में फिर कोई बدمारी न कर सके। कुछ भिन्न अर्थों में यह निरोधार्थ दण्ड-सिद्धान्त ही है, जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। पर यह स्पष्ट है कि कुछ प्रकार के दण्डों पर ही यह दृष्टिकोण लागू होगा। इस विषय के मनोरंजक विवेचन के लिए विद्यार्थी को ग्रीन की पुस्तक *Collected Works*, भाग 2, पृ० 486-511 देखना चाहिए। स्टीफेन की पुस्तक *Social Rights and Duties* में तथा *International Journal of Ethics*, भाग 2, सं० 1, पृ० 20-31 और 51-76 में; सं० 2, पृ० 232-9 में; भाग 4, सं० 3, पृ० 269-84; भाग 5, सं० 2, पृ० 241-43; भाग 6, सं० 4, पृ० 479-502 और भाग 7, सं० 1, पृ० 95-96 में भी इस विषय का विवेचन मिलेगा।
3. इसका बड़ा रोचक दृष्टान्त एस० बटलर की *Erewhon* में दिया गया है।

नियतत्ववादी धारणा पर आधारित है। मनुष्य के कार्यों को यह उसकी परिस्थितियों का फल मानता है, स्वयं मनुष्य का कर्म नहीं मानता। स्वाधीनता के सम्बन्ध में हम जो दृष्टिकोण स्वीकार कर चुके हैं वह यदि ठीक है तो यह विचार गलत है—झूठा है। जब मनुष्य को इस बात का पूरा ज्ञान है कि वह क्या कर रहा है, तब उसके कर्म उसके अपने चरित्र की ही अभिव्यक्ति हैं; और इस चरित्र की पृष्ठभूमि में जाना तथा अपराध का दोष किसी दूसरे के सिर पर मढ़ना असम्भव है।¹

उन्माद या पागलपन की बात भिन्न है। इसमें व्यक्ति अपने-आपसे अपरिचित—विदेशी-सा हो जाता है; उसके कार्य उसके कार्य नहीं होते। वेशक हमें यह स्वीकार करना होगा कि स्वस्थ-चित्त व्यक्ति के आचरण में भी कुछ अंश ऐसा होता है जिसके लिए केवल वही पूरी तरह से उत्तरदायी नहीं होता। अज्ञान बहुत-कुछ माफ करने का कारण बनता है, यदि स्वयं अज्ञान ही दोषी बनाने वाला न हो। ऐसी प्रत्येक स्थिति व्यक्ति का उत्तरदायित्व समाप्त कर देती है, जिसमें वह पूरी तरह से स्वयं अपने ऊपर क़ाबू नहीं रख पाता, केवल उस स्थिति को छोड़कर जिसमें अपने ऊपर अपना क़ाबू खोने का दोष स्वयं उसी पर हो, जैसे नशे की स्थिति। जब कोई काम भावावेश में किया जाता है तब भी मनुष्य उस अंश तक पूर्ण रूप से उत्तरदायी नहीं होता, जितना वह सोच-समझकर किये गए काम के लिए उत्तरदायी होता है; सिवाय इसके कि जिस जगत् में भावावेश में कार्य करना सम्भव है उसमें यदि वह बराबर रहता आया है तो इसका दोष वेशक उस पर लगेगा।²

8. अनुताप

जब कोई अशुभ कर्म कर डाला जाता है, और जब उस कर्म की दुष्टता—उसका पाप उस काम करने वाले की समझ में आ जाता है, तब उसे अन्तर्भावना की पीड़ा होती है। अपने आदर्शों और अपने कर्मों के बीच असंगति देखकर यह पीड़ा उत्पन्न होती है। इसलिए यह पीड़ा पापों की भीषणता के अनुपात से नहीं होती, बल्कि हमारी नैतिक आकांक्षाओं और हमारे पाप-कर्मों के बीच असंगति की मात्रा के अनुपात से होती है। एक 'पुराने पापी' को इस पीड़ा का अनुभव शायद ही होता हो; क्योंकि वह एक ऐसे जगत् में रहने का आदी हो गया है जिसके आदर्शों के साथ उसके कार्यों की पूरी-पूरी संगति बैठ जाती है। जब कभी उसे उस जगत् से परे एक व्यापक विश्व का बोध होता है तभी इसे इस पीड़ा का अनुभव होता है।

इसके विपरीत, नैतिक उद्देश्य से प्रेरित एक उच्चतर जगत् में रहने वाले संवेदनशील नैतिक स्वभाव के व्यक्ति को एक अशुभ कर्म से न केवल अन्तर्भावना की पीड़ा होती है बल्कि, यदि यह अशुभ कर्म बहुत बड़ा हुआ तो, निरन्तर बारम्बार उठने वाली इस भावना से भी पीड़ा होती है कि 'मैं अपने उचित स्तर से पतित हो गया।' बारम्बार उठने वाली इसी पतन की भावना को अनुताप कहते हैं। अपने गम्भीरतम रूप में यह अनुताप किन्हीं विशिष्ट कार्यों के कारण होने वाला दुःखमात्र नहीं है, बल्कि अपने सम्पूर्ण नैतिक चरित्र के पतन की भावना है—यह भावना कि व्यक्ति ने जीवन के उच्चतम नियम का उल्लंघन किया है और उसकी सम्पूर्ण प्रकृति को पुनरुज्जीवित करने की आवश्यकता है। मेरे विचार से सम्पूर्ण साहित्य में इस भावना की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति इक्यावनवें धर्मगीत (Psalm) में हुई है : 'तेरे, केवल तेरे विरुद्ध मैंने पाप किया है, प्रभु ! तेरे देखते हुए मैंने यह अशुभ कर्म किया है...'

1. इस पुस्तक के खण्ड 1, अध्याय 3, अनु० 14 से तुलना कीजिए।

2. इस पूरे विषय पर अरस्तू की पुस्तक Ethics, खण्ड 3, अध्याय 5 देखिए।

देखो, मेरी रचना अन्याय में हुई है, और पाप में ही मेरी माँ ने मुझे गर्भ में धारण किया, आदि ।'

9. सुधार

अनुताप¹ का स्वाभाविक परिणाम है चरित्र का सुधार । पर 'अन्तर्भावना का गला घोटकर' इस परिणाम को रोका भी जा सकता है; अर्थात् उच्चतर नैतिक जगत् से अपना ध्यान बराबर हटाते रहने से और अपने-आपको एक निम्नतर जगत् के जीवन का आदी बनाने का प्रयत्न करके इस प्रक्रिया को रोका जा सकता है । इस प्रयत्न में सफलता आसानी से मिल सकती है । उच्चतर दृष्टिकोण अनिवार्य तो नहीं है और पाप का मार्ग सुगम होता है । किन्तु यदि हम अन्तर्भावना की आवाज को इस प्रकार जान-बूझकर अनसुनी नहीं करते, तो इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि हम जिस स्तर से गिर चुके हैं उस पर फिर से पहुँचने का प्रयत्न करते हैं, अपने कर्मों को अपने आदर्शों के अनुकूल ढालने का एक बार फिर प्रयत्न करते हैं ।

इस उत्थान के लिए प्रायः हमें अपनी सारी प्रकृति को एक प्रकार से फिर नया रूप देना होता है । इसके लिए संपरिवर्तन की प्रक्रिया आवश्यक होती है, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है । इस प्रक्रिया को उस धर्मगीत (Psalm) में स्पष्ट किया गया है, जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं : "पावन स्पर्श से मुझे शुद्ध कर दो, मैं निर्मल हो जाऊँगा... मुझे अकलुष हृदय दो ।"

जो कुछ यहाँ लाक्षणिक रूप में कहा गया है वह वास्तव में एक उच्चतर जगत् के जीवन में अपने को अभ्यस्त बनाने की ही प्रक्रिया है, जिससे हमारी सम्पूर्ण प्रकृति का रूपान्तर हो जाता है । जब इस प्रकार का रूपान्तरण हो जाता है तब निम्न स्तर पर कार्य करना प्रायः असम्भव हो जाता है । हमारे आन्तरिक आदर्श के साथ हमारी काम करने की आदतों की पूरी संगति मिल जाती है और तब हम अनायास ही उस पथ पर आगे बढ़ते जाते हैं । कुछ हद तक हमारा संकल्प—हमारी इच्छा ही 'पवित्र' हो जाती है । कुछ उस्ताही धार्मिक लोग तो यहाँ तक सोचते हैं कि 'पवित्रीकरण' की यह प्रक्रिया इस हद तक आगे जा सकती है कि पाप असम्भव ही हो जाए ।² पर यह तो अत्युक्ति है; क्योंकि, जैसा हैमलेट कहता है, "सद्गुण हमारे अतीत अस्तित्व में उतने ही नश्वर लगा सकते हैं जितने हम पसन्द करें, उससे अधिक नहीं ।" वास्तव में सम्भव यह है कि हमें अपनी इच्छाओं को निश्चित रूप से उच्चतम दृष्टिकोण के साथ एकरूप बना देना चाहिए और क्रमशः इस उच्चतम दृष्टिकोण के अनुरूप कार्य करने का अभ्यास करना चाहिए ।

1. कुछ लेखक 'अनुताप' शब्द का प्रयोग उन्हीं मामलों तक सीमित रखना चाहते हैं जिनमें परचात्ताप नहीं होता । कभी-कभी उचित मार्ग से पथभ्रष्ट हो जाने की भावना इतनी तीव्र होती है कि फिर सही रास्ते पर लौट सकना असम्भव मालूम होता है और मन पूरी तरह निराशा के गर्त में गिर जाता है । पर ऐसा कोई पर्याप्त कारण नहीं दिखाई देता कि इस शब्द का प्रयोग ऐसे मामलों तक ही क्यों सीमित रखा जाए । इस शब्द का प्रयोग प्रत्येक ऐसे मामले के लिए किया जा सकता है जिसमें अन्तर्भावना की अनवरत पीड़ा हो । इस शब्द (remorse) की उत्पत्ति लैटिन भाषा के शब्द remordeo से हुई है जिसका अर्थ है 'बार-बार डंक मारना ।'

2. तुलना कीजिए First Epistle of John, अध्याय 3, 9 से : "जो कोई भी ईश्वर का उत्पन्न किया हुआ है वह पाप नहीं करता; क्योंकि उसका बीज उसमें विद्यमान रहता है, और वह पाप कर नहीं सकता, क्योंकि वह ईश्वर से ही उत्पन्न है ।"

10. क्षमा

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि दण्ड अपराधी को मिलने वाला उसी के दोष का प्रतिफल है जो इस प्रकार कानून की प्रभुता प्रतिष्ठित रखता है, और उसके माध्यम से उसे पश्चात्ताप और सुधार की ओर ले जाता है। इस प्रकार 'चक्र पूरा हो जाता है' : अपराध मिटा दिया जाता है—अर्थात् उसकी तात्त्विक निष्फलता उस जगत् के सम्मुख प्रदर्शित कर दी जाती है जिसमें अपराधी निवास करता है।

फिर भी यह सम्भव है कि दण्ड के बिना भी यह चक्र पूरा हो जाए। जिस जगत् में अपराध किया गया हो, उसी में उसका निदान खोजने के बजाय एक उच्चतर जगत् में उठकर भी अपराध का दोष अपराधी को समझाया जा सकता है। उदाहरण के लिए, शिक्षा से यह परिणाम निकल सकता है। आधुनिक मानवतावादी भावना हमें प्रेरित करती है कि दण्ड देने के बजाय, जहाँ तक सम्भव हो, अपराधियों—और विशेषकर कम उम्र के अपराधियों—के साथ इसी प्रकार का व्यवहार किया जाए। जहाँ कहीं ऐसा सम्भव हो, वहाँ अपराध क्षमा किया जा सकता है, क्योंकि उच्चतर दृष्टिकोण से अपराध का अस्तित्व ही नहीं रह जाता। पर यह स्मरण रखना चाहिए कि इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि दण्ड के सम्बन्ध में जो विवेचन ऊपर किया जा चुका है उसकी यथार्थता या प्रामाणिकता को अस्वीकार कर दिया गया।¹

11. हेगेल का दण्ड-सिद्धान्त

पिछले अनुच्छेदों में विवेचित प्रतिकारार्थ दण्ड-सिद्धान्त तत्त्वतः हेगेल का सिद्धान्त है; पर हेगेल द्वारा की गई उसकी विवेचना इतनी व्यापक है और हेगेल के सामान्य दार्शनिक सिद्धान्त के इतने अधिक सन्दर्भ उसमें उलझे हुए हैं कि इस छोटी-सी प्रवेशिका में उस पर उपयुक्त ढंग से विचार नहीं किया जा सकता।² पर उसका मूल तर्क, अपेक्षाकृत रूप में, सीधा-सा है। तर्क यह है कि स्वयं अपराधी द्वारा ही दण्ड की माँग की जाती है। दण्ड को अपराधी का पारितोषिक भी कहा जा सकता है; और इस दृष्टि से हेगेल का यह मत अरस्तू की उस सीधी-सादी धारणा के साथ तत्त्वतः एकरूप हो जाता है, जिसके अनुसार दण्ड को 'अभावात्मक पारितोषिक' कहना ठीक होगा। कहा जा सकता है कि यही मत बाइबिल की इस उक्ति में भी निहित है कि 'पाप का पारितोषिक मृत्यु है।'

इसका अर्थ कुछ और स्पष्ट कर देना चाहिए। यह उक्ति ठीक ही है कि 'सद्गुण स्वयं ही अपना पारितोषिक है।' जब व्यक्ति कोई शुभ कार्य करता है तब साधारणतः किसी प्रकार के बाह्य पारितोषिक की माँग नहीं की जाती, यद्यपि कुछ परिस्थितियों में कुछ पारितोषिक देना उपयुक्त मालूम हो सकता है। जब कोई शुभ कार्य किया जाता है, और उस कार्य के सभी पहलुओं को भली-भाँति सोच-समझकर किया जाता है, तब एक प्रकार के शुभत्व की उपलब्धि में ही उसका उद्देश्य पूरा हो जाता है। कर्त्ता को उस कार्य के करने में क्षति भी हो सकती है; और, यदि ऐसा हो

1. दण्ड और क्षमा के पारस्परिक सम्बन्धों पर कुछ अत्यन्त सूक्ष्म-वृक्ष वाली टिप्पणियाँ Caird की पुस्तक Hegel के पृ० 28-30 पर मिलेगी।

2. McTaggart ने अपनी पुस्तक Studies in Hegelian Cosmology में इसका विस्तारपूर्ण विवेचन किया है। ब्रैडले की Ethical Studies का पहला निबन्ध और रशदल की Theory of Good and Evil, खण्ड 1, अध्याय 9 भी देखिए।

तो, यह उचित ही होगा कि उसे कुछ उपयुक्त प्रतिपूर्ति मिले। अथवा यह भी हो सकता है कि अपने सम्पूर्ण प्रयत्नों के बावजूद वह अपना उद्देश्य पूरा करने में असफल ही रहे। पर उसके कार्य का मूल पारितोषिक तो उस साध्य की पूर्ति में ही मिलेगा जिसकी सिद्धि को उसने अपना लक्ष्य बनाया था।

इसके विपरीत जो व्यक्ति विनाश को अपना लक्ष्य बनाता है उसे अभावात्मक पारितोषिक पाने का ही हक है। यह उसका अधिकार है, और मिलना चाहिए। उसे दण्ड देनेवाला समाज उसके साथ कपट करके उसका हक नहीं छीनता, बल्कि दण्ड के रूप में उसे वही देता है जिसके योग्य वह है, जिसे उसने अर्जित किया है। सामान्य भाषा इस तथ्य को स्वीकार करती है, और सामान्य बुद्धि के यह बिलकुल अनुकूल है। दण्ड उसका सुधार भी कर सकता है, और साथ ही दूसरों को भी सावधान कर सकता है, सुधार सकता है; ठीक वैसे ही जैसे शुभ कर्म का आन्तरिक पारितोषिक दूसरों को उसी प्रकार के कार्य करने की प्रेरणा दे सकता है, उत्साहित कर सकता है।

पर इस सारे विवेचन में यह पहले ही से मान लिया गया है कि कार्य सोच-समझकर किया गया है। यदि वह पागल है या उसकी मानसिक स्थिति अव्यवस्थित है, तो उसे दण्ड पाने का उसी प्रकार कोई अधिकार नहीं है जिस प्रकार अनजान में या संयोगवश कोई शुभ परिणाम वाला कार्य कर डालने वाले व्यक्ति को उस कार्य का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष पारितोषिक पाने का कोई हक नहीं है।

इस प्रसंग में यह भी ध्यान देने की बात है कि शुभ अभिप्राय से किया गया सफल कार्य दूसरों को उसी प्रकार के कार्य करने के लिए प्रेरणा और उत्साह दे सकता है; और इसी प्रकार अपराधी को दिया गया दण्ड दूसरों को उसका अनुगमन करने से रोक सकता है। पर ये सब बातें तो शुभाशुभ कर्मों के प्रासंगिक परिणाम हैं; इन्हें कर्मों का प्रत्यक्ष परिणाम नहीं कह सकते।

इस प्रकार व्याख्या किये जाने पर हेगेल का दण्ड-सिद्धान्त सबसे अधिक सन्तोष-प्रद जान पड़ता है। इस सिद्धान्त में इस प्रश्न का भी उत्तर मिल जाता है कि अपने बुरे कर्मों या असावधानियों के लिए जिन्हें किसी प्रकार का बाह्य दण्ड नहीं दिया जा सकता, वे लोग अपने-आप किसी-न-किसी प्रकार की तपस्या क्यों स्वीकार कर लेते हैं। वे अनुभव करते हैं कि जो उन्हें मिलना चाहिए था, नहीं मिला। तब पश्चात्ताप ही स्वाभाविक परिणाम होता है। यह सारा तर्क प्रकृतिस्थ मनुष्यों द्वारा सोच-समझकर किये गए कार्यों पर ही लागू होता है। यह उन पर नहीं लागू होता जो पूर्णतः या आधे पागल हैं; और अब इन लोगों के सम्बन्ध में कुछ विचार कर लेना उचित होगा।

12. मानसिक विकृति-सम्बन्धी आधुनिक अध्ययन

अभिलाषा और संकल्प के बीच सामान्य सम्बन्धों की विवेचना करते समय हमने फ्रायड तथा कुछ अन्य लोगों द्वारा की गई उन मनोवैज्ञानिक शोधों की चर्चा की थी जिनमें यह विवेचन किया गया है कि मनुष्य के कार्यों पर उसकी कुण्ठित या दबी हुई अभिलाषाओं का प्रभाव किस-किस रूप में पड़ता है। हमारी भ्रान्त शिक्षा-पद्धतियाँ भी कुछ हद तक इन अभिलाषाओं को कुण्ठित करती हैं। इन कुण्ठाओं के प्रभावों को मान लेने से यह मत स्थिर हुआ है कि कुछ प्रकार के दुर्गुणों और अपराधों का उपचार केवल दण्ड के बजाय चिकित्सा और शिक्षा द्वारा किया जाना चाहिए। पागलपन के कुछ निश्चित रूपों में, और स्पष्ट बुद्धिहीनता के मामलों में भी, यह बात सामान्य रूप से मान ली गई है। अब इस बात पर जोर दिया जा रहा है कि

मानसिक विकृति के अनेक रूप और स्तर हैं और अधिकांश पाप तथा अपराध सम्भवतः इन्हीं विकृतियों के कारण होते हैं, और फलतः उन्हें नैतिक दोष मानना उचित नहीं है। इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि किसी प्रकार का भी दण्ड दिया ही नहीं जाना चाहिए, बल्कि इसका अर्थ केवल यह है कि तत्त्वतः दण्ड को चिकित्सापरक मानना चाहिए।

इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्रतिकारार्थ दण्ड सिद्धान्त के प्रबल समर्थक एफ० एच० ब्रैडले ने एक महत्वपूर्ण लेख¹ सामाजिक शल्य-चिकित्सा पर लिखा, जिसमें ऐसा लगा कि उन्होंने कुछ परिस्थितियों में निरोध-दण्ड के रूप में शिशु-हत्या का समर्थन किया—जो अयोग्य समझे जाएँ उनको समाप्त कर देने का समर्थन किया।

मनोविश्लेषक भाव-ग्रन्थियों की खोज करके अपराधों को रोकने का प्रयत्न करते हैं, भाव-ग्रन्थियों का इलाज करने के लिए वे उन पद्धतियों का उपयोग करते हैं जिन्हें व्यापक अर्थ में, चिकित्सा-पद्धति कहा जा सकता है। इस विषय का विवेचन शुद्ध नीतिशास्त्र के क्षेत्र से उसी प्रकार बाहर है जैसे पागलपन का सामान्य इलाज। इस विवेचन में निहित प्रश्न यह है कि विशेष व्यक्तियों को, किस हद तक, उनके कार्यों के लिए पूरी तरह से उत्तरदायी माना जा सकता है। यदि काम करनेवाला जानता है कि वह बुरा काम कर रहा है तो सामाजिक अनुमोदन की स्वाभाविक अभिव्यक्ति के लिए किसी-न-किसी प्रकार का दण्ड आवश्यक है; उससे अपराध की आवृत्ति भी रुकेगी और अपराधी पर काफ़ी शिक्षाप्रद प्रभाव पड़ने की भी सम्भावना है। पर यदि बुरा काम करने वाला सचमुच यह नहीं जानता कि वह कोई बुरा काम कर रहा है, अथवा किसी भी प्रकार वह आत्म-नियंत्रण करने में असमर्थ है, तो उसके लिए किसी प्रकार की चिकित्सा ही आवश्यक प्रतीत होगी।

“क्या तुम किसी विकृत या रुग्ण मन का उपचार नहीं कर सकते?” इस प्रश्न का उत्तर शेक्सपियर के युग की अपेक्षा आज अधिक सकारात्मक रूप में देना सम्भव है; पर इसका विवेचन नीतिशास्त्र के क्षेत्र से बाहर का विषय है, यद्यपि मनोविज्ञान के साथ निश्चित रूप से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। अपराध का विवेचन करते समय अनेक विभेदों को ध्यान में रखना आवश्यक है। जिस व्यक्ति ने कोई ऐसा काम किया है जिसे अपराध कहा जा सकता है (उसके देश के कानून में चाहे उसे निश्चित रूप से अपराध माना जाता हो, या न माना जाता हो) वह या तो (1) निश्चित रूप से पागल हो सकता है; (2) किसी अस्थायी भावग्रस्तता (Obsession) या भाव-ग्रन्थि का मरीज हो सकता है; (3) किसी भ्रामक सिद्धान्त को शुद्ध अन्तःकरण से सही मानकर उसका अनुगमन कर सकता है, या (4) नैतिक विचारों के प्रति उदासीन हो सकता है।

स्पष्ट है कि पहली स्थिति में उसे परिरुद्ध रखना चाहिए और चिकित्सा-सम्बन्धी सर्वोत्तम उपलब्ध ज्ञान के अनुसार उसका इलाज किया जाना चाहिए। दूसरी स्थिति में मनोविश्लेषक की राय लेनी चाहिए। तीसरी स्थिति में अपराधी का परिरोध आवश्यक हो सकता है और, यदि सम्भव हो तो, उसकी भूल का एहसास उसे कराया जाना चाहिए। पर चौथी स्थिति तो ऐसी है जिसमें निश्चित रूप से दण्ड दिया जाना चाहिए—सम्भवतः अपराधी की नैतिक शिक्षा की भूमिका के रूप में, या नैतिक शिक्षा का ही एक तत्त्व मानकर। अपराध की पराकाष्ठा के मामलों में प्राणदण्ड देना आवश्यक हो सकता है।

1. लेख का शीर्षक है Some Remarks on Punishment, जो International Journal of Ethics में अप्रैल, 1894 में प्रकाशित हुआ था।

कुछ मामलों में सन्तति-निरोध एक अपराध-निरोधक उपाय का काम दे सकता है।¹ ब्रैडले ने *International Journal of Ethics* में प्रकाशित अपने लेख में,² जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है, शिशु-हत्या का जो सुझाव दिया है, उसके विरुद्ध यह आपत्ति की जा सकती है कि इससे मानव-जीवन और मानव-पीड़ा के प्रति उपेक्षा का भाव बढ़ेगा, जो उचित नहीं है। ब्रैडले ने अपने इस सुझाव को आधुनिक सम्य जातियों की लोकनीति के अनुकूल भी समझा—यह एक अद्भुत बात है। पर उनका मन्शा क्या था, यह भी उन्होंने बहुत स्पष्ट नहीं किया; और किसी भी रूप में लें, यह समझ में नहीं आता कि दण्ड की धारणा में शिशु-हत्या को स्थान देना किस प्रकार उपयुक्त हो सकता है।

13. सामाजिक भ्रष्टाचार

अभी तक हमने व्यक्ति के जीवन में दिखाई देने वाली नैतिक बुराई की ही विवेचना की है। पर, व्यक्ति की ही भाँति, एक समाज के जीवन में भी नैतिक प्रकर्ष और नैतिक दोष हो सकते हैं। समाज में ऐसी प्रथाएँ और संस्थाएँ हो सकती हैं जो नागरिकों को जीवन के प्रत्येक मोड़ पर प्रोत्साहित करें; अथवा ये प्रथाएँ-संस्थाएँ ऐसी हो सकती हैं जो नैतिक जीवन में बाधा डालें और, कुछ अर्थों में, सद्गुण की स्थिति ही असम्भव बना दें।³

सम्यता का अर्थ तो यही होना चाहिए कि सामाजिक स्थितियों की कुछ ऐसी व्यवस्था हो जिसमें सद्गुणों की उपलब्धि जितनी सुगम हो, दुर्गुण की स्थिति उतनी ही कठिन हो जाए। पर जैसी सम्यता आज वास्तव में विद्यमान है वह अंशतः मानव-जाति के दुर्गुणों और सद्गुणों, दोनों की ही देन है; और, इसलिए दुर्गुणों और सद्गुणों, दोनों ही की अभ्यस्त है, दोनों के अनुकूल है। इसकी व्यवस्था दुर्गुणों का उन्मूलन करने के उद्देश्य से नहीं की गई, बल्कि बर्क के शब्दों में, अधिक-से-अधिक इसलिए की गई है कि दुर्गुण 'अपनी सम्पूर्ण प्रकट निकृष्टता से मुक्त होकर आधी बुराई से मुक्त हो जाएँ।' इस सम्यता की व्यवस्था सद्गुणों की उन्नति के लिए नहीं है, बल्कि केवल सम्मान या प्रतिष्ठा की अभिवृद्धि के लिए है। शौर्यपूर्ण सद्गुण की स्थिति सुविधापूर्ण बनाने के बजाय अनेक अर्थों में और कठिन बना दी गई है।⁴ सम्पन्न लोगों में विलास को प्रोत्साहन दिया जाता है। आवश्यकताएँ बढ़ाई जाती हैं, फिर वे स्वतः बढ़ती जाती हैं और उनकी पूर्ति के लिए निन्दनीय साधन अपनाए जाते हैं। दूसरी ओर गरीबों का शोषण किया जाता है—अर्थात् दूसरों की सुविधा और लाभ के लिए उनका उपयोग मात्र साधन के रूप में किया है। जीवन की संस्कृति के लिए उन्हें अवकाश नहीं मिलता और अनेक प्रलोभनों के वे शिकार बनते हैं।

1. सन्तति-निरोध की वैध पद्धतियों का विवेचन सामाजिक दर्शन या किर्तव्य-मीमांसा में ही उपयुक्त ढंग से किया जा सकता है।
2. 'Some Remarks on Punishment'—ब्रैडले। रशदल की पुस्तक *Theory of Good and Evil*, भाग 2, पृ० 426-27 में ब्रैडले के इस लेख पर कुछ टिप्पणियाँ मिलेंगी। यह विषय नीतिशास्त्र के सीमित क्षेत्र की अपेक्षा सामाजिक दर्शन के क्षेत्र का है।
3. अपनी पुस्तक *Elements of Ethics* (दूसरा संस्करण, पृ० 174) में प्रो० म्यूरेड ने ऐसी संस्थाओं के उदाहरण-स्वरूप, 'वैश्यालयों, जुआ खेलने के श्रृंगारों, साहित्यिक चोरों और युवतियों के विलास-सज्जा स्कूलों' की चर्चा की है।
4. इस विषय पर कार्लोस का मत उनके लेख 'The Opera' में देखिए।

जब भी कभी कोई राष्ट्र ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है तब उसकी अवनति होती है, उसका पतन होता है। हमारे युग का कार्लाइल और रस्किन जैसा कोई सुधारक यदि उस राष्ट्र की आँखें नहीं खोलता तो उसका पतन अवश्यम्भावी हो जाता है। कभी-कभी उसकी रक्षा क्रान्ति द्वारा भी हो जाती है; पर क्रान्ति में प्रायः उतनी ही नैतिक बुराई होती है जितनी ऐसे भ्रष्ट समाज में होती है। और कभी-कभी तो कोई राष्ट्र नीति-परायणता के मार्ग से इतनी दूर भटक जाता है कि उसे दण्ड देने के लिए अन्य राष्ट्र हस्तक्षेप करना उचित समझने लगते हैं। ऐसे ही मामलों में आक्रामक युद्ध उचित मालूम होता है। पर इस प्रकार अपने-आपको किसी दूसरे राष्ट्र का न्यायाधीश बनाने का हक शायद ही कभी किसी राष्ट्र को मिलता हो। पुराने जमाने में, ऐसा लगता है, यहूदियों ने कुछ इस प्रकार का हक अपने लिए सुरक्षित माना था। आधुनिक युग में तो किसी भी समाज-विशेष के भ्रष्टाचार के विरुद्ध कुछ राष्ट्रों का संगठन ही सामान्य रूप से, अपने-आपको न्यायपूर्ण पक्ष का समर्थक मान सकता है।¹

-
1. यह अध्याय नैतिक विकृति-निदान के केवल नीतिशास्त्रीय पक्ष से ही सम्बन्धित है। इस विषय के अन्य पक्षों का अध्ययन करने के लिए देखिए : Mercier की पुस्तक *Conduct and its Disorders*, W. D. Morrison की रोचक पुस्तकें *Juvenile Offenders* और *Crime and its Causes*, Enrico Ferri की पुस्तक *Criminal Sociology*, Maudsley की पुस्तक *Body and Mind* तथा विकृति-मनोविज्ञान और अपराध-विज्ञान आदि पर लिखी अन्य पुस्तकें। पाप और दण्ड के सम्बन्ध में देखिए डॉ० McTaggart की पुस्तक *Hegelian Cosmology*, अध्याय 5 और 6।

नैतिक प्रगति

1. सामाजिक विकास

पिछले अध्यायों में यद्यपि हम इस तथ्य का उल्लेख अक्सर करते आए हैं कि नैतिक जीवन को विकास की एक प्रक्रिया के रूप में मानना चाहिए, फिर भी उसकी विवेचना हमने अधिकांश रूप में एक स्थिर तत्त्व के रूप में की है। फिर भी पिछले दो अध्यायों के अन्तिम पैराओं में नैतिक सुधारक के कार्य के सन्दर्भ में जो कुछ कहा गया है उससे अब स्वभावतः नैतिक विकास की स्थितियों पर कुछ खुलकर विचार करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। इस सत्य को तो अब किसी-न-किसी रूप में सामान्यतः स्वीकार किया जाता है कि 'युगों की इस लम्बी दौड़ में कोई-न-कोई वर्द्धमान उद्देश्य है', भले ही कभी-कभी इस पर सन्देह करने की प्रवृत्ति प्रबल हो उठती हो।

वर्द्धमान उद्देश्य का यह प्रत्यय एक बिल्कुल आधुनिक प्रत्यय है, और कभी-कभी स्वाभाविक मनुष्य की धारणाओं के विपरीत भी पड़ता है। वर्तमान पीढ़ी यदि शौर्यवान पूर्वजों की पतित सन्तति मालूम होती है, तो इसका कारण होरेस (Horace) का सौम्य निराशावाद ही नहीं है। मनुष्य की असन्तुष्ट भावना के लिए अतीत के स्वर्णिम युग में, उस सुनहले जमाने में, जिसमें लोग बादवाले युगों के भोग-विलास और मूर्खता से भ्रष्ट नहीं हो पाए थे और 'पूर्वजों की प्रज्ञा' में—जब लोग संसार पर एक गम्भीर और परिशुद्ध दृष्टि से विचार करते थे—एक सहज आकर्षण होता है। यह आकर्षण नितान्त तथ्यहीन और निराधार भी नहीं है। यदि 'नए अवसर नए कर्त्तव्य साथ लाते हैं' तो नवीन दुर्गुणों की सम्भावनाएँ एवं सुविधाएँ भी वे अपने साथ लाते हैं। उदाहरण के लिए, आधुनिक युग की व्यावसायिक नैतिकता को लीजिए और उसकी तुलना कुछ और आदिम युग की व्यावसायिक व्यवहार-पद्धतियों से कीजिए, तो प्रायः यह निर्धारित करना कठिन हो जाएगा कि हमने प्रगति की है या कुछ और पीछे हट गए हैं। यदि कुछ दृष्टियों से हमारे कार्य अधिक विश्वसनीय और अधिक व्यापक व तर्कसंगत सिद्धान्तों पर आधारित मालूम होते हैं, तो कुछ अन्य दृष्टियों से हम इतने स्वार्थी और बेईमान हो गए जान पड़ते हैं जितने पहले कभी नहीं थे।¹

व्यक्तिगत लोगों के कार्यों को छोड़कर जब हम उन सिद्धान्तों पर विचार करते हैं जिनके अनुसार कार्य करने की आशा लोगों से की जाती है—हमारे बीच जो कर्त्तव्य-संहिताएँ और सद्गुणों के जो आदर्श अब प्रतिष्ठित हुए हैं उन पर जब हम विचार करते हैं—तभी यह विश्वास दृढ़ होता है कि हमने प्रगति की है। और फिर जब हम यह सोचते हैं कि आचरण की जो उच्चतर धारणाएँ हमारे बीच प्रचलित हैं—मान्य हैं, वे ठिक ही नहीं सकती थीं, यदि उनके अनुकूल स्वभावतः काम करने वाले कुछ व्यक्ति हमारे बीच में न होते, तब हमें यह विश्वास करना पड़ता है कि

1. तुलना कीजिए मार्शल की Principles of Economics, पृष्ठ 6-8 और 361 से।

सम्यक् रूप से व्यक्तिगत जीवन में भी कुछ निश्चित प्रगति अवश्य हुई है। प्रगति-सम्बन्धी यह विश्वास घटने के बजाय उस समय और भी दृढ़ हो जाना चाहिए जब हम यह स्वीकार करते हैं कि जीवन की हमारी आधुनिक व्यवस्था में पतन की इतनी अतल गहराइयाँ हैं जो अस्तित्व की असंस्कृत अवस्था में जानी-सुनी भी नहीं जातीं। जैसा रस्किन ने कहीं कहा है, घास तो हर साल हरी होती है; गेहूँ को ही, उसकी उच्च प्रकृति के कारण, पाला मार जाने का भय होता है। ठीक इसी प्रकार, जो केवल पशु है उसका वैसा पतन हो ही नहीं सकता जैसा मनुष्य का होता दिखाई देता है। वाल्ट व्हिटमैन ने ठीक ही कहा है :

1 "पशु हैं वे—स्थिति पर अपनी कभी झील झल्लाते नहीं,
स्वेद-कण बहाते नहीं ;
जाग-जाग रातों के अँधेरों में, किये हुए पापों पर
आँसू बरसाते नहीं ;
परमपिता के प्रति अपने कर्तव्यों की करते विवेचना
औरों को उबाया नहीं ;
उन्हें असन्तोष नहीं, वैभव के स्वामी बनने के उन्माद ने
पागल बनाया नहीं ;
एक-दूसरे को, या कि सदियों पुराने किसी पूर्वज की याद को
सिर कभी झुकाया नहीं ;
खोज देखो सारा जग—कोई माननीय नहीं, पास एक के भी
कभी दुःख भूल आया नहीं ।"

बेशक यह सब-कुछ निम्न कोटि के पशुओं के लिए बहुत प्रशंसनीय कहा जा सकता है, फिर भी हमारे लिए उनकी स्थिति से ईर्ष्या करने का कोई कारण नहीं है। जैसा कार्लाइल ने कहा है, मनुष्य का यह आपेक्षिक दुःख उसकी महत्ता के कारण है। इमर्सन का यह कथन ठीक है कि 'हमारी दुर्बलता और अपूर्णता की स्वीकृति वह सुन्दर व्यंग्योक्ति है जिसके द्वारा आत्मा अपनी असमीता का दावा पेश करती है।' 'एक चिनगारी हमारे मृत्तिका-पिण्ड को विक्षुब्ध कर देती है,' और यह विक्षोभ अपने साथ नये प्रकार के दुर्गुणों—नई बुराइयों की सम्भावनाएँ भी लाता है। 'पशुओं में उच्चतर पापों की क्षमता ही नहीं है।' जिन सुविधाओं के कारण हम अपने पड़ोसियों से ईर्ष्या करते हैं उनका समाज या किसी व्यक्ति-विशेष को जो कृपा उन्हें मिल जाती है पर हमें नहीं मिलती और जिसके कारण हमें ईर्ष्या होती है, उसका अथवा रूप, शक्ति या प्रतिष्ठा की जिस श्रेष्ठता की कल्पना भी हमारी महत्त्वाकांक्षा की भावना को जगाती है—इन सबका ऐसे जीवन के लिए, 'जो आत्म-चेतन नहीं है या अन्य आत्म-चेतन व्यक्तियों से जिसका कोई व्यवहार-सम्पर्क नहीं है, ठीक उसी प्रकार

1. "They do not sweat and whine about their condition,
They do not lie awake in the dark and weep for their sins.
They do not make me sick discussing their duty to God;
Not one is dissatisfied, not one is demented
With the mania of owning things;
Not one kneels to another, nor to his kind that lived thousands
of years ago;
Not one is respectable or unhappy over the whole earth."

कोई अस्तित्व नहीं होता जैसे अन्वे व्यक्त के लिए रंगों का अस्तित्व नहीं होता।¹ सभ्यता के विकास की भी, कुछ हद तक, यही स्थिति है। ज्ञान एक शक्ति है, जिसका उपयोग शुभ-अशुभ दोनों के लिए एक समान हो सकता है। नरक की गहराई उतनी ही है जितनी स्वर्ग की ऊँचाई। जब एक ऊँची सभ्यता की चमक-दमक में हमें असाधारण पतन और दैन्य दिखाई देता है तब, मिल्टन के शैतान की भाँति, हम सोच सकते हैं, 'आश्चर्य नहीं, यह विकृत उच्चता पतित हुई।' इसलिए इस तथ्य पर सन्देह करने का कोई सारपूर्ण कारण दिखाई नहीं देता कि जीवन की स्थितियों में सुधार होने पर कुछ-न-कुछ नैतिक प्रगति भी होती है।² अब हम इस प्रगति पर विचार करेंगे।

2. नैतिक विश्व

यह तो हम पहले ही देख चुके हैं कि व्यक्ति का जीवन एक सामाजिक या नैतिक जगत् के बीच व्यतीत होता है। विभिन्न तत्त्वों से इस विश्व का निर्माण होता है। एक ओर तो इसका निर्माण एक नैतिक आदर्श से होता है, जिसे सामान्यतः वह समाज स्वीकार करता है जिसमें व्यक्ति रहता है। इस आदर्श की अभिव्यक्ति या तो किसी धर्म-संहिता के रूप में होती है या विधि-संहिता के रूप में, या फिर एक इस प्रकार के जीवन के रूप में जिसे हमारे लिए अनुकरणीय आदर्श बताया जाता है। हमारे नैतिक जगत् का यह आदर्श-पक्ष है। दूसरी ओर इस विश्व में कुछ निश्चित सामाजिक संस्थाएँ होती हैं—ऐसी जिनकी चर्चा हम दूसरे अध्याय में कर चुके हैं। और अन्त में इसमें कुछ अभ्यास-जन्य कार्य-पद्धतियाँ होती हैं जिन्हें हम किन्हीं निश्चित विधि-आदेशों या आदर्शों के पालन के बजाय उनके अर्द्ध-चेतन अनुकरण से ही अर्जित करते हैं।

कोई भी युग या देश हो, सामाजिक जगत् के ये तीनों ही तत्त्व प्रायः सर्वदा कुछ न्यूनाधिक विकसित रूप में सर्वत्र पाए जाते हैं; पर प्रायः इन तीनों के बीच काफ़ी विषमता भी पाई जाती है। किसी भी जाति के आदर्श उसकी संस्थाओं

1. ग्रीन की *Prolegomena to Ethics*, पृ० 131 देखिए। फिर भी इस तथ्य पर ध्यान देना उचित होगा कि जितनी अशुभ बातों का उल्लेख यहाँ किया गया है वे सब-की-सब निम्न कोटि के जीवों में भी मूल रूप में पाई जाती हैं। मनुष्य की विशेषता यह नहीं है कि उसमें नवीन प्रकार की बुराईयाँ पाई जाती हैं, बल्कि यह कि वह स्पष्ट रूप से बुराई को बुराई समझता है, और यह कि इसीलिए, उन बुराईयों के सामने झुक जाने में उसका पतन होता है। फिर भी यह सच है कि सभ्यता सूक्ष्म प्रकार की नवीन बुराईयों को जन्म भी देती है।
2. कार्लाइल ने भी अंशतः इस बात को स्वीकार किया है। *Heroes and Hero-Worship* पर उनका चौथा व्याख्यान देखिए। "आजकल 'जातियों के विकास' की जैसी चर्चा की जाती है उसे मैं कोई अधिक महत्त्व नहीं देता।" फिर भी मैं कहूँगा कि विकास का तथ्य निश्चित ही जान पड़ता है। "कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जो ठीक वही विश्वास करता हो, या कर सकता हो, जो उसके पितामह के विश्वास थे... नवीन खोजों से वह उन विश्वासों को कुछ विस्तृत करता है, विश्व के सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण को विस्तृत करता है। फलतः विश्व के सम्बन्ध में उसका प्रमेय भी बदलता है... प्रत्येक व्यक्ति का यही इतिहास है; और मानव-जाति के इतिहास में यही तथ्य महान् घटनाओं—क्रान्तियों, नवीन युगों—के रूप में दिखाई देता है।" इस संसार की समस्त विश्वास-पद्धतियों और उनसे उत्पन्न व्यवहार-प्रणालियों पर यही बात लागू होती है।¹

अथवा आदतों से सर्वथा ठीक-ठीक मेल नहीं खाते; और कभी-कभी तो उसकी आदतों और संस्थाओं के बीच भी परस्पर पूरी-पूरी संगति नहीं बैठती। शान्ति और सद्भावना की धर्म-ध्वजा लहराने वालों को विविध ताड़ना-यन्त्र और घातक शस्त्रास्त्रों के आगार प्रस्तुत रखने में कोई असंगति नहीं जान पड़ी; और एक-विवाही परिवारों का होना ही हमेशा सामाजिक पवित्रता की गारण्टी नहीं होता। जातियों का नैतिक विकास अधिकांश रूप में इन तीनों तत्त्वों के समंजन-समन्वय के प्रयत्न में ही होता है, यद्यपि आंशिक रूप में यह विकास विचारों को उन्नत बनाने और संस्थाओं तथा आदतों को सुधारने से भी होता है।

3. हमारे जगत् का अन्तर्विरोध

हमारे नैतिक जगत् के विभिन्न तत्त्वों के बीच पारस्परिक संगति या समन्वय का अभाव ही प्रायः इस आवश्यकता को पर्याप्त रूप से स्पष्ट कर देता है कि एक नये आदर्श की या नवीन संस्थाओं एवं प्रथाओं की प्रतिष्ठा की जानी चाहिए। जिन संस्थाओं एवं प्रथाओं को लोगों की आदतें अंगीकार नहीं कर पातीं वे बहुत जल्द असन्तोष-प्रद मालूम होने लगती हैं और उन्हें समाप्त कर देना होता है। उदाहरण के लिए, मध्ययुग में पादरियों के बीच ब्रह्मचर्य-पालन की प्रथा के सम्बन्ध में यह बात बिल्कुल सही साबित होती है। और, इसी प्रकार, यदि हमारी संस्थाएँ, प्रथाएँ और आदतें हमारे आदर्श के विरुद्ध पड़ती हैं तो कभी-कभी इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारा आदर्श बहुत संकीर्ण है। प्रारम्भिक ईसाई आदर्श इसी प्रकार यूनानियों और ब्राह्मण-लोगों से गृहीत तत्त्वों को आत्मसात् करके विकसित किया गया था।

दूसरी ओर, हमारी आदतें धीरे-धीरे इतनी सुधारी जा सकती हैं कि उन संस्थाओं एवं प्रथाओं के अनुकूल बन जाएँ जिनके बीच हम रहते हों; और हमारी संस्थाओं एवं प्रथाओं की संगति धीरे-धीरे हमारे आदर्शों के साथ भी बैठ सकती है। सम्भवतः यही रास्ता अधिक स्वाभाविक है। कभी-कभी जातियों के जीवन में ऐसे संकटकाल आते हैं जब यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि जाति की संस्थाओं एवं प्रथाओं में क्रान्ति की जाए या लोगों की आदतों को सुधारा जाए। उदाहरण के लिए, वर्तमान काल में हमारी औद्योगिक व्यवस्था के सम्बन्ध में ऐसा ही संकट-काल उपस्थित है।

4. अपूर्णता की भावना

हमारे जगत् के जो अन्तर्विरोध एक स्वाभाविक द्वन्द्व के द्वारा हमें आगे बढ़ाते हैं उन्हें हम छोड़ भी दें, तो भी हमारी आदतों, संस्थाओं, प्रथाओं और हमारे आदर्शों में प्रगति करने की एक प्रवृत्ति होती है, और वह केवल इसलिए कि हमें उनकी अपूर्णता का बोध होता है। इस अपूर्णता का स्पष्ट बोध प्रायः हमें किसी ऐसे सुधारक द्वारा सबसे पहले कराया जाता है जो हमारी वर्तमान व्यवस्था की किसी तर्कहीनता की ओर—किसी असंगति की ओर अँगुली उठाता है। उदाहरण के लिए, ऐसा सुधारक हमें बताता है कि किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों में हम अभ्यासवश एक प्रकार का काम करते हैं, पर कुछ अन्य परिस्थितियों में ठीक उसका उलटा काम करते हैं, जबकि इस अन्तर का औचित्य सिद्ध करने वाला कोई भी पर्याप्त कारण नहीं होता।

उदाहरण के लिए, वह उन असंगतियों की ओर भी अँगुली उठा सकता है जो बच्चों के प्रति लोगों के व्यवहार में होती हैं—कभी अत्यन्त निर्मम हो जाना और कभी अत्यधिक लाड़-प्यार करना। अथवा वह उस अन्तर की ओर संकेत कर सकता है जो विभिन्न देशों के पारस्परिक सम्बन्धों में स्वीकृत नैतिकता और व्यक्तियों के पारस्परिक

सम्बन्धों में स्वीकृत नैतिकता के बीच पाया जाता है; और पूछ सकता है कि इस विरोध का कोई पर्याप्त कारण है या नहीं। अथवा शल्य-चिकित्सा के सम्बन्ध में अंगच्छेद की कुछ प्रक्रियाओं में, विविध प्रकार के आखेटों में, वृक्षखानों में या मनुष्य की सेवा के लिए साधन-रूप में उनका सामान्य उपयोग करते हुए, पशुओं को जो पीड़ा-ताड़ना दी जाती है उसकी ओर भी वह अँगुली उठा सकता है; मनुष्यों के प्रति किए जाने वाले व्यवहार के साथ वह इस व्यवहार का विरोध दिखा सकता है; और यह देखते हुए कि पीड़ा की अनुभूति के क्षेत्र में पशुओं और मनुष्यों में कोई अन्तर नहीं दिखाई देता, वह पूछ सकता है कि मनुष्यों के प्रति जो पीड़ा-ताड़ना हम नहीं बर्दाश्त कर पाते, पशुओं को उसी पीड़ा-ताड़ना का शिकार बनाया जाना हम किस कारण बर्दाश्त करते हैं।

अथवा, सामाजिक जीवन की आदतों से भिन्न सामाजिक संस्थाओं एवं प्रथाओं की ओर मुड़कर, वह देश की सरकार, पारिवारिक जीवन की व्यवस्था, औद्योगिक कार्य-पद्धतियों तथा सामाजिक जीवन के अन्य विविध संगठनों की असंगतियों की ओर हमारा ध्यान खींच सकता है। इन्हीं संस्थाओं के आधार पर यह सिद्ध करके कि इनके आधारभूत सिद्धान्तों का अधूरा पालन किया जाता है, वह इन सबकी खरी आलोचना कर सकता है। उदाहरण के लिए, वह सवाल कर सकता है कि किस स्वीकृत सिद्धान्त के आधार पर महिलाओं को कुछ विशिष्ट कार्यों, पदों और विशेषाधिकारों से वंचित रखा जाता है, जबकि पुरुषों को ये सभी हर कहीं पूर्ण रूप से प्राप्त हैं!

और अन्त में ऐसा सुधारक अपनी आलोचना का प्रयोग और ऊँचे स्तर पर करते हुए हमारे आदर्शों पर ही आरोप लगा सकता है। वह पूछ सकता है कि उच्चतम जीवन-सम्बन्धी हमारे विचारों में क्या पूरी-पूरी संगति है? क्या इन विचारों में कुछ संकीर्णता नहीं है? क्या एक पक्ष में हम जिन सिद्धान्तों का प्रयोग करते हैं दूसरे पक्ष में उन्हीं की अवहेलना नहीं करते? कानून-सम्बन्धी अन्य गुरुतर समस्याओं के विषय में क्या हमें, कम-से-कम, उतना सावधान भी नहीं रहना चाहिए जितना कि जीरा और पुदीना पर चुंगी-टैक्स वसूल करने के लिए हम सतर्क रहते हैं? यदि आदर्श व्यक्ति के लिए युद्ध-क्षेत्र में बहादुर और खान-पान में मितवाचारी होना आवश्यक है, तो क्या उसे आपत्ति में घेर्यवान और शक्ति में आत्म-संयमी होना भी आवश्यक नहीं है? इस प्रकार के प्रश्न, कर्त्तव्यों और वांछनीय सद्गुणों के सम्बन्ध में, हमारी धारणा को और भी विस्तृत कर देते हैं।¹ नैतिक विकास का यह पक्ष इतना महत्वपूर्ण है कि इस पर कुछ और अधिक विचार कर लेना अच्छा होगा।

5. नैतिक अन्तर्दृष्टि का गम्भीर होना

अपने अपेक्षित कर्त्तव्यों और सद्गुणों के सम्बन्ध में व्यक्ति के गम्भीर होते हुए विचार उसके नैतिक विकास को जितना स्पष्ट रूप से व्यक्त करते हैं उससे अधिक स्पष्ट अभिव्यक्ति और कोई चीज नहीं दे पाती।

इस तथ्य की दृष्टान्तपूर्वक विवेचना अत्यन्त कुशल ढंग से ग्रीन ने अपनी पुस्तक² के उस भाग में की है जिसमें उन्होंने सद्गुण-सम्बन्धी यूनानियों की धारणा के साथ वर्तमान धारणा की तुलना की है। उस महान् कृति का वह अध्याय सम्भवतः

1. अनुनय की शक्ति द्वारा। प्रो० अलेक्जेंडर द्वारा 'सदाचार के प्राकृतिक चुनाव' के सम्बन्ध में प्रतिपादित मत यहीं पर सार्थक दिखाई देता है। देखिए इस पुस्तक का खण्ड 2, अध्याय 5, अनु० 8।
2. Prolegomena to Ethics, खण्ड 3; अध्याय 5।

सर्वाधिक मौलिक और विचारोत्तेजक है। यूनानियों द्वारा स्वीकृत दो सर्वप्रमुख व्यक्तिगत सद्गुणों—साहस और मिताचार¹—का उदाहरण लेकर उन्होंने यह दिखाया है कि किस प्रकार आधुनिक युग में इन दोनों सद्गुणों का व्यवहार-क्षेत्र विस्तृत हो गया है, और इनका आधारभूत सिद्धान्त गम्भीर हो गया है। उदाहरण के लिए, मिताचार के सम्बन्ध में ग्रीन का कहना है कि यूनानियों के बीच इस सद्गुण का उपयोग केवल खान-पान और मैथुन तक ही सीमित था; पर आधुनिक युग में आत्म-त्याग के अन्य विविध रूपों पर भी इसे लागू किया जाता है। और, इसके अलावा, वे इस बात पर भी जोर देते हैं कि भोगासक्ति के जिन रूपों को यूनानी लोग दुर्गुण मानते थे उनके सम्बन्ध में भी उनके आत्म-त्याग के आधारभूत सिद्धान्त उतने गम्भीर नहीं थे जितने गम्भीर आज हमारे सिद्धान्त हैं।

ग्रीन कहते हैं², “यूनानियों की अपेक्षा आज हमारे सामने नैतिक निष्ठा के ऐसे उद्देश्य कहीं अधिक और विविध हैं, जिन्हें अपने सुख के लिए त्यागने में हमें लज्जा आनी चाहिए। इन उद्देश्यों के प्रति निष्ठावान रहने के लिए आज बहुत बड़े आत्म-त्याग की जरूरत होती है। हमारे लिए केवल राज्य ही नैसर्गिक उन्नायक (Melior Natura) नहीं है जिसकी अपेक्षाओं के सामने हमारी पाशव प्रवृत्तियाँ स्वतः शर्म से गड़ जाती हैं; दूसरे अन्य प्रकार के संगठन भी हैं जो हमारे ऊपर नियन्त्रण रखते हैं, ऐसे दावे हमारे ऊपर करते हैं जिनका यूनानियों को पता भी नहीं था। जो दावे आज पत्नी की ओर से या बच्चों की ओर से, पुरुष-वर्ग की ओर से या महिला-वर्ग की ओर से, सहधर्मियों की ओर से या सहकर्मियों की ओर से हमारे ऊपर पेश किये जाते हैं, और जिनके कारण व्यक्ति अपने-आपको उन भोगों से वंचित रखता है जिन्हें अन्यथा वह कतई न छोड़ता, उन दावों का अर्थ भी पुराने संसार के लोग न समझ पाते” यह निश्चित है कि सामान्य शुभ या सर्वश्रेष्ठ की धारणाओं पर आधारित जिन आवश्यकताओं के कारण हमारी अन्तर्भावना हमें सुख-भोग की प्रवृत्ति को त्याग देने की प्रेरणा देती है, वे आवश्यकताएँ प्राचीन संसार की अपेक्षा आज कहीं अधिक व्यापक और जीवन में अधिक गहराई तक पहुँची हुई हैं; और फलतः आज हमसे और अधिक पूर्ण आत्मत्याग की माँग की जाती है।”

इसी प्रसंग में ग्रीन और आगे चलकर कहते हैं कि जीवन के जिन पक्षों में यूनानियों ने आत्मत्याग का सद्गुण स्वीकार भी किया था उनमें यह स्वीकृति हमारे युग की नैतिक चेतना की अपेक्षा कम पूर्ण और कम व्यापक थी। विषय-भोग-सम्बन्धी आत्मत्याग के मामलों में यह बात विशेष रूप से सच है। और इस प्रकार हमारी नैतिक चेतना में जो परिवर्तन हुआ है उसका अर्थ केवल इतना ही नहीं है कि जीवन में सद्गुणों के प्रयोग का क्षेत्र विस्तृत हो गया है; उसका अर्थ यह भी है कि सद्गुणों के आधारभूत सिद्धान्तों के सम्बन्ध में हमारी धारणा और भी गहरी हो गई है।

यूनानी नीतिशास्त्रियों ने, “दो प्रकार” के मान्य और व्यवहार्य सिद्धान्तों के आधार पर आत्मत्याग का आदर्श स्थापित किया था।³ पहला सिद्धान्त यह था कि शान्ति में या युद्धकाल में व्यक्ति द्वारा कर्तव्यों का उचित पालन किए जाने में जो भी सुख-भोग बाधा डाले उन सबको त्याग देना चाहिए; दूसरा सिद्धान्त यह था कि इन्द्रिय-वासनाओं पर इस प्रकार का नियन्त्रण किया जाना चाहिए कि दूसरों के धन-जन-सम्बन्धी अधिकारों का अतिक्रमण करने और दूसरों पर हावी होने से उन्हें रोका जा

1. म्यूरहेड की Elements of Ethics, पृ० 245-48 से भी तुलना कीजिए।

2. पूर्व उल्लिखित, खण्ड 3, अध्याय 1, अनु० 14।

3. पूर्व-उल्लिखित, खण्ड 3, अध्याय 1, अनु० 14।

सके। इस भाव का बोध करानेवाले यूनानी शब्द का समानार्थक शब्द अंग्रेजी में नहीं है। इस प्रवृत्ति को सामाजिक भावना का ठीक उलटा माना जाता था और हेय दृष्टि से देखा जाता था।”

यूनानी दार्शनिकों के बीच प्रचलित एक अन्य मत यह भी था कि “जिस प्रकार के सुख के सम्बन्ध में मित्ताचार का सिद्धान्त लागू होता हो वह मनुष्य के लिए किसी-न-किसी प्रकार अनुपयुक्त ही है, क्योंकि...” समाज ऐसी स्थिति में नहीं है कि समूची मानव-जाति के प्रत्येक व्यक्ति को केवल साधन-मात्र मानने के बजाय हमेशा एक साध्य मानकर ही उसी रूप में उसके साथ व्यवहार करने का आदर्श पूरी तरह सर्वत्र अपनाया जा सके; और, चाहे जिस रूप में इसे व्यक्त करें, यही एक ऐसा सिद्धान्त है जो शुचिता के प्रति हमारे आबन्ध को एक तर्कसंगत आधार प्रदान करता है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि आधुनिक ईसाई समाज आचरण में इस सिद्धान्त का पालन करने से कोसों दूर है, यद्यपि अपनी अन्तर्भावना से यह समाज इस सिद्धान्त को जिस रूप में स्वीकार करता है उस रूप में प्राचीन जगत् में इसे नहीं स्वीकार किया गया था। आज प्रत्येक व्यक्ति को कानूनी तौर पर व्यक्तिगत अधिकार प्राप्त हैं; इसलिए जो व्यक्ति दूसरों के अधिकारों और दावों को मानता है उसके लिए यह असम्भव है कि स्त्री को अपने सुखों की दासी बनाकर उसे पतित करने में निहित अन्याय बर्दाश्त कर सके। यद्यपि यह अन्याय अब भी अक्सर किया ही जाता है, पर आज ऐसा अन्याय करने वाले को अपनी अन्तर्भावना की जो भर्त्सना सहनी पड़ती है वह अरस्तू के जमाने के यूनानी नागरिक की संवेदना से परे थी—अपने आस-पास दासियों के झुण्ड से घिरा हुआ, वह ऐसे सामाजिक आदर्श के योग्य था ही नहीं (उस युग के दार्शनिकों के लेखों के अनुसार) जो दास-प्रथा से मेल न खाता हो। जब सामाजिक संगठन में वास्तव में ऐसा परिवर्तन होता है, जिसके फलस्वरूप मनुष्यमात्र को, बिना किसी प्रकार के लिंग-भेद के, समान अधिकार प्राप्त होते हैं तभी, ऐसे परिवर्तन के फलस्वरूप, यह संवेदना उत्पन्न होती है।¹

इस प्रकार, हम देखते हैं कि न केवल सद्गुण के परिसर का ही विस्तार हुआ है, बल्कि जिस सिद्धान्त पर यह सद्गुण आधारित है उसकी धारणा भी और अधिक गहरी हो गई है। अन्य सद्गुणों के सम्बन्ध में भी यही सत्य सिद्ध किया जा सकता है। वास्तव में सद्गुणों का सिद्धान्त धीरे-धीरे-सर्वव्यापी बन जाता है, और उसकी अभिव्यक्ति किसी एक विशेष रूप तक ही सीमित नहीं रहती। और सिद्धान्त के सर्व-व्यापी बनने के साथ-साथ, सद्गुणी जीवन की अन्तर्मुखता का बोध भी गहरा होता जाता है। जब तक सद्गुणों का सम्बन्ध सामाजिक जीवन की कुछ विशिष्ट अभिव्यक्तियों (उदाहरण के लिए, युद्ध के कार्य-कलापों में साहस) तक ही सीमित माना जाता है, तब तक वे हमें बाह्य तथ्यों से अधिक कुछ नहीं जान पड़ते। किन्तु जब हम यह देखते हैं कि वास्तव में सद्गुणों का सार-तत्त्व किसी सिद्धान्त का जीवन के किसी भी क्षेत्र में प्रयोग करने में है, तब हम यह समझ पाते हैं कि सद्गुणों का सार-तत्त्व किसी विशेष प्रकार के बाह्यकर्म में नहीं, बल्कि व्यक्ति के हृदय की अभिवृत्ति में है।

यह सच है कि यूनानी लोग सद्गुणों की इस तात्त्विक अन्तर्मुखी विशेषता से अनभिज्ञ नहीं थे। वे लोग—अर्थात् सर्वोत्तम यूनानी विचारक—यह जानते थे कि जब तक सद्गुणों के साथ हृदय और इच्छा की शुद्धता का मेल न हो—जब तक सद्गुणों का आचरण, जीवन में जो कुछ सुन्दर और उदात्त है, उसके लिए न हो—

तब तक उन्हें सद्गुण कहा ही नहीं जा सकता। पर जिन सिद्धान्तों पर सद्गुण आधारित हैं उनकी सार्वदेशिकता के एक स्पष्टतर बोध का विकास होने के कारण आज इस तथ्य की स्वीकृति और भी गहरी हो गई है।¹

6. नये आबन्ध

पिछले अनुच्छेद में हमने देखा कि सद्गुणों के आधारभूत सिद्धान्त का प्रत्यय गम्भीर होने के साथ-साथ सद्गुणों के आचरण का क्षेत्र भी विस्तृत हो गया है। इस प्रकार आबन्ध-सम्बन्धी हमारे विचारों में होने वाला विस्तार अपेक्षाकृत रूप में सीधा-सरल होता है। हम यह स्वीकार करना सीख जाते हैं कि जो बात यूनानियों पर लागू होती है वही बर्बर लोगों पर भी समान रूप से लागू होती है; जो बात यहूदी लोगों पर लागू होती है वही समान रूप से गैर-यहूदी लोगों पर भी लागू होती है; जो बात पुरुषों पर लागू होती है वही समान रूप से स्त्रियों पर भी लागू होती है।

पर इस विस्तार के साथ-साथ एक दूसरा सीधा-सादा विस्तार भी हुआ है, जिसके द्वारा हमें कुछ नवीन आबन्धों का बोध हुआ है जो पुराने आबन्धों के विस्तार-मात्र नहीं हैं। इस प्रकार जब मनुष्य की प्रकृति और उसकी नियति-सम्बन्धी ईसाई धारणा प्रचलित हुई तो उसके साथ प्रचारवाद का एक नया आबन्ध भी आ लगा जो पहले इस रूप में नहीं था। यह स्वीकार किया गया कि मानव-जाति का नैतिक पुनरुज्जीवन एक महान् प्रश्न है और प्रत्येक मानव-हृदय का इस प्रश्न से गहरा सम्बन्ध है; और इस स्वीकृति ने ईसाई मत को मानने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह एक अवश्यकरणीय आबन्ध बना दिया कि अपनी शक्ति-भर वह 'प्रत्येक प्राणी को ईसाई दिव्य-वार्ता का उपदेश देने का' प्रयत्न करे। दूसरी ओर, नैतिक स्वीकृति के क्रमिक विकास के सम्बन्ध में जो ज्ञान बाद में प्राप्त हुआ उसने उपदेश देने के इस आबन्ध को संशोधित करके अब इस आबन्ध में बदल दिया है कि बौद्धिक और नैतिक शिक्षा सर्वमुलभ बनाई जाए।

और भी देखिए, मनुष्यों और पशुओं के बीच पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में हाल ही में जो ज्ञान उपलब्ध हुआ है उसने पशुओं के प्रति हमारे व्यवहार के सम्बन्ध में हमारे विचारों को बिल्कुल बदल दिया है। यह कहना तो कुछ अत्युक्ति ही होगी कि पशुओं के प्रति भी अधिकारों और आबन्धों की वही धारणा हमने लागू कर दी है जो मनुष्यों पर लागू है। कुछ निम्न कोटि के पशुओं के सम्बन्ध में तो ऐसा करना एक बेतुकी बात होगी; और सर्वोत्तम कोटि के पशुओं के सम्बन्ध में भी, जब तक हम उन्हें मनुष्यों का-सा ही नैतिक जीवन बिताने वाले आत्म-चेतनावान और तर्कनाशील प्राणी न मान लें (पर उनके सर्वोत्तम हितैषी भी उनके लिए यह दावा नहीं करते), तब तक हम यह नहीं स्वीकार कर सकते कि अधिकार शब्द के किसी भी शुद्ध अर्थ में उन्हें कोई अधिकार प्राप्त हैं।

इस सम्बन्ध में हमें केवल इतना ही कहना उचित प्रतीत होता है कि अब हम मानव-चेतना के साथ पशु-चेतना का कुछ सम्बन्ध स्वीकार करने लगे हैं, कि हमें पशु-चेतना में कुछ ऐसी भावनाओं, अभिनतियों और प्रत्यक्ष ज्ञान के चिह्न दिखाई दे सकते हैं जो एक नैतिक जीवन की ओर विकास करते हुए जान पड़ते हैं, और इसलिए हमारा कर्तव्य हो जाता है कि पशुओं के प्रति—कम-से-कम उच्चकोटि के

1. मुझे ऐसा लगता है कि इस विषय पर यूनानी और ईसाई नैतिक चेतना की भावात्मक एकता के सम्बन्ध में ग्रीन ने कुछ अत्युक्ति की है (वही पुस्तक, पृ० 27। व आगे पृ० 283 आदि)। पर इसमें भी सन्देह नहीं कि इनके बीच के विभेद पर अधिक जोर देने में भी खतरा है।

पशुओं के प्रति—हम ऐसा व्यवहार करें जैसा अर्द्ध-मानव के प्रति करते हैं, एक प्रकार से लगभग वैसा व्यवहार जैसा हम बच्चों के प्रति करते हैं जिनकी भी नैतिक चेतना—जो अधिकारों का आधार है—पूरी तरह विकसित नहीं होती है।¹

पर हाल ही में हमने पशुओं से भी कुछ और आगे बढ़कर अपने सम्बन्ध स्वीकार कर लिए हैं। निर्जीव प्रकृति के साथ भी हम अपना एक प्रकार का सम्बन्ध स्वीकार करने लगे हैं; और इसके फलस्वरूप कुछ लोगों के मन में एक बहुत-कुछ अस्पष्ट-सी भावना यह उत्पन्न हो गई है कि प्राकृतिक दृश्यों की भी अपनी एक अधिकारवत्ता है कि उनका अस्तित्व कायम रहे, और अपने विनोद-विलास के लिए हमें उन दृश्यों को क्षति नहीं पहुँचानी चाहिए।

अपने आबन्धों के इस प्रकार के विस्तार पर ध्यान देते समय हमें यह नहीं अस्वीकार करना चाहिए कि कुछ आबन्ध ऐसे भी हैं जिन्हें भुला देने की हमारी प्रवृत्ति होती है। इस सन्दर्भ में प्रायः कहा गया है कि स्वामी और सेवक के बीच पारस्परिक आबन्धों के प्रति सजगता आदिम युग में आज की अपेक्षा कहीं अधिक प्रबल थी। इस आरोप को पूरी तरह स्वीकार करना पड़ेगा। पर साथ ही यह भी स्मरण रखना होगा कि कर्त्तव्य-भावना के इस आंशिक लोप का कारण हमारे आबन्धों के क्षेत्र का विस्तार ही है। स्वामी और सेवक के बीच पारस्परिक व्यक्तिगत सम्बन्धों की प्रगाढ़ता (जिसके विषय में प्रायः बहुत अत्युक्ति की जाती है) का आंशिक कारण यह तथ्य भी था कि इस विशिष्ट सम्बन्ध में निहित कर्त्तव्यों को छोड़कर अन्य किसी मानवीय आबन्ध को स्वीकार ही नहीं किया जाता था। सेवक से आशा की जाती थी कि अपने प्रश्रय और संरक्षण के लिए वह स्वामी के प्रति कृतज्ञता के बोझ से दबा रहेगा।² पर इस सम्बन्ध में स्वामी का आबन्ध, मेरे विचार से, सामान्यतः बहुत ही अस्पष्ट था।

पर, आज इसके विपरीत, किसी प्रकार के विशिष्ट सम्बन्ध के बिना भी, मनुष्य के प्रति मनुष्य के दायित्व को हम स्वीकार करते हैं। अंशतः यह बात सच मालूम होती है कि कर्त्तव्य के इस व्यापक क्षेत्र को स्वीकार कर लेने से संकीर्ण क्षेत्र के बन्धन सचमुच ढीले पड़ गए हैं। एक छोटे कर्त्तव्य का पालन करने की अपेक्षा किसी बड़े आबन्ध का पूरा करना हमेशा ज्यादा मुश्किल होता है। पर इससे यह समझने में तो कोई बाधा नहीं पड़नी चाहिए कि इस युग में स्वीकृत कर्त्तव्यों का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है।

7. नैतिक परिवर्तन और पर्यावरण का परिवर्तन

कभी-कभी यह प्रश्न भी उठाया जाता है³ कि नैतिक आबन्ध-सम्बन्धी हमारे दृष्टिकोण में होनेवाला यह विस्तार वास्तव में हमारी नैतिक चेतना के विकास के कारण हुआ है, या केवल पर्यावरण में हुए परिवर्तन के कारण। इस प्रकार यह तर्क किया जा सकता है कि आधुनिक युग के दासों को मिली मुक्ति का कारण है हमारे

1. यह कहना अनावश्यक ही है कि मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि इस अल्प विमर्श को इतने जटिल प्रश्न की पूर्ण विवेचना मान लिया जाए। उदाहरण के लिए, बच्चों की अधिकारवत्ता निश्चित रूप से निम्नकोटि के पशुओं की अधिकारवत्ता से बहुत ही भिन्न होगी, क्योंकि बच्चे तो वास्तव में तर्कनाशील बनने के मार्ग पर आगे बढ़ रहे हैं, जबकि पशुओं में ऐसी कोई प्रगति नहीं है।
2. Buckle की History of Civilization, भाग 3, पृ० 325 से तुलना कीजिए। इस पुस्तक का खण्ड 3, अध्याय 2, अनु० 7 ख भी देखिए।
3. Muirhead की पुस्तक Elements of Ethics, पृ० 247 व आगे से तुलना कीजिए।

औद्योगिक तरीकों का विकास; यह भी कहा जा सकता है कि दासों के मुक्ति-आन्दोलन¹ को मानव-अधिकारों की सामान्य स्वीकृति पर आधारित बताने का प्रयत्न करना आधुनिक युग के शब्दजाल और मिथ्याचार का ही एक उदाहरण है।

यह तो स्पष्ट है कि दासता उन्मूलन की सम्भावना (जिसे अरस्तू नहीं स्वीकार कर सके थे) को वास्तव में आर्थिक स्थितियों में होने वाले विकास के कारण ही सामान्य रूप से स्वीकार किया गया था; और इस सम्भावना को स्वीकार करने के साथ ही सचमुच दासता का उन्मूलन करने का दायित्व भी अंगीकार किया गया था। जहाँ कहीं भी स्वीकृत आबन्धों का विस्तार होता है वहीं यह, या ऐसी ही बात, अधिकांश मामलों में लागू होगी। उदाहरण के लिए, महिलाओं की मुक्ति के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है। नवीन औद्योगिक परिस्थितियों ने ही इस माँग को बढ़ावा दिया है।

पर इस तथ्य के कारण हमारा यह बढ़ता हुआ विश्वास लड़खड़ाना नहीं चाहिए कि नैतिक प्रगति अवश्य हुई है। नैतिक जीवन का विकास, निस्सन्देह, शून्य में नहीं होता। आदि से अन्त तक उसका सापेक्ष सम्बन्ध उस पर्यावरण से रहता है जिसमें वह विकसित होता है। हमारे ज्ञान की वृद्धि से, हमारी शक्ति की वृद्धि से और हमारी कर्म-सम्भावनाओं की वृद्धि से ही नैतिक जीवन का विकास होता है। इस प्रकार नवीन परिस्थितियों और नवीन समवायों द्वारा (जिनका हल हमें खोजना होता है) तथा समस्याओं का सम्भव समाधान जिन नवीन दिशाओं में दिखाई देता है उन दिशाओं द्वारा, निरन्तर हमारे नैतिक जीवन का नव-निर्धारण होता रहता है।² पर, केवल इसलिए, उसके विकास की वास्तविकता में कोई कमी नहीं आ जाती।

जिस भावना से दासों को मुक्ति दिलाई गई उसके विषय में जिन्हें कुछ भी ज्ञान है, वे भली-भाँति जानते होंगे कि इस मुक्ति-आन्दोलन के महान् नेताओं की प्रेरणा मूलतः शुद्ध नैतिक प्रेरणा थी, जिसके अभाव में आवश्यक आत्म-बलिदान कभी न किया जा सकता था, भले ही यह तथ्य कितना ही सच क्यों न हो कि औद्योगिक स्थितियों ने इस मुक्ति को सम्भव बनाया, कि औद्योगिक परिस्थितियों ने ही पहले-पहल इस विचार को लोगों के मन में उत्पन्न किया और इन्हीं परिस्थितियों के कारण सामान्यतः लोगों ने इसे स्वीकार किया; और चाहे कितना ही सत्य यह तथ्य भी क्यों न हो कि इस आन्दोलन की सफलता के लिए संघर्ष करने वाले सामान्य लोगों के मन में व्यावसायिक और शुद्ध राजनीतिक प्रयोजन ही सर्वाधिक प्रबल थे। केवल बाह्य परिवर्तनों से नैतिक सुधार की आवश्यकता तो स्पष्ट हो सकती है; पर संसार की प्रगति तो केवल उसी मात्रा में हो पाती है जिस मात्रा में ये परिवर्तन मनुष्य की नैतिक चेतना को जागरूक बना पाते हैं।

8. आदर्श जगत्

यह तथ्य है कि नैतिक प्रगति होती है। इस तथ्य से सिद्ध होता है कि यह बात सोलहों आने सही नहीं है कि शुभ व्यक्ति, और विशेष रूप से नैतिक प्रतिभा-शाली व्यक्ति (जो सामान्यतः नैतिक सुधारक भी होता है) एक ऐसे जगत् में सीमित

1. Adam Smith की पुस्तक *Wealth of Nations*, खण्ड 3, अध्याय 2 से तुलना कीजिए।

2. *History of Philosophy* (अंग्रेजी अनुवाद, पृ० 215) पर हेगेल ने लिखा है कि मनुष्य की भावना "समकालीन जीवन को अपनी क्रियाशीलता का उपादान बनाती है; स्वयं यह भावना जीवन के स्वरूपों को बदलने के लिए प्रेरित कियाशीलता का अनन्त आवेग है।"

रहता है जो यथार्थ रूप में वर्तमान आदतों और संस्थाओं से बना होता है या किसी भी देश-काल विशेष में निश्चित रूप से स्वीकृत आदर्शों से ही क्यों न बना होता हो। जो बात अब्राहम के सम्बन्ध में कही गई है वह नैतिक जीवन पर सामान्य रूप से लागू होती है। “जब अब्राहम को बाहर एक ऐसे स्थान पर जाने का आदेश दिया गया जो बाद में उन्हें विरासत में मिलना था, तब श्रद्धापूर्वक उन्होंने आदेश का पालन किया और बिना यह जाने हुए भी कि वह कहाँ जा रहे हैं, बाहर चले गए...” क्योंकि वह ऐसे नगर की खोज में थे जो सुदृढ़ नींव पर टिका हो, जिसका निर्माता और विधाता भगवान् हो।”

अपने नैतिक विकास में मनुष्य की भावना निरन्तर ऐसे ही नगर की खोज में रहती है। वह बराबर “ऐसे जगत् में घूमती रहती है जिनकी उपलब्धि मनुष्य को नहीं हो पाई।” किसी भी देश-काल विशेष में वस्तुतः प्रतिष्ठित आदतों और संस्थाओं से वह सन्तुष्ट नहीं होती, परम्परागत रूप से स्वीकृत आदर्शों से भी वह असन्तुष्ट ही रहती है, और एक ऐसे जीवन के लिए निरन्तर आगे बढ़ती रहती है, जो और अधिक पूर्ण हो, अधिक संगत हो, अधिक सन्तोषप्रद हो।¹ यही कारण है कि काल्पनिक आदर्श-जगत् में, कवियों के कल्पना-लोकों में और जीवन की शुभतर विधाओं की प्रत्याशा में लोगों की रुचि सर्वदा अटूट बनी रहती है।

इन कल्पना-लोकों और प्रत्याशाओं में खतरा यह है कि ये प्रायः जीवन के

1. “जीवन-संगीत को मुखरित रखने वाला प्रधान स्वर वह नहीं है जिसे लोग शुभ या उत्तम मानते हैं, बल्कि वह जिसे वे सर्वोत्तम समझते हैं। यह सच है कि यह सर्वोत्तम हमारे आचरण में मूर्तरूप धारण करने वाले हमारे विश्वास का अंग नहीं है : सामान्य व्यक्ति केवल ऐसी बातों से ही बचने का प्रयत्न करता है जो स्पष्ट रूप से अन्यायपूर्ण या अनुचित हों; सर्वोत्तम कोटि के व्यक्ति भी हमेशा ऐसा आभास नहीं देते कि वे जो कुछ कर रहे हैं वह उचित या न्यायपूर्ण है। लोग जिसकी प्रशंसा करते हैं उसी रूप में ढलते हुए—विकसित होते हुए नहीं दिखाई देते; जिसकी वे भर्त्सना करते हैं, निन्दा करते हैं उससे भिन्न, उससे विपरीत बनते दिखाई दे सकें, यही बहुत है।

पर जीवन को प्रधान रूप से प्रभावित करने वाला तो वही है जिसकी उपलब्धि नहीं हो सकी। हम जो कुछ देख पाते हैं वह तो व्यक्ति के आदर्श का निषेधात्मक पहलू ही होता है; पर वह आदर्श स्वयं उस प्रशंसा में जीवन्त रहता है जो वचन या कर्म से प्रकट नहीं हो पाती। व्यक्ति किन-किन चीजों से बचने का प्रयत्न करता है—इसकी परख करने में हम उसके मानक के उस अंश को परखते हैं जो सबसे कम महत्त्व का है; अपने व्यक्ति-रूप में जिसकी सिद्धि का वह कभी प्रयत्न ही नहीं करता, वही उसके व्यक्तित्व का निर्माण करता है। चूँकि ईसाई मत ने कोट मॉर्गने वाले को लबादा दे देने के उपदेश की महिमा बखान की है, इसीलिए आज का सामान्य धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति एक इतना भिन्न प्राणी है; यह सिद्ध करना अधिक आसान है कि जिसे अधिकांश लोग एक असम्भव सद्गुण कहेंगे उसे व्यवहार में लाने का यह दावा प्रभावहीन कम, पर हानिकारक अधिक सिद्ध हुआ है। ईसाई मत ने चरित्र को तो मोड़ दिया है, पर आचरण पर उसका प्रभाव खोजना निष्फल होगा। कोई जाति क्या बन रही है, इसका पता उसकी दण्ड-संहिता से नहीं, बल्कि उसके द्वारा दिये गए पुरखा के उपदेश से चलता है; और सफलतापूर्वक एक नया कानून पास करने वाले व्यक्ति की अपेक्षा वह व्यक्ति नैतिक आदर्श को अधिक प्रभावित करता है जो किसी भी कर्तव्य-समूह को उत्तमता की दूसरी कोटि का सिद्ध करने में सफल होता है।” यह विचारोत्तेजक उद्धरण कुमारी वेजवुड (Miss Wedgwood) की पुस्तक *The Moral Ideal*, पृ० 373 से लिया गया है। रेखांकन मैंने किया है।

विकास का केवल एक आंशिक और अमूर्त पहलू ही प्रकट करते हैं, और जीवन के ठोस यथार्थ पहलू पर व्यक्ति का ध्यान क्षिणिक पड़ जाता है। इस दृष्टि से इस कहावत में कुछ सत्य है कि यह समुचा जगत् अपने सर्वाधिक प्रज्ञावान व्यक्ति से भी अधिक प्रज्ञावान है। धरती को अपना घर मानकर उस पर रहने वालों को, धरती पर अजनबी और यात्री-रूप में आनेवाले पैगम्बरों की अन्तःप्रज्ञा से प्रसूत नवीन उपदेशों की नये सिरों से व्यावहारिक विवेक की दृष्टि से नवीन व्याख्या करनी पड़ती है। दिव्य-दृष्टि वाला पैगम्बर कभी-कभी अपने दिव्य-आलोक की चकाचौंध में शेष सम्पूर्ण संसार को अन्धकारमय देखने लगता है। जिस विषाद को कार्लाइल समस्त सच्ची अन्तर्दृष्टि का आधार मानते थे, उसका कारण यही है। जब तक किसी और अधिक शुभ प्राप्य के आंशिक आभास की तुलना में नैतिक जीवन की सम्पूर्ण वास्तविक उपलब्धि अपूर्ण और अधूरी-मात्र दिखाई देती है; जब तक यह बोध नहीं होता (जो प्रायः अधिक गहरी सच्चाई होती है) कि आंशिक शुभ में पहले से ही शुभतर के बीज सक्रिय हैं और जो प्रारम्भ में केवल अशुभ ही मालूम होता है उसमें भी शुभत्व के बीज विद्यमान हो सकते हैं—तब तक यह नैराश्य और अधीरता चेतना पर छाई ही रहती है।

फिर भी, इस नैतिक निष्ठा की स्वीकृति और एक ऐसे आदर्श का बोध, जो अभी सिद्ध नहीं हो सका—जिसका अभी रूप भी निर्धारित नहीं हो सका—यह सब हमें तुरन्त काव्य और धर्म के क्षेत्र में ले जाता है जो एक प्रकार से नैतिकता के क्षेत्र से परे है। इनका विवेचन हमें अपने वर्तमान विषय से दूर हटा ले जाएगा, पर अन्तिम अध्याय में नीतिशास्त्र और तत्त्वमीमांसा के कुछ पारस्परिक सम्बन्धों की चर्चा करके, जिसमें प्रसंगवश धर्म का भी कुछ उल्लेख यथास्थान आ ही जाएगा, इस प्रवेशिका को हम समाप्त कर सकते हैं।¹

1. इस अध्याय के समूचे विषय का अत्यन्त सुन्दर विवेचन म्यूरहेड की पुस्तक *Elements of Ethics*, खण्ड 5 में किया गया है। आधुनिक प्रगति की कुछ कमजोरियों को—विशेष रूप से व्यक्ति के व्यक्तित्व की सिद्धि के दृष्टिकोण से—प्रोफेसर ए० ई० टेलर ने अपनी पुस्तक *The Problem of Conduct* में बड़े प्रभावपूर्ण ढंग से स्पष्ट किया है।

कुल चरम समस्याएँ

1. नैतिकता के आधार-तत्त्व

कभी-कभी इस बात पर जोर दिया गया है कि नैतिक जीवन की आवश्यकताएँ तब तक ठीक तरह से पूरी नहीं हो सकतीं जब तक कुछ ऐसी शर्तें स्वीकार न कर ली जाएँ जिन्हें तत्त्वमीमांसीय कहा जा सकता है। काण्ट ने विशेष रूप से स्वाधीनता, ईश्वर और अमरत्व को स्वीकार करने की आवश्यकता पर जोर दिया था। काण्ट द्वारा प्रतिपादित सामान्य नीति-सिद्धान्त को हमने पूरी तरह स्वीकार नहीं किया—यद्यपि उसके मूल्य और महत्व को हमने स्वीकार किया है—इसलिए हमारे लिए इस बात का विवेचन करना जरूरी नहीं है कि उनके सिद्धान्त के लिए इन सबको स्वीकार करने की आवश्यकता क्यों पड़ी।¹ पर यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि किसी भी नीति-सिद्धान्त में कम-से-कम स्वाधीनता को पहले से ही स्वीकार करना होगा; यहाँ इस सम्बन्ध में कुछ और निश्चयात्मक बात कहना उचित होगा। नैतिक जीवन के लिए ईश्वर और अमरत्व को पहले से ही स्वीकार कर लेने की आवश्यकता तो इतनी स्पष्ट नहीं प्रतीत होती; किन्तु कम-से-कम इतना विवेचन कर लेना अच्छा होगा कि जो सिद्धान्त यहाँ हमने स्वीकार किया है उसमें मानव-जीवन की निरन्तरता और विश्व के सामान्य गठन से सम्बन्धित कोई विशिष्ट मत निहित है या नहीं।

2. स्वाधीनता के आधार-तत्त्व

यह तो हम पहले ही देख चुके हैं कि एक अर्थ में स्वाधीनता को नैतिक जीवन की एक अनिवार्य शर्त माना जा सकता है। उचित कार्य करने का स्पष्ट अर्थ है उचित इच्छा करना; उचित संकल्प करना; और निश्चित रूप से एक अर्थ में 'संकल्प करने' का तात्पर्य है 'स्वाधीन होना'। इच्छा करने—संकल्प करने का अर्थ है सम्भव विकल्पों में से किसी एक को चुनना। चुनने के लिए विवश होना तो स्पष्ट रूप से एक स्वतः विरोधी बात है। इसका यह अर्थ नहीं कि चयन का कोई आधार ही नहीं होता; और जब चयन के आधार स्पष्ट रूप से समझ में आ जाते हैं तब चयन अनिवार्य भी हो सकता है। ऐसी परिस्थितियाँ अधिक नहीं हैं जिनमें मनुष्य जीवन की अपेक्षा मृत्यु को अधिक पसन्द करे, स्वास्थ्य की अपेक्षा रोग को, ज्ञान की अपेक्षा अज्ञान को, सौन्दर्य की अपेक्षा कुरूपता को, स्वाधीनता की अपेक्षा बन्धन को, अथवा सामान्य रूप से अस्ति-मूल्य वाली चीजों की अपेक्षा नास्ति-मूल्य वाली चीजों को अधिक पसन्द करे। काफ़ी निश्चित रूप से हम जानते हैं कि यदि किसी व्यक्ति के सम्मुख ये विकल्प स्पष्ट रूप से रखे जाएँ तो वह किसको पसन्द करेगा, और यदि

1. इस सम्बन्ध में Caird की पुस्तक *Critical Philosophy of Kant*, भाग 2, पृष्ठ 289 व आगे देखिए।

उस व्यक्ति के चरित्र तथा इतिहास के सम्बन्ध में हमें कुछ ज्ञान हो तो निश्चय की मात्रा और भी अधिक बढ़ जाती है।

किन्तु, दूसरी ओर, जब तक किसी व्यक्ति के सामान्य चरित्र और उसके अभ्यस्त मूल्यांकनों से हम भली-भाँति परिचित न हों, तब तक हमें इस बात का तफ़्सीलवार पता नहीं होता कि किसी भी परिस्थिति-विशेष में उस व्यक्ति की पसन्द क्या होगी—अर्थात् वह किस प्रकार का खान-पान या मनोरंजन पसन्द करेगा, वह अपना मत उदार दल को देगा या रूढ़िवादी दल को, वह वैद्य बनना पसन्द करेगा या वकील बनना, कौन-से खेल खेलना पसन्द करेगा, किस प्रकार के लोगों से मित्रता करेगा, किस प्रकार के प्रलोभनों का वह सामना कर सकेगा और किन प्रलोभनों का वह शिकार हो जाएगा। पर यदि अन्य क्षेत्रों में उसके साथ हमारा घनिष्ठ परिचय हो तो निश्चित रूप से इनमें से अधिकांश बातों के सम्बन्ध में हम चतुराई के साथ अपना अनुमान लगा सकते हैं; और यदि हमारा अनुमान ग़लत भी हो जाए, तो शायद हम उन परिस्थितियों और कारणों की जाँच-परख भी करेंगे जिनकी वजह से उसने अप्रत्याशित ढंग से काम किया होगा।

और, इसमें सन्देह नहीं कि ऐसे मामले भी हैं जिनमें मनुष्य स्वयं कुछ निश्चितनहीं कर पाता कि कौन-सा कार्य पसन्द किया जाना चाहिए। ऐसे मामलों में वह दूसरों से सलाह ले सकता है या पैसा उछालकर फ़ैसला कर सकता है; और उसके साथ यदि हम भली-भाँति परिचित हों तो काफ़ी हद तक निश्चयपूर्वक हम कह सकेंगे कि इन दोनों में से कौन-सा रास्ता वह अपनाएगा। बेशक, कुछ लोग ओरों की अपेक्षा अधिक गूढ़ होते हैं; वे क्या करेंगे, इसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता। पर उनकी यह गूढ़ता दृढ़ इच्छा-शक्ति का परिचय देने के बजाय ठीक इसकी उलटी बात की ओर ही संकेत करती है।

इस प्रकार के विचारों से हम कम-से-कम इस निष्कर्ष पर अवश्य पहुँचते हैं कि, यदि किसी व्यक्ति से हम भली-भाँति परिचित हैं तो, किसी भी निदिष्ट परिस्थिति में वह किस प्रकार के कार्य करेगा—इसकी भविष्यवाणी हम उतने ही विश्वास के साथ कर सकते हैं जितने विश्वास के साथ हम ग्रहों की गतिविधि के सम्बन्ध में कुछ कह सकते हैं; और मौसम के परिवर्तनों के सम्बन्ध में जितने विश्वास के साथ हम कोई भविष्यवाणी कर सकते हैं, उसकी अपेक्षा कहीं ज़्यादा विश्वास के साथ हम उस व्यक्ति के कार्यों के सम्बन्ध में भविष्यवाणी कर सकते हैं। फिर भी यह तो सच है ही कि सामान्यतः कुछ विचार-विमर्श के बाद ही वह अपना कार्य निर्धारित करता है; जबकि ऐसा सोचने का, निश्चय ही, कोई कारण नहीं है कि ग्रह-नक्षत्र अथवा मौसम भी ऐसा ही विचार-विमर्श करते हैं। पर इस बात की भी भविष्यवाणी काफ़ी हद तक विश्वासपूर्वक की जा सकती है कि किसी विशेष मामले में कोई व्यक्ति-विशेष कितना विचार-विमर्श करेगा।

कभी-कभी ऐसा सोचा जाता है कि यह सब-कुछ स्वीकार कर लेने का अर्थ है चयन की वास्तविकता को अस्वीकार कर देना, और उसके साथ ही नैतिक अनुमोदन अथवा नैतिक अस्वीकृति की वैधता को भी अस्वीकार कर देना। मेरी समझ से ऐसा सोचने का कारण यह है कि चयन को लोग मूल्यन की एक विधि के रूप में नहीं समझ पाते। जिस ढंग से और जिस अंश में मनुष्य के कार्य मूल्यों द्वारा परिचालित होते हैं, उस ढंग से और उस अंश में, कम-से-कम ग्रहों और पत्थरों, शायद पेड़-पौधों और कुछ हद तक जानवरों की हरकतें, उनसे परिचालित नहीं होतीं। जो

मत हमने स्वीकार किया है उसके अनुसार तो जो कार्य जान-बूझकर वास्तविक मूल्यों की सृष्टि या संरक्षण के लिए किये जाते हैं वही शुभ कार्य हैं।

ज्ञान, सद्भावना अथवा सबल इच्छा के अभाव के अलावा, और कोई ऐसी चीज नहीं है जो अपने कार्यों को इस दिशा में संचालित करने से हमें रोक सके। हमारी कमी बौद्धिक, संवेगात्मक अथवा निश्चित रूप से नैतिक कमी हो सकती है। पर इस प्रकार की सभी कमियों का अपना एक इतिहास होता है और सिद्धान्त रूप में इन कमियों के नतीजों की भविष्यवाणी भी की जा सकती है; और इस दृष्टि से इन परिणामों को नियत मानना भी ठीक हो सकता है। यदि हमें ज्ञान नहीं है, तो हम अज्ञानी हैं : यदि हमारे अन्दर उचित भावना नहीं है तो हमारे संवेग विकृत हैं : यदि हम उचित कार्य नहीं करते तो हम न्यूनाधिक रूप में दृष्ट हैं। इस प्रकार के दोषों को मूल परिस्थितियों में—सहज प्रवृत्तियों, शिक्षा के प्रभावों, सांस्कृतिक परम्पराओं, पुरानी आदतों आदि में—खोजा जा सकता है, जिन पर हमारा अधिकार बहुत कम या बिल्कुल भी नहीं था; और सामान्यतः इन दोषों को अंशतः बाह्य प्रभावों से ही दूर किया जाना चाहिए। पर ये बाह्य प्रभाव हमारे द्वारा जान-बूझकर अपनाए या चुने जाने पर ही कारगर हो सकते हैं; और यह चुनाव वास्तव में स्वयं अपने द्वारा किया गया हमारा अपना चुनाव होता है, उसके पीछे एक इतिहास होने की बात चाहे जितनी सही क्यों न हो।¹

3. मूल्य-सम्बन्धी निर्णयों की विश्वसनीयता

यह तो एक बहुत ही स्पष्ट बात है कि अनेक विषयों पर मनुष्य के निर्णय विश्वसनीय नहीं हैं। अधिकांश देशों में परस्पर-विरोधी राजनीतिक दल हैं, और विभिन्न देशों में राजनीतिक संगठन के तरीके भिन्न हैं।² शिक्षा की सर्वोत्तम पद्धतियों के विषय में, विशिष्ट रोगों की सर्वोत्तम उपचार-पद्धतियों के विषय में, औद्योगिक संगठन के सर्वोत्तम तरीकों के विषय में तथा मानव-जीवन के अनेक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषयों के सम्बन्ध में अलग-अलग मत हैं।

दूसरी ओर, कुछ अधिक व्यापक मामलों में अपेक्षाकृत रूप में कुछ भी मत-भेद नहीं है। राजनीतिक संगठन के विषय में चाहे जितना मतभेद हो, पर शायद ही कोई विचारशील व्यक्ति पूर्ण रूप से अराजकतावादी हो। प्रायः प्रत्येक व्यक्ति स्वीकार करता है कि किसी-न-किसी प्रकार का राजनीतिक और सामाजिक संगठन होना आवश्यक है।

इसी प्रकार यद्यपि शिक्षा-पद्धतियों के विषय में मतभेद हैं, फिर भी सामान्यतः सभी लोग स्वीकार करते हैं कि बच्चों को उनके सामाजिक पर्यावरण में किसी-न-किसी प्रकार दीक्षित करना ही होगा, उन स्थितियों से अपना सामंजस्य बिठाने तथा उनके प्रति अपनी प्रतिक्रियाओं को उचित ढंग से ही आचरण में व्यक्त होने देने की सर्वोत्तम विधियों की शिक्षा उन्हें देनी ही होगी।

1. इस विषय के और अधिक विवेचन के लिए विद्यार्थी को Rashdall की पुस्तक *Theory of Good and Evil*, विशेषकर दूसरा खण्ड, तीसरा अध्याय, पृ० 330-45 देखना लाभप्रद होगा। मुझे तो उनके द्वारा किया गया इस विषय का विवेचन बहुत अच्छा लगता है। McTaggart की महत्त्वपूर्ण पुस्तक *Some Dogmas of Religion* और *The Nature of Existence* भी देखी जा सकती हैं।
2. कुछ अग्रणी देशों के बीच के सांस्कृतिक मतभेदों के सम्बन्ध में Count Keyserling की पुस्तक *Europe* देखी जा सकती है।

उपचार की सर्वोत्तम पद्धतियों के सम्बन्ध में अवश्य मतभेद हैं, पर इस बात में मतैक्य है कि रोग की अपेक्षा स्वास्थ्य अच्छा है और स्वास्थ्य-रक्षा तथा रोग-निवारण के लिए कुछ पद्धतियाँ औरों की अपेक्षा अधिक अच्छी हैं।

इस सम्बन्ध में भी सामान्य मतैक्य है कि कुछ प्रकार के औद्योगिक कार्य मानव-कल्याण के लिए आवश्यक हैं, विभिन्न प्रकार के कार्यों के सापेक्ष महत्त्व के सम्बन्ध में और उन्हें संगठित करने तथा उनके उत्पादनों को वितरित करने के तरीकों के सम्बन्ध में चाहे कितने ही विरोधी मत क्यों न हों !

चित्रकला, संगीत, काव्य और अन्य कलाओं के सम्बन्ध में भी रुचि-भेद हैं; पर इस बात में सामान्य मतैक्य है कि सौन्दर्य के कुछ रूपों का गुण-दोष-विवेचन, रस-ग्रहण और सर्जन होना चाहिए।

और शुद्ध विज्ञानों के कुछ पक्षों के सम्बन्ध में भी मतभेद हैं—सौभाग्य से ये मतभेद घटते जा रहे हैं—पर इस विषय में सब एकमत हैं कि ज्ञान की उन्नति एक ऐसा साध्य है जिसकी सिद्धि का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

यह खेदजनक है कि धर्म के सम्बन्ध में भी स्पष्ट मतभेद हैं; पर इस सम्बन्ध में कोई अधिक सन्देह नहीं है कि इस विश्व की सामान्य सार्थकता के सम्बन्ध में तथा इस विश्व में मानव-जीवन के स्थान के सम्बन्ध में जो कुछ जाना जा सके उसे खोजना-समझना बांछनीय है।

इन सभी विषयों के सम्बन्ध में लोग विवाद करते हैं, झगड़ा करते हैं; पर कुल मिलाकर उनका यह विवाद इसलिए होता है कि धीरे-धीरे इन विषयों में किसी समझौते पर पहुँचने की सम्भावना में उन्हें विश्वास है, और यह भी विश्वास है कि समझौते पर पहुँचना बांछनीय है। इस प्रकार के आधारभूत प्रश्नों के सम्बन्ध में यदि कुछ-न-कुछ मात्रा में यह विश्वास न होता तो मानव-जीवन का यापन करना ही कठिन हो जाता। इसलिए, बड़े-बड़े मतभेदों के बावजूद, हमें यह स्वीकार करना होगा कि सत्यता, सौन्दर्य और शुभत्व के महान् मूल्यों के सम्बन्ध में तथा उनकी अभिवृद्धि के सर्वोत्तम उपायों के सम्बन्ध में समझौता सम्भव है और उसके लिए प्रयत्न करना बहुत जरूरी और महत्वपूर्ण है; और यदि यह बात मान ली जाती है कि इस प्रकार के मूल्यों की अभिवृद्धि के लिए अथक परिश्रम करना ही तात्त्विक दृष्टि से नैतिक शुभत्व है, तो यह एक ऐसा बांछनीय साध्य है जिसकी सिद्धि सम्भव है और जिसके लिए प्रयत्न किया जाना चाहिए।

4. किंकर्तव्यमीमांसीय समस्याएँ

किंकर्तव्यमीमांसीय प्रश्नों में आधुनिक अभिरुचि का मूल प्रधान रूप से हमारे नैतिक दृष्टिकोण की इसी जटिलता में है। सम्यता की कुछ अधिक आदिम स्थितियों में प्रत्येक व्यक्ति का अपना स्थान और अपने कर्तव्य कुछ इस प्रकार निर्धारित रहते हैं कि उनके बारे में किसी प्रकार का सन्देह या सवाल उठाया ही नहीं जा सकता। पर अधिक सम्य स्थितियों में, इसके विपरीत, प्रत्येक व्यक्ति को अपना स्थान खोजना-बनाना होता है और काफ़ी हद तक उस स्थान में निहित कर्तव्यों की खोज करनी होती है। और व्यक्ति की क्षमता तथा मिलने वाले अवसर की अनिश्चित सीमाओं के अलावा इस खोज-प्रक्रिया की वास्तव में कोई मिति ही नहीं है। जैसे-जैसे सम्यता प्रगति करती जाएगी, वैसे-वैसे अधिकाधिक स्पष्ट रूप में यह स्वीकार करना होगा कि किसी भी व्यक्ति के कर्तव्यों का विवरणमूलक निर्धारण असम्भव है। वास्तव में हम जो कुछ कह सकते हैं वह केवल इतना ही है कि व्यक्ति जिन परिस्थितियों में

हो उनके अनुसार अपनी शक्ति-सामर्थ्य-भर सर्वोत्तम करना ही उसका कर्तव्य है। किन्तु व्यक्ति-मांसा द्वारा अधिक-से-अधिक इतना ही किया जा सकता है कि विकास की किसी विशिष्ट स्थिति में जीवन के विविध कार्य-कलापों को अनुमानित महत्त्व-क्रम में व्यवस्थित कर दे और इसी प्रकार मनुष्य की शक्तियों का भी एक स्थूल वर्गीकरण कर दे। अनुदेश, शिक्षा, परीक्षा और परीक्षण की विविध पद्धतियों में कुछ हद तक इसका प्रयत्न किया भी जाता है; और इन पद्धतियों में अनन्त सुधार करते जाने की गुंजाइश रहती है। कुछ हद तक उन विभिन्न स्थितियों का भी निर्धारण किया जा सकता है जिनमें से लोगों को गुजरने की सम्भावना हो। और तब जीवन में उत्पन्न हो सकने वाली कठिन समस्याओं की भी काफ़ी हद तक पूर्वकल्पना की जा सकती है। यह काम यथासम्भव पूर्ण रूप से हो जाने पर मोटे तौर से कुछ सामान्य नियम उन कठिनाइयों को सुलझाने के लिए बनाए जा सकते हैं जिनका जीवन में सामना करना पड़ सकता है। नीतिशास्त्र सम्बन्धी जो सामान्य दृष्टिकोण हमने स्वीकार किया है वह यदि सही है तो मार्गदर्शक सिद्धान्त यह होगा कि जिन मूल्यों को हम अपना लक्ष्य मानें उनका ध्यान रखें। यह सिद्धान्त तर्क-मीमांसीय पद्धति का आधार बन सकेगा। इस पद्धति के परम उत्साही समर्थक भी स्वीकार करेंगे कि सामान्यतः सन्तोषप्रद रूप में भी इसका विवरणात्मक हल निकाल सकना बहुत ही कठिन होगा; और जो कुछ सहायता इससे मिल सकेगी वह इसके कारण होने वाली व्यक्तिगत अभिक्रम की हानि से बराबर हो जाएगी। साथ ही, व्यापक अनुभव वाले लोगों से मिलने वाला परामर्श सम्भवतः उस सबसे अच्छा होगा जो इस प्रकार की कोई भी पद्धति दे सकती है। इतिहास-ग्रन्थों, जीवनियों और कथा-कृतियों में जीवन की जटिल, कठिन स्थितियों के जो वर्णन दिए जाते हैं वे भी इस उद्देश्य के लिए अत्यन्त मूल्यवान् होते हैं। नीतिशास्त्र की पुस्तिका में इससे अधिक सामान्य स्वरूप के जो भी वक्तव्य दिए जाएँगे वे सब अनिवार्यतः कुछ-न-कुछ बनावटी होंगे और गम्भीर भ्रान्तियाँ उत्पन्न कर सकते हैं। कुछ भी हो, प्रस्तुत लेखक अपने-आपको इस योग्य नहीं समझता कि उस दिशा में और आगे बढ़े।

5. नीति और धर्म

इस प्रकार ऊपर निर्दिष्ट रूप में परिकल्पित नैतिक जीवन को धार्मिक जीवन कहना शायद ठीक ही होगा। पर, जैसा ऊपर हम कह चुके हैं, कुछ लोगों का विचार है कि नैतिक अभिवृत्ति में ईश्वर और अमरता पर कुछ-न-कुछ विश्वास भी एक स्वयं-सिद्ध अभ्युपगम (postulate) है। पर यहाँ हमारा सम्बन्ध, निश्चित रूप से, नैतिक जीवन पर इन विश्वासों के प्रभाव से ही है; और इस विषय पर भी हम केवल अत्यन्त संक्षिप्त रूप से विचार कर सकते हैं।

यह कहा जा सकता है कि नैतिक जीवन के एक आधार के रूप में धरती पर मानव-जीवन की नित्यता पर कुछ विश्वास आवश्यक है। यदि हम यह सोचने लगे कि कल हमारी यह धरती नष्ट हो जाएगी तो जिन मूल्यों की अभिवृद्धि में हम लगे हैं उनमें से अधिकांश की सार्थकता ही समाप्त हो जाएगी। शान्तिपूर्वक वीरता के साथ नष्ट होने में फिर भी कुछ भद्रता, कुछ उदात्तता दिखाई दे सकती है; पर इसके अलावा करने के लिए और कुछ अधिक शेष नहीं रह जाएगा। जिन मूल्यों की हम अभिवृद्धि करना चाहते हैं उनमें से अधिकांश के लिए जीवन की कुछ निरन्तरता एक आवश्यक शर्त है। और जीवन की दीर्घता पर हमारा विश्वास जितना अधिक होगा, अपने कार्य-सम्पादन में हमारा उत्साह भी उतना ही अधिक होगा।

पर अनेक सामाजिक गुट, कम-से-कम एक सीमित अर्थ में, अमर होते हैं। और उनके शुभ की अभिवृद्धि के लिए हम जो कुछ भी कर सकते हों वह करना उचित प्रतीत होता है, भले ही वह शुभ ऐसा हो जिसमें व्यक्ति-रूप में हमारा कोई हिस्सा होने की सम्भावना न हो। इस उदार उचित को हम अभी भूलें नहीं हैं : "यदि इंग्लैंड जीवित रहा तो फिर कौन मरता है ?"

इस बात से भी इन्कार करना कठिन है कि जो व्यक्ति आज जीवित हैं, जिन्हें हम प्यार करते हैं और जो, कुछ हद तक, हमारे साथ हमारे कामों में सहयोग करते हैं, उनके सम्बन्ध में यह विश्वास करना कि उनका अस्तित्व एकदम समाप्त नहीं हो जाएगा, हमें अपने प्रयत्नों में उत्साह और साहस प्रदान करता है। शायद इससे कुछ अधिक जोरदार कथन भी उचित ही होगा। पर इसमें सन्देह है कि इसे एक आवश्यक अभ्युपगम भी कहा जा सकता है या नहीं।¹ यदि हमें यह मालूम भी हो कि कुछ ही वर्षों में सारी मानव-जाति एकदम नष्ट हो जाएगी, तो भी जब तक वह है तब तक उसके शुभ की अभिवृद्धि का प्रयत्न करना ही उचित मालूम होगा।

यह निर्धारित करना तो और भी कठिन है कि ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास किस अर्थ में आवश्यक माना जा सकता है। यदि ईश्वर को हम एक ऐसी शक्ति मानें जिसके द्वारा परम मूल्यों की अवस्थिति और सिद्धि होती है, तो ऐसी शक्ति में विश्वास हमें अपने प्रयत्नों में उत्साह व साहस प्रदान करेगा। पर ऐसा लगता है कि यह तभी होगा जब हम यह भी विश्वास करें कि उसे हमारे प्रयत्नों की आवश्यकता है; और इन दोनों विश्वासों को एक में समन्वित कर सकना सरल नहीं है। इसीलिए कुछ लोगों का विचार है कि यदि ईश्वर का अभ्युपगम करना ही हो तो उसे कम-से-कम एक परिमित ईश्वर मानना चाहिए।

यह भी माना जा सकता है कि किसी भी रूप में अशुभ का अस्तित्व इस बात का प्रमाण है कि ईश्वर को पूर्णतः शुभ और सर्वशक्तिमान—दोनों ही नहीं माना जा सकता। इस मत को एक विनयाध्यक्ष (Dean) का भी समर्थन प्राप्त होने का दावा किया जा सकता है।² दूसरी ओर यह भी कहा जा सकता है कि नैतिक शुभत्व एक इतना महान् मूल्य है कि बुराई के अन्य रूपों का अस्तित्व इसलिए और इस हद तक उचित ठहराया जा सकता है कि इस शुभत्व के अर्जन और व्यवहार के लिए उनकी आवश्यकता है। यह तो स्पष्ट मालूम होता है कि जिस जगत् में समस्त मूल्यों की सिद्धि हो चुकी होगी, उसमें मूल्योत्पादन के प्रयत्न के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं होगी; और यदि हमारा यह विचार ठीक है कि नैतिक शुभत्व इस प्रयत्न में ही है तो यह कल्पना की जा सकती है कि एक सर्वशक्तिमान ईश्वर भी इस आवश्यक

1. हाल ही में अमरता के समर्थन में व्यक्त किये गए सर्वाधिक चुरीले तर्क, मेरे विचार से, वे हैं जो McTaggart की पुस्तक *Some Dogmas of Religion* तथा *Studies in Hegelian Cosmology* में पेश किये गए हैं। पर उन तर्कों का आधार नैतिक विचारणाएँ नहीं हैं। अनुभववाधित प्रमाण भाँ, जिनकी हमारे युग में आज बहुत पूछ है, उन तर्कों के आधार नहीं हैं। उन तर्कों का विवेचन यहाँ उचित नहीं होगा, ऐसे विवेचन के लिए मैं और अधिक समर्थ होता, तो भी।

2. देखिए Rashdall की पुस्तक *Theory of Good and Evil*, दूसरा भाग, पृ० 341। पर उनका मत इतना अधिक सोपाधिक है—किन्तु-परन्तु से विरा है कि थोड़े-से शब्दों में उसका सारांश देना शायद उचित न होगा। मैं निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि संक्षेप में मैं यहाँ जो कुछ स्पष्ट करने का प्रयत्न कर रहा हूँ उससे उनका मत तात्त्विक रूप में भिन्न था।

स्थिति की व्यवस्था करेगा। इस अर्थ में यह दावा किया जा सकता है कि तत्त्वतः परमेश्वर वास्तविक है,¹ यद्यपि अशुभ पर विजय प्राप्त करके क्रमशः धीरे-धीरे ही उसकी उपलब्धि हो सकती है।

कुछ भी हो, जो प्रश्न यहाँ उठाया गया है उसकी सन्तोषजनक विवेचना ऐसी प्रवेशिका में नहीं की जा सकती। ऐसा लगता है कि नैतिक जीवन के लिए आवश्यक विश्वास केवल यह है कि नैतिक प्रयत्न आवश्यक है और ऐसा प्रयत्न नैराश्यपूर्ण नहीं है; और तत्त्वमीमांसा के बिना भी यह बात शायद पर्याप्त रूप में स्पष्ट है। यदि एक संगीतज्ञ के प्रयत्न, अतिप्राकृतिक अनुशास्तियों (supernatural sanctions) के बिना भी, उचित और न्यायसंगत हैं, जैसा कि निस्सन्देह वे हैं, तो एक नीतिज्ञ के प्रयत्न भी निस्सन्देह उचित और न्याय-संगत हैं। साथ ही, मेरे विचार से यह कहना भी सच है कि परम मूल्यों की अभिवृद्धि के प्रयत्न में इस विश्वास से पर्याप्त सहायता मिलती है कि परम मूल्यों की अभिवृद्धि का प्रयत्न निष्फल नहीं होता। और शायद हमारे लिए यह ज्यादा अच्छा होगा कि यह विश्वास निश्चित ज्ञान का विषय होने के बजाय श्रद्धा और निष्ठा का ही विषय बना रहे। अति निश्चित ज्ञान से हमारे प्रयत्नों को लकवा मार जाने की आशंका है। इसलिए, यद्यपि ईश्वर की सत्ता—अथवा, जैसा कि प्लेटो ने कहा होता, 'ईश्वर के स्वरूप'² की वास्तविकता—एक रोचक तत्त्वमीमांसीय समस्या है, ठीक वैसे ही जैसे मानव-उत्तरजीविता (human survival) एक रोचक समस्या³ है, फिर भी मैं इस बात पर जोर देना चाहूँगा कि इन दोनों में से एक भी नैतिक जीवन के लिए आवश्यक अभ्युपगम नहीं माना जा सकता।

6. तत्त्वमीमांसा और नीतिशास्त्र

नीतिशास्त्र-सम्बन्धी कुछ सर्वाधिक प्रमुख रचनाओं में तत्त्वमीमांसीय प्रत्ययों को बहुत प्रधानता दी गई है। प्लेटो की रचना में ये प्रत्यय प्रधान हैं ही, अरस्तू की

1. 'वास्तविक' (real) शब्द के इस प्रयोग पर Dr. Moore ने आपत्ति की है (Principia Ethica, पृ० 120)। मैं यहाँ इसका प्रयोग, वैराग्य, 'वर्तमान' (existent) के अर्थ में नहीं, बल्कि इस अर्थ में कर रहा हूँ कि वह भूत-प्रकृति में निहित है। अरस्तू की अनूठी उक्ति (जिसका अर्थ यह मालूम होता है: 'किसी भी पदार्थ को अपने-आपमें जो होना है') हमारा ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित करती है कि पदार्थों की तात्त्विक प्रकृति सर्वदा लुप्त नहीं होती। गरुड़ का छौना भी गरुड़ ही है, यद्यपि उसमें अभी आकाश की ऊँचाई नापने की वह शक्ति नहीं प्रकट हुई जो उसकी तात्त्विक विशेषताओं में से एक है। फिर भी, इस प्रवेशिका के पहले वाले कुछ संस्करणों में इस अध्याय में जो कुछ कहा गया था उसका काफ़ी अंश मैंने छोड़ दिया है। मैं यह तो नहीं मानता कि वह गलत था, पर यह मानता हूँ कि उससे भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती थी।
2. मैं निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि अपने इस कथन से प्लेटो का मन्तव्य उससे कुछ अधिक था जिसे प्रोफ़ेसर मूर ने श्रेयस की वस्तुतन्त्रता (objectivity of Good) द्वारा व्यक्त किया है। वास्तविकता एक भ्रामक-सी धारणा है; और नीतिशास्त्र की एक पाठ्य-पुस्तक मुझे इसकी विवेचना का उपयुक्त स्थान नहीं मालूम होती।
3. कुछ लोग सोचते हैं कि अनुभवाश्रयी ढंग से इसे सिद्ध किया जा सकता है। इस दिशा में किये गए सर्वाधिक रोचक प्रयास F. W. H. Myers तथा फ्रांतीसी ज्योतिर्विद Flammarion की रचनाओं में मिलेंगे; किन्तु इन लोगों ने तथा औरों ने जो प्रमाण पेश किया है वह आज भी बहुत सन्देहजनक है। Dr. C. D. Broad की पुस्तक *The Mind and its Place in Nature* देखिए।

पुस्तक में भी इनकी यह प्रधानता बहुत कम नहीं हुई। और आधुनिक युग में स्पिनोज़ा, हेगेल, ग्रीन, ब्रैडले तथा अन्य लोगों की रचनाओं में यह प्रधानता है। यह बात तो, बेशक, बिल्कुल स्पष्ट है कि सामान्य नागरिक किसी प्रकार के तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त के बिना भी बहुत ही शुभ जीवन बिता सकता है; और यह बात भी कुछ कम स्पष्ट नहीं है कि एक अत्यन्त उत्तम कोटि का तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त—और सचमुच बहुत ही उत्तम नैतिक सिद्धान्त—रखते हुए भी किसी व्यक्ति का व्यक्तिगत आचरण गम्भीर आलोचना का पात्र हो सकता है।

जैसा कि ब्रैडले ने इतने जोरदार शब्दों में कहा है, अधिकांश लोगों को अपने जीवन के व्यावहारिक आचरण के लिए जो कुछ भी आवश्यक होता है वह सब उनके अपने 'स्थान' में और उस स्थान के कर्तव्यों में ही मिल जाता है। यह सच है कि वे प्रायः इस परेशानी में पड़ जाते हैं—विशेषकर हमारे आधुनिक जटिल जगत् में—कि उनके ऊपर विभिन्न प्रकार के और कभी-कभी परस्पर-विरोधी, दावे किए जाते हैं। उनके परिवार, उनके मित्रों, उनके व्यवसाय, उनके ज़िला, उनके राष्ट्र, उनके धर्म आदि के द्वारा उन पर जो दावे किए जाते हैं वे प्रायः एक-दूसरे के विरोधी जान पड़ते हैं; और इन दावों को पूरा करने के प्रयत्न में उनका अपना वंशगत स्वभाव भी कठिनाइयाँ पैदा कर सकता है। इसलिए समय-समय पर, वे ऐसी गम्भीर नैतिक परेशानियों में पड़ सकते हैं जिन्हें हल करने में नीति के सैद्धान्तिक आधार का गम्भीर चिन्तन भी असफल हो सकता है।

जो सामान्य दृष्टिकोण हमने अपनाया है वह यदि ठीक है तो इन कठिनाइयों को मूल्यों की जटिलता के कारण उत्पन्न हुआ मानना ही सबसे अच्छा है। मानव-जीवन में, न्यूनाधिक रूप में जान-बूझकर, जिस पूर्ण श्रेय को अपना लक्ष्य बनाया जाता है उसी के विभिन्न तत्त्वों की सापेक्ष महत्ता ही इन कठिनाइयों का आधार होती है। ऐसा नहीं लगता कि जीवन के व्यावहारिक आचरण को तत्त्वमीमांसीय चिन्तन द्वारा जो भी सहायता दी जा सकती है वह इस विश्व और इसमें मानव-जीवन के स्थान-सम्बन्धी किसी भी पूर्ण सिद्धान्त से प्राप्त हो सकती हो। ऐसे सिद्धान्तों से लाभ उठाने वाले हमेशा कुछ सीमित संख्या के ही लोग होंगे; और हो सकता है कि सर्वाधिक आधारभूत समस्याओं के सम्बन्ध में उन्हें भी पूरा भरोसा न हो सके। यह भी हो सकता है कि इस प्रकार का भरोसा प्राप्त करने के प्रयत्न से उनके स्पष्ट आबन्धों की पूर्ति में ही गम्भीर खलल पड़े। सामान्य रूप से, कार्लाइल का यह आदेश कि 'तुम्हारा जो कर्तव्य सर्वाधिक समीप है उसे पूरा करो' सर्वोत्तम व्यावहारिक उपदेश है और समाज के सामान्य गठन का अथवा समस्त विश्व की प्रकृति और सार्थकता का पूर्ण अन्तर्ज्ञान हुए बिना भी इस कर्तव्य का बोध प्रायः सम्भव होता है।

फिर भी, जिन्होंने जीवन की समस्याओं पर चिन्तन करना सीख लिया है—ऐसे लोगों की संख्या बराबर बढ़ रही है—उन्हें इस प्रकार का विमर्श, जटिल सम्बन्धों के बीच जीवन-संचालन का पर्याप्त आधार नहीं मालूम होता। पर ऐसा लगता है कि जिस चीज की आवश्यकता है वह देश-काल की वास्तविकता या अवास्तविकता के सम्बन्ध में, विकास के सत्य स्वरूप के सम्बन्ध में, मानसिक और भौतिक के पारस्परिक आधारभूत सम्बन्धों के विषय में, अथवा दार्शनिक चिन्तन के अन्य किन्हीं विषयों के सम्बन्ध में कोई परिशुद्ध सिद्धान्त नहीं है। आवश्यकता केवल एक ऐसे सामान्य आश्वासन की है कि अपने ज्ञान की सीमा के भीतर जो सर्वोत्तम है, वही करना सचमुच मूल्यवान है। जिस हद तक दार्शनिक विमर्श विश्व की सामान्य संरचना में मूल्य का स्थान समझने में हमारी सहायता करता है, उस हद तक ऐसे आश्वासन को भी

दार्शनिक विमर्श से कुछ सहायता मिल सकती है। अधिकांश लोगों के लिए तो सम्भवतः यह वैज्ञानिक या दार्शनिक अन्तर्दृष्टि होने के बजाय भावना अथवा विश्वास या निष्ठा की ही वस्तु रहेगी। किसी भी दार्शनिक सिद्धान्त की अपेक्षा संगीत, काव्य और कला के अन्य रूपों द्वारा कहीं अधिक प्रत्यक्ष विश्वास उत्पन्न हो सकता है।

किन्तु यदि तत्त्वमीमांसीय चिन्तन हमें यह विश्वास दिलाता है—जैसा कि मैं समझता हूँ, वह दिलाता है—कि जिस जगत् में हम रहते हैं उसका सर्वोत्तम व्याख्या यही हो सकती है कि वह प्रारम्भ से ही अपने में निहित मूल्यों का ही विकास है, तो इस प्रकार का विश्वास नैतिक जीवन के लिए इतना अधिक सहायक है कि अधिकांश चिन्तनशील व्यक्तियों के लिए, उसे नैतिक जीवन की एक आवश्यक शर्त ही कहा जा सकता है। फिर भी अधिकांश लोगों के लिए तो वह निश्चित ज्ञान के बजाय विश्वास और निष्ठा का ही विषय रहेगा।

ब्रॉडले ने अपनी पुस्तक Ethical Studies में 'श्रद्धा या निष्ठा द्वारा औचित्य साधन' पर जो जोर दिया था उसका मेरे विचार से यही आशय था। जिस निष्ठा का उन्होंने उल्लेख किया है वह यह विश्वास है कि शुभ की सिद्धि ही जीवन का उद्देश्य है, और यह कि इस सिद्धि के लिए किये जाने वाले समस्त मानव-प्रयासों में जो अपूर्णताएँ या त्रुटियाँ दिखाई देती हैं उनके बावजूद, किसी-न-किसी प्रकार यह उद्देश्य सिद्ध किया जा सकता है। ऐसा लगता है कि इस निष्ठा का ही औचित्य सिद्ध करना जरूरी है; और अधिसामान्य दैवी ज्ञान के अलावा ऐसा लगता है कि जिस तक यह औचित्य सिद्ध किया जा सकता हो उस हद तक उसे सिद्ध करना तत्त्वमीमांसा का काम है।

पर, बेशक, इसका यह अर्थ नहीं है कि शुभ को जानने के लिए हमें तत्त्वमीमांसा की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। मेरे विचार से डॉक्टर मूर क. यह कथन ठीक है कि तत्त्वमीमांसीय व्याख्या के बिना भी, कम-से-कम काफ़ी हद तक, शुभ का स्पष्ट बोध हो सकता है। यह विश्वास ही धर्म का सार-तत्त्व मालूम होता है कि जिसे हम शुभ समझते हैं उसकी सिद्धि को ही हमारे समस्त प्रयत्नों का चरम लक्ष्य बनाया जा सकता है और अवश्य बनाया जाना चाहिए। इस अर्थ में, और केवल इसी अर्थ में, यह दावा किया जा सकता है कि अन्ततः नैतिक जीवन एक धार्मिक विश्वास पर आधारित है।

हो सकता है कि इस विश्वास में ईश्वर और अमरत्व पर विश्वास भी निहित हो; पर यह प्रश्न नीतिशास्त्र के क्षेत्र का नहीं, तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र का है। पूर्ण शुभ की सिद्धि की सम्भावना-सम्बन्धी निश्चित ज्ञान के अभाव में भी, जो स्वतः शुभ है उसका अनुगमन करने के महत्त्व के सम्बन्ध में हमारा दृढ़ विश्वास हो सकता है।¹ हर हालत में ऐसा लगता है कि शुभ की सिद्धि के लिए जान-बूझकर किया गया प्रयत्न पूर्ण शुभ का एक आवश्यक तत्त्व है—अर्थात् नैतिक शुभ का पूर्ण शुभ में निहित होना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, नैतिक शुभ का मूल्य साधन मूल्य नहीं, बल्कि स्वतःमूल्य है। यह जरूरी नहीं है कि समस्त ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध में हमारा एक व्यापक

1. श्री रसेल (Russell) ने अपने अत्यन्त रोचक निबन्ध 'The Free Man's Worship' में इस बात पर जोर दिया है कि यदि मानव-जीवन बिल्कुल विनाश के कगार पर हो तो भी, उस स्थिति में भी तात्त्विक मूल्यों का अपना मूल्य-महत्त्व अक्षय्य रहेगा। मेरे विचार से यह बात सच है; पर इन मूल्यों की अभिवृद्धि का प्रयत्न व्यर्थ हो जाएगा। चाहे आसमान फट पड़े, फिर भी शुभ तो शुभ ही रहेगा; किन्तु सदगुण को व्यवहार में लाने के लिए तो पैरों के नीचे धरती और सिर पर कुछ तो आसमान का साया-जैसा होना ही चाहिए।

और पूर्णतः सन्तोषप्रद दृष्टिकोण हो। बड़-सवर्थ की अभिवृत्ति सबसे अधिक सच्ची और मानव-अभिवृत्ति हो सकती है :

¹यही बहुत है—यदि इन हाथों कभी किसी को
शक्ति मिले जीवित रहने की, कर्मठता की,
सेवा करने की भावी मानव-सन्तति की ?—
यही बहुत है ??
और कहीं यदि चिर विश्रान्ति मौन शैया की
यात्रा तय हो प्रेम और आशा-आस्था की
दिव्यभूति छाया के नीचे,
तो अनुभूति हमारी होगी—
हम महान् हैं ! सचमुच अपने ज्ञान से अधिक
हम महान् हैं !!

कुछ भी हो, यदि इस प्रकार की भी साधारण निष्ठा न हो तो भी. अपने-
आपको यह विश्वास दिलाया जा सकता है कि कुछ-न-कुछ शुभ की सिद्धि हो सकती
है अथवा कुछ अशुभ का निवारण किया जा सकता है। और इस प्रकार का विश्वास
कर्त्तव्य के लिए प्रयत्न करने का पर्याप्त आधार है। इससे परे जो-कुछ है वह सब
व्यवस्थित तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्तों के लिए छोड़ देना चाहिए। हमारे नैतिक निस्तार
के लिए वे सब आवश्यक नहीं हैं; और यह तो निश्चित ही है कि उनका विवेचन एक
नीति-प्रवेशिका के दायरे में नहीं आता।

193

३

१

३

३

-
1. 'Enough if something from our hands have power
To live and act and serve the future hour,
And if, as towards the silent tomb we go,
Through love and hope and faith's transcendent dower,
We feel that we are greater than we know.'

परिशिष्ट नीति-साहित्य पर टिप्पणी

कवि गोल्डस्मिथ द्वारा चित्रित चरित्र—ग्राम्य उपदेशक—की भाँति, प्रस्तुत पुस्तिका जैसी किसी भी पुस्तक का प्रधान कार्य होता है। “और अधिक ज्योतिर्मय जगत् की ओर लुभावना मार्गदर्शन करना।” प्रस्तुत सन्दर्भ में ‘ज्योतिर्मय जगत्’ का अर्थ है इस शास्त्र के महान् आचार्यों की कृतियाँ। इस पुस्तिका में आदि से अन्त तक ऐसी कृतियों का उल्लेख किया गया है, पर अब उनके सम्बन्ध में कुछ सामान्य विवेचन कर देना और उनके सर्वाधिक लाभप्रद अध्ययन-क्रम का निर्देश कर देना अच्छा होगा। उनके अध्ययन का परिशुद्ध क्रम अंशतः व्यक्तिगत रुचि पर निर्भर करेगा और अंशतः विद्यार्थी के पास अध्ययन के लिए जितना समय हो उस पर निर्भर करेगा।

मेरे विचार से इस विषय का अध्ययन प्रारम्भ करने के लिए अधिकांश विद्यार्थियों को मिल की पुस्तक *Utilitarianism* सबसे ज्यादा आसान और रोचक मालूम होगी; और सुखवादी दृष्टिकोण के सम्बन्ध में इसका सामान्य प्रभाव अच्छा पड़ेगा। यदि जरूरी समझा जाय तो, पहली बार यह पुस्तक पढ़ते समय ‘न्याय’ पर लिखा गया इसका अन्तिम अध्याय छोड़ दिया जा सकता है। जब समूची पुस्तक का अध्ययन करना हो तो इसके साथ-साथ सिजविक की पुस्तक *Methods of Ethics* में की गई इसकी आलोचना भी पढ़नी चाहिए।

कांट की रचनाओं के कुछ अंश भी शुरू में ही पढ़ने चाहिए। बहुत जल्द विद्यार्थी को मालूम हो जाएगा कि सामान्यतः आधुनिक दर्शनशास्त्र की भाँति, आधुनिक नीतिशास्त्र अधिकांश रूप में उन्हीं पर निर्भर करता है। उनकी पुस्तक *Metaphysic of Morals* के प्रथम दो खण्ड (जो एवॉट द्वारा लिखित *Kant's Theory of Ethics* में मिल सकते हैं) ऐसे विद्यार्थियों को भी, जिन्होंने तत्त्वमीमांसा के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं पढ़ा, अपेक्षाकृत रूप में आसान मालूम होंगे और उनके पढ़ने से कांट की सामान्य मान्यताओं के सम्बन्ध में अच्छा-खासा ज्ञान प्राप्त हो जाएगा; किन्तु कांट के तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्तों का कुछ ज्ञान प्राप्त किये बिना उनके नीति-तन्त्र के अध्ययन में आगे बढ़ पाना कठिन है।¹

जिस विद्यार्थी ने मिल और कांट के सामान्य सिद्धान्तों को पूरी तरह समझ लिया है उसे उपयोगितावादी और प्रत्ययवादी नीति-तन्त्रों के आधार भी भली-भाँति समझ में आ जाएँगे। इन मतों के आधुनिक विकास को जो लोग और अधिक अच्छी तरह समझना चाहते हैं उन्हें सिजविक की पुस्तक *Methods of Ethics* और ग्रीन की पुस्तक *Prolegomena* अवश्य पढ़नी चाहिए। इन दोनों में से ग्रीन की पुस्तक अधिक कठिन है, क्योंकि उनका दृष्टिकोण अत्यधिक तत्त्वमीमांसीय है। पर ग्रीन की विवेचना को समझने में म्यूरहेड की पुस्तक *Elements of Ethics* से विद्यार्थी को काफ़ी सहायता मिलेगी। ब्रैंडले की पुस्तक *Ethical Studies* काफ़ी

1. जो विद्यार्थी कांट के मत को पूर्ण रूप से समझना चाहते हैं उन्हें Caird की पुस्तक *Critical Philosophy of Kant* से अमूल्य सहायता मिलेगी।

समय तक बाजार में मिलती ही नहीं रही; पर अब उसका दूसरा संस्करण आ गया है। ग्रीन की पुस्तक की अपेक्षा यह अधिक अच्छे ढंग से लिखी गई है और इसके पढ़ने से हेगेल के नीतिशास्त्र का अच्छा परिचय मिलता है। सभी विद्यार्थियों को यह पुस्तक शुरू में ही पढ़ लेनी चाहिए।

सिजविक की पुस्तक में फ़ायदा यह है कि उसमें विद्यार्थी को न केवल आधुनिक उपयोगितावाद की सर्वोत्तम व्याख्या मिल जाती है, बल्कि अन्तःप्रज्ञावाद की सर्वोत्तम आलोचना भी उसमें दी गई है। अन्तःप्रज्ञावाद के एक समर्थक द्वारा उसकी व्याख्या देखनी हो तो मार्टिन्स की पुस्तक *Types of Ethical Theory* देखें, पर एक प्रारम्भिक विद्यार्थी को यह पुस्तक कुछ उलझाने वाली-सी मालूम होगी।

विकासवादी दृष्टिकोण से लिखी गई मुख्य पुस्तकें हैं : स्पेन्सर की पुस्तक *Data of Ethics*¹, स्टीफेन की पुस्तक *Science of Ethics* और अलेक्जेंडर की पुस्तक *Moral Order and Progress*²। इनमें से प्रत्येक की अपनी विशेषता है। इन तीनों में से प्रो० अलेक्जेंडर की पुस्तक मुझे सर्वाधिक गम्भीर मालूम होती है; पर प्रारम्भिक विद्यार्थी के लिए शायद इसी कारण यह पुस्तक सबसे ज्यादा कठिन भी मालूम होगी। सर एल० स्टीफेन की पुस्तक, एक विद्वान् साहित्यिक द्वारा लिखी होने के कारण, बहुत ही स्पष्ट और जोरदार भाषा (अंग्रेजी) में लिखी गई है और सम्भवतः उसके पढ़ने में सबसे ज्यादा आनन्द आएगा। कुछ अर्थों में वह सबसे ज्यादा विचारोत्तेजक भी है। स्पेन्सर की पुस्तक की विशेषता यह है कि वह एक व्यापक और पूर्ण परिकल्पनामूलक तन्त्र का एक अंग है; और ज्ञान की अन्य विविध शाखाओं के साथ उन्होंने नीतिशास्त्र को जिस प्रकार सम्बन्धित किया है उससे उनकी पुस्तक में एक अद्भुत रोचकता और स्फूर्तिदायिनी शक्ति आ गई है—खासकर शायद युवा विद्यार्थियों के लिए। अन्यथा यह पुस्तक मुझे उतनी सन्तोषप्रद नहीं मालूम होती जितनी कि शेष दोनों पुस्तकें हैं।

यद्यपि नई पुस्तकें विद्यार्थियों के लिए स्वभावतः आकर्षक होंगी, फिर भी पुराने दिग्गजों की ओर से उन्हें असावधान नहीं होना चाहिए। प्लेटो की पुस्तक *Republic* और अरस्तू की पुस्तक *Ethics*³ कई दृष्टियों से आज भी नीतिशास्त्र के महान्तम ग्रन्थ हैं; और प्रत्येक लगन वाले विद्यार्थी को यथासम्भव अपने अध्ययन के प्रारम्भ में ही इन्हें पढ़ लेना चाहिए। स्पिनोज़ा की पुस्तक *Ethics* बड़ी कठिन पुस्तक है और तत्त्वमीमांसा का अच्छा पढ़ा हुआ विद्यार्थी ही उसे पूरी तरह समझ सकता है।⁴ हेगेल की पुस्तक *Philosophie des Rechts*, जिसका अनुवाद अंग्रेजी में एस० डब्ल्यू० डॉयड ने किया था और जो एक महान् ग्रन्थ है) पर भी

1. अब *The Principles of Ethics* का पहला भाग।
2. डार्विन की पुस्तक *Descent of Man* के अध्याय 5 और 6 को भी देखा जा सकता है। पर वहाँ इस विषय का विवेचन थोड़ा-सा और ऊपरी है।
3. इसके साथ बोसान्के की पुस्तक *Companion to Plato's Republic* और म्यूरहेड की पुस्तक *Chapters from Aristotle's Ethics* का भी उपयोग किया जा सकता है। नेटेलशिप और स्टीवार्ट द्वारा लिखी हुई टीकाएँ भी देखिए।
4. स्पिनोज़ा का अध्ययन करने के इच्छुक विद्यार्थियों को *Blackwood* की पुस्तक *Philosophical Classics* में दिये गए प्रिंसिपल Caird द्वारा स्पिनोज़ा पर लिखित सुन्दर प्रबन्ध से बहुत सहायता मिलेगी। जो लोग जर्मन भाषा पढ़ते हैं उन्हें, असाधारण स्पष्टता और प्रतिभा के साथ लिखी हेगेल के पूरे सिद्धान्त की व्याख्या Kuno Fischer की पुस्तक (*Geschichte der neuern Philosophie*, I, ii) में मिलेगी। हेगेल की सन्नित

यही बात लागू होती है। पर हेगेल के मत की कुछ महत्वपूर्ण बातों को ड्यूई ने अपनी पुस्तक *Outlines of a Critical Theory of Ethics* में बड़े सरल और रोचक ढंग से स्पष्ट किया है।¹ ब्रैडले की पुस्तक *Ethical Studies* में भी हेगेल के मत का प्रतिपादन किया गया है, और यह प्रसन्नता की बात है कि यह सर्वाधिक रोचक और स्फूर्तिदायक पुस्तक दुबारा छप गई है।² विद्यार्थियों के लिए लाभदायक अन्य ऐतिहासिक महत्व वाले ग्रन्थों की सूची में जिनका उल्लेख किया जा सकता है, वे हैं : बटलर की पुस्तकें *Sermons* और *Dissertation II* ("Of the Nature of Virtue"), ह्यूम की पुस्तक *Treatise on Human Nature*, दूसरा और तीसरा खण्ड, अथवा *Dissertation on the Passions* और *Inquiry concerning the Principles of Morals*, ऐडम स्मिथ की पुस्तक *Theory of Moral Sentiment*, बेन्थम की पुस्तक *Principles of Moral and Legislation*, बेकन की रचना *De Augmentis*, सातवाँ और आठवाँ खण्ड, और हॉब्स की पुस्तक *Leviathan*।³ कांट के नीतिशास्त्र पर अद्वितीय उत्तम पुस्तक है Caird की *Critical Philosophy of Immanuel Kant*।

और भी बहुत-सी उपयोगी पुस्तकों के नाम गिनाए जा सकते हैं। जो विद्यार्थी जर्मन भाषा जानते हैं उनके लिए Paulsen की पुस्तक *System der Ethik*,⁴ Hoffding की पुस्तक *Ethik*, Wundt की पुस्तक *Ethik* और Simmel की पुस्तक *Einleitung in die Moralwissenschaft* सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्ध होंगी।⁵ F. Nietzsche की कुछ सनक-भरी और विपर्यस्त रचनाएँ (जिनमें से अधिकांश का अनुवाद किया जा चुका है) स्फूर्तिदायक हैं और उनका एक आलोचनात्मक महत्व है। फ्रेंच भाषा में Renouvier, Guyau, Fouillee and Bergson की पुस्तकें विशेष रूप से सूक्ष्म-बुद्ध देनेवाली हैं। सामाजिक नीतिशास्त्र के अध्ययन के लिए Comte की पुस्तक *Politique Positive* अमूल्य ग्रन्थ है।⁶ उल्लेख इन पुस्तकों का भी किया

व्याख्या के लिए विद्यार्थी को *Encyclopaedia Britannica* में छपा 'Cartesianism' पर लिखा हुआ लेख पढ़ना चाहिए। यह कहा जा सकता है कि एक शुद्ध नियतत्ववादी के रूप में, और एक ऐसे विचारक के रूप में, जो प्रत्ययों अथवा अन्तिम कारणों की धारणा को पूर्ण रूप से अस्वीकार करता है, स्पिनोजा नीतिशास्त्र की सम्भावना की अस्वीकृति से ही अपना विवेचन प्रारम्भ करते हैं। नीतिशास्त्र को वह मानकीय विज्ञान (normative science) न मानकर वास्तविक या प्राकृतिक इतिहास विज्ञान मानते हैं। पर अपने मत के प्रतिपादन में आगे बढ़ने पर, अपनी मर्जी के खिलाफ, उन्हें मानव-जीवन में एक प्रत्यय या साध्य की धारणा को, और प्रकृति में 'निहित चिरन्तन पूर्णता' की धारणा को भी स्वीकार करना पड़ा। प्रिंसिपल Caird ने इस बात को अच्छी तरह स्पष्ट किया है (op. cit., pp. 270, 304)।

1. हेगेल की पुस्तक *Philosophy of History* (Bohn's Series में जिसका अनुवाद किया गया है) बहुत ही रोचक सिद्ध होगी।
2. बोसान्के द्वारा प्रयोज्य नीतिशास्त्र पर लिखे गए निबन्धों का संग्रह। *Civilisation of Christendom* भी इसी दृष्टिकोण को लेकर लिखा गया है।
3. नीतिशास्त्र पर अंग्रेजी में लिखी गई सभी महत्वपूर्ण पुस्तकों की, विभिन्न मतों के अनुसार वर्गीकृत, सूची म्यूरहेड की पुस्तक *Elements of Ethics* के अन्त में दी गई है।
4. प्रयोज्य नीतिशास्त्र के सम्बन्ध में यह पुस्तक विशेष रूप से महत्वपूर्ण है।
5. अन्तिम पुस्तक तो प्रायः शुद्ध आलोचनात्मक ग्रन्थ है।
6. कॉम्टे के मत का सारांश जानने के लिए देखिए Caird की पुस्तक *Social Philosophy and Religion of Comte*। कॉम्टे से पहले के सामाजिक नीतिशास्त्र का इतिहास

जा सकता है : Taylor की पुस्तक *Problem of Conduct* (जो एक मौलिक और चुटीली पुस्तक है), Rashdall की पुस्तक *Theory of Good and Evil*, J. Seth की *Study of Ethical Principles*, Sorley की पुस्तक *Ethics of Naturalism*,¹ *The Moral Life*, और *Recent Tendencies in Ethics*, Moore की पुस्तक *Principia* तथा उनकी छोटी पुस्तक *Ethics*, Clifford की पुस्तक *Lectures and Essays*, McTaggart की पुस्तक *Studies in Hegelian Cosmology*, Lotze की पुस्तक *Practical Philosophy*, Dewey और Tuft की *Ethics*, J. Laird की पुस्तक *Studies in Moral Philosophy*, MacCunn की पुस्तक *Ethics of Citizenship*, L.T. Hobhouse की पुस्तक *Rational Good*, Royce की पुस्तक *Religious Aspect of Philosophy*, Hocking की पुस्तक *Human Nature and its Remaking* तथा W.M. Urban की पुस्तक *Valuation : the Theory of Value*। नीतिशास्त्र के इतिहास के अध्ययन के लिए सिजविक और राजर्स द्वारा लिखी छोटी-छोटी इतिहास-पुस्तकों और दर्शनशास्त्र के सामान्य इतिहास-ग्रन्थों (जैसे Zeller द्वारा, Janet और Seailles द्वारा, Hoffding द्वारा और Kuno Fisher द्वारा लिखे गए ग्रन्थों) में दिये गए तत्सम्बन्धी विवरणों के अलावा इन पुस्तकों का भी उल्लेख किया जा सकता है : Lecky की पुस्तक *History of European Morals*, Stephen की पुस्तक *English Thought in the Eighteenth Century*, और (जर्मन भाषा जाननेवालों के लिए) Ziegler की पुस्तक *Ethik der Griechen und Romern* तथा *Geschichte der Christlichen Ethik* और Jodl की पुस्तक *Geschichte der neuern Ethik*। स्टीफेन की किताब (*The English Utilitarians*) बहुत ही मूल्यवान पुस्तक है; तथा उपयोगितावाद के सम्बन्ध में Albee द्वारा और विकासवादी नीतिशास्त्र के सम्बन्ध में C.M. Williams द्वारा किया गया विवेचन काफ़ी उपयोगी सिद्ध होगा। Sir Henry Jones की अत्यन्त प्रतिभापूर्ण पुस्तक *Browning as a Philosophical and Religious Teacher* में जटिल नैतिक समस्याओं पर बहुत प्रकाश डाला गया है। नीतिशास्त्र-सम्बन्धी आधुनिक साहित्य की सूचनाएँ तथा विशिष्ट विषयों पर होनेवाले विचार-विमर्शों के विवरण इन पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर दिए जाते हैं : *Mind*, *Journal of Philosophical Studies*, *Philosophical Review* और *International Journal of Ethics*। इस विषय पर काफ़ी अधिक सामग्री Dr. Hastings की *Encyclopaedia of Religion and Ethics* में दी गई है। प्रो० म्यूरहेड का जो लेख (*Ethics*) इसमें दिया गया है उसका विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। नीतिशास्त्र के अध्ययन में जो मनोवैज्ञानिक प्रश्न निहित हैं उनके सम्बन्ध में प्रो० स्टाउट की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय कोई दूसरा लेखक, मेरे विचार में, नहीं है। प्रस्तुत पुस्तक पढ़ने से पहले या साथ-साथ उनके सुन्दर ग्रन्थ (*Manual*) का अध्ययन करने से बहुत लाभ होगा।

जानने के लिए Janet की पुस्तक *Histoire de la Science Politique* देखिए; इसी लेखक की पुस्तकें *Philosophie de la Revolution francaise*, *Saint-Simon et le Saint-Simonisme* तथा *Les Origines du Socialisme contemporain* भी देखी जा सकती हैं। Mohl की पुस्तक *Geschichte und Literatur der Staatswissenschaften* भी देखें।

1. इसमें उपयोगितावादी और विकासवादी मतों की बहुमूल्य आलोचनाएँ भी दी गई हैं।

Cal-
26.5574

"A book that is shut is but a block"

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL LIBRARY

GOVT. OF INDIA
Department of Archaeology
NEW DELHI.

Please help us to keep the book
clean and moving.